संस्कृति और साहित्य

सम्पादक

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

प्रकाशक
विश्वविद्यालय प्रकाशन
चौक
वाराणसी

१९७१ ई०

मूल्य
बीस रुपये

मुद्रक
सम्मति मुद्रणालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग
वाराणसी

भूमिका

संस्कृति की मान्यता

प्राचीन मान्यता के अनुसार मन, प्राण और भूतो की समष्टि मनुष्य है—'सोऽयम् आत्मा मनोमयः प्राणमयः वाङ्मयः'। मनुष्य ने देश और काल मे विश्व के रंगमंच पर जो मन से सोचा है, कर्म से किया है और भौतिक माध्यम से निर्माण किया है वही मानव की सस्कृति है। किन्तु ज्ञान, कर्म और रचना को संस्कृति की कोटि मे रखने के लिए यह आवश्यक है कि वे संस्कारसम्पन्न हो और विश्व की प्राणधारा के अनुकूल हो। ऋग्वेद में कहा है—'सा संस्कृति प्रथमा विश्ववारा', अर्थात् देव-प्रजापति ने जिस सृष्टि की रचना की है वह एक संस्कृति है। इसकी रचना में प्रजापति ने कितना प्रयत्न किया होगा इसकी कुछ कल्पना विश्व के अनन्त रहस्यो को ध्यान में रख कर की जा सकती है। विश्व के गम्भीर रहस्यों का कोई अन्त नही है। मानव ने उन्हे समझने के लिए अनेक यत्न किये हैं। अनेक संस्कृतियों का इतिहास यही कथा कहता है। विश्व के नियमो की बुद्धिपरक व्याख्या मानवीय संस्कृति का बहुत ही मूल्यवान अग है। उसे ही हम तत्त्वज्ञान, दर्शन, धर्म, नीति आदि अनेक नामो से पुकारते है। उसके अनुसार मानव ने अपने लिए अनेक मार्गों का विधान बनाया। उसकी वह कर्म-सृष्टि भी मानवीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग है। प्राणों की शक्ति का कर्ममय पराक्रम मानव को अपूर्व उपलब्धियो का क्षेत्र रहा है। उसमें जो धर्म और नीति की उदात्त प्रेरणा निहित है वह संस्कृति का अग है। तीसरी कोटि में भौतिक स्तर पर अथवा भूतों के माध्यम से मानव की स्थूल रचना है, जिसका सबसे समृद्ध क्षेत्र मानवीय कला की उपलब्धियाँ हैं। इस प्रकार दर्शन, धर्म, साहित्य, जीवन और कला के क्षेत्र में मनुष्य की समस्त कृतियाँ और रचनाएँ उसकी संस्कृति हैं। किन्तु मानव को इन सबकी प्रेरणा जिस स्रोत से मिलती रही है और आगे भी मिलेगी, वह कोई नित्य देव-संस्कृति है जिसे 'प्रथमा संस्कृति' (प्रायमीवल कल्चर) कहा गया है। अर्थात्, जो सबसे पूर्व मे थी, सबसे श्रेष्ठ थी और जो सबके लिए प्रतिमान या नमूना है। ऐसी संस्कृति स्वयं विश्वसंस्कृति है। सूर्य, चन्द्र, आकाश, वायु, समुद्र आदि भौतिक रूप एवं उनके मूल मे सक्रिय मनस्तत्व—ये दोनो अपरिमित और नित्य हैं एव मानव के लिए सनातन आदर्श है।

विश्व संस्कृति की दूसरी विशेषता यह होती है कि वह सबके लिए है। अर्थात् जहाँ एक ओर मानवीय संस्कृति देश और काल में समुत्पन्न होती है वहाँ विश्व को संस्कृति सबके लिए वरण योग्य होती है। अतएव उसे 'विश्ववारा' कहा गया है। एक-एक मानव समुदाय एक सास्कृतिक पद्धति को हो जन्म दे सकता है। किन्तु प्रजापति की संस्कृति सबके लिए है और सब देशो और कालो में उसकी सत्ता एकरस और नित्यसिद्ध रहती है। जो मानवीय संस्कृति इन लक्ष्यो की जितनी अधिक पूर्ति कर सकती है, वह उतनी ही अधिक विशिष्ट होती है। अर्थात् एक तो वह देव-संस्कृति की निर्मिति और भावना को अधिक से

अधिक व्यक्त कर सके और दूसरे वह देश और काल की संकुचित सीमाओं से ऊपर उठकर विश्व के लिए अधिक से अधिक स्वीकार्य हो। विश्व अपने मन का प्रतिबिम्ब जहाँ पाता है, वही संस्कृति उसे रुचिकर होती है। जो मानव समुदाय, अध्यात्म और धर्म, तत्त्व-ज्ञान और दर्शन, भौतिक जीवन और सत्य, प्रेम और करुणा, सौन्दर्य और पवित्रता इन दैवी तत्त्वों की अधिकतम उपासना करता है और जीवन के विधान को उनके अनुकूल नियमित करता है वही विश्व संस्कृतियों के इतिहास में स्थिर स्थान पाने के योग्य है।

विश्व की सृष्टि तो अनन्त है किन्तु अर्वाचीन मान्यता के अनुसार सभ्य मानव का व्यवहार भूतल पर कुछ सहस्र वर्ष पूर्व से ही हुआ है। मानव ने भौतिक स्तर पर अपनी यात्रा के जो चरण चिह्न छोड़े हैं उनका संग्रह और व्याख्या नये युग का एक चमत्कार है। इनके अध्ययन का शास्त्रीय रूप ही वर्तमान इतिहास का विषय है। इसके अनुसार मिस्र, सुमेर, क्रीट, यूनान, खल्दी (केल्डिया), असुर (असीरिया), बाबेरु (बेबिलोनिया), ईरान, भारत, चीन आदि अनेक जातियों के प्राचीन सांस्कृतिक इतिहासों का उद्घाटन किया गया है। उनकी कथा जानने योग्य है। इस अध्ययन का शास्त्रीय फल तो है ही किन्तु दूसरा प्रत्यक्ष फल मानवीय एकता की अनुभूति है। संस्कृतियों में जहाँ एक ओर अपनी विशेषताएँ और भेद हैं वहीं दूसरी ओर एकता का भाव और भी अधिक है। उनके देवता अनेक हैं किन्तु देव-तत्त्व सबमें एक है। सौन्दर्य के विधान अनेक हो सकते हैं किन्तु सौन्दर्य के लिए मन की भावना सर्वत्र विद्यमान है। जीवन के मूल में प्रेम की भावना सबमें समान रूप से पाई जाती है, यद्यपि उसके विकास की क्षेत्र-सीमा में भिन्नता है। मनुष्य ने अपनी परिस्थितियों से किस प्रकार संघर्ष किया है और किस प्रकार प्रकृति को अपना मित्र बना कर जीवन के रहस्य को आत्मसात् किया है और न्यायपूर्वक रहने की कला और युक्तियों का विकास किया है, कहाँ तक करुणा के क्षेत्र को विस्तृत करके मानव समाज को उसमें समेट लेने का सफल अभ्यास किया है, इन सब दृष्टियों से संस्कृतियों को मापने का मानदण्ड प्राप्त किया जा सकता है।

संस्कृति एक ओर मन का विषय है तो दूसरी ओर नितान्त स्थूल और भौतिक मानवीय कृतियों का। भौतिक धरातल पर या भूतों के माध्यम से आत्मा की अभिव्यक्ति ही मानव है जिसमें मनस्तत्त्व, बुद्धि और चिन्तन-शक्ति का सबसे अधिक विकास हुआ है। मन ही मनुष्य है। मनुष्य की बुद्धि जीवन के अनेक मन्त्रों का आविष्कार करती रहती है। संस्कृति-विशेष की ऊँचाई नापने का विश्वसनीय मापदण्ड मानव के सुसंस्कृत मन की परख है। यहाँ कोई पक्षपात नहीं रहता। प्रत्येक को विश्व के रंगमंच पर किये हुए अपने कर्मों के आधार पर विशुद्धि के स्तर प्राप्त करने होते हैं।

नदी के प्रवाह के समान प्रत्येक संस्कृति अपने मार्ग से बहती है। वह अपने लिए जिन दो किनारों का निर्माण करती है वही उसकी विशेष सीमा है। उसी में कालचक्र के द्वारा उसके यश का विस्तार होता है। ये दो किनारे कौन से हैं? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक प्रवाह का एक किनारा मन है, दूसरा कर्म। किसने कितना सोचा और किसने कितना किया इससे ही जीवन की नदी बनती है। संस्कृति के जन्म और विकास का भी यही ढाँचा है। विधाता की सृष्टि में सबका नियामक तत्त्व काल है। उसके पट-परिवर्तन से कोई भी अछूता नहीं रहता। विश्व के नाट्य-मंच पर अनेक यवनिकाएँ उठती और गिरती रहती हैं। नाटक के पात्र अपने ही विचार और कर्म की योग्यता से अभिनय कर चले जाते हैं। इस सृष्टि से प्रत्येक संस्कृति इतिहास के लिए कुछ सांकेतिक अक्षर लिख जाती है। वे ही मानवीय जीवन-रूपी व्याकरण के प्रत्याहार सूत्र हैं। भारत ने अध्यात्म को, यूनान ने सौन्दर्य-तत्त्व को, रोम ने न्याय और दण्ड व्यवस्था को, चीन ने विराट् जीवन के आधारभूत नियम को, ईरान ने सत् और असत् के द्वन्द्व को, मिस्र ने भौतिक जीवन की व्यवस्था और संस्कार को, सुमेर और म्लेच्छ जातियों ने दैवी दण्ड-विधान को—

अपनी-अपनी दृष्टि से आदर्श रूप मे स्वीकार करके उनकी प्रेरणा से संस्कृति का विकास किया। वे सब हमारे लिए मूल्यवान हैं।

संस्कृतियों के इतिहास का एक मर्म ध्यान में आता है और वह यह है कि शरीर का संस्कार और आत्मा का संस्कार दोनों ही मानव के लिए इष्ट हैं। जहाँ दोनों का समन्वय हो वही प्राप्तव्य बिन्दु है। न केवल शरीर के अलंकरण से संस्कृत का रूप बन सकता है, और न केवल अध्यात्म के चिन्तन से हो। यह भी स्मरणीय है कि मानव जाति समस्त संस्कृतियो की उपलब्धियों से आज समृद्ध है, किसी एक की कृपा से नही। अतएव सब के प्रति आस्था का दृष्टिकोण ही विश्व-संस्कृति के प्रति सच्चा दृष्टिकोण है।

संस्कृति की प्रवृत्ति महाफल देने वाली होती है। सांस्कृतिक कार्य के छोटे से बीज से बहुत फल देने वाला बडा वृक्ष बन जाता है। सांस्कृतिक कार्य कल्पवृक्ष की तरह फलदायी होते हैं। अपने ही जीवन की उन्नति, विकास और आनन्द के लिए हमें अपनी संस्कृति की सुध लेनी चाहिए। आर्थिक कार्य-क्रम जितने आवश्यक हैं उन से कम महत्त्व संस्कृति-सम्बन्धी कार्यों का नही है। दोनो एक ही रथ के दो पहिए हैं, एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरे की कुशल नहीं रहती। जो उन्नत देश हैं वे दोनो कार्य एक साथ सम्हालते हैं। वस्तुत. उन्नति करने का यही एक मार्ग है।

संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांग-पूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढंग हमारी सस्कृति है। संस्कृति हवा में नही रहती, उसका मूर्तिमान रूप होता है। जीवन के नानाविध रूपों का समुदाय ही संस्कृति है। जब विधाता ने सृष्टि बनाई तो पृथ्वी और आकाश के बीच विशाल अन्तराल नाना रूपों से भरने लगा। सूर्य, चन्द्र, तारे, मेघ, षड्ऋतु, उषा, सन्ध्या आदि अनेक प्रकार के रूप हमारे आकाश में भर गये। ये देवशिल्प थे। देवशिल्पों से प्रकृति की संस्कृति भुवनों मे व्याप्त हुई। इसी प्रकार मानवी जीवन के उषाकाल की हम कल्पना करें। उस का आकाश मानवीय शिल्प के रूपों से भरता गया। इस प्रयत्न में सहस्रों वर्ष लगे। यही सस्कृति का विकास और परिवर्तन है। जितना भी जीवन का ठाट है उसकी सृष्टि मनुष्य के मन, प्राण और शरीर के दीर्घकालीन प्रयत्नों के फलस्वरूप हुई है। मनुष्य-जीवन रुकता नही, पीढी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ता है। संस्कृति के रूपों का उत्तराधिकार भी हमारे साथ चलता है। धर्म, दर्शन, साहित्य, कला उसी के अंग हैं।

संसार मे देशभेद से अनेक प्रकार के मनुष्य हैं। उनकी संस्कृतियाँ भी अनेक है। यहाँ नानात्व अनिवार्य है, वह मानवीय जीवन का झंझट नही, उस की सजावट है। किन्तु देश और काल की सीमा से बँधे हुए हमारा घनिष्ठ परिचय या सम्बन्ध किसी एक संस्कृति से ही सम्भव है। वही हमारी आत्मा और मन में रमी हुई होती है और उनका संस्कार करती है। यों तो संसार में अनेक स्त्रियाँ और पुरुष हैं पर एक जन्म में जो हमारे माता-पिता बनते हैं उन्हीं के गुण हममें आते हैं और उन्हें ही हम अपनाते हैं। ऐसे ही संस्कृति का सम्बन्ध है, वह सच्चे अर्थों मे हमारी धात्री होती है। इस दृष्टि से संस्कृति हमारे मन-का-मन, प्राणो-का-प्राण, और शरीर-का-शरीर होती है। इसका यह अर्थ नही कि हम अपने विचारों को किसी प्रकार संकुचित कर लेते हैं। सच तो यह है कि जितना अधिक हम एक संस्कृति के मर्म को अपनाते हैं, उतने ही ऊँचे उठ कर हमारा व्यक्तित्व संसार के दूसरे मनुष्यो, धर्मों, विचारधाराओं और संस्कृतियों से मिलने और उन्हें जानने के लिए समर्थ और अभिलाषी बनता है। अपने केन्द्र की उन्नति बाह्य विकास की नींव है। कहते है कि घर खीर तो बाहर खीर, घर एकादशी तो बाहर भी सब सूना। एक संस्कृति में जब

हमारी निष्ठा पक्की होती है तो हमारे मन को परिधि विस्तृत हो जाती है, हमारी उदारता का भण्डार भर जाता है। संस्कृति जीवन के लिए परम आवश्यक है। राजनीति की साधना उसका केवल एक अंग है। संस्कृति राजनीति और अर्थशास्त्र दोनों को अपने मे पचाकर इन दोनो से विस्तृत मानव मन को जन्म देती है। राजनीति में स्थायी रक्तसचार केवल संस्कृति के प्रचार, ज्ञान और साधना से सम्भव है। संस्कृति जीवन के वृक्ष का संवर्धन करने वाला रस है। राजनीति के क्षेत्र में तो उसके इने-गिने पत्ते ही देखने में आते है। अथवा यो कहे कि राजनीति केवल पथ की साधना है, संस्कृति उस पथ का साध्य।

पूर्व और नूतन का जहाँ मेल होता है वही उच्च संस्कृति की उपजाऊ भूमि है। ऋग्वेद के पहले ही सूक्त में कहा गया है कि नये और पुराने ऋषि दोनो ही ज्ञानरूपी अग्नि की उपासना करते हैं। यही अमर सत्य है। कालिदास ने गुप्तकाल की स्वर्ण-युगीन भावना को प्रकट करते हुए लिखा है कि जो पुराना है वह केवल इसी कारण अच्छा नही माना जा सकता, और जो नया है उसका भी इसीलिए तिरस्कार करना उचित नही। बुद्धिमान दोनो को .कसौटी पर कस कर किसी एक को अपनाते है। जो मूढ़ हैं उनके पास घर की बुद्धि का टोटा होने के कारण वे दूसरो के भुलावे में आ जाते है। गुप्त-युग के ही दूसरे महान् विद्वान् श्री सिद्धसेन दिवाकर ने कुछ इसी प्रकार के उद्‌गार प्रकट किये थे—"जो पुरातन काल था वह मर चुका। वह दूसरो का था, आज का जन यदि उस को पकड कर बैठेगा तो वह भी पुरातन की तरह ही मृत हो जाएगा। पुराने समय के जो विचार है वे तो उनके प्रकार के हैं। कौन ऐसा है जो भली प्रकार उनकी परीक्षा किये बिना अपने मन को उधर जाने देगा ?"

(जनोऽयमनस्य मृत. पुरातन. पुरातन' पुरातननैरेव समो भविष्यति।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत् ॥)

अथवा "जो स्वयं विचार करने मे आलसी है वह किसी निश्चय पर नही पहुँच पाता। जिसके मन में सही निश्चय करने की बुद्धि है उसी के विचार प्रसन्न और साफ-सुथरे रहते हैं। जो यह सोचता है कि पहले आचार्य और धर्मगुरु जो कह गये है सब सच्चा है, उन को सब बात सफल है और मेरी बुद्धि या विचारशक्ति टुटपुँजिया है, ऐसा बाबावाक्य प्रमाणम् के ढंग पर सोचने वाला मनुष्य केवल आत्म-हनन का मार्ग अपनाता है"।

(विनिश्चियं नैति यथालसस्तथा निश्चितवान् प्रसीदति।
अवन्ध्यवाक्या गुरवीऽहल्पधीरित व्यवस्यन् स्ववधाय धावति ॥)

"मनुष्य के चरित्र मनुष्यो के कारण स्वयं मनुष्यो द्वारा हो निश्चित किये गये हैं। यदि कोई बुद्धि का आलसी या विचारों का दरिद्री बन कर हाथ में पतवार लेता है तो वह कभी उन चरित्रो का पार नही पा सकता जो अथाह हैं और जिनका अन्त नही। जिस प्रकार हम अपने मन को पक्का समझते है वैसे ही दूसरे का मत भी तो हो सकता है। दोनो में से किसकी बात कही जाए ? इसलिए दुराग्रह को छोड कर परीक्षा की कसौटी पर प्रत्येक वस्तु को कस कर देखना चाहिए।" गुप्तकालीन संस्कृति के ये गूँजते हुए स्वर प्रगति, उत्साह, नवीन पथ-संशोधन और भारमुक्त मन की सूचना देते हैं। राष्ट्र के अर्वाचीन जीवन में भी इसी प्रकार का दृष्टिकोण हमें ग्रहण करना आवश्यक है। कुषाण युग के आरम्भ की मानसिक स्थिति का परिचय देते हुए महाकवि अश्वघोष ने तो यहाँ तक कहा था कि राजा और ऋषियों के उन आदर्श चरित्रों को जिन्हें पिता अपने जीवन में पूरा नही कर सके थे उनके पुत्रो ने कर दिखाया—

राज्ञाम् ऋषीणाम् चरितानि तानि कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वे.।

नये और पुराने के संघर्ष में इस प्रकार का सुलझा हुआ और साहसपूर्ण दृष्टिकोण रखना आवश्यक है। इससे प्रगति का मार्ग खुला रहता है। अन्यथा भूतकाल कण्ठ मे पडे खटखटे की तरह बारम्बार टकरा कर हमारी हड्डियों को तोड़ता रहता है। भारतवर्ष जैसे देश के लिए यह और भी आवश्यक है कि वह भूतकाल की जड़पूजा में फँस कर उसी को संस्कृति का अंग न मानने लगे। भूतकाल की रूढ़ियों से ऊपर उठ कर उस के नित्य अर्थ को ग्रहण करना चाहिए। आत्मा को प्रकाश से भर देने वाली उसकी स्फूर्ति और प्रेरणा स्वीकार करके आगे बढ़ना चाहिए। जब कर्म की सिद्धि पर मनुष्य का ध्यान जाता है तब वह अनेक दोषो से बच जाता है। जब कर्म से भयभीत व्यक्ति केवल विचारो की उलझन में फँस जाता है तब वह जीवन की नयी पद्धति या सस्कृति को जन्म नही दे पाता। अतएव आवश्यक है कि पूर्वकालीन संस्कृति के जो निर्माणकारी तत्त्व है उन्हें ले कर हम कर्म में लगे और नयी वस्तु का निर्माण करें। इसी प्रकार भूतकाल वर्तमान का खाद बन कर भविष्य के लिए विशेष उपयोगी बनता है। भविष्य का विरोध करके पदे-पदे उससे जूझने में और उसकी गति कुंठित करने में भूतकाल का जब उपयोग किया जाता है, तब नये और पुराने के बीच एक खाई बन जाती है और समाज मे दो प्रकार की विचारधाराएँ फैल कर संघर्ष को जन्म देती है। हमे अपने भूतकालीन साहित्य मे आत्मत्याग और मानव-सेवा का आदर्श ग्रहण करना होगा। अपनी कला में से अध्यात्म भावो की प्रतिष्ठा और सौन्दर्य-विधान के अनेक रूपो और अभिप्रायो को पुन. स्वीकार करना होगा। अपने दार्शनिक विचारो मे से उस दृष्टिकोण को अपनाना होगा जो समन्वय, मेल-जोल, समवाय और संप्रीति के जीवन-मन्त्र की शिक्षा देता है, जो विश्व के भावी सम्बन्धो का एकमात्र नियामक दृष्टिकोण कहा जा सकता है। अपने उच्चाशय वाले धार्मिक सिद्धान्तो को मथ कर उन का सार ग्रहण करना होगा। धर्म का अर्थ सम्प्रदाय या मतविशेष का आग्रह नही है। रूढ़ियाँ रुचि-भेद से भिन्न होती रही है और होती रहेंगी। धर्म का मथा हुआ सार है प्रयत्नपूर्वक अपने आपको ऊँचा बनाना। जीवन को उठाने वाले जो नियम है वे जब आत्मा मे बसने लगते हैं तभी धर्म का सच्चा आरम्भ मानना चाहिए। साहित्य, कला, दर्शन और धर्म से जो मूल्यवान सामग्री हमे मिल सकती है उसे नये जीवन के लिए ग्रहण करना यही सास्कृतिक कर्म की उचित शिक्षा और सच्ची उपयोगिता है।

—वासुदेवशरण अग्रवाल

विषय-सूची

संस्कृति और भारतीयता

डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय

संस्कृति का अर्थ

'संस्कृति' और 'प्रकृति' परस्पर सापेक्ष शब्द हैं। प्रकृति मे अतिशय अथवा श्रेष्ठता का आधान ही सस्कार या सस्कृति है। दूसरे शब्दो मे, सस्कृति स्वभाव का सुधार अर्थात् अभीष्ट लक्ष्य की ओर परिणाम है।[1] मनुष्य का स्वभाव क्या है, उसका चरम अभीष्ट क्या है और उसकी प्राप्ति के साधन क्या हैं, इन प्रश्नो के उत्तर सास्कृतिक प्रक्रिया को निश्चित दिशा प्रदान करते हैं। सस्कृति की परिभाषा उसके जीवन-दर्शनके सहारे ही सम्भव है, यद्यपि उसकी व्यावहारिक सफलता अथवा सिद्धि प्रकृति के ऊपर अधिकार की अपेक्षा रखती है। जीवन-दर्शन मूलत. एक निष्ठा है जिसमें आदर्श, विश्वास, और भावनाएँ सम्पिण्डित रहती हैं। निष्ठा ही मानव-चेतनाकी मुख्य प्रेरणा और चिरतन साथी है।[2] 'श्रद्धामयोऽय पुरुषो यो यच्छ्रद्ध स एव स', 'सद्धा दुतिया पुरिस्स होति'।

भारतीय निष्ठाके अनुसार मनुष्य की एषणाएँ एक अनन्त परमार्थ की ओर उद्दिष्ट हैं। अनन्त लक्ष्य की प्राप्ति के बिना मनुष्य वस्तुत सुखी नही हो सकता और न उसके दु ख ही पूर्णरूप से छूट सकते हैं। सभी कुछ पढ-लिख कर भी जब नारद शोकसे उत्तीर्ण नही हो पाए उन्हे भगवान् सनत्कुमार ने उपदेश दिया—'भूमा वै सुखम्'। प्राकृत जीवनमे मनुष्य सीमित सुख-दु खके द्वन्द्व में फसा रहता है। द्वन्द्वात्मक जीवन को दु खमय समझ कर उससे मुक्ति का यत्न ही साधना है। इस साधना का अर्थ जीवन-सग्राम से पलायन न होकर हृदय की क्षुद्रता और दुर्बलता को त्यागना है। यह मूलत मन का सुधार ही 'योग' है और इसका परिणाम है निरतिशय अपरोक्षानुभूति और जीवन-का विश्वात्मभाव मे ओत-प्रोत हो जाना। 'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत.'।

संस्कृति का प्राचीन पर्याय : आर्य धर्म

बौद्धोके अनुसार दु ख सत्यका साक्षात्कार होने पर ही मनुष्य 'आर्य' कहलाता है। आर्येतर

[1] तु०, संस्कार विषयक प्राचीन विमर्श, उदा० जैमिनि ३.१३ पर शब्दभाष्य, 'संस्कारो नाम स भवति यस्मिन् जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य'; बादरायण १.१४ पर शंकर, 'संस्कारो हि नाम गुणाधानेन वा स्याद् दोषापनयनेन वा'। आधुनिक विमर्श के प्रसंगमें कहना होगा कि 'Cultura ex Cultura' और 'Cultura ex natuia' इन दोनोमें अपरिहार्य असामंजस्य नहीं है, दे० Bidney, Theoretical Anthropology, पृ० १४६।

[2] तु०, 'In each age of the world distinguished by high activity there will be found.....some profound cosmological outlook, implicitly accepted......a general form of the forms of thought.'—Whitehead, Adventures of Ideas, पृ० २०–२१।

पुरुष 'पृथग्जन' हैं। वैदिक मत के अनुसार भी दीक्षा के द्वारा आध्यात्मिक जन्म सम्पन्न होने पर 'आर्यत्व' की प्राप्ति होती है। परम पुरुषार्थ के 'अलौकिक' अथवा 'लोकोत्तर' साधन को धर्म कहते है। 'आर्यधर्म' को ही प्राचीन भारतीय अपनी विशेषता मानते थे। वही भारतीय सस्कृति का मर्म है।

बाह्य और अभ्यान्तर पक्ष

प्रकृति-भेद पर आश्रित अधिकार-भेदके कारण चरम पुरुषार्थ की सिद्धि सहसा अथवा समान रूप से नही होती। साधना के रूपमें जीवन का क्रमिक विकास ही सम्भव है। अतएव मुख्य पुरुषार्थ के साथ गौण रूप से 'काम' अथवा ऐन्द्रिक सुख या अनित्य सुख भी 'पुरुषार्थों' मे स्थान पाता है। 'धर्म' सभी पुरुषार्थों के लिए अपेक्षित है किन्तु धर्माचरण न्यूनाधिक मात्रा मे लौकिक साधनो की अपेक्षा रखता है। लौकिक साधन 'अर्थ' कहलाते हैं। यदि 'मोक्ष' और 'धर्म' भारतीय सस्कृति का आभ्यन्तर और मुख्य पक्ष हैं 'अर्थ' और 'काम' उसका बाह्य पक्ष हैं।

भारतीय परम्परा अपने 'आध्यात्मिक' पक्ष को चिरन्तन और विश्वजनीन मानती है, 'भौतिक' पक्ष को नही। भौतिक साधन और स्थिति नितान्त ऐतिहासिक हैं और सस्कृति का लक्ष्य और सार्थकता इतिहास के बाहर। फलत भौतिक उत्थान और पतन से सास्कृतिक उत्थान और पतन का निर्णय नही हो सकता, बल्कि लौकिक सफलता और भौतिक सुख की ओर समाज का अत्यधिक ध्यान उसमे आसुरी सम्पदा की वृद्धि प्रकट करता है। धर्म की अवस्था ही सस्कृति की सच्ची अवस्था है।

बाह्य पक्ष के प्राधान्य को बुद्धिस्थ कर संस्कृति को बहुधा 'सभ्यता' की आख्या दी गई है।[३] स्पष्ट ही 'सस्कृति' और 'सभ्यता' का भेद 'औपाधिक' है और आलोचना के प्रसगो अथवा दृष्टियो को विविक्त रखने की सुविधा के लिए है। अथवा, सस्कृति समाज की अन्तश्चेतना है और सभ्यता उसकी बहिरभिव्यक्ति। यह निर्विवाद है कि सामाजिक चेतना और भौतिक साधनो मे अशत: एक अनादि कार्य-कारण-भाव है। किन्तु एक दृष्टि से चेतना का प्राधान्य स्पष्ट है—चेतना ही परिस्थिति का मूल्याङ्कन करती है और अपने लक्ष्य के अनुरूप साधनो का निर्माण। बौद्ध पदावली मे, सास्कृतिक चेतना एक 'निरात्मक' और 'प्रतीत्यसमुत्पन्न' सस्कार-प्रवाह है जो कि वैयक्तिक न होकर लोक-साधारण है।[४]

यदि सस्कृति आदर्श अर्थात् स्वरूप-कल्पना है, सभ्यता उससे प्रेरित कर्म और भोग। दोनो का ही उद्‌गम और विकास ऐतिहासिक और क्रमबद्ध होता है, यद्यपि सस्कृति शाश्वत सत्य को आदर्शित करने का दावा करती है और विशुद्ध चिन्तन के क्षेत्र में उसकी एक सि॰त को इतिहासोत्तर मानना स्वाभाविक है। ऐतिहासिक निरूपण में घटनाएँ और तिथियाँ निश्चित और आवश्यक होते

---

३ इस प्रसंग में अनेक पाश्चात्य मत सुविदित हैं, यथा स्पेंग्लर (Spengler) का मत। यहाँ जयपुरीय पं० मोतीलाल शास्त्री का बृहत् ग्रन्थ 'संस्कृति एवं सभ्यता का चिरन्तन इतिवृत्त' भी विचारार्थ उल्लेख्य है।

४ हेगेल प्रभृति अनेक आधुनिक विचारकों के द्वारा पुरस्कृत 'सामाजिक चित्त' की कल्पना तुलनीय है। चित्त, ज्ञान और वस्तु के अभिसम्बन्ध पर द्र० बोसाँके (Bosanquet, Logic, द्वितीय भाग, पृ० २६५ और आगे)। इन दार्शनिकों का चित्त ज्ञानात्मक है, अनेक मनोवैज्ञानिकों का 'संस्कारात्मक'। वस्तुतः भूतापेक्षया चित्त विषयी है, आत्मापेक्षया विषय। किन्तु चित्त के स्वरूप विचार में प्रसंगापत्ति दुर्निवार है।

हुए भी उनका यथार्थ बोध अभी सम्भव है जब उन्हें सार्थकता के अनुसार प्रवृत्तियों और युगों में सगृहीत कर लिया जाय। किन्तु जहाँ घटनाओं और तिथियो की सत्ता वास्तविक है, प्रवृत्तियो और युगो की काल्पनिक। युग-भेद दृष्टि-सापेक्ष होता है और सामाजिक और सास्कृतिक इतिहास में वह कभी अनिवार्यता व्यवस्थित और आत्यन्तिक नही होता। ऐतिहासिक जीवन की जटिलताएँ व्यवस्था और नियम की माग को एक सीमित रूप में ही पूरा करती है। अथवा यह कहना चाहिए कि इतिहास को सार्थक समष्टि के रूप मे ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक है कि उसे बौद्धिक कल्पना से सँवारा जाए अथवा उसका सारोद्ग्रहण किया जाए। वास्तविक इतिहास के अनन्त तथ्यो मे से एक सीमित अंश ही इतिहासकारो को विदित होता है और उस विदित अश को भी पूरी तौर से समझना या समझाना अब तक किसी के लिए सम्भव नही हो सका है—शायद इसलिए कि अविदित अश अधिक है, शायद इसलिए कि सार्थकता और समष्टि-संगति आदर्श सत्ताके गुण हे न कि वास्तविक सत्ता के।[५] जीवन-की सार्थकता एक आदर्श है जो कि यथार्थ या इतिहास मे अशत. ही चरितार्थ होता है।

संस्कृति और सस्कृतियाँ

आचार-विचार, भाषा और धर्म, इनमें कितना पार्थक्य, एक समाज को दूसरे से पृथक् इकाई बनाने के लिए पर्याप्त है, इसका कोई निश्चित उत्तर नही है। क्योकि सामाजिक एकता और विभेद 'वस्तुगत' न होकर 'भावगत' होते हे। सास्कृतिक विकास की विविध धाराएँ मानव प्रकृति की विविध सभावनाओ से उत्पन्न होती है, किन्तु मानव-मात्र का चरम लक्ष्य एक ही है और सभी महत्त्वपूर्ण सास्कृतिक धाराएँ एक ही पारावार की ओर न्यूनाधिक मात्रा मे प्रवाहित रही हैं—'नृणामे को गम्य-स्त्वमसि पयसामर्णव इव'।

विशिष्ट प्रजाति एव प्रदेश का आश्रय लेकर सभ्यता का जन्म होता है और तदनुरूप प्रतीकों और व्यवस्थाओ मे प्राथमिक अभिव्यक्ति, किन्तु विकास के साथ ही वह अपनी परम्परा और स्व-निर्णीत लक्ष्य की अभीप्सा से अधिकाधिक सचालित होती है और उनके अनुरूप अपनी बाह्य परिस्थिति को मोड़ देनेका यत्न करती है। एक विशिष्ट समाज की जीवन-विधा के रूपमे जन्म लेकर भी सस्कृति क्रमश अपने को एक आदर्श जीवन-विधा मे ढालना चाहती है। स्पष्ट ही उसकी जातीयता अथवा प्रादेशिकता उसकी आरम्भिक उपाधियाँ हे न कि उसके मार्मिक तत्व। दूसरे शब्दो में विभिन्न सस्कृतियाँ वास्तव मे जीवन के विभिन्न आदर्श हैं जा कि सभी अपने को परम मानते हे एव विश्वजनीन और चिरन्तन होने का दावा करते है।[६] सस्कृतियो के इतिहास उन्हे पृथक् करते है, उनके आदर्श उन्हें एक ही मानव-प्रकृति के विविध पक्षो से सयोजित। सच यह है कि ऐतिहासिक सभ्यताओ के अन्दर

---

५ ऐतिहासिक बोधकी प्रक्रिया में एक अनिवार्य अनैकान्तिकता है। 'एको भावः सर्वथा येन ज्ञातः सर्वे भावाः सर्वथा तेन ज्ञाताः'। इतिहास का आदर्श एक अप्राप्य सर्वज्ञता है जिसके प्रकाश-में सभी घटनाएँ सह्य हो जायें—'Tout comprendre c'est tout pardonnner' तु० 'But it is a laborious, and never completed, task to rediscover the original coherence of a past mode of life from the surviving remains.' (Frankfort, The Birth of Civilization in the Near East पृ० २०)।

६ तु० Ruth Benedict, Patterns of Culture, पृ० २३–२४।

स्वयं बहुत सांस्कृतिक भेद देखा जा सकता है। प्रत्येक समाज की ऐतिहासिक परम्परा जटिल है और उसमें अनेक सांस्कृतिक स्तर और दिशाएँ मिलती हैं। किसी सम्कृति की आभ्यन्तरिक एकता तथा अन्य संस्कृतियो से उसका पार्थक्य सर्वथा दृष्टि-सापेक्ष है। उदाहरण के लिए मध्यकालीन मुस्लिम सभ्यता की चर्चा में भाषा की विविधता गौण होकर धर्म की एकता प्रधान हो जाती है। मध्यकालीन ईरानी और अरब सभ्यताओ की चर्चा में भाषा और वाङ्मय का भेद प्रधान हो जाता है, धर्म की एकता गौण।

भारतीयता का प्रश्न

भारतीय संस्कृति की एकता पहिचानने के लिए भी यह आवश्यक है कि उसमें निरूपित जीवन के आदर्श की ओर ध्यान दिया जाय। चूँकि यह आदर्श पारमार्थिक है, यह किसी विशिष्ट व्यावहारिक व्यवस्था से आत्यन्तिक या स्थायी लगाव नही रखता। परमार्थ व्यवहार की अवस्था-विशेष नही है, अपितु उसकी परावृत्ति है जो कि वस्तुत मनोवृत्ति का भेद है। मन का वशीकार ही भारतीय सस्कृति-का मूल मन्त्र है। यही योग-विद्या है। मन के बदलने से व्यवहार और परमार्थ, ससार और निर्वाण का भेद हट जाता है, समस्त भेद-जगत् ही मिथ्या हो जाता है। जिसने मनको जीत लिया वही सिद्ध है, जीवन्मुक्त है, महात्मा है। इस प्रकार का महात्मा ही समाज मे सर्वाधिक आदर का पात्र है। प्रतापी राजा, धनी सेठ या चतुर शिल्पी से उसका स्थान ऊँचा है। यही भारतीय सस्कृति में जीवन-का आदर्श है। भारतीय इतिहास के प्रत्येक युग मे ऐसे महापुरुष हुए है जिनके जीवन मे यह आदर्श चरितार्थ हुआ और जिनका प्रभाव देशव्यापी था। यही भारतीय सस्कृति की एकता, वास्तविकता और जीवन्तता है। सृष्टि का सामर्थ्य ही जीवन है और अपने आदर्श के अनुरूप पुरुषो को उत्पन्न करने-में समर्थ सस्कृति को जीवन्त ही कहा जायगा।

प्राचीन यूनानी, चीनी और अरब पर्यवेक्षको ने भारत मे अन्य देशो से विशिष्ट एक सभ्यता को फैला हुआ पाया। सस्कृत भाषा और वर्ण-व्यवस्था, इन दोनो मे इस सभ्यता का बाहरी वैलक्षण्य प्रकटतम रूपसे सगृहीत था। प्रादेशिक, प्रजातीय और राजनीतिक भेद बहुत होते हुए भी भाषा और धर्म की शिष्ट-परिगृहीत एक व्यापक और समान परम्परा के समक्ष गौण हो गए थे। तथापि, उस समय भी भारत की मौलिक एकता को इन बाहरी और अस्थिर तत्वो मे न खोजना चाहिए। यदि भाषा और सामाजिक सगठन भी भारतीय सस्कृति का मर्म प्रदर्शित नही करते, अन्न-पान, वसन-भूषण आदि में उसका अन्वेषण शरीर-रचना में आत्म-दर्शन का प्रयास है। प्राचीन युगमें इन सभी दृष्टियो से भारत मे एक विशिष्ट सभ्यता का विकास हुआ था किन्तु अनिवार्य ऐतिहासिक परिवर्तनो से पिछली सहस्राब्दी मे यह सभ्यता अनेक अशो में रूपान्तरित और विपरिवर्तित हुई। सस्थाओ के स्वाभाविक विकास और ह्रास के अतिरिक्त विदेशी सभ्यताओ के भारत में बलपूर्वक प्रवेश और अवस्थान ने विभिन्न मात्राओ में सास्कृतिक प्रगति, सामाजिक समन्वय अथवा सहावस्थान, भौतिक सग्रथन, सास्कृतिक सकर और अन्तत देश-हत्या को जन्म दिया। राजनीतिक पराजय और भौतिक दुरवस्था से त्रस्त होकर अनेक भारतीयो की 'आर्य धर्म में श्रद्धा विचलित हो गई और वे भूल गए कि 'धर्मो रक्षति रक्षितः'। इस प्रकार सभ्यता के अनिवार्य युग-परिवर्तन के साथ-साथ भारत की मूल सस्कृति भी संकटापन्न हो गई है।

इस मूल संस्कृति के आधार पर नाना आर्य और द्रविड़, किरात और निषाद, यवन और

शक, पह्लव और हूण जातियों के संस्कृतियो से एक विशाल और उदार सभ्यता का जन्म हुआ था जिसमें असख्य विभेद अध्यात्म विद्या की सूक्ष्म परम्परा मे गुथे हुए थे— 'सूत्रे मणिगणा इव'* । यह सभ्यता कोरी आदर्शवादी या अव्यावहारिक नही थी । पर यह सच है कि पारमार्थिक आदर्श का यथार्थ अनुसरण अति कठिन है और प्राय. सदा ही जनता में प्रचारित और स्वीकृत धर्म परमार्थ का साधन होने के स्थान पर केवल व्यवहार-सग्रह रह जाता है । फलत प्राचीन भारतीय सभ्यता के अन्दर भी असामजस्य और विरोध अनिवार्य थे, जिन्हो ने क्रमश बढ कर उसे एक अन्त सघर्ष प्रदान किया । जातिवाद और वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत वैषम्य इस प्रक्रिया के उदाहरण हैं ।

धर्म समाज के लिए परम सत्य के रूप में आविष्कृत हुआ था । 'सत्यस्य सत्यम्' । इसकी एक प्रगतिशील और उदार परम्परा सदा विद्यमान रही है जो उपनिषदो मे और महाभारत में, बौद्धों में और सिद्धों में, सतों में और आधुनिक सुधारको मे अविच्छिन्न रूप से देखी जा सकती है । यही मूल सस्कृति की जीवन्त धारा है । दूसरी ओर स्मृतियो और पुराणो ने 'आर्य धर्म' को तात्कालिक प्रथाओ-के सग्रह से निश्चित सस्थागत रूप और देशगत सीमाएँ प्रदान की जिससे वह एक प्रकार का 'राष्ट्र धर्म' बन गया । बौद्ध धर्म के तिरोभाव से तथा आक्रमणकारी 'परधर्म' के भय से इस वैदिक-पौराणिक परम्परा मे कट्टरता बढ गई और धर्म एक ऐसी समाज-व्यवस्था मे परिणत हो गया जिसके प्रयोग का क्षेत्र एक निर्दिष्ट ऐतिहासिक समाज मात्र था । इस प्रकार अपने आध्यात्मिक और परम लक्ष्य के सहारे नाना जातीय सस्कृतियो को आकती और यथोचित रूपसे आत्मसात् करती हुई एक व्यापक और विकासशील सस्कृति के स्थान पर भारत मे अशत एक सकीर्ण और कट्टरपथी सस्कृति का आविर्भाव हुआ जो कि जातीय होते हुए भी समुचित राष्ट्रीय चेतना से युक्त नही थी ।

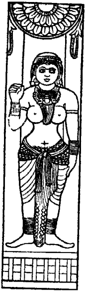
भारतीय सस्कृति की उपर्युक्त दो धाराओ में एक प्रगतिशील एव विश्वजनीन किन्तु अपर्याप्त रूपसे व्यावहारिक रही है, दूसरी इसके विपरीत कट्टर, सकीर्ण, किन्तु व्यवहार-समर्थ । पहली अधिकतर निवृत्ति धर्म और सामान्य धर्म की परम्परा है, दूसरी अधिकतर प्रवृत्ति धर्म और वर्णाश्रम धर्म की । धर्म व्यवहार और परमार्थ के बीच का पुल है किन्तु यही धर्म की शाश्वत कठिनाई है कि वह एक तट से सलग्न होकर दूसरे को छोडने लगता है । आदर्श और व्यवहार का सार्वधिक असामजस्य आदर्श के पारमार्थिक होने पर असाध्य-सा होने लगता है । भारतीयता के मूल आदर्श को ऐतिहासिक स्तर पर पूर्णत. चरितार्थ करने का प्रश्न अभी असमाहित है । किन्तु यह भारत की असफलता न होकर समस्त मानव इतिहास की है ।

---

* तु०, म० म० गोपीनाथ कविराज, 'भारतीय संस्कृति और साधना' ।



सुपवासोयक्ष



श्री मां देवता



कुबेर



चक्रवाक नागराज



देवी सरस्वती ?



चुलकोका देवता

भरहुत कला की धर्म भावना

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

भरहुत का स्तूप प्राचीन भारतीय कला का महान् तीर्थ है । वह किसी उदात्त मस्तिष्क की समृद्ध कल्पना है । स्तूप की वेदिका और तोरण अलंकरणों के चित्र धार्मिक कथाओ के कोश ही बन गए हे । उनकी उकेरी और सज मे जितने विस्तृत अर्थ का समावेश कर दिया गया उसमे प्राचीन भारतीय धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन का सुन्दर परिपूर्ण चित्र प्राप्त होता है । भरहुत और साची के विशाल स्तूप प्राचीन भारतीय कला के दो तेजस्वी नेत्र हैं । इन चक्षुओं की सहायता से सस्कृति की गहराइयों में जो अर्थ छिपा हुआ था, उसका देखना हमारे लिए सुलभ बन गया है ।

इन दोनों स्तूपों की भौगोलिक स्थिति जैसे भारतीय महाद्वीप का कलात्मक सयोजन सूचित करती है । पश्चिम मे शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा से अवन्ति जनपद की राजधानी उज्जयिनी को जो मार्ग जाता था उसपर साँची स्तूप का निर्माण हुआ । पूर्व की ओर श्रावस्ती से कौशाम्बी होकर जो मार्ग चेदि-महाकोसल को जात। था उसी के महत्त्वपूर्ण भाग पर भरहुत का स्तूप बनाया गया । इस मार्ग का और भी महत्व था । नर्मदा और शोण के उद्गम के स्थान मेकला पर्वत के पश्चिमी ढलानो से आरम्भ होकर जो मार्ग पहले उत्तर की ओर आकर फिर पूर्व की ओर शोण नदी की घाटीमे होता हुआ पाटलिपुत्र से जा मिलता था, उसका भी महत्त्वपूर्ण पडाव भरहुत मे था । यो किसी चतुर भूगोलवेत्ता और वास्तु विद्याचार्य ने भरहुत के स्तूप का स्थान निर्णय किया था ।

इस स्तूप की कई विशेषताएँ हें । भारतीय ऐतिहासिक कल।का यह सबसे प्राचीन प्रयत्न है, जो इतने विशाल रूपमें किया गया । इससे पूर्व अशोक की मौर्य कला एक दूसरे धरातल पर थी । शुद्ध भारतीय लोक कला और धार्मिक कला का जैसा पूर्णरूप भरहुत के स्तूप मे विकसित हुआ, वह कला के इतिहास की दृष्टि से विशेष अध्ययन की वस्तु है । भरहुत का स्तूप मौर्यकाल के अत और शुग काल के आरम्भ —दूसरी शती ईसवी पूर्व की रचना है । साँची का स्तूप उसके कुछ काल बाद का है । इस स्तूपकी दूसरी विशेषता यह है कि इसके द्वारा हम भारतीय स्तूप, तोरण और वेदिकाओं के समन्वित विकास का दर्शन कर सकते हें । किसी समय पूर्व युगमें मिट्टी या ईंटों के स्तूप होते थे । कालान्तर में वेदिका और तोरणों के निर्माण की प्रथा पड़ी । इस अवस्था तक पहुँचने मे पर्याप्त समय लगा होगा । विकास की वे कड़ियाँ आज उपलब्ध नही हे, पर स्तूप बुद्ध के समयसे ही बनने लगे थे । उन स्तूपों से भरहुत के युग तक किस प्रकार नए नए वास्तु के अग जोडने से स्तूप का स्वरूप अधिकाधिक उन्नत होता गया । इस विषय की सामग्री अब लुप्त हो गई है । भरहुत स्तूप में हम विकास की एक पूर्ण अवस्था का दर्शन पाते हे ।

भरहुत स्तूप के तोरण और वेदिकाओं की अन्य विशेषता यह है कि इनके निर्माता शिल्पियों ने अपने से पूर्वकालीन काष्ठ शिल्प शैली की विशेषताओ की अधिक से अधिक मात्रा में रक्षा की । वेदिका स्तम्भो को देखकर ऐसा लगता है मानों काष्ठशिल्प ने पत्थर का चोला पहिन लिया है । अष्टास्त्र-स्तम्भों (पाली>अट्ठस खंभ) पर झूलनेवाली फूलमालाएँ ज्योंकी त्यों लकड़ी से पत्थर में उतार दी गई

हैं। उष्णीषों की गोल मुडेरों की पेंदी में छिदी हुई चूलें काष्ठ शिल्प के ही अधिक अनुकूल थी। भरहुत के शिल्पियों ने चमत्कार करके दिखाया, जिसके काष्ठशिल्प की विशेषताओं और मर्यादाओ को पत्थर में साकार कर दिया। यहाँ की वेदिका की यह भी विशेषता है कि न केवल तोरण बल्कि प्रत्येक वेदिकास्तम्भ उत्कीर्ण किया गया था। साची के वेदिकास्तम्भ नितान्त सादा हैं, केवल तोरणो पर सजावट है। भरहुत के कुशल शिल्पी अलकरण के धनी थे। हृदय की पूरी उमग से उन्होने एक-एक वेदिकास्तम्भ, सूची और उष्णीष को सौन्दर्य विधान से लाद दिया है। यह सब कला की अभूतपूर्व सामग्री बन गई है।

भरहुत के शिल्पी भारतीय लोकहृदय के अधिक सन्निकट थे। यह बात कई प्रकार से प्रकट होती है। लोकधर्म के जो देवी-देवता थे, उनका अकन जैसा भरहुत के वेदिकास्तम्भों पर पाया जाता है, भारतीय कला में अन्यत्र कही नही मिलता। यक्ष, यक्षी और नागों की मूर्त्तियाँ जैसे लोकधर्म की जीवित परम्परा से उठकर किसी नए धार्मिक आन्दोलन मे सम्मिलित होने के लिए चली आ रही हैं। धार्मिक समन्वय का यह महत्त्वपूर्ण अध्याय था। इसका आरम्भ कब हुआ और किसने किया इस प्रश्न की छानबीन अभी नही हुई है, किन्तु पाणिनि के युगमे भागवतो का धार्मिक आन्दोलन शुरू हो चुका था, जिसका उल्लेख उन्होंने वासुदेव की भक्ति करनेवाले 'वासुदेव के भक्तो' के रूप मे किया है। ऐसे ही उनके अभिन्न सखा अर्जुन के भक्त अर्जुनक भी पाणिनि के समय मे थे। वासुदेव और अर्जुन दोनो का ही धार्मिक रूपान्तर नारायण और नर की कल्पना मे पाया जाता है। नारायणीय धर्म महाभारत का महत्त्व-पूर्ण धार्मिक प्रकरण है। वह भागवतधर्म की ही समृद्ध कल्पना थी। इसी का विकास चतुर्व्यूहात्मक पंचरात्र धर्म के रूप मे हुआ। भागवतो की सबसे बडी विशेषता देवताओ और धर्मों का समन्वय प्रस्तुत करना था। गीता के दसवे अध्याय में भागवतो का दृष्टिकोण अपने पूरे रूप मे देखा जा सकता है। अर्जुन ने प्रश्न किया 'कृष्ण, अपनी उन विभूतियो का वर्णन करो, जो विभूतियाँ या देवरूप लोक मे व्याप्त हैं'—

'वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतय ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्व व्याप्य तिष्ठसि ॥' (गीता १०।१६)

उत्तरमे कृष्ण ने उन अनेक देवताओ का उल्लेख किया है, जिनकी लोक मे मान्यता और पूजा प्रचलित थी—जैसे 'रुद्रों मे मैं शकर हूँ। यक्ष राक्षसो में कुबेर हूँ। पर्वतो मे मेरु हूँ। वृक्षो में पीपल हूँ। नदियों मे समुद्र हूँ। सेना वालों मे स्कन्द हूँ। हाथियो मे ऐरावत हूँ। अश्वो मे उच्चैःश्रवा हूँ। गायो में कामधेनु हूँ। नागों में अनन्त हूँ। सर्पों में वासुकि हूँ। पक्षियो में गरुड हूँ। स्रोतों मे गगा हूँ। जलचरों में मगर हूँ। मृगो मे सिह हूँ। ये मैंने थोड़े से रूप बताए और भी बहुत से हैं, जिनका अन्त नही है।' उस समय लोक मे वस्तुतः इन देवताओ की पूजा प्रचलित थी। सुत्तनिपात की 'निद्देस' नामक टीका में लोकधर्मों की एक अच्छी सूची पाई जाती है। उसमें इन देवताओ का व्रत या भक्ति करनेवालो के नाम हैं हस्ती, अश्व, गौ, कुक्कुर, काक, वासुदेव, बलदेव, पूर्णभद्र, मणिभद्र, अग्नि, नाग, सुपर्ण, यक्ष, असुर, गन्धर्व, महाराज, चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, ब्रह्मा। 'मिलिन्दपन्ह' में भी लोक धर्मों की एक सूची है, जिसमें पर्वत, चन्द्र, सूर्य, मणिभद्र, पूर्णभद्र के नाम हैं। इस प्रकार अनेक लोकदेवताओं को अपने साथ लेकर भागवतधर्म आगे बढ़ा था। उसमें किसी का निराकरण नहीं किया गया।

अशोक के अभिलेखो से इस स्थिति पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पडता है। उसमें दो बातें उल्लेखनीय हैं। एक अशोक ने कहा है—'धार्मिक-पूछताछ के लिए मैं लोक के सपर्क मे आया हूँ। मैंने जानपद जन का दर्शन किया है। पहले के राजा अपनी मौज के लिए जो विहार-यात्रा किया करते थे उसे छोड़कर मैंने धर्मयात्रा की है।' जनसंपर्क और धर्मयात्रा का जैसा फल होना चाहिए था वही हुआ। अशोक ने लिखा है—

'अमिसा देवा मिसा कटा' (स०>अमिश्रा देवा: मिश्रा कृता)। अशोक का यह वाक्य विद्वानो के लिए बड़ी उलझन का रहा है। इसका स्पष्ट अर्थ नही समझा जा सका। वस्तुतः अशोक के कथन की जो पृष्ठभूमि थी, उसी मे इस महत्त्वपूर्ण परिवर्तन को समझा जा सकता है। 'पहले जो देवता मिले हुए नही थे, वे अब मिल गए हैं'—इस कथन का सीधा और सरल अर्थ लेना होगा। ऊपर की सूची के लोकदेवता अपने अपने भक्तो में माने और पूजे जाते थे, औरो के लिए उनका कोई अस्तित्व और महत्व न था। मिलिन्दपन्ह मे स्पष्ट लिखा है कि ये जो व्रत या भक्तिपूजा के प्रकार हैं वे अपने-अपने भक्तों मे ही प्रचलित हैं। जो जिसमे विश्वास करता है वह उसका रहस्य दूसरे से प्रकट नही करता। अपने गण मे ही उसे छिपाकर रखता है (तेसतेस रहस्स तेसु तेसु गणेसु येव चरित अवसेसाना पिहित)। अब उस स्थिति मे परिवर्तन हुआ। अशोक ने जनता से सीधा सपर्क स्थापित किया, उनसे धर्म-विषयक पूछताछ की (धम्मपलिपुछा)। उसका फल यह हुआ कि जानपदजन या लोक के जो धर्म देवता, भक्ति के प्रकार, भाव विभूतियाँ या व्रत थे (ये सब शब्द इस विषय के उल्लेखों में प्रयुक्त हुए हैं), और जो पहले एक दूसरे से अनमिल थे वे अब एक दूसरे से मिल गए।

यह मिलना दो प्रकार से या दो क्षेत्रों में या दो धरातलो पर हुआ होगा। एक भागवतों-का जो आन्दोलन था उसमें लोक देवताओ का भगवान् वासुदेव कृष्ण के साथ मेल किया गया। जैसे रत्नो की माला मे एक मध्यमणि के साथ बहुत से रत्न पिरो दिए जाते हैं, ऐसे ही यह सम्मेलन हुआ। दूसरा मेल-जोल बौद्धधर्म के साथ लोकधर्म का हुआ। जैसे एक माला में बहुतसे फूल एक साथ गूँथे जाते हैं, वैसे ही यह मिलना हुआ। अशोक का सकेत इसी महत्त्वपूर्ण धार्मिक घटना से है। यह कोई ऐसा वैसा परिवर्तन न था, बल्कि उसने लोगोके जीवन को नए उत्साह और नई उमग से भर दिया। अपने-अपने देवताओं को मानने हुए भी बुद्ध का महान् प्रशान्त प्रफुल्लित व्यक्तित्व उनके लिए सुलभ हो गया। दोनों पक्षों का सौरभ परस्पर मिल गया। यह बुद्ध के धर्म की विजय थी, लोकधर्म की भी कम विजय न थी। अशोक का वाक्य इस महत्त्वपूर्ण धार्मिक परिवर्तन और समन्वय की ओर संकेत करने वाला अर्थगर्भित सूत्र है।

इस परिवर्तन का क्या परिणाम हुआ और उसका कैसा स्वरूप बना—यदि यह जानना चाहें भरहुत स्तूप के तोरण और वेदिका-स्तम्भों का दर्शन करें। अशोक का जो अभिप्राय है, वही यहाँ प्रत्यक्ष दिखाई पडता है। उसने जानपदजन के पास स्वयं पहुँचकर या अपने धर्ममहामात्रो को भेजकर जो धार्मिक चेतना उत्पन्न की थी, उसका सुफल भरहुत के वेदिकास्तम्भो पर अंकित है। एक ओर बुद्ध का उदात्त जीवन-चरित और दूसरी ओर लोक की अपनी भक्ति पूजा दोनो एक साथ मिल गए हैं। धर्म, नीति और भक्ति के मिलने से जीवन का जो कलात्मक रूप सभव होता है, वही भरहुत में प्रत्यक्ष है।

बड़े-बड़े यक्षों के राजा और नागों के राजा, देवता और अप्सराएँ, अपने समस्त वैभव, यौवन और सौन्दर्य, अलकरण और उल्लास की छटा बिखेरते हुए बुद्ध के स्तूप में आकर विराजमान हुए।

उनकी ज्योति से वह स्तूप जो बुद्ध के निर्वाण का प्रतीक था जगमगा उठा एव जीवन के सौन्दर्य से भर गया। जीवन की इस समृद्धि मे बौद्धधर्म का दुःखवाद कही बह गया। जो अभाव और निराकरण का पथ था वह कल्याण रूप के दर्शन मे बदल गया। बुद्ध का स्तूप लोकधर्मी-देवताओं का तीर्थस्थान बन गया। यही भरहुत स्तूप का सच्चा स्वरूप है। उत्तरी तोरण के खम्भे पर कुबेर यक्ष (कुपिरो यखो) की मूर्त्ति उत्कीर्ण थी। उसके साथ अजकालक यक्ष और चन्दा यक्षिणी की मूर्त्तियाँ मिली हैं। कुबेर की पूजामे लोकधर्म की कितनी व्यापक मान्यता थी, उसके कितने बहुसख्यक सूत्र इस एक पूजा में एकत्र मिले हैं, इसके विवेचन का यह उपयुक्त स्थान नही है। प्राचीन मान्यता के अनुसार चार लोकपाल अपने गणों के साथ चार दिशाओं की रक्षा करते हैं, यक्षो के स्वामी कुबेर उत्तर दिशा की, गन्धर्वों के स्वामी धृतराष्ट्र पूर्व दिशाकी, कुम्भाण्डो के स्वामी विरूढक दक्षिण दिशा की ओर नागो के स्वामी विरूपाक्ष पश्चिम दिशा की। ये सब लोक धर्म के बिखरे हुए सूत्र थे। उनके एकसाथ बट जाने से जो मेखला बनी ब्राह्मणधर्म मे उससे अन्तत महादेव का रूप अलकृत हुआ। ये सब महादेव के परिवार में खप गए। यही लोकदेवताओ का भागवतो के मार्ग से हिन्दूधर्म मे अन्तर्भाव हो जाना था। कुछ विष्णु के परिवार में और कुछ महादेव के परिवार मे लीन हो गए। विष्णु भागवतो की भाति जगम भागवतो का भी प्राचीन काल मे अस्तित्व था, जिसका पतजलि ने महाभाष्य मे उल्लेख किया है। भरहुत के स्तूप में चार तोरणो पर चार लोकपालो की मूर्तियाँ बनाई गईं। स्तूपसे ही इनका कोई विशेष सम्बन्ध न था। ये दिग्पाल देवता थे, दिशाओ की रक्षा से उनका सम्बन्ध था और इसी प्रसग में चार तोरणो की रक्षा के लिए उनका रूप अकित किया गया। दक्षिण के तोरण पर विरुढक की काय-परिमाण मूर्त्ति उत्कीर्ण मिली है। उनके साथ गंगित यक्ष और चक्रवाक नागराज की मूर्त्तियाँ पाई गई हैं। अजकालक यक्ष, गगित यक्ष ये लोक मे पूजित छुटभैए यक्ष थे। आदिपर्व में स्थानीय देवता अजक का उल्लेख है, जिसकी पूजा से साल्व जनपद के राजा का जन्म हुआ (आदि पर्व ६१।१७)। सभव है यह कोई ऐसा यक्ष या देवता था जिसकी पूजा तन्तिपाल या गडरिए भेड बकरियो की रक्षा के लिए करते थे। सभापर्व की सूची मे गगिता देवी का नाम आया है। उसी का पुरुष रूप गगित यक्ष रहा होगा। पश्चिम के फाटक पर विरूपाक्ष लोकपाल की मूर्त्ति मिली है। उसी ओर के वेदिका स्तम्भो पर सूचिलोम यक्ष और सुपवासो यक्ष की प्रतिमाएँ पाई गई हैं। पूर्व तोरण के रक्षक लोकपाल धृतराष्ट्र थे, पर वह खम्भा मिला नही। उधर की वेदिका पर सुदर्शना यक्षी की मूर्त्ति मिली है। इस प्रकार भरहुत मे छ. यक्ष और दो यक्षियो की प्रतिमाएँ वस्तुत. प्राप्त हो गई हैं और भी न जाने यक्षो का कितना बडा परिवार वेदिका के उन खम्भो पर था जो अब खो गए हैं। यक्षो के अतिरिक्त भरहुत मे तीन अत्यन्त सुन्दर स्त्री-मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण हैं, जिन्हे देवता कहा गया है। अकेला देवतापद कुछ विचित्र सा है, पर सुत्त निपात की सूची में बाईस देवताओ के नामो में देवदेवता की गिनती है। यही स्त्रीरूप मे देवता करके पूजे जाते थे। भरहुत मे सिरिमा देवता, महाकोकादेवता, चुलकोकादेवता ये तीन मूर्त्तियाँ मिली हैं। सिरिमा श्रीलक्ष्मी (या लक्ष्मी) का प्राचीन नाम था। महाकोका, चुलकोका बडी और छोटी कोका नाम की देवियाँ थी। देवताओ में भी छोटे और बड़े इस प्रकार के विशेषण जोड़े जाते हैं। लोकधर्म मे प्रायः ऐसा होता है। काशी में यक्ष पूजा की अवशिष्ट सामग्री का अध्ययन करते हुए इसी ढग के दो नाम मिले। एक लहुराबीर अर्थात् छोटा यक्ष और दूसरा उसकी स्पर्धा मे बुल्लाबीर यानी बडा यक्ष (विपुल>विउल>बुल्ल = बड़ा)। पश्चिमी तोरण का देवता विरूपाक्ष नागों का अधिपति माना जाता है। अतएव भरहुत में बड़े-बड़े

नागराज भी उपस्थित होकर बुद्ध की पूजा में योग देते हैं। इनमें से नागराज एला पत्र और नागराज चक्रवाक की मूर्तियाँ मिली हैं, जिनपर नाम अंकित हैं। नागराज एलापत्र बोधिवृक्ष के नीचे बोधिमण्ड पर भगवान् बुद्ध की अदृश्य उपस्थिति को हाथ जोड़कर श्रद्धाजलि अर्पित कर रहा है। पूर्वतोरण के रक्षक धृतराष्ट्र गधर्व और अप्सराओ के स्वामी हैं, अतएव भरहुत मे अप्सराओ का अकन भी पाया गया है। सुत्तनिपात की सूची में गन्धर्व अप्सराओ की पूजा करनेवाले गन्धर्वव्रतिक कहे गए हैं। गीता के विभूति-योग में गन्धर्वों की पूजा का उनके राजा चित्ररथ के रूपमे नाम आया है। चित्ररथ से या धृतराष्ट्र नाम भेद से लोकमान्यता मे कोई भेद नही पडता। भरहुत मे मिश्रकेशी, अलम्बुषा, सुभद्रा और सुदर्शना इन अप्सराओ के नृत्य और गीत का सुन्दर अकन हुआ है। जिस समय बुद्ध ने यह निश्चय किया कि वे तुषितस्वर्ग से पृथिवी पर आकर जन्म लेंगे देवताओ ने अपने हर्ष को व्यक्त करने के लिए नृत्य और गीत का आयोजन किया। इस दृश्य को भरहुत के लेखमें तीन विशेषण दिए गए हैं 'साडकं सम्मद दुर देवान'—ये तीनो पारिभाषिक शब्द हैं। कनिघम ने लिखा था कि इनका अर्थ ज्ञात नही होता। स्टेनकोनो ने प्रथम शब्द 'साडक' की पहचान सट्टक से की है, जो यथार्थ है। सट्टक एक प्रकार का शुद्ध लोकनाट्य था, जिसमें बोलचाल की भाषा के माध्यम से नृत्य और गीत की प्रधानता होती थी। दूसरा शब्द सम्मद है, जिसकी व्याख्या पाणिनि ने अपने एक सूत्रमें की है 'प्रमद सम्मदौ हर्षे' (३।३।६८), अर्थात् सम्मद हर्ष प्रधान उत्सव को कहते थे। तूर्यका अर्थ वदवाद्य है, अर्थात् कई बाजो को एक साथ बजा कर लयात्मक सगीत उत्पन्न करना। भरहुत के इस दृश्य मे कुछ गानेवाले हैं, चार स्त्रियाँ नृत्य कर रही हैं, वृद वाद्य या तूर्य मे वीणावादिनी, पाणि-वादन या ताल देनेवाली, मड्डुक या हुडक बजानेवाली और मृदग बजानेवाली मार्दंगि की स्त्रियाँ अकित की गई हैं। नृत्य करती हुई चारो स्त्रियो के नाम दृश्यमे उत्कीर्ण हैं—सुभगा अछरा, सुदसना अछरा, मिसकेसि अछरा, अलबुसा अछरा। अतएव यह माना जा सकता है कि इस दृश्य मे देवताओ की ओर से उस अवसर पर जो तूर्य के साथ सट्टक का आयोजन किया गया था उसी का अंकन है।

भरहुत के स्तूप मे जिन दृश्यो की कल्पना है, उनमें मानो उस समय का सारा संसार ही आ गया है। लोकदेवताओ के अतिरिक्त जीवन के और जितने भी पक्ष थे उन सबका कला मे स्वागत किया गया है। मानव, पशु, पक्षी, वृक्ष, वनस्पति, राजा, प्रजा, तपस्वी, भिक्षु, आचार्य, शिष्य—इन सबका अकन भरहुत शिल्प में यथास्थान हुआ है जिससे उस समय के समाज का परिपूर्ण चित्र हमारे सामने आ जाता है। सम्राट् और राजा इस उत्सवपूर्ण वातावरण मे प्रजाओ के धरातल पर आकर उत्साह और उमंग से भाग लेते हैं। एक दृश्य मे कोसल के राजा प्रसेनजित् और दूसरे मे मगध के राजा अजातशत्रु अंकित हैं। वे राजपरिवार के साथ आकर बुद्ध के प्रति अपनी भक्ति भावना प्रकट करने के लिए बोधिमंड के सामने सिर झुकाकर प्रणाम करते हैं। दृश्य का नाम है—'अजातशत्रु भगवतो वंदते।' दूसरे दृश्य में कोसल के राजा प्रसेनजित् की उस पुण्यशाला का अकन है, जो उन्होंने भगवान् बुद्धके समादर के लिए श्रावस्ती में बनवाई थी। इसी पुण्यशाला के एक भाग मे बुद्ध का धर्मचक्र स्थापित है जिस पर लिखा है—'भगवतो धमचकम्।' धर्मचक्र प्रतीकरूप में बुद्ध की विद्यमानता सूचित करता है। राजा रथ पर चढ़कर आते हैं और धर्मचक्र को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। उस समय के जो धार्मिक भवनों का स्वरूप था उन्ही का अकन पुण्यशाला एव बोधिघर के रूप मे हुआ था।

बोधिघर बोधि या पीपल के वृक्ष का मन्दिर था। यह प्राचीन रुक्ख पूजा या वृक्ष पूजा की परंपरा थी, जिसकी लोक में मान्यता थी। बुद्ध से भी पहले पीपल का वृक्ष पवित्र माना जाता था।

अथर्ववेद में अश्वत्थ को देवसदन या देवों का निवास स्थान कहा गया है। पीपल के एक-एक पत्ते पर देवता बसते हैं। ऐसा लोक विश्वास अभी तक है। बुद्ध धर्म के साथ मिलकर उस पुरानी पीपल पूजामें नया अर्थ भर गया। अब वह नए प्रसग में पुरानी वृक्ष पूजा न रह कर बुद्ध के बोधि-वृक्ष की पूजा मानी जाने लगी। धार्मिक भावना वही थी, केवल उसकी एक नयी व्याख्या हो गई।

प्राचीन भारतीय लोकधर्म का क्षेत्र बहुत विस्तृत था। पूजा के उत्सव को मह कहते थे। लोग नृत्य गीतके साथ जिस देवता की पूजा करते वह उसी का मह कहलाता था। एक पुरानी सूची में इनके नाम इस प्रकार हैं—इन्द्रमह, स्कन्दमह, रुद्रमह, मुकुन्दमह, वैश्रवणमह, नागमह, यक्षमह, भूतमह, स्तूपमह, चैत्यमह, वृक्षमह, गिरिमह, दरीमह, अगडमह, नदीमह, सरमह, सागरमह, (रायप्सेणीयसुत्त, कंडिका १४८)। कुछ दूसरी सूचियो मे और भी नाम हैं जैसे—उद्यानमह, तडागमह, धनुर्मह, काममह, चन्द्रमह, ब्रह्ममह। महका तात्पर्य देवता के स्थान में विशेष अवसर पर आयोजित मेले से था। इस प्रकार के मेले को प्राचीन शब्दावली मे यात्रा कहते थे। उसी से प्राकृत मे जत्त और आजकल का जात शब्द बना है। वृक्षो की पूजा के लिए भी उसी प्रकार की यात्राएं या मह या मेले होते थे जैसे कि अन्य लोकधर्मी देवताओ के लिए। इन मेलो की उत्सव भावना समान थी। बौद्धधर्म के बोधिवृक्ष के पूजन या लोकधर्म के अतर्गत पीपल पूजने के मेले, दोनो में आनन्द उल्लास और भक्ति-भावना में कोई अन्तर नही आया। बौद्ध धर्म के अष्टागिक मार्ग के निर्वाण प्रधान आदर्श मे इन लोक-धर्मीय पूजाओ के लिए स्थान था और न मेलो के लिए। किन्तु अशोक के समय तक जो धार्मिक क्रान्ति हो चुकी थी, उसमें लोकधर्म और बौद्ध धर्म के बीच की खाई पाटी जा चुकी थी। उस दीवार के हट जाने से लोकधर्म की बहिया ने बौद्ध धर्म को छा लिया। इसका जो सामाजिक स्वरूप सम्भव था, वही भरहुत शिल्प की मूल प्रेरणा है। यहाँ जीवन के दुख-सुख की ऊहापोह नही है और न तर्कप्रधान बुद्धि का मार्ग है। यहाँ हृदय की सरल भावना है, सीधे सादे लोगो का सरल विश्वास है, जो तर्क नहीं करते, श्रद्धा करते हैं। उस श्रद्धा के मूल मे उनके जीवन की प्रेरणा थी। न केवल वे स्वय बल्कि उनके स्त्रीपुत्रादि परिवार सभी के लिए इस प्रकार की पूजा और विश्वास जीवन का तथ्य था। लोकधर्म का यही स्वरूप होता है और सदा से रहा है। आज भी जो मेले लगते हे, देवताओ के लिए जो यात्राएँ होती हैं, उनमे भरहुत कला की वही भावना देखी जाती है।

भरहुत का स्तूप शिल्प कला की दृष्टि से अत्यन्त भव्य है। उसके निर्माणकर्त्ताओ ने कला के क्षेत्रमें निःसदेह बहुत बडा साका किया। भरहुत की शिल्प सामग्री का, उसके तोरण और वेदिका स्तभो-का कलात्मक अध्ययन पृथक् वस्तु है। यहाँ भरहुत स्तूप की धार्मिक भावना और मूल प्रेरणा की ओर ही ध्यान दिलाया गया है, जो भारतीय जीवन की परम्परा से सगत है और उसकी तथ्यात्मक व्याख्या करता है। जो स्तूप के निर्माता थे, उनकी दृष्टि मे भरहुत का कलात्मक रूप गौण था, उससे कहीं अधिक शक्तिशाली वह धार्मिक प्रेरणा थी, जिसने ऐसे स्तूप को जन्म दिया। स्तूप निर्माताओ के लिए शिल्प रचना के आदर्श का पृथक् अस्तित्व न था। उन्हे उस समाज को अंकित करना था जिसमें धर्म की ये नई उमगपूर्ण भावनाएँ और हर्षित प्रेरणा ओतप्रोत थी। भरहुत स्तूप शिल्प की भाषा-मे लिखा हुआ उनके जीवन का जो महाकाव्य बना, वह आज भी है।

भारतीय इतिहास में कालिदास और विक्रमादित्य

डॉ० राजबली पाण्डेय

इतिहास में महापुरुषों का संयोग

इतिहास में यह बहुधा देखा गया है कि महत्वपूर्ण युगों का सम्बन्ध एक से अधिक ऐसे प्रभावशाली व्यक्तियो के साथ रहता है जिनके जीवन के विभिन्न क्षेत्रो की उपलब्धियां विशेष उल्लेखनीय होती हैं । भारतीय परम्परा ऐसे ही सन्दर्भ मे कालिदास और विक्रमादित्य को, जिनमे एक विचार-सम्पन्न थे और दूसरे कर्मसम्पन्न, भारतीय इतिहास की एक ऐसी सक्रामक स्थिति, ईसा पूर्व प्रथम शती मे ला रखती है जब कि एक महान् युग भीषण सकट की पृष्ठभूमि मे प्रारम्भ हो रहा था । कालिदास और विक्रमादित्य का सयोग इतिहास मे कोई अनूठी बात नही है । वह एक ऐसे प्रतिष्ठित युगल-सयोगो की उस परम्परा मे से एक है जिन्होने भारतीय इतिहास को अपनी उपस्थिति से गौरवान्वित किया है । उदाहरण के लिए, वैदिक साहित्य जो कि भारतीय सस्कृति और साहित्य का श्रोत है, उसके द्रष्टा वैदिक युग के उन महान् शासकों से सम्बन्धित हैं, जिन मे मनु, मान्धाता, ययाति इत्यादि आते हैं, जो स्वय भी कई वैदिक ऋचाओ के रचयिता हैं । यह भारतीय इतिहास के प्रथम युग मे हुआ जो 'सत्ययुग' या 'कृतयुग' के नाम से जाना जाता है । इसके बाद त्रेतायुग मे सस्कृत के आदि कवि वाल्मीकि और पृथ्वी पर ईश्वर-के सब अवतारो मे श्रेष्ठ राम दोनो ही विख्यात हुए । इसके पश्चात् द्वापर मे सर्वतोमुखी-प्रतिभा-सम्पन्न व्यास, जिन्होने वेदो को वर्गीकृत और सम्पादित किया और महाभारत और पुराणो की रचना की । वे भी महाभारत के प्रमुख पात्र कौरव और पाण्डव से ही नही वरन् कृष्ण से भी सबद्ध थे जो उस द्वन्द्व और उलझनमय युग मे जो किसी तरह अपनी जटिल समस्याओ का निदान प्राप्त करना चाहता था, उसके निर्देशक आत्मा थे ।[१]

भारतीय इतिहास में सक्रान्ति

ईसा के पूर्व की प्रथम शती वैसे किसी युग का अन्त नही थी किन्तु फिर भी भारतीय इतिहास का वह बडा ही कठिन समय था । परम्परा विरोधी मौर्य-साम्राज्य का विशाल ढाचा ढह गया था, जिसके फलस्वरूप एक राजनैतिक विघटन प्रारम्भ हो गया था । वह धर्म-निष्ठाहीन इस अर्थ मे था कि वह परम्परागत सघ-साम्राज्य से च्युत हो गया था और उसके स्थान पर उसने एकात्मक शासन-का स्वरूप, केन्द्रीकरण और निर्दयता से अन्य राज्यो को अपने राज्य मे मिलाने की नीति को ग्रहण कर लिया था । बौद्ध और जैन धर्म ने देश की धार्मिक और दार्शनिक परम्पराओ को हिला दिया था और यद्यपि ये धर्म इस युग मे क्षीणप्राय थे किन्तु फिर भी इनका वैदिक प्रतिक्रान्ति के साथ, जो शुगो के द्वारा पोषित हो रही थी और जो कि भारतीय सामाजिक जीवन का पुनर्निमाण और पुनर्गठन करना चाहती थी, कोई सुखद सामजस्य नही था । साहित्य मे विविध-धर्म सुधारको ने अपने कठोर अनुशासनबद्ध

---

१ वल्मीक प्रभवेन रामनृपतिर्व्यासेन धर्मात्मजः ।
व्याख्यातः किल कालिदास कविना श्रीविक्रमार्कोनृपः ।। सुभाषित

और नैतिक व्यवहार से भारतीय साहित्य के शिल्प और उसकी शैली तथा कथ्य को परिवर्तित कर दिया था। पालि और प्राकृत के प्रारम्भिक आन्दोलनो ने इसमें सन्देह नही कि भाषा के इस माध्यम को लोकप्रिय बनाया किन्तु इसके साथ ही प्राकृत मे साहित्य का वैभव और उसकी अभिव्यजना छिन्न-भिन्न हो गई, विशुद्ध साहित्य एक बड़ी सीमा तक अकिंचित और उपेक्षित हुआ। सबसे कठिन परिस्थिति उस समय उत्पन्न हुई जब भारत पर शको का प्रथम आक्रमण हुआ जो अपने विस्तार और परिणाम में उन सभी आक्रमणो से, जो इसके पहिले पारसीकों, यवनो, बारिव्त्रयों और पह्लवो के हुए थे, कही अधिक भयकर था। शको ने पह्लवो को वैसे ही सकट में डाल रखा था और वे पूरे पूर्वीय यूरोप पर धावा बोल रहे थे। बोलन दर्रे के मार्ग से ये लोग अपनी दक्षिण-पूर्व की विस्तार नीति के आधार पर टिड्डी-दल की भाति भारत की पश्चिमी सीमा पर मँडरा रहे थे। ज्वालामुखी की लावा की तरह फैलती हुई इस जाति ने भारत की जितनी अधिक भूमि अपने अधिकार मे कर ली थी उतनी किसी विदेशी आक्रमण के फलस्वरूप पहले नहीं हुई थी। इसने भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रान्तो के लिए ही खतरा उत्पन्न नही किया, जिनको लेकर इसके पूर्व के आक्रमणकारी सन्तुष्ट हो गए थे, किन्तु इससे मध्य भारत और पूरे पश्चिमी भारत को सकट उत्पन्न हो गया था। इसका उद्देश्य सम्पूर्ण भारत प्रायद्वीप को अपने अधिकार मे करने का था। प्राय. बहुत से भारत के इतिहासकार इस सकट को इतिहास में या बहुत घटाकर दिखाते है या इसकी बिलकुल ही उपेक्षा कर देते है या वे इससे अनभिज्ञ है अथवा वे भारतीय परम्पराओ के प्रति जो विश्व-इतिहास मे शको के आतक से सम्बन्धित है, उपेक्षा का रुख अपनाए हुए है। सबद्ध तथ्यो का उचित सश्लेषण अवश्य ही इस युग के इस उल्लेखनीय सत्य को स्थापित कर सकेगा। इस तरह की सकटकालीन स्थिति किसी भी राष्ट्र के अस्तित्व, सतर्कता, पौरुष, पुर्नस्थापन और सृजनात्मक शक्ति के लिए चुनौती होती है। वह उसकी सारी लुप्त और प्रकट भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियो को उभार कर ऊपर ले आ देती है। वैसे किसी प्रतिभा के लिए आवश्यक नही कि वह किसी विशेष ऐतिहासिक या भौतिक परिस्थितियो में बंधकर ही आये, पर परिस्थितियो के ज्वालामुखी की लावा से उर्वर भूमि महान् विभूतियो के पल्लवित होने के लिए विशेष सार्थक सिद्ध होती है। वे युग की चुनौती को स्वीकार करते है और परिस्थितियो को सुचारु रूप से सचालित करते हुए इतिहास पर छा जाते है। भारतीय इतिहास के इसी सन्दर्भ मे कालिदास और विक्रमादित्य भारतीय दृश्य-पटल पर इस गम्भीर घडी मे प्रकट होते है।

परित्राता और स्रष्टा

भारतीय इतिहास की इन दो विभूतियो, कालिदास और विक्रमादित्य, को परित्राता और स्रष्टा होने का गौरव प्राप्त है। ये एक ओर आन्तरिक पतन और अधोगति तथा दूसरी ओर से विदेशी सकट के बीच परित्राता बनकर आए। उन्होने सास्कृतिक और राजनैतिक भीषण विनाश को दूर कर परिस्थिति को वश में किया। सुधारवादियो के शुद्धिवाद का साहित्य के शिल्प और कथ्य पर अनिष्टकारी प्रभाव पडा था। यहाँ तक कि रामायण और महाभारत जैसी महान् रचनाएँ भी इस शुद्धतावादी प्रभाव से अछूती न रही। कालिदास के प्रादुर्भाव ने साहित्यिक सृष्टि में शिल्प, कथ्य और शैली-के क्षेत्र मे एक नये युग का श्रीगणेश किया। साहित्य, में नव स्फूर्ति आ गई। भाषा मे प्राजलता, लालित्य और अभिव्यजना का प्रादुर्भाव हुआ। कालिदास की रचनाओ मे जो जीवन का वर्णन हुआ है वह पूर्ण और सर्वांगीण है। जैसा कि पहले कहा गया है कालिदास केवल साहित्य के ही परित्राता नही थे वे राजनैतिक और सामाजिक जीवन के भी स्रष्टा थे। उन्होने विदेशी आक्रमण के विरुद्ध केवल जागृति

ही नहीं फैलायी किन्तु लोगों के हृदय में उन्होंने स्वाधीनता, प्रतिकार और पुनर्स्थापन की भावनामयी स्फूर्ति उत्पन्न की। उनके नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में विदेशी बाल्ह्री यवन पुष्यमित्र शुग के द्वारा पराजित होते हैं और वे सिन्धु तट के उस पार खदेड़ दिए जाते हैं। विक्रमोर्वशी मे चित्रित पुरूरवा-का विक्रम तत्कालीन सैन्य शक्तिके लिए साहित्यिक प्रेरणा है। कुमारसभव मे देवो और असुरों के बीच युद्ध और कुमार कार्तिकेय का जन्म एक ऐसे मनोवैज्ञानिक प्रतीक की कल्पना है जिससे देशके भयकर से भयकर शत्रु को पूर्ण रूप से समाप्त करने की ओर सकेत मिलता है। रघुवश मे रघु की पारसीको और हूणो को हराकर विश्वविजय, आक्रमणकारियो के विरुद्ध देश के तैयार करने का प्रयत्न है। सामाजिक मान्यताओ के क्षेत्र में कालिदास साहित्य मे मानवी मूल्यो के सरक्षक थे। धर्म (जीवन को नियमित करनेके सिद्धान्त), अर्थ (जीवन के भौतिक साधन) काम (उचित इच्छाओ की पूर्ति), और मोक्ष (सभी सासारिक बन्धनो से मुक्ति) तथा वर्णाश्रम धर्म का पालन उनके साहित्य के विषय हैं।[2] ये मूल्य और सामाजिक पद्धतियाँ जहाँ एक ओर जैन और बौद्ध मतवादो से विछिन्न हुई थी, वहाँ वे दूसरी ओर यवनो और शको द्वारा भी नष्ट-भ्रष्ट की गईं थी। पर जैसे कि पहले कहा गया है कालिदास केवल परित्राता ही नही थे वे एक बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न स्रष्टा भी थे। उनकी भूमिका केवल एक प्राचीनता की ओर अपनी रक्षा के लिए लौट जानेवाले प्राचीनता-सेवी की भूमिका नही थी। देश की परम्परा के अनुकूल उन्होने जीवन को एक नवीन गति और स्फूर्ति प्रदान की। जहाँ कही भी परिस्थितिवश उन्हे अपने कलात्मक विकास के लिए नवीनता की आवश्यकता हुई उन्होने परपरा और नीति को छोडने मे कोई हिचक नही दिखाई।[3]

विक्रमादित्य कर्मशील, व्यावहारिक और राजनीति के क्षेत्र मे कालिदास के प्रतिरूप हैं। वे भारतीय इतिहास मे उस समय पदार्पण करते है जब पश्चिमी भारत और मध्यभारत शको द्वारा विजित और पददलित हो चुका था। लोग बडी ही कठिन परिस्थिति मे थे। पूरा देश एक भयावह विपत्ति के द्वार पर खडा हुआ था। प्रभावाकचरित के अनुसार विक्रमादित्य ने एक परित्राता का कार्य किया। 'थोडे ही समय में शक-वश को उखाड कर राजा विक्रमादित्य एक सार्वभौम सम्राट् की तरह सामने आए। स्वर्णपुरुष के उदय से उन्होने जीवन की सभी महान् उपलब्धियाँ प्राप्त की। देश को अव्यवस्था से मुक्त कर उन्होंने अपना एक नया युग प्रारम्भ किया।'[4] इस युगका प्रारम्भिक सृजन सद्गुणो की शक्तियो के उदय का प्रतीक है। यह काल कृतयुग (सत्ययुग, सत्य और आनन्द का समय) उचित ही कहा गया है। राष्ट्र विफलता और हीनत्व की भावना से मुक्त हो, अपनी सुप्तावस्था को छोडकर, नव स्फूर्ति और नव सृजन-शक्ति लेकर उठ खडा हुआ।[5]

---

[2] सम्पूर्ण रघुवंश एक सुव्यवस्थित और सोद्देश्य जीवन का प्रतीक है।

[3] पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः ॥ (मालविकाग्निमित्र)

[4] शकानां वंशमुच्छेद्य कालेन कियताऽपि हि।
राजा श्रीविक्रमादित्यः सार्वभौमोपमोऽभवत् ॥
स चोन्नतमहासिद्धिः सौवर्णपुरुषोदयात्।
मेदिनीमनृणां कृत्वाऽचीकरद् वत्सरं निजम् ॥ (प्रभावकचरित, ४.९०—९१.)

[5] कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ॥ (ऐत०ब्रा०—७.१५)

मानवीय प्रयत्नों ने इतिहास के प्रवाह और प्रगतिगामीपन की धारणाओ को झुठला दिया और यह सिद्ध कर दिया कि मानव किस तरह विपरीत परिस्थितियो मे भी नयी आशा और नये सफल जीवन की स्थापना कर सकता है। इस युग का प्रारम्भ सयोग से मालव गणतन्त्र की स्थापना के साथ हुआ।[१] इसके पश्चात् विक्रमादित्य के प्रयत्नो से देश मे सघात्मक राज्यप्रणाली की नीव पडी जो अपने राजस्यशासन, न्यायपद्धति और सामाजिक अनुशासन के लिए विख्यात है और जिसके कारण देश मे शान्ति और सुख का साम्राज्य फैल गया।

युगमान और नवयुग

ईसा पूर्व की प्रथम शती इस अर्थ मे महत्वपूर्ण है कि उसने भारत मे एक नये युग का सूत्रपात किया। वह केवल एक काल की नई तिथि के श्रीगणेश के रूपमे ही महत्त्वपूर्ण नही है अपितु वह इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि उसका सम्बन्ध उस युग के सूत्रपात से है जिस युग मे राष्ट्रीय महत्त्व की बड़ी-बडी घटनाएँ घटी। इस काल की कुछ उपलब्धियाँ इस प्रकार हैं—

१ शको की पराजय और एक बडे राजनीतिक सकटका निवारण।

२ मालवगण की स्थापना और गणराज्य की परम्परा का पुनरुत्थान।

३. भारत की राजनीतिक सुरक्षा अगले एक सौ पैंतीस वर्ष (ईसा पूर्व ५७ वर्ष से ईसा पश्चात् ७८ वर्ष तक) के लिए।

४. बाह्य आक्रमण के विरुद्ध विक्रमादित्य के नेतृत्व मे सगठित स्वाधीनता-युद्ध-राष्ट्रीय स्वाधीनता-का चिरकालीन प्रतीक।

५. साहित्य परम्परा मे महाकाव्य और नाटक की नयी परम्परा का श्रीगणेश जो प्राचीन सस्कृत काव्य और महाकाव्य से भिन्न और नवीन थी।

६. जनसाधारण के लिए लोकप्रिय साहित्य का जन्म जो धार्मिक, शास्त्रीय और नैतिक साहित्य से भिन्न था।

ऐतिहासिकों द्वारा भारतीय परम्पराओ का खण्डन

किसी भी भारतीय परम्परा को इतनी निर्दयता के साथ मिटाने का प्रयत्न नही किया गया जितना कि ईसा के प्रथम शती पूर्व के कालिदास और विक्रादित्य की ऐतिहासिकता को। यूरोप के महान् प्राच्य विशेषज्ञों ने ईसा के पूर्व प्रथम शती मे विक्रमादित्य के अस्तित्व को नही माना है और कालिदास को खीचकर गुप्तकाल अर्थात् ४थी और ६वी शती तक घसीटा है। कुछ भारतीय इतिहासकार यूरोपीय विशेषज्ञों से भी आगे हैं। वे कालिदास और विक्रमादित्य के अस्तित्व को ईसा से पूर्व प्रथम शती में नही मानते हैं। वे एक बडी ही करुण चेष्टा करते हैं। इस भारतीय परम्परा को खण्डित करने की। डॉ० डी० आर० भण्डारकर इन इतिहासकारो के नेता थे। पाठ्यपुस्तको के रचयिताओ के पास न सामग्री है और न साहस कि वे इस नवीन मिथ्यावादका प्रतिवाद कर सकें। वे दूसरो के प्रचारित मतो का ही अनुगमन करते हैं। इस सन्दर्भ मे सस्कृत साहित्य के नवीतम इतिहास ग्रन्थ मे डॉ० एस० एन० दासगुप्त और डॉ० एस० के० डे ने लिखा है 'इतना कहना पर्याप्त है कि ६३४ ई० के ऐहोले शिलालेखो मे कालिदास का महान् कवि के रूप में उल्लेख है, वे सम्भवत: अश्वघोष के ग्रन्थों को जानते हैं और वे काव्यशैली में अधिक सस्कार सम्पन्न हैं। इसलिए उनका काल

[१] श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते। (मन्दसोर अभिलेख)।

निर्धारण मोटे रूप से दूसरी से छठवी शती के बीच में कर लिया जाता है। कालिदास के ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि वे एक सुसस्कृत और नागर सस्कारो के व्यक्ति थे, जिनके पास पर्याप्त समय था और जो विक्रमादित्य की उदारता की छाया मे सुखपूर्वक जीवन-यापन करते थे। इसलिए अस्वाभाविक नही कि उनका सम्बन्ध द्वितीय चन्द्रगुप्त (३८० ई० पू० से ४१३ ई० तक) से रहा हो जिनकी पदवी 'विक्रमादित्य' थी और जिनका युग सम्पन्नता और शक्तिमत्ता का युग था।'[७]

कालिदास के काल-निर्धारण में सबसे बडी कठिनाई तथाकथित वस्तुवादी (पॉजिटिविस्ट) इतिहासकारो का भारतीय परम्परा के प्रति दृष्टिकोण है। परम्परा के महत्त्व के लिए ओल्डेनबर्ग की इस उक्ति को उद्धृत करना समीचीन होगा—'अनेक विस्तृत शोधो मे एक बड़ी भूल यह हुई है कि प्राचीन स्पष्ट परम्परा का उन्होने स्पर्श मात्र किया है जबकि उन परम्पराओ को सामने रखकर विषय का विधिवत् विवेचन करके यह देखना था कि क्या हम कोई बात उसके विरोध मे रख सकते है।'[८]

वास्तव मे इतिहास के प्रति अन्याय है कि काल-मान्य परम्पराओ को उनके विरुद्ध निश्चित तथ्यो के बिना अस्वीकृत कर दिया जाता है। भारतीय साहित्य की कोई परम्परा कालिदास को गुप्त-काल मे नही मानती और न उनका किसी गुप्त शासक से सम्बन्ध स्वीकार करती है। द्वितीय चन्द्र-गुप्त (विक्रमादित्य) को इतना उच्च स्थान आधुनिक इतिहासकारो ने ही दिया है। उनकी परम्परा-च्युत राजनैतिक और सैनिक नीति तथा राज्यो की निर्मम विजय के कारण उन्हे कभी भी भारतीय परम्परा मे उच्च स्थान नही दिया गया। पुराणो मे केवल प्रथम चन्द्रगुप्त का उल्लेख है। एक राष्ट्रकूट शिलालेख में अंकित यह मत चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के यशके लिए बहुत घातक है:

'उस दीन और नीच मनुष्य ने अपने भाई रामगुप्त की हत्या करके उसके राज्य तथा रानी को हडप लिया। गुप्तवश का यह रत्न लाख का दान देकर कराड देने का ढोग करता था।'[९] चन्द्र-गुप्त की एक पदवी 'साहसाक' भी थी। दूसरे राष्ट्रकूट शिलालेख मे उसके सम्बन्ध मे लिखा है:

'राष्ट्रकूट राज अमोघवर्ष साहसाक की तरह समर्थ होकर भी अपयश का भागी नही था। उसने कभी अपने अग्रज के प्रति क्रूरता नही बरती। अपने भाई की पत्नी को छीन कर उसने कभी अपकीर्ति नही पाई। उसने कभी पिशाच की तरह पवित्रता और सदाचरण का त्याग नही किया और कभी निर्मम होकर क्रूर व्यवहार नही किया।'[१०]

गुप्तकाल के अभिलेख जो उस काल के राज्यमान महत्त्वपूर्ण कवि हरिषेण और वत्सभट्टि का उल्लेख करते है, कालिदास का तनिक भी सकेत नही करते। कालिदास का सम्बन्ध विशेष रूप से

---

७ सस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १२४।

८ इंडियन ऐण्टिक्वेरी, जिल्द १०, पृष्ठ २१७।

९ हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवींश्च दीनस्तथा।
लक्षं कोटिमलेखयत् किल कलौ दाता स गुप्तान्वयः॥ एपि० इंडि०, जिल्द १८, पृ० २४८।

१० सामर्थ्ये सति निन्दिता प्रविहिता नैवाग्रजे क्रूरता।
बन्धुस्त्रीगमनादिभिः कुचरितैरावर्जितं नायशः॥
शौचाचारपराङ्मुखं न च भिया पैशाच्यमङ्गीकृतम्।
त्यागेनासम साहसश्च भुवने यः साहसाङ्कोऽभवत्॥ —एपि० इंडि०, जिल्द ७, पृष्ठ ३६।

उज्जयिनी से है। उज्जयिनी में गुप्त सम्राटों का कोई भी अभिलेख प्राप्त नही हुआ। उनका घनिष्ठ सम्बन्ध विदिशा और दशपुर से था, परन्तु उज्जयिनी से नही। गुप्तकाल के सम्पूर्ण आलेखो में कही भी ऐसा सकेत नही है जिससे कालिदास का सम्बन्ध किसी भी गुप्तशासक से सिद्ध हो। गुप्तशासकों का विक्रम-संवत् से भी कोई सम्बन्ध नही है। उनका अपना सवत् था 'गुप्तकाल' जो उनके साम्राज्य के पतन के बाद समाप्त हो गया। विक्रम-सवत् एक राष्ट्रीय प्रतीक के रूप मे बाद में भी चलता रहा।

परम्परा की पुनर्स्थापना

कालिदास-सम्बन्धी परम्परा को बिना तर्कसम्मत और पर्याप्त आधार के आधुनिक इतिहासकारो और उत्साही अध्येताओ ने विकृत कर दिया। यदि कालिदास सम्बन्धी परम्परागत मान्यताओ का उनके मौलिक रूप मे अध्ययन किया जाय और उन्हे तत्कालीन साहित्यिक और पुरातत्त्वीय प्रमाणो से सम्बद्ध करके देखा जाय, ज्ञात होगा कि इनका दृढ़ आधार है। तब कालिदास और विक्रम दोनो-का काल प्रथम शती ईसापूर्व सिद्ध होगा। यही परम्परागत विश्वास भी है। ब्राह्मण तथा जैन कथा-साहित्यो तथा प्रबन्धो का सहानुभूतिपूर्वक अध्ययन आवश्यक है। इनसे प्राप्त घटनाओ, चरित्रो और कालक्रम को अस्वीकार नही किया जा सकता। इन्हे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे ग्रहण करना चाहिए। इनके समर्थन के लिए निकटस्थ तत्कालीन पुरातत्त्वीय सामग्री तथा इतिहास की गवेषणा करनी चाहिए।

अन्तरग प्रमाणो के अनुसार भी कालिदास का काल प्रथम शती ईसापूर्व ही बैठता है। कालिदास-के नाटको मे से केवल मालाविकाग्निमित्र मे ही स्पष्ट ऐतिहासिक कथा है, जिसके चरित्र हैं पुष्यमित्र, शुग, उसका पुत्र अग्निमित्र, मालव राजकुमारी मालविका और अग्निमित्र का पुत्र वसुमित्र। पुष्यमित्र का सर्वमान्य काल १८५ ईसा पूर्व है। कालिदास के युग मे इन व्यक्तियो और उनसे सम्बद्ध घटनाओं की स्मृति ताजी थी। इसलिए कालिदास इन घटनाओ के बहुत काल बाद नही हो सकते।

वे विदिशा, विदर्भ और मालवा से विशेष रूप से सम्बद्ध हैं। विक्रमादित्य की परम्परागत राज-धानी होने के अतिरिक्त भी उज्जयिनी पर कालिदास ने विशेष ध्यान दिया है। वे मेघ से मार्ग बदलकर उज्जयिनी जाने के लिए कहते हैं, जिससे वह महाकाल की पूजा मे भाग लेकर जीवन का उद्देश्य प्राप्त करे।[११] तत्कालीन सब प्रमाण कालिदास का काल प्रथम शती ईसा पूर्व मानते हैं और विक्रमादित्य से सम्बन्ध जोडते हैं।

हमारे देश की साहित्यिक परम्परा कालिदास को सस्कृत साहित्य मे एक विशिष्ट गौरव पर अधिष्ठित करती है। वे सर्वश्रेष्ठ कवि और नाटककार माने जाते हैं। प्राचीनकाल में जब कवियो की गणना होने लगी कालिदास कनिष्ठिका अगुली से गिने गए। गणना सबसे छोटी अगुली से आरम्भ-की जाती है अर्थात् कालिदास प्रथम गिने गए। दूसरी अगुली का नाम अनामिका अब तक सार्थक हो रहा है, क्योंकि अभी तक कालिदास की बराबरी का दूसरा कवि नहीं मिला।[१२]

सस्कृत साहित्य मे अनेक प्रस्थान पाये जाते हैं। प्रथम वैदिक साहित्य है जो भारतीय जीवन और साहित्य का अक्षय स्रोत है। भारतीय साहित्यिक प्रतिभा की वैदिक साहित्य मे प्रथम उद्‌भावना

---

११ वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशाम्।—मेघदूत, १.२७।

१२ पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावाद् अनामिका सार्थवती बभूव।।

हुई। दूसरा युग रामायण-महाभारत का है। इन महाकाव्यों ने साहित्य-सृजन का आदर्श रूप प्रस्तुत किया और असंख्य, अक्षय तथा प्रचुर सामग्री भविष्य के लिए प्रदान की। महाभारतकार का दावा है कि जो यहाँ है वह अन्यत्र भी प्राप्य है, पर जो यहाँ नही है, वह अन्यत्र प्राप्य नही है।[१३] तृतीय युगमान कालिदास ने स्थापित किया जिन्होने ललित काव्य की शैली को पूर्णता प्रदान की। उन्होने वैदिक सस्कृत का सस्कार करके उसे कोमल काव्य की अभिव्यक्ति के योग्य बनाया, उसकी शब्द-शक्ति को सम्पन्न किया, काव्य की मान्यताएँ निर्मित की और नवीन काव्य-सौन्दर्य का विकास किया जिसकी समता आज भी नही है। कालिदास अभी भी सस्कृत साहित्य-गगन के मार्ग-दर्शक नक्षत्र हैं और मम्पूर्ण भारतीय साहित्य रचना को निर्देशित करते हैं। जहाँ तक विक्रमादित्य का सम्बन्ध है वे भी उसी बराबरी का स्थान भारतीय परम्परा और इतिहास मे रखते है। इस लोकप्रियता का रहस्य यह है कि उन्होने भारतीय राजनीति और सस्कृति के रगमच पर बडी ही प्रभावकभूमि-की सृष्टि की। लोकजीवन बडी सहजता से इतिहास की केन्द्रीय धारा को आत्मसात् कर लेता है परन्तु सहायक छोटी-मोटी धाराओ को छोड देता है। विक्रमादित्य एक महान् सैनिक और राजनैतिक व्यक्तित्व वाले पुरुष थे। छठवी शती ईसापूर्व से, जब भारत पर ईरानी आक्रमण हुआ, अब तक भारतीय इतिहास की मुख्य समस्या विदेशी आक्रमण और उनका जनता द्वारा प्रतिरोध रही है। यह इतिहास का स्थापित तथ्य है कि यहाँ विदेशी आक्रांताओ को जनता के सशक्त प्रतिरोधो का सामना करना पडा और जनता ने कभी उनकी राजनीति, धर्म और सस्कृति की प्रभुता स्वीकार नही की। ईसापूर्व प्रथम शती मे बर्बर शको ने बोलन दर्रे से आकर भारत पर विकट आक्रमण किया। विक्रमादित्य ने राष्ट्रीय पैमाने पर उनका सगठित सामना किया और उन्हे खदेड दिया। ईसापूर्व चौथी शती मे मालव जनता ने सिकन्दर के नेतृत्व मे आए यूनानियो का विरोध किया परन्तु उनकी पराजय हुई और उन्हे पजाब छोडना पडा। इस बार विक्रमादित्य के नेतृत्व मे उन्होने शको को खदेड़ कर मालव-गण की पुन स्थापना की और कृत-सवत् चलाया।

विक्रमादित्य की महत्ता का दूसरा कारण उनका प्रशासनिक आदर्श था। वह जनता की सेवा के आदर्श से प्रेरित होकर कठिन श्रम करते थे।[१४] विक्रमादित्य का प्रशासनिक आदर्श अभिज्ञान शाकुन्तलम्-मे दुष्यन्त के इस चित्र से प्रकट होता है :

'तुम व्यक्तिगत सुख की अवहेलना करके प्रजा के हित की चिन्ता करते रहते हो। प्रत्येक शासक के लिए यही उचित मार्ग है। वृक्ष स्वयं कड़ी धूप सहकर अपनी छाया में आए प्राणियो को शीतलता देता है।'[१५]

कथा-सरित्सागर मे विक्रमादित्य के आदर्श का उल्लेख इन शब्दो मे किया गया है :

'वह पितृहीनो का पिता था, पीड़ितो का रक्षक था, वह प्रजा के लिए क्या नही था?'[१६]

---

१३ यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।

१४ अविश्रामोऽयं लोकतन्त्राधिकारः।—अभिज्ञानशाकुन्तल, ५।

१५ स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवं विधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्॥ अभिज्ञान०।

१६ स पिता पितृहीनानामबन्धूनां स बान्धवः।
अनाथानाञ्च नाथः सः प्रजानां कः स नाभवत्॥—कथा० १८.१.६६।

विक्रमादित्य द्वारा कला और सस्कृति का संरक्षण सर्व विदित है। विक्रमादित्य पदवीधारी अन्य परवर्ती सम्राटो की राजसभा मे उन्चकोटि के कवियो और कलाकारो की काफी संख्या होती थी। बडे-बडे कवि नाटघकार, दार्शनिक, ज्योतिर्विद, चिकित्सक और कलाकार उज्जयिनी में एकत्रित होते थे। विक्रमादित्य की राजसभा में कवियो और कलाकारो के मूर्द्धन्य कालिदास थे। उज्जयिनी के सास्कृतिक केन्द्र से सस्कृति की किरणें विकीर्ण होकर दूरस्थ ग्रामो तक पहुँचती थी, और वे देश की साहित्यिक परम्परा से परिचित होते रहते थे।[१०]

विक्रमादित्य का बहुमुखी और विरल व्यक्तित्व था। उनमे राजनैतिक, सास्कृतिक और मानवी गुणो का अद्भुत समन्वय था। उनके व्यक्तित्व मे इन्ही विभिन्न शक्तिमती धाराओ के समाहार के कारण ही भारतीय शासको मे वे विशिष्ट स्थान रखते हैं। प्रजा की दृष्टि मे उसका स्थान राम और कृष्ण के बाद ही है। चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, कनिष्क, समुद्रगुप्त और द्वितीय चन्द्रगुप्त तक तथाकथित ऐतिहासिक शासक इतिहासकारो की उपलब्धिमात्र हैं। उन्हे भारतीय जनता ने पूरी तरहसे भुला दिया है। परन्तु उसने विक्रमादित्य की स्मृति को अभी तक सहेजकर रखा है। वे देश के महापुरषो मे आदर और प्रशसा के साथ गिने जाते हैं।

'पृथ्वी के भोगो को भोगनेवाले विक्रमादित्य ने वह दिया, जो किसी अन्य ने नही दिया, और उन्होने वे उपलब्धियाँ प्राप्त की जो दूसरे नही कर सके।'[१८]

जैसा कि नवीन इतिहासकार मानते हैं, विक्रमादित्य कोई लोक-कल्पना की सृष्टि नहीं है, किन्तु एक ऐतिहासिक व्यक्ति है। उनके विरल गुणो और कृत्यो के कारण उनके सम्बन्ध मे कथाए बनी और वे अनुकरणीय आदर्श बन गए। आरम्भ मे विक्रमादित्य एक शासक का व्यक्तिगत नाम था परन्तु आगे चल कर वह एक पदवी बन गया। जो भारतीय शासक महान् कार्य करता था, विशेषकर के विदेशी आक्रान्ताओ को परास्त करता था, वह ही विक्रमादित्य की पदवी धारण करता था। भारत मे इस पदवी को धारण करनेवाले शासकों की एक बडी सख्या है। इनमे प्रथम समुद्रगुप्त जिन्होंने शक-मुरुण्डो से समर्पण कराया। फिर विक्रमादित्य पदवी की एक लम्बी परम्परा चली जिसमे अन्तिम हेमचन्द विक्रमादित्य था, जिसने १५५५ में पानीपत मे मुगल आक्रमणकारियो का सामना किया। विक्रमादित्य की पदवी सदा लोक-तन्त्र, स्वाधीनता, निर्भयता की प्रेरणादायनी तथा सद्गुण और सस्कार का प्रतीक रहेगी। किसी भी देश की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि यह है कि वह अपने राजनैतिक अस्तित्व और स्वाधीनता को अक्षुण्ण रखे तथा जीवन-मूल्यो की रक्षा और विकास करे। किसी राजनैतिक सुरक्षा से सम्पन्न देश मे ही सास्कृतिक और नैतिक मूल्यो को पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है।[१९] विक्रमादित्य राजनैतिक शक्ति और स्वाधीनता के प्रतीक हे और कालिदास सौन्दर्यगत तथा सामाजिक मूल्यों के। ये दोनो सयुक्त रूप से युगो से भारतीय जनता को प्रेरणा दे रहे हैं और देते रहेंगे।

---

१० प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान। मेघदूत १.३०।

१८ तत्कृतं यन्न केनापि तद्दत्तं यन्न केनचित्।
तत्साधितमसाध्यंञ्च विक्रमार्केन भूभुजा॥

१९ शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र-चर्चा प्रवर्तते।

भारतीय चित्रकला : उद्भव और विकास

वाचस्पति गैरोला

भारतीय चित्रकला का अपना इतिहास है, अपनी क्रमबद्ध परम्परा है । यह इतिहास अपने अतीत मे जितना उज्ज्वल एव गौरवशाली रहा है, अपने वर्तमान मे भी वह उतना ही श्लाघ्य तथा प्रशमनीय है । भारतीय कलानुराग की इस महान् एव चिरन्तन परम्परा के अध्ययन-अनुशीलन के लिए अब तक जो दृष्टिकोण अपनाया गया है वह समादरणीय होता हुआ भी प्राय एकागी है, क्योंकि उसमे जो अन्तर्दृष्टि निहित है उसका आधार पश्चिम के मान-मूल्य है । कला-विषयक जो विपुल एव मौलिक सामग्री भारतीय साहित्य मे सुरक्षित है उसके आधार पर ही भारतीय कला के विविध रूपो का वास्तविक मूल्य आँका एव स्थापित किया जा सका है ।

धर्मनिष्ठ और अध्यात्मप्रवण भारतीय जीवनमे कला को एक विराट् अन्तश्चेतना के रूप मे स्वीकार किया गया है । जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज जितनी भी सृष्टि रचना है उसके मूल मे यही अन्तस् धारा सार्वभौमिक प्रेरणा के रूप मे अब तक एक जैसी गभीर एव अजस्र गति से प्रवाहित होती हुई चली आ रही है । यह विराट् सृष्टिकला अपनी अनादि अनन्त और शास्वत सत्तामे प्रतिष्ठित है । यह आनन्दमय सत्ता सोलह कलाओ द्वारा उद्भाषित है । यह पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु-लोक, समुद्र, अग्नि, सृष्टि और विद्युत् उस आयतनवान् कलारूप विश्वात्मा के ही अश है ।

कलामय परमेश्वर की इस कलात्मक सृष्टि के मूल मे जो सौन्दर्यतत्त्व अनुस्यूत है उसकी उपलब्धि ही साधक कलाकार का चरम लक्ष्य रहा है । सौन्दर्य दीक्षा की इसी जिज्ञासा से वैदिक ऋषि उषादेवी तथा रात्रिदेवी के सुप्रसन्न उज्ज्वल स्वरूप को निहारने और उन वृहती मही नक्तोषसा की 'सुशिल्पे सुरचनाम्' के लिए आतुर हो उठे थे ।

वस्तुत. सौन्दर्य की जिज्ञासा ही कला के जन्म का हेतु रही है । वही कलाकार का सत्य है और उसी को पाने के लिए वह विभिन्न माध्यमो एव साधनो से अपने इष्ट लक्ष्य को प्राप्त करता आया है । कलाकार की ही नही, कवि की प्रेरणा का केन्द्रबिन्दु भी सौन्दर्य ही रहा है । इसी-लिए हमारे काव्यशास्त्रियो ने सरस एव रमणीय रचना को काव्य नाम दिया । कलाकार और कवि, दोनो ही सौन्दर्य के अन्वेषी होते हैं । उनके मार्ग भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु लक्ष्य एक ही है । कवि के लक्ष्य का माध्यम है भाषा और कलाकार के लक्ष्य का माध्यम है रूप ।

वैदिक ऋषि नक्तोषसा मे जिस उज्ज्वल दीप्ति को देखकर विह्वल हो उठे थे, वह रूप की ही आराधना थी । जिस विशेष गुण के समावेश से किसी आकृति मे सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है उसी गुणविशेष का नाम 'रूप' है । रूप अनन्त है । उसे किसी सीमा या परिधि मे नही बाधा जा सकता है । रूप की पहचान के दो माध्यम हैं . एक तो आँखो के द्वारा और दूसरा आत्मा के द्वारा । दृष्टि के द्वारा हम किसी लम्बी, छोटी, चौरस, गोल, सफेद या काली वस्तु को पहचानते हैं । किन्तु उस वस्तु-के भीतर जो व्यापक सौन्दर्य अनन्त अलकृति और अपरिमित माधुर्य सन्निहित है उसको हम देखकर

नही, अनुमान कर, चिन्तन कर आत्मा के द्वारा अनुभव कर सकते हैं। इस नाना रूप जगत् को भिन्न-भिन्न प्रकार से देखना और इस भिन्नता को एक ही अखण्ड वस्तु मे सन्निविष्ट करके देखना— य दोनों बाते दृष्टि और आत्मा के सहयोग पर निर्भर हे। रूप से पहला परिचय दृष्टि का होता है और तदनन्तर वह आत्मा का विषय होता है।

किसी भी कलाकृति मे रूप की आराधना जितनी स्वाभाविक और गहरी होगी वह कलाकृति उतनी ही उत्कृष्ट और स्थायी होती है। किसी भी वस्तु के बाह्याभ्यन्तर सौन्दर्य का साक्षात्कार करने के लिए रूपकी साधना सर्वोपरि है। इसीलिए हमारे प्राचीन कलाचार्यों ने चित्रकला के षडंगो का वर्णन करते समय रूप को प्रमुख स्थान दिया है।

रूप का सम्बन्ध रुचि से है। रुचि हमारे अन्तस् की चिरन्तन दीप्ति है, जिसके आलोक मे हम 'रूप' मे 'सुन्दर' और 'असुन्दर' का आधान करते हं, यही सुरुचि कलागत सौन्दर्य है।

भारतीय चित्रकला मे इन रूपभेदो की सूक्ष्मता को बडे कौशल से दर्शाया गया है। पश्चिम के कला-समीक्षक विद्वानो को भारतीय कलाकृतियो को देखकर उनमे जो रेखातिशयता का भ्रम हुआ है उसका कारण इन्ही रूपभेदो की निजी विधा थी, जिससे पश्चिम के कला समीक्षक अपरिचित थे।

रूप के अनन्तर कलागत सौन्दर्यवीक्षा के लिए हमारे कलाचार्यों ने 'प्रमाण' भी एक साधन माना है। प्रमाण चित्रविद्या का वह साधन है, जिसके द्वारा कलावस्तु के विविध पक्षो का सहज ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। लौकिक पदार्थों के मान (तौल) का निर्धारण करने के लिए जिस प्रकार तुला (तराज) की आवश्यकता होती है उसी प्रकार चित्रकला मे किसी भी चित्र की सीमा, स्वरूप, और आयतन और इयता आदि विषयो के समुचित समावेश के लिए प्रमाण की अपेक्षा होती है। किसी कलाकृति मे आकाश की अनन्तता और सागर की अतल गहराई का वास्तविक भावबोध अंकित करने के लिए कलाकार जिस साधन का उपयोग करता है उसी को हमारे कलाचार्यों ने प्रमाण की सज्ञा दी है। वस्तुरूप के गोचर होते ही प्रमातृचैतन्य से अन्तःकरणवृत्ति उत्पन्न होकर प्रमेय या वस्तुरूप पर अधिकार कर लेती है, अन्तःकरण प्रमेय, जो वस्तुरूप है, उसमे प्रगत होकर तदाकार परिणत होता है, अर्थात् मन वस्तुरूप को धारण करता है और वस्तुरूप मनोमय हो जाता है। यह प्रमा हमारे अन्तःकरण का ऐसा मापदण्ड है, जिससे हम सीमित और अनन्त दोनो प्रकार की वस्तुओ को माप सकते हं। प्रमा से केवल समीप और दूरी का ही बोध नही होता, अपितु किस वस्तु को कितना दिखाने से उसमे सौन्दर्योत्कर्ष होता है—इसका भी निश्चय कराती है। ताजमहल के निर्माता शिल्पियो ने उसके गुम्बज को न जाने कैसी परिणति दी है कि किसी भी दर्शक को वह सहज ही मुग्ध कर लेती है। ताज अपने बहुमूल्य होने के कारण सुन्दर नही है, अपितु उसकी परिमिति ने ही उसको श्रेष्ठ और सुन्दर बनाया है।

रूप और प्रमाण के अनन्तर किसी कलाकृति मे सौन्दर्य या सुरुचि के उत्कर्ष के लिए जिस विशेष गुण की आवश्यकता होती है उसको भाव कहते हैं आकृति की भंगिमा को, उसके स्वभाव, मनोभाव एव उसकी व्यंग्यात्मक प्रक्रिया को। विभावजनित चित्तवृत्ति का नाम भाव है। निर्विकार चित्त में प्रथम विक्रिया की उत्पत्ति भाव के ही द्वारा होती है। भिन्न-भिन्न भावो की अभिव्यजना से मन में विभिन्न विकारों का जन्म होता है। भाव एक प्रक्रिया है, जिसके लक्षण कायिक धर्मों द्वारा अभिव्यक्त होते हं। मनमे जिस रस का जो भाव पैदा होता है उसी के अनुसार शरीर में भी परिवर्तन के लक्षण प्रकट होते हैं।

भाव साधना के द्वारा कलाकार अपनी वृत्ति मे विविधता का समावेश करता है। मनोविज्ञान हमें बताता है कि विविधता की प्रक्रिया से वस्तुगत सौन्दर्य मे परिवर्तन होता है, जिससे आनन्दानुभूति-का तारतम्य बना रहता है। चित्र मे यह विविधता कभी परस्पर विरोधी तत्त्वो तथा वर्णों के समावेश और कभी वक्रता के कारण उत्पन्न होती है। गौरवर्ण मुख पर श्यामवर्ण अलकें—इस प्रकार के विरोधी भाव सौन्दर्य के ही पोषक होते हैं।

भाव का कार्य रूप को भगिमा देना है। इस भगिमा को व्यजनावृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। कोयल के सुरीले कठ मे किसका आह्वान है, हृदय के भीतर धँसी किसकी वेदना वसन्त-की सारी खुशहाली को विषाद के वातावरण मे डुबो रही है—ये बाते चित्र में भाव भगिमा द्वारा ही दर्शित की जा सकती हैं।

भाव को जब लावण्य का सहयोग प्राप्त होता है कलाकृति अपने अनुपम सौन्दर्य मे गमक उठती है। भाव अन्तस सौन्दर्य का अभिव्यजक है और लावण्य बाह्य सौन्दर्य का। लावण्य का संस्पर्श पाकर निर्जीव कलाकृति भी सप्राण हो जाती है। कभी कभी भाव की दुरूहता के कारण जब कलाकृति मे रूक्षता आ जाती है लावण्य ही उसका परिमार्जन करता है। लावण्य भाव का उत्कर्षक है। भाव की भगिमा को लावण्य की दीप्ति उभारती और प्रकाशित करती है।

किसी कलाकृति मे सौन्दर्य के उत्कर्ष के लिए अनिवार्य गुण है 'सादृश्य'। सादृश्य ही सुव्यवस्था का आधार है। सुव्यवस्थित ढग से रखी हुई कोई भी वस्तु देखने मे अच्छी लगती है। किसी रूप के भाव को, आकार को किसी दूसरे रूप की सहायता से प्रकट करना सादृश्य का कार्य है। किन्तु सादृश्य दिखाते समय सदृश वस्तु की आकृति के साथ-साथ उसकी प्रकृति तथा उसके गुण-धर्मों का सामजस्य दिखाना भी आवश्यक होता है। उदाहरण के लिए वेणी से सर्प का सादृश्य इसलिए स्थापित किया जाना है कि उसमे केवल आकृति-समानता है, धर्म समानता नही। सिर से लटकना साँप का धर्म नही है और इसी प्रकार मार्ग मे पडी रहकर साँप का भय दिखाना वेणी का धर्म नही है। चित्र चाहे कल्पना-प्रसूत हो या वास्तविक, किन्तु दर्शक यदि उसको पहचानने मे भूल नही करता या किसी प्रकार की द्विविधा मे नही पडता वही चित्र सादृश्य की दृष्टि से शुद्ध कहा जायगा।

हमारे प्राचीन कलाचार्यों ने किसी कलाकृति की सर्वांगीणता के लिए वर्णिकाभग भी एक साधन स्वीकार किया है। नाना वर्णों की सम्मिलित भगिमा से चित्र मे जो रस-भाव का समन्वय होता है उसी-को वर्णिकाभग कहते हैं। किस स्थान पर किस रग का प्रयोग करना चाहिए तथा किस रग के साथ किसका सयोजन होना चाहिए—इसका निश्चय वर्णिकाभग के द्वारा ही किया जाता है। वर्णों के विभेद से ही वस्तुओ की विभिन्नता व्यक्त होती है। कला मे सयोजन, सघटन, अन्विति इसी के अपर नाम है। चित्र मे रगो का सयोजन चित्र की सुव्यवस्था का द्योतक है। इसी प्रकार विषय के अनुसार अनुकूल वातावरण और उचित भूमिका उसकी अन्विति है। केवल फूलो का रग दिखा देना ही वर्णिकाभग नही है, साथ ही उनके सौरभ को भी दिखाना होगा। इसी प्रकार सूर्य की किरणो का रग चित्रित कर देना ही पर्याप्त नही है, दिखाना यह होगा कि प्रातः, मध्याह्न और सायकाल को उसके उत्ताप-का स्पर्श क्या होता है। यही वर्णिकाभग की विशेषता है।

कला का ध्येय और उपयोगिता

इस देश के अन्तर्द्रष्टा कलाकारो ने कला को कला के लिए नहीं, उसको लोकमगल और नैतिक

अभ्युत्थान का साधन स्वीकार किया। जो कला साधक की भोगबुद्धि में उलझाये वह वास्तविक कला नहीं, जिससे परमानन्द की उपलब्धि होती है वही श्रेष्ठ कला है।

इसी महान् कलाध्येय के साक्ष्य सिन्धु घाटी, लोथल, मिर्जापुर, पटना, काठियावाड, उदयगिरि, महाबलीपुरम्, विंध्य, पंचनद, तमिलनाड, नागार्जुनीकोण्ड, उज्जैन, कौशाम्बी, चन्द्रकेतुगढ और राजघाट आदि प्रागैतिहासिक स्थानों की खुदाइयों में प्राप्त हुए हैं। सिन्धु की चित्रमय मुद्राएँ, हडप्पा तथा मोहेनजोदडो की कांस्यमयी तन्वंगी नर्तकियाँ, लोथल के रंग-बिरंगे मनके, विंध्य पहाडियों की मृण्मयी मूर्तियाँ, सिंहनपुर, तथा जोगीमारा की चित्रयुक्त चट्टानें और इसी प्रकार तमिलनाड, आन्ध्र, उडीसा, होशंगाबाद, पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा नर्मदा उपत्यका आदि स्थानों से उपलब्ध वस्त्रों, पाषाणों, मृत्तिका पात्रों पर अंकित पशुओं, पक्षियों, मनुष्यों और कृमि कीडों की आकृतियाँ इस देश के पुरातन जन-जीवन की कलाप्रियता के सजीव प्रमाण हैं। इस उपलब्ध कला-सामग्री को देखकर सहज ही यह जानने को मिलता है कि इस देश में सौन्दर्यवीक्षा और कलानुराग की जो अजस्र धारा अतीत की कई शताब्दियों पूर्व प्रवाहित हुई थी वह अनेक केन्द्रों का निर्माण करती हुई निरन्तर गति से आगे बहती रही।

यह कलाधारा कभी तो अन्त सलिला सरस्वती की भांति अदृश्य, अगोचर रूप में अपनी सम्पूर्ण थाती और परम्परा को समेटे हुए आगे बढती रही और कभी भागीरथी की उत्तुंग तरंगों की तरह गिरि-पर्वत पथों की वेणी बनकर इस भारत धरा को अलंकृत करती हुई अपनी सुषमा को बिखेरती गयी। उसने हमें कई पावन तीर्थ दिए। अजन्ता, एलोरा, एलिफेण्टा, जोगीमारा, बाघ, बादामी, सित्तनवासल आदि कलातीर्थ आज भी हमें अपने उज्ज्वल अतीत में ले जाकर सहसा उसमें समाहित कर लेते हैं। वस्तुत वे स्वनामधन्य कलाकार वन्दनीय थे, जिनके भौतिक शरीर तो काल की असख्य पर्तों में विलीन हो गये, किन्तु जिनका महान् कृतित्व आज भी इस देश के कला-गौरव को अमर बनाये हुए है।

जिस युग में देश के ओर-छोर तक इन कलातीर्थों का निर्माण हुआ वह युग सांस्कृतिक बौद्धिक और धार्मिक अभ्युदय की दृष्टि से अपने चरम उत्कर्ष पर था। साहित्य और कला की जो विपुल विरासत आज हमें उपलब्ध है उसके संचय और संरक्षण का सम्पूर्ण श्रेय इसी युग को है। बडे-बडे कला संस्थानों और विद्या निकेतनों का निर्माण कर यहाँ के जनजीवन में कलानुराग और विद्याप्रेम की ज्योति जलाकर राष्ट्र की बौद्धिक तथा सांस्कृतिक उन्नति की दिशा में इस युग का उल्लेखनीय योग रहा है। कला का उद्देश्य न तो कोरा बौद्धिक व्यायाम ही हुआ करता था और न वह विलासिता का साधन मात्र ही समझी जाती थी। लोकजीवन के लिए वह मंगलविधायिनी थी और पारमार्थिक दृष्टि से श्रेयप्राप्ति का साधन।

देश के वृहद् विद्या केन्द्रों में कला को अध्ययन का अनिवार्य अंग समझा जाता था। साधारण व्यक्ति की कौन कहे, एक युवराज की विशेष योग्यता का माप-दण्ड भी कला को ही स्वीकार किया गया था। कला को कुलधर्म के रूपमें मान्यता प्राप्त थी और एक साधारण नागरिक को भी अपने कुलधर्म पर इतना स्वाभिमान था कि नि शंक होकर वह अपने राजा से यह कह सकता था 'अस्माक चाय कुलधर्मः शिल्पज्ञस्य कन्या दातव्या नाशिल्पज्ञस्येति।'

यह कला-परम्परा अपने नये परिवेशों के साथ निरन्तर आगे बढती गयी। धर्म, राजनीति, लोकरुचि और परिस्थितियों के प्रभाव से उसकी अन्तश्चेतना का स्वरूप नित नये रूप में सामने आया। प्राचीन भारत में कला का जो उद्देश्य और महत्व था, मध्ययुगीन भारत में उसकी मान्ताएँ सर्वथा

बदल गयी। कला को शृंगार, शौर्य और पराभव का प्रतीक मानकर एक ओर मुगलो ने और दूसरी ओर राजपूतो ने उसका प्रवर्तन किया। इस युग में कला ने देश की विषम धार्मिक परिस्थितियो और विपदग्रस्त राजनीतिक वातावरण मे समन्वय स्थापित करके एक जीवनदायिनी शक्ति के रूप मे समाज को उत्साहित और प्रेरित किया। उसने सामाजिक जीवन मे नवोत्साह का स्फुरण करके राष्ट्र की मर्यादा बनाये रखने मे महत्त्वपूर्ण योग दिया। धर्म और शासन के विषाक्त वातावरण का उपशमन करके कला ने इस देश की सांस्कृतिक थाती को तो आगे बढाया ही, साथ ही उसकी रक्षा भी की।

मध्ययुग कला-निर्माण की दृष्टि से बहुत उन्नत रहा। इस युग मे कला ही साहित्य और धर्म-का केन्द्रबिन्दु बनी रही। समाज ने अपनी धार्मिक प्रवृत्तियो को कला के माध्यम से प्रस्तुत करने में विशेष रुचि दर्शित की। इसी प्रकार संस्कृत, हिन्दी और इरानी कथा, काव्य, इतिहास तथा आत्मचरित विषयक बहुसख्यक कृतियो के दृष्टान्त चित्र उतारे गये। इस प्रकार की बहुमूल्य सचित्र पुस्तके आज भी देश-विदेश के सग्रहालयो, कलासस्थाओ और व्यक्तियो के पास पर्याप्त रूप में सुरक्षित हैं।

कला की यह प्राचीन और मध्ययुगीन विरासत आधुनिक पीढी को जिस रूपमे उपलब्ध हुई उसने उसको युग की परिस्थितियो तथा अभीप्साओं के अनुरूप नयी शिल्प-विद्या, नवीन विषय-वस्तु एव नये मान-मूल्यो के अनुसार ग्रहण करके कला के इतिहास में नये युग का सूत्रपात किया। कला की इस महान् परम्परा का वर्तमान युग के अनुरूप अभिनवीकरण करने वाले ख्यातनाम कलाचार्यों एव कलाकारो में राजा रविवर्मा, अलाग्री नायडू, अवनीन्द्रनाथ टाकुर, नन्दलाल वसु, यामिनीराय, शैलोज मुकर्जी, रामकिंकर, अमृताशेरगिल आदि का नाम मुख्य है, इन यशस्वी एव युगविधायक कलाचार्यों ने स्वय जो कार्य किया उसका विशिष्ट महत्त्व है। उन्होंने जिन सैकडो प्रतिभाशाली कलाकारो को तैयार किया उसका कम महत्व नही है। इन सामयिक कलाकारो ने न केवल परम्परा को अभिनव रूप दिया, अपितु उसमें आज के व्यापक दृष्टिकोण का भी समन्वय किया।

आज कला को अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान प्राप्त है। आज देश और क्षेत्र की सीमाओं मे बाँधकर कला के वास्तविक महत्त्व को नही आंका जा सकता। विश्व की उन्नत कला-शैलियो की पृष्ठभूमि मे जो व्यापक दृष्टि और विशिष्ट विद्या का सन्निवेश है उसकी समीक्षा-परीक्षा किये बिना आज कला के धरातल को ऊँचा नही किया जा सकता। आज की कलाकृतियों मे निहित सकेतात्मक सूक्ष्म दृष्टि, जो कि वस्तु और विषय के बाह्य रूप की अपेक्षा उसके अन्तस् मे अन्तर्निहित है, उसे तभी ग्रहण किया जा सकता है, जब अध्ययन तथा अभ्यास दोनो पर्याप्त रूप मे विद्यमान हो।

काशी के हाथीदाँत के चित्र

डॉ० राय गोविन्दचन्द

१८वी शताब्दी के अन्तिम चरण मे प्राय १७८० के लगभग शाहजादा जवान्दर बख्त अपने पिता शाह आलम द्वितीय के वृद्ध होने पर दिल्ली से लखनऊ भाग आये और वहाँ से काशी पधारे जो उस समय मोहम्मदाबाद के नाम से विख्यात थी। यहाँ शिवाले पर उनके रहने का प्रबन्ध हुआ। इनके साथ दिल्ली से बहुत से परिवार आये थे। इन्ही के लश्कर में उस्ताद लालजी मल्ल भी थे। ये मुगल शैली के अच्छे चित्रकार थे और मुगल कारखाने मे काम कर चुके थे। इस कारण उस शैली के कयडे से पूरे परिचित थे। इन्होने तात्कालिक काशी की चित्र शैली को एक दूसरा मोड दिया। इस समय तक जो चित्र काशी मे बनते थे उन पर राजपूत कला का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उसी भाति के रग, वही रूप, वही वेषभूषा, वही प्रमाण, वही गति, वही भाव का अकन इनमे भी दिखाई देता है। अब उस्ताद के आगमन के पश्चात् चित्रो के अकित करने के हेतु नेपाली और कालपी के कागजो का व्यवहार होने लगा और उनको घोटा से चिकना करके तूलिका से रेखाओ द्वारा तरह देना, वुत बाँधना या आकार अकित करना प्रारम्भ हुआ। इसी के साथ-साथ पुराने चरबो से खाका झाडना और इसके आधार पर चित्र बनाने के कार्य का भी श्री-गणेश हुआ। उस्ताद जी स्याह कलम से शबीह आकने के पश्चात् चित्रो पर फिर घोटा लगाते थे, तत्पश्चात् एक हलके सफेदे का अस्तर देते थे और सुच्ची तिपाई के हेतु आबरग का व्यवहार करते थे। यह आबरग काजल, प्योरी तथा गुलाली को मिला कर बनाते थे इसके अनन्तर रग भरते थे। रग के भरने मे रग की प्रत्येक तह हलके रग से लगाई जाती थी जिसमे चिप्पड न उखडे। इन रगो को उनके शिष्यगण बडी सावधानी से बनाते थे। इनको खूब पीस कर पानी मे छाना जाता था और पानी से रग निकाला जाता था फिर इसमे बबूल की गोद मिला कर इसे अगुली से मथा जाता था। मुगल कालीन चित्रकारो ने राग के स्वभाव की भाति रगो के स्वभाव को भी निश्चित कर दिया था। इसी कारण ये इच्छित वातावरण उत्पन्न करने के हेतु कभी शोख, कभी चटक और कभी बदरग रग लगाते थे। इस कार्य के पश्चात् फिर चित्र की घोटाई होती थी। उस्ताद जी खोलाई का काम करते थे और परदाज करके रगो को मिलाते थे। अन्तिम रेखाये और विन्दु उस समय लगाते थे जब वसलीगर को चित्र देना होता था। कभी-कभी वसली पर चित्र चढाने के पश्चात् भी अन्तिम रेखाएँ दी जाती थी।

इन्ही उस्ताद लालजी मल्ल के साथ कुछ वसलीगर भी दिल्ली से आये थे। ये दफ्ती तैयार करते थे जिस पर चित्र चिपकाये जाते थे। इसे बनाने के हेतु ये पुराने कागजो की तह लेई बना कर जमाते थे और उस पर फिर ये एक सादा कागज चिपकाते थे। लेई ये आरारोट या इमली के बीज से बनाते थे। लेई लगाने के पश्चात् ये दफ्ती को घोंटते थे और फिर उस पर बेल, बूटे, शिकार-गाह इत्यादि रगो से या सोने का तबक छिडक कर बनाते थे। जब वसली तैयार हो जाती थी,

उस पर चित्र चिपकाया जाता था। चित्र के चारो ओर की रेखाएँ पहिले ही बना ली जाती थी और उसी के भीतर चित्र रहता था। वसली पर की कारीगरी चित्र से मोटी रहती थी जिसमे चित्र की ही ओर ध्यान आकर्षित हो। रग भी चित्र से हलके रखे जाते थे। मुगल काल मे वसली इतनी सुन्दर बनने लग गयी थी कि चित्र को भी कभी-कभी दबा लेती थी। यो प्राय वसलीगर अपनी कारीगरी का परिचय देते हुए भी इस बात का ध्यान रखते थे कि हाशिये से चित्र दब न जाय। मुगलकाल मे वसलीगरो की अपनी एक श्रेणी बन गयी थी। ये प्राय चित्रकारो के साथ ही एक दरबार से दूसरे दरबार मे जाते थे।

तूलिका या कलम बाँधने का या बनाने का ढग भी उस्ताद जी का अपना था। ये प्राय बछिये के दुम के बाल या काली बिल्ली के बाल या गिलहरी के दुम के काले बाल अपनी कलम के लिए चुना करते थे। ये कहते थे कि तूलिका के हेतु वे ही बाल काम मे आ सकते है जो पानी मे डालने के पश्चात् छितरा न जायँ और मुलायम भी हो। इन बालो को एकत्रित करके कबूतर के पख की डण्डी मे पिरो दिया करते थे फिर उसे तागे से बाँध देते थे। इस काम को ये अपनी भाषा मे परगजा मे कलम उतारना कहते थे। इनके कलमो की अनी या नोक बडी बारीक या पतली रहती थी। इसके पश्चात् ये उस पर की डण्डी को काटकर किलिक की कलम की बेट लगाकर अपनी तूलिका तैयार करते थे।

रगो का व्यवहार करने-करते इनके विविध दोष-गुणो का इनको पूरा परिचय हो गया था। वर्णिका भग द्वारा किस प्रकार के रगो से किस प्रकार के ऋतुओ का वैचित्र्य तथा भावो की उत्पत्ति इत्यादि दिखाया जाता है इसका उन्हे पूरा ज्ञान था। ये सफेद रग के हेतु जस्ते का ही सफेदा व्यवहार करते थे, सीसे का सफेदा नही लगाते थे, क्योकि ये कहते थे वह कुछ दिन मे काला पडने लगता है। काला रग भी ये काजल ही से तैयार करते थे। लाल रग ये कई प्रकार के लगाते थे। इनके हेतु ये गेरू, हिरौजी सिन्दूर, इगुर, कृमदाना व्यवहार करते थे। पीला रग ये रामरज, सारेरेवन और हडताल से बनाते थे। हरे रग के हेतु ये हरा माटा तथा जगाल लगाते थे। गहरा हरा रग हडताल और नील को मिला कर तैयार करते थे। नीला रग प्राय नील से ही बनाया जाता था, कभी-कभी मूल्यवान चित्रो के हेतु लाजवर्द या लजवर्द के खोटे सग जमुनिया को पीस कर तैयार किया जाता था। इस प्रकार के मूल्यवान् पत्थरो से बनाये हुए नीले रग मे कुछ न कुछ नील मिलाया जाता था। बैगनी रग नील और इगुर मिला कर, कलछौट बैगनी काजल तथा हिरौजी मिलाकर, सोन जर्द पियुरी और हिरौजी मिलाकर, नारगी रग पियुरी और इगुर मिलाकर, फाकतई रग था कबूतर के शरीर का रग कागज मे सफेदी मिला कर उत्पन्न किया जाता था। ये सोना और चाँदी का भी व्यवहार अपने चित्रो मे करते थे। इन धातुओं के रग बनाने के हेतु ये इनके तबक को शहद मे हल करते थे और सोनाकारी के समय सहरेस का भी व्यवहार करते थे। चाँदी बहुत कम व्यवहार की जाती थी। रगो के जमाने के हेतु सभी रगो मे बबूल की गोंद व्यवहार होती थी परन्तु सफेदा और पियुरी मे धऊ पेड की गोद को मिलाया जाता था। दूसरे रगो मे इसे मिलाने से रग लढ़िया जाता है ऐसा ये कहते थे। इन्ही रगों मे से पारदर्शी वस्त्रो का भी चित्रण बडे ढग से करते थे।

मुगल कालीन चित्रो की कुछ अपनी परम्परायें थी जिनका उस्ताद जी भी पालन करते थे। ये पेड पत्ती और शबीह मे आकार को प्रधानता देते थे और आकार सादृश्य लाने का प्रयत्न भी

करते थे परन्तु पाश्चात्य चित्रो की भाति ये न परछाईं दिखाते थे न प्रत्येक वस्तु पर पडते हुए अजोरा अघेरा अकित करते थे । ये मनुष्य के शरीर, चेहरे तथा वृक्ष, पर्वत इत्यादि के आकार और मोटाई की पोल बडे बारीकी से दिखाते थे परन्तु भाव सादृश्य या व्यग का इनके चित्रो मे अभाव रहता था । लावण्य की मात्रा अधिक करके ये चित्र को आकर्षित बना देते थे परन्तु बहुत-सी बात एक साथ दर्शाने की उत्कठा मे भाव-भगिमा इनके चित्रो मे खो जाती थी । इन चित्रो को देखकर ऐसा आभास होता है कि चित्रकार ऊँची खिडकी पर से सामने पथ पर का दृश्य देख रहा है पाश्चात्य चित्रकारो की भाति सामने से नही । हमारे शास्त्रो मे मूर्त्तियो के नाप के प्रमाण दिये गये थे ।[१] इन्होने भी कैडे के प्रमाण निश्चित कर रखे थे । यह परम्परा भारतीय थी । इनके यहाँ कद के हिसाब से शरीर की ऊँचाई यदि आठ अगुल मान ली जाय, चेहरो का विस्तार एक अगुल रखा जाता था, छाती दूसरे अगुल पर बनाई जाती थी, नाभि तीसरे अगुल पर, लिग चौथे पर, जाँघ पाँचवे पर, घुटने छठवे पर, पैर का जोड सातवे पर और पैर आठवें पर दिखाये जाते थे । सुमेर के कलाकारो की भाति ये शरीर से कही अधिक चेहरे को सही-सही बनाने पर (मुगल चित्रकारो की परम्परा के अनुसार) जोर दिया करते थे । प्राय उस्ताद जी को एकचश्मी या डेढ चश्मी चेहरा बनाना अच्छा लगता था । इनकी रेखाये कठोर, कोमल, अति कोमल स्वाभावानुसार अपने आप बनती थी ।

कम्पनी कालीन कला

१८वी शताब्दी मे ही ईस्ट इण्डिया कम्पनी का प्रभुत्व भारत में काशी तक फैल गया था । काशी मे भी इनके अफसर नियुक्त हो गये थे ।[२] इनमे बहुत से अपने साथ चित्रित चीनी के बर्तन और हाथी दाँत के चित्र इग्लिस्तान से भारत ले आए थे । इन्हे ये अपने मित्रो को तथा भारतीय राजे महाराजाओ को उपहार मे दिया करते थे क्योकि उस प्रकार के न चीन के बर्तन और न हाथीदाँत के चित्र यहा बनते थे । इस काल मे इग्लिस्तान के उच्च तथा मध्यम वर्ग के स्त्री पुरुषो में अपनी छवि अकवाने की प्रथा बहुत चल पडी थी । इस प्रकार के चित्र प्राय मोटे कपडो पर, कागज पर, हड्डी पर, तथा हाथी दाँत पर बना करते थे । इस काल के अग्रेजी कलाकारो मे रोमने, रेनाल्ड, रेमर्न गेन्सबरो इत्यादि बडे विख्यात थे । कलाकार रिचर्ड कोजवे (१७४२-१८२१) के समय मे तो यह मनोवृत्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी थी । जब भारत मे अग्रेज रहने लगे, स्वभावत उनकी यह इच्छा हुई कि उनके स्वदेश के चित्रकार यहा आकर कुछ चित्र बनाये । ऐसे ही अग्रेजो के आग्रह पर कोजवे के शिष्य जॉन स्मार्ट (१७४०-१८११), जो अपने समय के उत्कृष्ट कलाकार थे, डायना हिल के साथ भारत आये[३] और यहाँ इन लोगो ने अग्रेजो के चित्र कागज पर, कैनवेस पर और हाथी दाँत पर बनाये । इनकी कृतियाँ पाश्चात्य कला की प्रतीक थी । इनसे ही भारतीयो ने भी हाथी-दाँत पर चित्र बनाना सीखा और उन्ही की चित्रकारी की

[१] विष्णु धर्मोत्तर पुराण – ३. ४१. ३ ।

[२] बनारस गजेटियर – पृष्ठ २०५-२०७ ।

[३] मिल्ड्रेड आर्चर, पटना पेंटिंग–पृष्ठ १५ ।

पद्धति अपनाई जैसे चित्र बनाकर उस पर बारनिश करना[४] परन्तु इन्होने न अपने रगो मे वारनिश मिलाया न तैल रगो का व्यवहार किया।

इस काल मे भारतीय कागज उतने सफेद नही होते थे जितने चीनी के बर्तन या हाथी दाँत के टुकडे इस कारण १८वी और १९वी शताब्दी मे राजा महाराजाओ ने मूल्यवान चित्र हाथी दाँत पर ही बनवाने प्रारम्भ किये। दिल्ली, लखनऊ, पटना और मुर्शिदाबाद मे इस प्रकार की चित्र-कारी के केन्द्र बन गये। भारतीय चित्रकार छोटे-छोटे चित्रो के बनाने में बड़े कुशल थे इस कारण हाथीदाँत की चित्रकला को अपनाने मे इन्हे कोई कठिनाई नही हुई। यो हाथीदाँत पर खोदाई करके चित्र उत्कीर्ण करना तथा उस पर स्थान-स्थान पर रग लगाना भारतीय जानते थे जैसा हाथी दांत के फलक पर उत्कीर्ण चित्रो से जो बम्बई के प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम मे सगृहीत है पता चलता है[५] और जैसा बेगराम से प्राप्त हाथीदांत के फलको से ज्ञात होता है[६] परन्तु सादे हाथीदांत की तख्ती पर रग से चित्र बनाना भारतीयो ने सम्भवत पाश्चात्य फिरगियो से ही सीखा।

तकनीक

उस्ताद जी के शिष्यो ने काशी मे जब हाथी दाँत पर चित्र बनाना प्रारम्भ किया, उन्होने अपनी ही चित्रण विधि अपनाई और अपने ही रगो का व्यवहार किया। ये चित्र बनाने के हेतु ऐसे ही हाथीदाँत की तख्ती व्यवहार करते थे जिसमे पारदर्शिता बहुत अधिक न हो जो बीच से फटी न हो और जिसमे रेखाये न दिखाई पडती हो। ये आधे सूत से एक सूत मोटी तख्ती पर ही चित्र बनाते थे। इस प्रकार की बडी तख्ती न मिलने के कारण छोटे ही चित्र बनाये जाते थे। जब कोई बडा चित्र बनाना ही पडता था हाथी दाँत के दो बराबर तख्तियो के किनारो पर खोल बनाकर उनको सहरेस से जोड देते थे। परन्तु इस प्रकार जोडी हुई तख्तियाँ कुछ दिन मे ऋतु के प्रभाव से खुलकर अलग हो जाती थी। तख्ती का आकार निर्धारित करके उसके कोने या गोलाई आरी से बराबर करा ली जाती थी। तख्ती को समतल करने के हेतु उसे पत्थर से माँजा जाता था और फिर उसे समुद्रफेन से चिकना किया जाता था।[७] इस प्रकार तख्ती तैयार हो जाने पर उसे दबा कर रखा जाता था जिसमे वह टेढी न हो जाय।

इस प्रकार की तख्ती पर सर्वप्रथम सीसे की पेंसिल से या वर्तिका से रेखाएँ अकित की जाती थी फिर इन रेखाओ को लिखती से पक्की किया जाता था। हाथीदाँत की तख्ती पर सफेदा लगाने की आवश्यकता नही पडती थी। कभी-कभी रेखाये चरबे पर खीच कर उसमे तख्ती पर उतारी जाती थी। इस कार्य मे रेखाओ पर महीन सूई से छेद बनाये जाते थे और उस पर सूखा काला रग भुरका जाता था जिससे नीचे तख्ती पर रेखाएँ बन जाती थी। उनको पक्की करने के पश्चात् रग की हलकी परते लगाई जाती थी। रग लगाने के समय रीठे का पानी व्यवहार किया जाता था, इस हेतु रीठे को पानी मे भिगो दिया जाता था और जब वह पानी मे फूल जाता था उसी

[४] ऐसा ही एक चित्र वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के संग्रहालय में सुरक्षित है, सं० ५६४५।

[५] मोतीचन्द्र : एंश्येंण्ट इण्डियन आइवरीज, प्रिंस ऑफ वेल्स, म्युजियम बुलेटिन पृष्ठ : ३७।

[६] हाकिन : नूवेलरिसेर्श आ बेग्राम, पृष्ठ १४।

[७] मोतीचन्द्र : दि टेकनीक ऑव मोग़ल पेंटिंग, यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी जर्नल, पृष्ठ १४-१६।

पानी को कूंची से उठा कर रग मे मिला लेते थे क्योकि यो पानी का रग हाथीदात पर ठहरता नही। विलायत मे हाथी दाँत पर चित्रकारी के हेतु तैल रगो के साथ वारनिश मिलाई जाती थी परन्तु भारतीयो ने यह ढग नही अपनाया। चित्र का कुछ भाग बिना रगे छोडा जाता था जिसमे नीचे का हाथीदाँत दिखाई देता रहे। इससे चित्र की आभा बढती थी परन्तु कागज पर चित्रकारी करते समय इस काल के भारतीय चित्रकार कागज को कभी सादा नही छोडते थे। इस प्रकार से हाथीदांत की तख्ती के कुछ भाग को सादा छोडना इन्होने विलायत वालो से ही सीखा। रग में सफेदा भी बहुत कम मिलाया जाता था। छवि बन जाने पर परदाज करके उसे पूरा किया जाता था।

इस काल के हाथी दांत पर बने चित्रो मे प्राय विशिष्ट पुरुषो की आकृतियाँ तथा ऐतिहासिक इमारते ही दिखाई देती है। इनके आकने का ढग भारतीय होने पर भी बहुत कुछ पाश्चात्य ही था क्योकि इनमे आकार सादृश्य की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। चेहरे अब एक चश्मी और डेढ़ चश्मी के अतिरिक्त पौने दो चश्मी और पूरे दो चश्मी के भी बनने लगे उसमे पोल के अतिरिक्त पाश्चात्य चित्र शैली की नकल पर अब कुछ छायातप या साया और उजाला भी दिखाया जाने लगा। आकार जिसमे सादृश्य पूरा उभड आये। चित्रो मे राजपूत काल की गति के स्थान पर मुगल कालीन स्तब्धता दिखायी जाने लगी तथा भाव के स्थान पर कला का कौशल। यो चेहरे और हाथो पर रग बहुत हलका लगाया जाता था जिसमे नीचे के हाथी-दाँत की झलक मिलती रहे। आबदारी या चमक उत्पन्न करने के हेतु जैसे केश की चिकनाई दिखाने को या सिल्क के कपडो की परते दिखाने को हलका गोद का घोल बनाकर रग लगाने के पश्चात स्थान-स्थान पर हलके हाथ से लगाया जाता था। रगो को बहुत चटक करके नही दिखाया जाता था अन्यथा वे रग चित्र के और रगो से मिलते-जुलते न होकर अलग दिखाई देने लगते थे। इस घोल को बडी सावधानी से लगाया जाता था जिसमे यह चित्र के और भागो मे न फैले। हाथी दांत के काशी के चित्रकार अपने मुगलकालीन रग ही व्यवहार करते थे और उसी प्रकार की कूंची भी बनाते थे। इनको इन्होने पाश्चात्य चित्रकारो से नही लिया। शैली मे पाश्चात्य तथा प्राच्य का सम्मिश्रण होना प्रारम्भ हो गया है।

प्रारम्भिक काल के चित्रो का एक बडा सुन्दर उदाहरण वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय के सग्रहालय मे उपस्थित है। इसकी शैली मुगलकालीन शैली से बहुत कुछ मिलती हुई है। इसमे दो सखियाँ या प्रसादिकाये अकित है। एक के हाथ मे मदिरा की सुराही है और दूसरे के हाथ मे मदिरा का प्याला। चेहरे एक चश्मी है और वेष-भूषा सभी मुगलकालीन है। चित्रकारी करके इस पर रगो की रक्षा के हेतु वारनिश भी लगायी गयी है, वारनिश का व्यवहार यह सिद्ध करता है कि कलाकारो ने पाश्चात्य शैली को अपनाना प्रारम्भ ही किया था (चित्र १)। दूसरा उदाहरण है एक दुर्गा के चित्र का। यह चित्र कागडा शैली पर आधारित है परन्तु हाथी दाँत पर बना है इसमे देवी को रुद्र पर आसीन दिखाया गया है। देवी के वस्त्र लाल है। इस पर कोई वारनिश नही है। यह चित्र भी वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के सग्रहालय मे सगृहीत है (चित्र २)। तीसरा उदाहरण एक महरट्टा सरदार के चित्र का है कदाचित् यहाँ बालाजी राव पेशवा को अकित करने का प्रयत्न किया गया है। इसमे दूर पर माधोराव का धरहरा तथा उसके पास की मस्जिद भी अकित है। बाला जी ने एक मन्दिर इसी मस्जिद के पास बनवाई थी इस कारण हो सकता है है कि उन्ही की यह छवि हो। यह चित्र स्याह कलम मे अकित है परन्तु चेहरे के पोल की बारीकी

देखने लायक है (चित्र ३) । इसी युग का एक और उदाहरण एक फिरंगी का चित्र है। सम्भव है कि यह किसी बडे फौजी अफसर का हो क्योकि इसे फौजी नीला कोट पहिने दिखाया गया है। इसमे चेहरे का रग बनाने मे बडी कारीगरी से काम लिया गया है बिल्कुल अग्रेजो के रग से रग मिला दिया गया है कपडे पर छाया और आलोक दिखाने का भी प्रयत्न किया गया है। (चित्र ४) एक और चित्र एक अधेड अग्रेज पादरी का है। इसके काले कोट पर गोद लगा कर चमकाने का भी प्रयत्न किया गया है जिससे यह ज्ञात हो कि यह कोट काले साटन का है। इसके चेहरे मे पोल दिखाने का सफल प्रयत्न किया गया है (चित्र ५) । ये दोनो चित्र भारतीय चित्रकारों की कला के नमूने हैं क्योकि इनमे पाश्चात्य और प्राच्य शैलियो का मिश्रण दिखाई देता है। ओठो की लाली इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। ऐसे और बहुत से चित्र काशी नरेश के सग्रहालय मे तथा काशी के एक प्राचीन चौखम्बा के वसु घराने मे सुरक्षित हैं।

काशी के एक सिक्खी ग्वाल ने उस्ताद लालजी मल्ल से मुगलकालीन चित्रकला के भेद उनकी सेवा करके प्राप्त कर लिए थे। इन्ही के वशज उस्ताद रामप्रसाद थे[८] ये पटना शैली के उत्कृष्ट चित्रकार श्री ईश्वरी प्रसाद के समकालीन थे। रायकृष्णदास जी के सरक्षण मे १९१५-४२ के बीच अनेक चित्र बनाये। ये प्राय मुगलशैली के ही चित्र बनाते थे परन्तु पाश्चात्य चित्र शैली से भी पूर्णरूपेण परिचित थे।[९] इनकी कृतियो मे हाथी दाँत पर एक राधाकृष्ण का चित्र[१०] तथा एक महादेव का चित्र बहुत अच्छे बन पडे। राधाकृष्ण की जोडी इन्होने वृन्दावन के कुज मे दिखाने का प्रयत्न किया है सयोग का ऐसा सुन्दर चित्रण कम दिखाई देता है। इस चित्र मे राधा का आत्मसमर्पण स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है। महादेव के चित्र मे भगवान् हिमालय की गोद मे बाघम्बर पर पद्मासन में बैठे दिखाये गये हैं। ये ध्यान मे मग्न है और इनके सारे शरीर से आभा की किरणें प्रस्फुटित होती हुई दिखाई पडती हैं। शान्ति इनके मुख से टपक रही है। पीछे हिमालय की हिमाच्छादित चोटियाँ दिखाई देती है जो चारो ओर के वातावरण को शीतलता प्रदान कर रही हैं। इनके बाईं ओर गड़ा हुआ त्रिशल जिसके सहारे एक मुण्ड लटक रहा है शान्ति की घोषणा कर रहा है (चित्र ६)।

हाथीदाँत पर अच्छे चित्र बनाना कठिन है तथा कागज की अपेक्षा श्रमसाध्य भी। हाथीदाँत की तख्ती भी उतनी अच्छी नही मिलती। इन कारणो से भी इस कार्य से चित्रकार विमुख होते जारहे हैं। यों इस कला का अपना स्थान है। रग के नीचे की हाथीदाँत की तख्ती जो रगो मे एक लोच उत्पन्न करती है उससे इन चित्रो मे एक विशेष आभा दृष्टिगोचर होती है। आधुनिक चित्रकला मे जो अमूर्त शैली को प्रश्रय देती है--इस माध्यम का कोई स्थान नही है क्योकि आज हम वैज्ञानिक जगत् की आराधना मे लगे हैं जिसमे न अन्तर आत्मा की रसानुभूति के दर्शन कराने की आवश्यकता है और न कला के कौशल के प्रदर्शित करने की। आज एक कण से रेगिस्तान बनता है पानी के एक बूँद से समुद्र बनता है। इस चित्र कला की भाषा ही दूसरी है, इसका कौशल ही दूसरा है जिसका हाथी दाँत की चित्रकारी से कोई सम्बन्ध नही है। वह अब एक अतीत की वस्तु हो गयी।

---

[८] रायकृष्णदास : भारत की चित्रकला, पृष्ठ : १०३।

[९] इनके तैल मिश्रित रगों से कैनवस पर बनाये हुए चित्र लेखक के पास है।

[१०] रायकृष्णदास जी के निजी संग्रह में।

मथुरा कला में मांगलिक चिह्न

नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी

भारत की कलाकृतियो में प्रतीक चिह्नो का महत्वपूर्ण स्थान है। ये चित्र विशेष प्रकार की आकृतियाँ होती हैं जिनके अपने निश्चित अर्थ स्थिर किये गये हैं। इनमे कुछ का सम्बन्ध देवताओ से तथा कुछ का सप्रदाय विशेष से होता है। कुछ चिह्न केवल मागल्य के द्योतक होते हैं, और कई सप्रदायो मे समान रूप से चलते है। प्राचीन भारत के तीन प्रमुख मत अर्थात् ब्राह्मण, बौद्ध और जैन अपने-अपने ग्रन्थो मे इन मगल चिह्नो की विस्तृत तालिकाएँ देते हैं। मथुरा से तीनो मतो की प्रतिमाएँ मिली हैं। इनमे से प्रारम्भिक काल की मूर्तियो पर अनेक रूपो से मागलिक चिह्नो का अकन किया गया है। इनमे से कुछ रूपो का समकालीन साहित्य मे भी वर्णन मिलता है। प्रस्तुत लेख मे मागलिक चिह्नो के इन्ही विविध रूपो का विवरण देने की चेष्टा की जा रही है।

कला में मागलिक चिह्नों की परम्परा

कला मे मागलिक चिह्नो के दर्शन हमें मौर्य काल से मिलने लगते हैं। साची की शुगकालीन कला मे एक स्थान पर मगलमालाएँ दिखलाई पडती हैं। इनमे से एक माला मे ग्यारह और दूसरी में तेरह चिह्न बने हैं।[1] मथुरा की कलाकृतियो को देखने पर ऐसा लगता है कि कुषाणकाल मे आठ मागलिक चिह्न विशेष प्रिय हो गये थे। इनका सम्मिलित नामअष्ट मगल चल पडा। कुषाण काल से ही आठ मागलिक चिह्नो वाली माला अष्टमगलक नाम से पहिचानी जाने लगी थी।[2] निश्चित रूप से सातवी शताब्दि तक यह अलकार प्रचलित रहा क्योकि महाकवि बाण ने भी इसका उल्लेख किया है।[3] अब प्रश्न यह है कि ये आठ मागलिक चिह्न कौन-कौन से थे। इसके विषय मे कई मतभेद हैं।

ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियो के एक लोकप्रिय बौद्ध ग्रन्थ 'ललितविस्तर' मे विशेष अवसरो पर मगल चिह्नो की कई सूचियाँ गिनाई गई हैं। उदाहरणार्थ भगवान् बुद्ध की हथेलियो पर शख, ध्वज, मीन, कलश, स्वस्तिक, अकुश व चक्र इन सात चिह्नो के बने होने का वर्णन मिलता है।[4] एक दूसरी सूची मे यह सख्या तेरह है। ये चिह्न निम्नाकित हैं[5] —गधोदक से भरा हुआ पूर्णकुभ, मयूर, हस्तक या मोरछल, ताल वृक्षक, गधोदक से पूर्ण भृगार या झारी, विचित्र पडलक या कमल के आकार का पुष्पपात्र, प्रलम्बनमाला या द्वारमध्य मे लटकने वाली माला, रत्न-रत्नभद्रा-

[1] मार्शल : मान्यूमेण्ट्स ऑव साची, प्लेट ३७।

[2] अंगविज्जा, अष्टमंगलक, पृष्ठ १६३।

[3] वासुदेवशरण अग्रवाल : हर्षचरित्र का एक अध्ययन, ५,१२०।

[4] ललित विस्तर, अध्याय २१, पृष्ठ : मिथिला विद्यापीठ प्रकाशन।

[5] वही अध्याय ७, पृष्ठ : ७१।

लंकार, भद्रासन, घण्टा लिये हुए ब्राह्मण, हाथी, घोडे, रथ और पैदल सिपाही। इसी प्रकार जैनों के एक प्रसिद्ध ग्रन्थ रायपसेणिय सुत्त मे मगल चिह्नो की तालिकाएँ मिलती है। वहाँ इन्हे मगलभित्ति-चित्र कहा गया है इनमे मुख्यतया निम्नाकित चिह्नो की गणना की गई है—स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, एक पात्र को ढूँढकर रखा हुआ दूसरा पात्र या वर्द्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्य और दर्पण।[६] ब्राह्मण धर्म के ग्रन्थ भी इस बात मे पिछडे हुए नही हे। इस प्रसग मे एक उदाहरण पर्याप्त होगा। स्कदपुराण में पार्वती के विवाह के अवसर पर अकित मगल चिह्नो की एक लम्बी सूची मिलती है जिसमे सिह, हस, मोर, नाग, घोडे, मृग, द्वारपाल घुडसवार, चामर, हाथी, फूलो की माला, फूल को हाथ में लिये हुए पुरुष, पताकाएँ, महालक्ष्मी, रथ, नदी, बैल, ऋषि, लोकपाल, सुवर्ण, कलश, रभा या केले का वृक्ष, मायामय अर्थात् काल्पनिक बैल, नाग आदि वस्तुओ की गणना कराई गई है। इनमे से कितने ही चिह्न आज भी द्वारो पर अकित किये जाते हे।

साहित्य मे प्रचुरता से उपलब्ध होने वाले ये मगल चिह्न कला मे विशेषतया मथुरा की कुषाणकालीन ईसवी सन् की प्रथम से तृतीय शती तक की कला मे बहुलता से दिखाई पड़ते हैं। अध्ययन की सुगमता के लिए इन्हें निम्नाकित वर्गों मे बाँटा जा सकता है --

१ महापुरुषो के शरीर पर अकित मगल चिह्न,
२ आभूषणो मे प्रयुक्त मगलचिह्न,
३. पवित्रता एव महत्ता के द्योतक मागलिक चिह्न।

महापुरुषो के शरीर पर अकित मांगलिक चिह्न

आचार्य तथा देवताओ के पुरुषोत्तम होने का सकेत करने वाले चिह्न मुख्यतया मागलिक चिह्न ही हैं। प्रथम बुद्ध मूर्ति को ले। यह प्रसिद्ध ही है कि भगवान् बुद्ध की प्रथम प्रतिमा कुषाणकाल मे और वह भी मथुरा मे बनी। उसके निर्माण के सिद्धान्त भी समकालीन साहित्य के आधार पर ही स्थिर किये गये थे। 'ललितविस्तर' और 'दिव्यावदान' नामक ग्रन्थो मे जो उस समय निश्चित ही विद्यमान रहे, बुद्ध के शरीर पर अकित चिह्नो का वर्णन मिलता है। उनकी हथेलियो पर अकित चिह्नों को हम गिना चुके हैं। दिव्यावदान मे इनकी हथेलियो को चक्र, स्वस्तिक और नन्द्यावर्त से युक्त बतलाया है।[९] मथुरा से प्राप्त बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्त्तियो की हथेलियो पर चक्र अवश्य बना रहता है (चित्र १)। साथ ही साथ उगलियो के अन्तिम पर्वो पर भी मगल चिह्न बने रहते हैं। उदाहरणार्थ कटरा केशवदेव से मिली हुई सुप्रसिद्ध बुद्ध प्रतिमा मे अगूठे पर 'त्रिरत्न' और बाकी सभी उगलियो पर स्वस्तिक बने हे (चित्र २)[१०]। एक दूसरी समकालीन मूर्ति की उगलियो पर स्वस्तिक, श्रीवत्स तथा मीन ये चिह्न विद्यमान हैं (चित्र ३)[११]। इस मूर्त्ति की शेष उगलियाँ टूटी और घिसी होने के कारण अन्य चिह्नो के विषय मे कुछ नही कहा जा सकता।

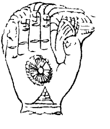
---

[६] रायपसेणियसुत्त, कण्डिका ६६, पृष्ठ १४५।
[७] स्कन्दपुराण अध्याय २४, श्लोक ६-३०।
[८] जोशी, नीलकण्ठ पुरुषोत्तम : 'हमारी द्वारालंकरण की प्राचीन परम्परा', 'आज' दिनांक १-१२-६२ वाराणसी।
[९] दिव्यावदान, ३ मैत्रेयावदान, पृष्ठ ३४।
[१०] मथुरा संग्रहालय, मूर्त्तिसंख्या ए—१।
[११] वही, मूर्तिसंख्या १८८।

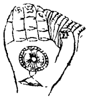
इन मूर्तियों के पैरो के तलुओ पर हाथो के समान त्रिरत्न और चक्र अवश्य बने रहते हे । लखनऊ सग्रहालय मे प्रदर्शित एक बोधिसत्व प्रतिमा के पैरो पर चक्र के साथ श्रीवत्स चिह्न भी बना है। तीसरा चिह्न जो कदाचित् त्रिरत्न रहा हो, अब अस्पष्ट हो गया है।[१२] इसी प्रकार पैरो की उंगलियो के अन्तिम पर्वों पर कही-कही स्वस्तिक[१३] तथा कही स्वस्तिक के साथ अन्य चिह्न भी विद्यमान रहते हे (चित्र ३)।[१४]



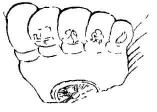
चित्र–१



चित्र–२



चित्र–३



चित्र–४

बुद्ध मूर्तियो के समान कुषाणकालीन माथुरी कला की जैन तीर्थकरो की प्रतिमाओ पर भी मगलचिह्नो के दर्शन होते हे । इन मूर्तियो की एक विशेषता उनके वक्षस्थल के मध्य मे बना हुआ श्रीवत्स का चिह्न है। स्थान, काल और कलाकार के भेद से इस चिह्न की कई प्रकार की आकृतियाँ मिलती हे । तीर्थकरो की हथेलियो पर चक्र तथा पैरो के तलुओ पर त्रिरत्न और चक्र इस काल मे अपरिहार्य रूप से मिलते हे । जहाँ तक उगलियो पर बने हुए चिह्नो का सम्बन्ध है बौद्ध मूर्तियो की अपेक्षा तीर्थंकर प्रतिमाओ मे ये चिह्न कम मिलते हे । राजकीय सग्रहालय, लखनऊ के पुरातत्त्वविभाग में प्रदर्शित तीर्थंकर प्रतिमाओ मे केवल तीन ही ऐसी है जिनके पैर की उगलियो पर मगल चिह्न दिखाई पडते हे । इनमे एक प्रतिमा (जे-१६) में हाथ के अगूठे पर त्रिरत्न और मध्यमिका पर स्वस्तिक बना है । दूसरी (जे–१७) पर अगूठे का त्रिरत्न अस्पष्ट है पर शेष चिह्न घिसे या टूटे हे । तीसरी प्रतिमा (जे-१०) के हाथो पर चिह्नों

---

[१२] लखनऊ संग्रहालय, मूर्तिसंख्या बी १८ ।

[१३] वही, मूर्तिसंख्या बी २ ।

[१४] मथुरा संग्रहालय, मूर्तिसंख्या ए––२४ ।

के धूमिल अवशेष भर विद्यमान हैं। प्रथम उल्लेखित दोनो मूर्तियाँ क्रमश सन् १२३ व १२६ में स्थापित हुई थी।

तीर्थंकर प्रतिमाओ में पार्श्वनाथ की मूर्तियाँ विशेष प्रकार की होती है। उनके मस्तक पर सर्पफणा बनी होती है जिसमे बहुधा सात सर्पमुख बने रहते है। कुषाणकालीन पार्श्वनाथ की मूर्तियो मे सर्पमुखो पर ऊपर की ओर मागलिक चिह्न भी बनाये जाते थे। इस पद्धति का सबसे सुन्दर उदाहरण मथुरा सग्रहालय की एक प्रतिमा है जिसमे श्रीवत्स, पूर्णकुम्भ, स्वस्तिक, मत्स्य, त्रिरत्न तथा शरावसपुट या बर्धमान के दर्शन होते है।[१५]

इस कला के लोक धर्म का एक प्रधान अग नाग पूजन था। विशेषतया मथुरा में नागपूजा के अनेक प्रमाण मिलते हैं। यहाँ पर नागो की दो प्रकार की मूर्तियाँ बनी—एक व जो शुद्ध नाग रूप मे थी और दूसरी वे जो नराकार थी पर उनके मस्तक पर सर्पफणा बनाई जाती थी। इन मूर्तियो मे प्रथम प्रकार की नाग मूर्तियो में कभी कभी मगल चिह्नो का उपयोग किया गया है। उदाहरणार्थ मथुरा सग्रहालय की एक नाग मूर्ति की फणा पर (सख्या ४०-२८८६) त्रिवर्तुल व **'हनीसिकिल'** चिह्न बने है। इसी प्रकार समकालीन पुरुषाकार नाग मूर्तियो मे विशेषतया



चित्र–५

सकर्षण या बलराम की मूर्तियो मे देवता के मस्तक को आवृत करनेवाली सर्प फणाएँ मागलिक चिह्नो से अलकृत है। यहाँ हमे स्वस्तिक, श्रीवत्स आदि चिह्नो के दर्शन होते हैं। (चित्र ४)[१६]

आभूषणो में प्रयुक्त मंगल चिह्न

ललितविस्तर मे कुमार सिद्धार्थ के मस्तक के केशो का वर्णन करते समय बृद्ध ज्योतिषी असित द्वारा बालक के केश कलाप पर श्रीवत्स, स्वस्तिक, और नन्द्यावर्त चिह्नो के होने की बात कही गई है।[१७] मूर्तिकला मे इस तथ्य का प्रत्यक्षदर्शन बुद्ध और बोधिसत्व की प्रतिमाओ मे नही होता पर शुगकालीन मिट्टी की प्राचीन स्त्री मूर्तियो मे अवश्य होता है।[१८] इनके खूब सजे सजाये केश सभार मे एक ओर या दोनो ओर श्रीवत्स, चक्र, अकुश आदि दिखलाई पडते है। स्पष्ट है कि ये आभूषण विशेष ही होगे।

भरहुत, साची व मथुरा की कला कृतियो में रमणियो की शरीर यष्टि पर ऐसे कितने ही

[१५] **मथुरा सग्रहालय, मूर्तिसंख्या बी ६२ लखनऊ संग्रहालय, मूर्तिसंख्या जे ३९।**

[१६] **मथुरा संग्रहालय, मूर्तिसंख्या १४-१५, ४३९।**

[१७] **ललितविस्तर, अध्याय ७, पृष्ठ ७५।**

[१८] **मथुरा संग्रहालय।**

आभूषण दिखलाई पडते है जिनमे अभिप्रायो के रूप मे मगल चिह्नो का प्रयोग हुआ है। इनके कण्ठाभरणो मे बलय एवं ककणो के सिरो पर, मेखलाओ के कुदो पर तथा कठुलो मे त्रिरत्न का खूब प्रयोग हुआ है।

पावित्र्य के द्योतक चिह्न

कभी वस्तुओ को मगलमयी बनाने के लिए अथवा उनकी महत्ता और प्रभाव को बढाने के लिए उनमे मगल चिह्न जोड दिये जाते थे। उदाहरणार्थ साची की कलाकृतियो मे तलवारों के कोशो पर अलकरण के रूप मे त्रिरत्न का उपयोग हुआ है।[२०] इसी प्रकार पात्रो के अलकरणो के लिए मागलिक चिह्नो का उपयोग होता था। राजघाट, वाराणसी की खुदाई मे एक ऐसा पात्र-खण्ड मिला है, जिस पर बडे ही सुन्दर ढग से मागलिक चिह्न बनाये गये हैं। मथुरा सग्रहालय मे भूतेश्वर से प्राप्त एक यक्षी की मूर्ति के हाथ मे जो आसव-घट दिखलाया गया है उस पर त्रिरत्न और पचदल के दर्शन होते हैं।

वास्तु कला ने भी मागलिक चिह्नों को प्रश्रय दिया। अशोक की मौर्यकालीन कृतियों से आज तक अभिप्रायो के रूप मे मागलिक चिह्न व्यवहृत हुए हैं। जहाँ तक माथुरी कला का सम्बन्ध है, उस प्रकार के चिह्न सर्वप्रथम हमे यहाँ से मिले हुए महाक्षत्रप के लेखांकित स्तभशीर्ष पर दिखलाई पडते हैं। यहाँ हमे त्रिरत्न के दर्शन होते हैं। द्वार-स्तभ या साधारण स्तभो पर मागलिक चिह्नो का अकन कुषाण काल की लोक प्रिय पद्धति थी। अबतक ऐसे कितने ही लेखांकित चिह्नो के नीचे वाले भाग या कुभ मिले हैं जिन पर त्रिरत्न, स्वस्तिक, शख और श्रीवत्स बने हैं।[२२] यहाँ पर इन्हें पुष्पमालाओं के अलकरणो मे बडी चतुरता से पिरोया गया है। इनके अतिरिक्त पूजनार्थ बचे हुए खभो या चैत्यस्तभो पर ये चिह्न अवश्य ही दिखलाई पडते हैं। मथुरा की एक कलाकृति मे जिसे 'आयागपट्ट' नाम से पहचाना जाता है चक्र और त्रिरत्न से अकित चैत्यस्तभ दिखलाये गये हैं।[२३] घरो की छतो पर लगे शिखरों को भी त्रिरत्न से अकित करने की पद्धति मथुरा कला कृतियो मे दिखलाई पडती है।[२४]

खभो के अतिरिक्त ईटो को भी इन अलकरणो से शोभित किया जाता था। मथुरा के पुरातत्त्व सग्रहालय मे ऐसी कई ईटे सुरक्षित हैं जिन पर बडे ही सुन्दर ढग से स्वस्तिक, त्रिरत्न, पूर्णकुभ, श्रीवत्स आदि चिह्न उकेरे गये हैं।[२५] कुछ विद्वानो का अनुमान है कि कभी ये ईंटे मथुरा के कुषाणकालीन राजप्रासादो की शोभा बढाती होगी।

पूर्णकुभ और उससे ऊपर आनेवाली कमललता एक बहुत ही लोक प्रिय मागलिक चिह्न

---

[१९] मथुरा संग्रहालय।

[२०] कनिंघम : भिलसा, टोपस्, प्लेट ३३, फिगर्स २,३।

[२१] मथुरा संग्रहालय, मूर्तिसख्या ११,१५१।

[२२] मथुरा संग्रहालय, मूर्तिसंख्या पी—२३।

[२३] लखनऊ संग्रहालय, मूर्तिसंख्या बी—१०८।

[२४] मथुरा सग्रहालय, मूर्तिसंख्या क्यू० २।२४—वही, मूर्तिसंख्या १७—१३४३।

[२५] वही, मूर्तिसख्या—श्रीवत्स—१८.१४६४; चक्र—१८—१४६६; त्रिरत्न—१८—१४८४।

रहा है। अग्निपुराण के अनुसार यह अभिप्राय स्वय श्री लक्ष्मी का प्रतीक है। इसके उपयोग का इतिहास शुगकाल से प्रारम्भ होता है और आज तक अक्षुण्ण रूप से चला आता है। माथुरी कला के द्वार-स्तभो पर इसके भी उदाहरण प्राप्त होते है।[२६]

ऊपर गिनाये गये स्थलो के अतिरिक्त अन्यत्र भी मागलिक चिह्नो का प्रयोग हुआ है जिसमे सबसे अधिक उल्लेखनीय वे विशाल छत्र है जो कभी बुद्ध और बोधिसत्व प्रतिमाओ की शोभा बढाते थे। इन पाषाण छत्रो पर मागलिक चिह्नो की पाते सजाई गई है। सारनाथ (वाराणसी) के सग्रहालय मे रखा हुआ बोधिसत्व का विशाल छत्र जो मथुरा कला की ही देन है, स्पष्ट और भव्य आकार के मागलिक चिह्नो से अलकृत है। मथुरा के सग्रहालय मे ऐसा ही एक वर्गाकार खण्डित छत्र है।[२७] उस पर स्वस्तिक, पडलक या कमल के आकार का पुष्पपात्र, एव लड्डुओ से भरा पूर्ण पात्र भी स्पष्ट रूप से विद्यमान है। इस प्रकार के मगल भित्ति-चित्रो से युक्त छत्रो का वर्णन रायपसेणिय सुत्त में मिलता है।[२८]

यहाँ कर्निग्ठिका पर शख उसके बाद क्रम से श्रीवत्स, मीन युग्म व स्वस्तिक बने है। अगूठा टूट गया है इसलिए उस पर का चिह्न अज्ञात है। कदाचित् वह त्रिरत्न रहा हो जैसा कि हाथो के अगूठो पर दिखाई पडता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियो मे भी समाज में मागलिक चिह्नो का कितना बोल बाला था। प्रस्तुत लेख मे केवल मथुरा की सामग्री पर वह भी मुख्यत कुषाणकालीन सामग्री पर विचार किया गया है भरहुत, साची, अमरावती, गोली, अजता, नागार्जुनीकोंडा आदि स्थानो की प्राचीन कला इस विषय पर बहुत अधिक प्रकाश डालती है। विशेषतया समकालीन साहित्य के साथ किया गया इस सामग्री का अध्ययन सजीव और सागोपांग चित्र उपस्थित करेगा।

---

[२६] वही, मूर्तिसंख्या ५७४४७।

[२७] वही, मूर्तिसंख्या २७४४।

[२८] रायपसेणिय सुत्त, कण्डिका १०६, ५—१७८—६।

सैन्धव स्थापत्य

पृथ्वीकुमार अग्रवाल

सिन्धु की घाटी मे ताम्रप्रस्तरयुगीन सभ्यता के अवशेषो की खोज से भारतीय संस्कृति, साथ ही कला, के इतिहास में एक नया रोचक अध्याय जुडा। यद्यपि प्रागैतिहासिक संस्कृति के अवशेष सारे भारत मे बिखरे हैं, किन्तु सैंधव सभ्यता की सामग्री का प्रामाण्य और लबी परम्परा मिलती है। सिंध के लरकाना जिले मे लरकाना से २५ मील दूर दक्षिण की ओर स्थित मोहेंजोदडो (सिंधी, मोया-जो-दडो, अर्थात् मृतको का टीला) नामक ढूह के ऊपरी हिस्से पर दूसरी-तीसरी शती ईसवी के एक बौद्धस्तूप तथा बिहार की खुदाई के दौरान १९२२ मे श्री राखालदास बद्योपाध्याय को बौद्ध-वास्तु के नीचे कुछ ऐसे अवशेष मिले, जिनके प्रागैतिहासिक स्वरूप को उन्होंने तत्काल पहचानते हुए लोगो का ध्यान उस ओर खीचा। प्राय एक वर्ष पूर्व १९२१ मे भारतीय पुरातत्त्व विभाग की ओर से पजाब के मॉन्टगोमरी जिले मे हडप्पा मे भी खुदाई की गई थी। हडप्पा के खण्डहरो से पशु-आकृतियो तथा अज्ञात लिपि में लिखे लेख युक्त टिकरे सर अलेग्जेन्डर कनिघम को सन् १८६१ मे मिले थे और उनके बाद भी प्राय पाए जाते रहे थे। उनकी अत्यन्त प्राचीन तिथि के बारे मे प्राय विचार प्रकट किया जाता था। हडप्पा, जिसकी पहचान ऋग्वेद के 'हरियूपिया' मे असम्भाव्य नही जान पडती तथा मोहेंजोदडो के क्रमिक तथा व्यवस्थित उत्खनन से जिस सभ्यता का स्वरूप सामने आया वह समय की दृष्टि से मिस्र और सुमेर की प्रागैतिहासिक सभ्यताओ के समकक्ष और विस्तार तथा कलासाधना की दृष्टि से कही बढी-चढ़ी थी।

बलूचिस्तान तथा सिंध प्रदेशो के विस्तृत पुरातात्त्विक सर्वेक्षण और केन्द्रित उत्खनन से इस सभ्यता से सबद्ध साठ से भी ऊपर अन्य स्थल सामने आए, जहाँ से अनेक महत्त्वपूर्ण अवशेष प्राप्त हुए। यद्यपि इनमें से अनेक छोटे पहाडी कस्बो तथा गाँवो से अधिक नही हैं, किन्तु उनमे हडप्पा-मोहेंजोदडो की सुसस्कृत नागरिक सभ्यता का छिट-पुट उत्फलन रोचक और महत्वपूर्ण है। स्वतत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय पुरातत्त्व-विभाग की बीकानेर मे घग्घर की शुष्क तलहटी मे २५ से अधिक और नीचे सौराष्ट्र मे उतर कर (रगपुर-लोथल आदि) समकक्ष स्थलो की उत्साहवर्धक शोध तथा खुदाई से हडप्पा-सभ्यता का जितना देशगत विस्तार सामने आया है, वह मिस्र में नील नदी के किनारे तथा दजला-फरात नदियों के काँठे की सभ्यताओ से कही अधिक है।

हडप्पा और मोहेंजोदडो सिंधुघाटी की प्रागैतिहासिक ताम्रप्रस्तरयुगीन सभ्यता के दो प्रमुख नगर केन्द्र थे, जिनमें पहला पजाब के मॉन्टगोमरी जिले मे रावी की एक प्राचीन धारा पर बसा स्थान है, और जो इस सभ्यता के प्रसार का उत्तरी केन्द्र था। मोहेंजोदडो सिंध में इस सभ्यता की पश्चिमी राजधानी थी। इसका फैलाव शिमला की पहाडियो के निचले हिस्से में बसे रूपड से लेकर अरबसागर (महोदधि) के किनारे सुटकागनडोर तक था। इतना ही नही खुदाई में पूरब की ओर इसका विस्तार

मेरठ जिले मे उखलीना तथा दक्षिण की ओर काठियावाड मे रगपुर, लोथल, सोमनाथ, (जिला हालार) आदि तथा आगे नर्मदा तथा ताप्ती के मुहाने के पास खम्भात की खाड़ी तक पाया गया है। रूपड से लेकर सुटकागनडोर और हडप्पा से लेकर भगतराव तक की दूरी १००० मील से भी अधिक है और प्रसार के विस्तृत प्रदेश की दृष्टि से सिन्धु सभ्यता मिस्र की नील घाटी की सभ्यता से तुलनीय है, जिसका अधिकतम विस्तार ५०० मील से कम ही है।

इतने विस्तृत अवशेषो के बावजूद भी सैंधव सभ्यता की तिथि के सम्बन्ध मे कोई निश्चित सर्वमान्य मत नही प्रतिपादित हो सका है। समय-निर्णय का मुख्य आधार मेसोपोटामिया के पूर्वेतिहासिक नगरो से ईसा पूर्व की तीसरी सहस्राब्दी के परवर्ती भाग और दूसरी सहस्राब्दी के प्रारम्भिक भाग मे भारत से ज्ञात होने वाले सम्पर्क का समुचित निर्णय रहा है। श्री गैड महोदय ने १९३२ मे ब्रिटिश सग्रहालय मे सगृहीत विशेषत ऊर से प्राप्त सिंधुशैली की सीलो की ओर विद्वानो का ध्यान आकर्षित करते हुए इसे विचार का विषय बनाया। किश, सूसा, लघश, उम्मा, तल्लअस्मर से प्राप्त आठ तथा दो-अज्ञात-उद्गम वाली पूर्वसूचित सीलो के साथ-साथ ऊर की तथा ३ अन्य ज्ञात सीले मिल कर २९ या ३० की एक प्रभावशाली अध्ययन-सामग्री प्रस्तुत करती है। इनमे से कम से कम १२ ऐसी हैं, जिनके सम्बन्ध मे पुरातात्विक तिथिक्रम का साक्ष्य प्राप्त है और जिनमे से ७ अक्कद राजा सार्गोन के काल की हैं, जिसका समय २४०० ई० पू० निश्चित किया जाता है। एक पूर्वसार्गोन काल तथा ४ सार्गोन परवर्ती मानी गई हैं। अत सिन्धुसभ्यता का समकक्ष समय २५०० ई० पू० के आसपास रखा जाना कठिन नही, जिसका प्रसार १५०० ई० पूर्व तक है। इसकी पुष्टि मे श्री ह्वीलर ने हडप्पा की एक विषमकोणसमचतुर्भुजाकार सील तथा चनहुदडो की हडप्पा-परवर्ती काल की एक सील की ओर ध्यान दिलाया है, जिस पर बनी हुई गिद्धाकृति सूसा (ल० २४०० ई० पू०) तथा उत्तरी सीरिया के तल्लब्रक (ल० २१०० ई० पू०) मे मिलने वाले अकनो की भाति है। इसके अतिरिक्त उन्होने सिन्धु तथा मेसोपोटामी सभ्यताओ में परस्पर तुलनीय हड्डी, मिट्टी, धातु की वस्तुओ के उदाहरण दिए हैं, जिनके लिए द्रष्टव्य, उनकी पुस्तक 'सिन्धु सभ्यता' (दि इडस सिविलिजेशन, पृष्ठ ८४ से आगे)।

यह निष्कर्ष निश्चय ही सिन्धु सभ्यता को, जिसने भारतीय इतिहास तथा कला की प्राचीनता को २००० वर्ष पूर्व पहुँचाया, विश्व की प्रागैतिहासिक सभ्यताओ के तिथि-तारतम्य मे निर्दिष्ट स्थान देता है। किन्तु सिन्धु सभ्यता के अपने महान् विस्तार के अन्तरग क्रम के लिए दूसरा दृष्टिकोण ही सहायक है। विद्वानो ने वैदिक सभ्यता में सिन्धु सभ्यता के सूत्रो को ढूंढा है और नि सदेह वह अध्ययन काफी शोध-पूर्ण होते हुए वैदिक सभ्यता को समवर्ती पुरातात्विक अवशेष और सिन्धु अवशेषो को समकालीन (?) भाषा प्रदान करता है। किन्तु प्राय यह मान्यता है कि ये भिन्न-भिन्न सस्कृतियो के द्योतक हैं अर्थात् आर्य एव अनार्य। कभी-कभी सिन्धु सभ्यता के विध्वस का श्रेय वैदिक आर्यों को ही दिया जाता है।

हडप्पा और मोहेजोदडो उत्तम नगर-विन्यास के नमूने हैं और ऐसा लगता है कि दोनो का निर्माण दुर्ग या पुर के रूप मे हुआ था और वे दो बडे नगर-केन्द्रो के रूप मे बसे थे। इनकी भूमिस्थ रूपरेखा मे प्राय समानता है। इनमे से प्रत्येक का विस्तार मोटे तौर पर लगभग ३ मील से अधिक और एक जैसा था। एक रावी के दक्षिण तथा दूसरा सिन्धु के पश्चिमी किनारे पर बसा होने पर भी दोनों नगरो का सामान्य रूप उत्तर से दक्षिण की ओर ही मिला है। दोनो ही नगरो में किले-

बन्दी या परकोटे का प्रमाण है। यह दुर्ग या गढी समानान्तर चतुर्भुज आकार मे निचले शहर से हटकर पश्चिम की ओर है। (४००-५०० गज उत्तर-दक्षिण तथा २००-३०० गज पूर्व-पश्चिम, और अधिकतम वर्तमान ऊँचाई ४०)। सभवत इसमें राजकीय या शासनिक सत्ता का निवास था और जिसके उपयोग के लिए विशाल आकार वाले भवनो के अवशेष प्राय इसी के भीतर मिले हैं। यह किलेबन्दी मोहेंजोदडो मे नगर के ही, जिसका सूत्रमापन की दृष्टि से मुख्य सडके विभिन्न खण्डों को घेरती हुई वर्गीकरण करती हैं, एक वर्ग मे है। हडप्पा मे भी ऐसी ही रूपरेखा अनुमित है। स्पष्ट है कि इनका निर्माण पहले से सोची-समझी और अभ्यस्त योजना प्रणाली पर हुआ था, जिसका फल सडको की सुव्यवस्थित रचना और उनपर मकानो की योजना मे और भी प्रशसनीय है। कालीबगा मे प्राप्त ऐसी ही समानान्तर विन्यास-प्रणाली एक और उदाहरण जोडती है। इसमे सन्देह नही कि सिन्धुघाटी के अवशेषो से जो 'पुर' का ढाचा सामने आया है वह नगर-विन्यास की कला का चमत्कारी नमूना है और समकालीन सभ्यताओ मे अपना जोड नही रखता।

यद्यपि हडप्पा अवशेषो को वर्षों तक ईंट के खोजियो ने पहले ही इस बुरी तरह उधेड दिया था कि वहाँ की खुदाई मे व्यवस्थित सामग्री का अभाव रहा, किन्तु मोहेंजोदडो मे नगर-मापन की श्रेष्ठता और सुसगठित योजना का पूरा चित्र प्राप्त होता है। हडप्पा की अपेक्षा मोहेंजोदडो छोटा नगर था, फिर भी इसका क्षेत्र एक वर्ग मील से अधिक है। सम्भव है यह आकार मे और बडा रहा हो, जिसके फैलाव के चिह्न सिन्धु के बालू के नीचे दबे जान पडते है। यह मार्के की बात है कि हडप्पा से प्राप्त कुछ परवर्ती वस्तुओ के अतिरिक्त दोनो नगरो के अवशेष प्राय एक-से हैं। मोहेंजोदडो मे २० से लेकर ७० फुट ऊँचे ढूहो की खुदाई मे पानी की सतह तक अवशेषो की ७ तहें मिली हैं, जिनमे ऊपर की तीन परते उत्तर युग, बीच की तीन मध्ययुग और अन्तिम सातवी पूर्व युग की हैं। समय के दौरान सिन्धु की तलहटी के स्तर मे २० फुट या अधिक ऊँचाई आ जाने के कारण यह सम्भव नही हो सका कि सातवी परत के नीचे सभ्यता के प्राचीनतम स्तर तक पहुँचा जा सके। यह एक सामान्य धारणा है कि हडप्पा का समय कुछ पुराना है यद्यपि इसके लिए हमारे पास साक्ष्य का अभाव है। सम्भवत अन्तिम विध्वस के पूर्व इन विभिन्न स्तरो मे नगर के कई बार बाढ या किन्ही आकस्मिक कारणो से तात्कालिक उच्छेद की लगभग आठ सौ वर्षों की कहानी छिपी हुई है फिर भी यह एक श्लाघ्य तथ्य है कि वास्तुविद्याचार्यों ने पहली बार जो समझे-बूझे नगर विन्यास की आधार शिला रख दी थी, उसके प्रति निर्माताओ की श्रद्धा ज्यो की त्यो बाद में भी बनी रही। उस व्यवस्था का उल्लघन नही किया गया और घरो आदि के निर्माण मे सडको-वीथियो को दबाकर उसका रूप आद्यत नही बिगडा। फिर भी, अन्तिम काल में इस नियम के प्रति उपेक्षा के उदाहरण इसके अपवाद है।

मोहेंजोदडो के अवशेषों मे ज्ञात होता है कि सारे नगर मे सडको का जाल-सा बिछा था। महापथो और पथों के निर्धारित सयोजन के कारण शहर अनेक मुहल्लो मे विभक्त था। सडके बिलकुल सीधी और एक दूसरे को समकोण पर काटती है। हवा का रुख दक्षिण और पश्चिम से उत्तर और पूर्व की ओर होने से सडको का विन्यास यथावत् किया गया था। मुख्य राजमार्ग जो, उत्तर से दक्षिण को है, ३३ फुट तक चौडा पाया गया है। उस पर कई गाडियाँ एक साथ चल सकती हैं। पूर्व से आने वाला दूसरा महापथ उसे नगर के दक्षिणी भाग की ओर हट कर काटता है जहाँ एक प्रशस्त चतुष्पथ था जो किसी भी आधुनिक महानगर के चौराहे से तुलनीय है। अन्य सडकें

कम चौडी और १६' से ९' तक है, जिन्हे ४' तक की गलियाँ मिलाती थी। यद्यपि सड़कों पर ईंटो के बिछाने की प्रथा नही थी, किन्तु बीच मे बहने वाली नालियाँ पक्की बनती थी और उनकी सफाई का भरपूर ध्यान रक्खा जाता था। बँटे हुए वर्गाकार और आयत मुहल्लो का एक स्वतन्त्र अस्तित्व सार्वजनिक कुएँ तथा निजी जल-प्रणाली से स्पष्ट है।

उचित स्थलो पर कूड़ेदान की भी व्यवस्था है। सर्वोपरि नालियो का सुन्दर प्रबन्ध है, जो नागरिको की स्वास्थ्यप्रियता का प्रमाण है। ये सब जगह ईंटो के पटाव से चूने-मिट्टी की सहायता से पक्की बनी हैं। चौडी नालियो के ढकने मे बडी ईंटे अथवा पत्थरो का प्रयोग है। बडे नाले २' तक गहरे तथा छोटी नालियाँ २" से १८" तक गहरी पाई गई हैं।

वीथियो और गलियो के किनारे तरतीबवार दोनो ओर मकान बनाए गए थे। दर्शक भवन-निर्माण कला की सादगी और प्राजलता से चौक उठता है। मकान कही भी आगे निकल कर रास्ता नही छेकते। चौराहे के मोडो पर बने भवनो के कोने घिसे हुए मिले हैं। अनुमान है कि या भारवाही पशुओ की रगड से घिसे होगे या इसका ध्यान रख कर मूलत ऐसे ही बनाए जाते थे। भवनो के प्रवेश-द्वार संकरी गलियो की ओर खुलते है। यह व्यवस्था एकान्त तथा सुरक्षा के ध्यान से की जाती थी। ये आपस मे सटे बने हैं, पर कभी-कभी दो मकानो के बीच फुट-भर की जगह छोडी गई है। इन संकरी गलियो की परम्परा हमारे देश मे अनजानी नही है। आज भी प्राचीन नगरो मे यह देखा जा सकता है कि विशाल भवनो के स्नानागार प्राय गलियो या मार्गो की तरफ ही होते हैं। भवनो की दीवारे इतनी शक्तिशाली और मोटी होती थी कि वे दो या तीन तीन छतो का बोझ वहन कर सकती थी। दीवारो मे समचतुर्भुज अथवा चतुर्भुजाकार छिद्र स्पष्ट व्यक्त करते हैं कि छतो के निर्माण के लिए धरने तथा बल्लियो का प्रयोग किया जाता था, जिन पर सरकन्डे फैला कर मिट्टी की मोटी तह बिछा दी जाती थी। ऊपरी मजिल पर चढने के लिए सीढियाँ भी मिली हैं, किन्तु वे १५" ऊँची और केवल ५" ही चौडी हैं। सिंध निवासी सोपानश्रेणी के अतिरिक्त लकडी की सीढी भी काम मे लाते रहे होगे। यद्यपि मकानो की छत कही भी अवशिष्ट नही मिली, किन्तु वह और ऊपरी मजिल लकडी की बनती रही होगी।

औसतन मकान ३०'×२७' के होते थे और विशेष भवन इसके प्राय दुगने। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि सिन्धु-सभ्यता के भवनो मे आगन एक प्रमुख तत्व था, जिसके तीन ओर कक्षो का निर्माण होता था और एक तरफ प्रवेश मार्ग था। यह विशेषता आजतक भारतीय परम्परा के भवनो के लिए सही उतरती है, जहाँ रोशनी धूप तथा खुली हवा का घरो मे प्रबन्ध स्वास्थ्य के लिए अत्यावश्यक है। आगन के तीन ओर बने हुए कमरो मे रसोई, स्नानागार भी सम्मिलित हैं। किन्ही घरो मे शौचालय का अस्तित्व भी ज्ञात होता है। साधारण परिवार के दो कक्षो के मकान से लेकर विशालतम भवनो मे तीस कक्ष तक दृष्टिगत हुए हैं।

प्रकाश की व्यवस्था दरवाजो से ही की जाती थी। परन्तु कतिपय साक्ष्य जालीदार वातायनो के भी अवश्य हैं। यद्यपि लकडी से बने किवाडो का कोई अतिस्त्व नही मिला है, किन्तु यह कहना सम्भव नही कि सिन्धु घाटी के निवासी गृहो मे सुरक्षा का ऐसा साधन नही प्रयुक्त करते थे। औसतन द्वार ३'-४" चौडा तथा दुगना ऊँचा है। विशाल भवनो के द्वार अपवाद स्वरूप हैं। उदाहरणत २७'-१०" चौडे द्वार के अवशेष प्राप्य हैं। इन्हे बन्द करने का तरीका ब्योडे से रहा होगा जो कि आजतक प्राचीन भारतीय घरो मे देखा जाता है।

भोजन बनाने के लिए सैन्धव निवासी आगन का प्रयोग करते रहे होंगे। रसोई के लिए एक कक्ष भी लिया जा सकता था। विशाल इमारतो मे एक कक्ष मे पाकशाला ज्ञात होती है, जिसमें चल्हों के लिए ईटो की नालियाँ बना देते थे। उनमें ईंधन लगाते थे। एक विशाल भवन में दीर्घाकार तदूर भट्टी का अवशेष प्राप्त होता है, जो इस बात को स्पष्ट रूप से बताता है कि सिन्धु के लोग भी मैसोपोटामिया के वासियो की भांति भट्टियो का प्रयोग करते थे। आज-तक पश्चिमी भारत तथा पजाब मे इसका प्रचलन है। किन्ही अनुमित रसोइयो मे जमीन मे गडे मृत्पात्र मिलते हैं, जो गन्दे पानी के लिए रहे होंगे।

बडी सडको की ओर ईंटो से चिनी हुई भीतें १८' की मिली हैं, जबकि गलियो मे उनकी ऊँचाई २५' तक निकाली गई है। कारण सभवत सिन्धु प्रदेश में घनघोर वर्षा का होना था, जिसने खुली सडकों को और अधिक क्षति पहुँचाई होगी। जैसा कि ऊपर कहा गया है, ये दीवारे इतनी मोटी हैं कि इन पर ऊपरी मजिलो की व्यवस्था बहुत सुचारु हो सकती थी। चिनाई का ढग एकदम सीधा था। बाहरी ओर भिनियाँ बिलकुल सादी हैं और भीतर भी सुधालेप या पलस्तर बिरले ही है। कमरो के फर्श मिट्टी कूट कर कच्चे ही बने थे।

इसके विपरीत स्नानागार, जो कि प्राय प्रत्येक घर मे पाया गया है, पक्के गच वाले थे, जिसकी जुडाई तथा गारे-चूने की लिपाई ऐसी है कि एक बून्द पानी भी नही रिस सकता। कही-कही सेलखडी या खक्खड चूने का प्रयोग भी मिलता है। फर्श एक तरफ को ढालुआँ रक्खा जाता था। ये स्नानागार प्राय जनपथो की ओर होते थे। इसका कारण स्पष्ट है। इससे स्नान आदि में प्रयुक्त जल सरलता से स्नानकक्ष से बाहर किया जा सकता था। कतिपय अवशेषो मे प्राप्त सडास या शौचागार का स्थान प्राय स्नानकक्ष तथा गली की ओर की दीवार के बीच मे ज्ञात होता है। इसमें भी चौरस पक्के फर्श का अस्तित्व था।

इसके जोड की 'प्रणाली व्यवस्था' है। गन्दे पानी के निकास के लिए समुचित प्रबन्ध दृष्टि-गोचर होता है। ऊपरी मजिल से वर्षा तथा स्नानागार आदि के पानी के गिरने के लिए पक्के परनाले हैं, जो नीचे की घर के भीतर से आने वाली छोटी मोरियो के साथ मिल कर एक नाली द्वारा मुहल्ले के नाले से जुडे थे। नालियों और मोरियो की ईंटे भी इस प्रकार बिछाई जाती थी कि उनमे पानी मरने की सभावना न रहे। वस्तुत घर के पानी के निकास की इतनी वैज्ञानिक व्यवस्था तत्कालीन सभ्यताओं मे क्या बाद की १८वी सदी तक की ससार की किसी नगरी मे भी अलभ्य है। सफाई की दृष्टि से ढकी नालियो की सामयिक सफाई के लिए पूर्वनिश्चित प्रबन्ध था। वर्षा तथा घर की मोरियो से आया गन्दा जल सीधा सडक की नालियो मे नही जा मिलता था अपितु पहले मोरी घर से निकल कर एक गड्ढे या गर्त मे गिरती थी और फिर जल मार्ग के प्रमुख नालो से मिलता था। इससे कूडा-करकट जाकर गड्ढो मे बैठ जाता था, जिनकी सफाई नियमित रूप से सम्भव थी। फलत बिना किसी अवरोध के प्रमुख प्रणाली कार्यरत रहती थी। बडी तथा लम्बी नालियो की सफाई के लिए 'मैनहोल' भी है, जो ढक्कनो से ढके रहते थे। सीमान्तो पर नगर का गन्दा पानी जाने के लिए विशाल नाले ढाई फुट चौडे तथा ४ से ५ फुट ऊँचे हैं, जिनको ढकने के लिए घोडिया या पट्टेदार मेहराब की चिनाई काम में लाई गई है।

नालियों की ही भांति मोहेंजोदडो की जल व्यवस्था अत्यन्त प्रशसनीय तथा उच्चकोटि की

है। प्रत्येक गली में एक सार्वजनिक कुआँ होता था। इतना ही नही प्राय प्रत्येक अच्छे घर में निजी कुआँ मिलता है। ये कूप पक्की सूजापट्टी की ईंटों के बने हे, जिनके जोड और मोड बडी सावधानी से मिलाए गए थे। कुओ की ऊँची जगत भली भाति पीट कर बनाई गई थी। उन पर जल-पात्रों के चिह्न अभी तक दृष्टिगत होते हे। अवशेषो से प्रतीत होता है कि कुओ पर जब कुछ लोग पानी भरते थे दूसरे शेष लोग अपनी बारी के लिए बैठकर प्रतीक्षा करते थे, जिसकी विशेष व्यवस्था है। मोहेंजोदडो के कुएँ अत्यन्त सकरे हें और उनका घेरा कम से कम दो या तीन फुट तथा अधिक से अधिक ७ फुट तक है। हडप्पा मे एक विशेषता यह देखने में आती है कि जैसे जैसे आवास भूमि का स्तर ऊँचा उठता गया है वैसे वैसे कूपो को भी ऊँचा उठाया जाता रहा।

हडप्पा तथा मोहेंजोदडो दोनो ही पकाई ईंटों से बने हे। यद्यपि इसके कुछ अपवाद हे, जहाँ पक्की तथा कच्ची दोनो प्रकार की ईंटो प्रत्यावर्ती रद्दो मे या कही-कही केवल कच्ची ईंटे लगाई गई हे। सभी प्रकार की ईंटे, कच्ची या पक्की, सुडौल तथा उचित अनुपात मे हे। नियमत वे चौडाई की दुगनी लम्बी तथा आधी मोटी हे। उनकी नाप १०¼″ × ५″ × २½″ से २०¼″ × ८½″ × २½″ तक है। बहुत बडे आकार की ईंटे विशेष उपयोग के लिए हे, जिनमे ११″ × ५¼″ × २½″ की ईंटे नाली पाटने मे प्रयुक्त हुई हे। बिन पकाई ईंटे सामान्य रूप से प्रयुक्त पक्की ईंटो से बडी हे। ईंटो का उत्पादन खुले साँचे मे पाथकर होता था, जैसा कि आज भी भारत तथा पूर्वी देशों मे होता है। हडप्पा सभ्यता के भवनों मे प्रयुक्त इन करोडों ईंटो को पकाने के लिए पास के जगलो की मनो लकडी ईंधन का काम देती थी।

विशेष कामो के लिए अन्य आकार की ईंटे ढाली जाती थी, जैसे कुएँ बैठाने के लिए सूजापट्टी की ईंटे। किन्तु आश्चर्य की बात है कि इनका अन्य उद्देश्य के लिए प्रयोग नही है यद्यपि सच्ची डाट का प्रयोग समकालीन तथा प्राचीन मैसोपोटामिया मे ज्ञात था। फर्श की जुडाई या अन्य विशेष कामों के लिए ईंटो को छोटे टुकडो मे काट लेते थे और कोर घिस-रगड कर साफ कर ली जाती थी।

बडे कक्षों में पक्की ईंटों के एक या अधिक स्तभ अक्सर मिले हें, जिन पर छत टिकी थी। सभी स्तभ वर्गाकार या चौकोर हे तथा ऊपर नीचे एक ही नाप के हैं। केवल एक गावदुम स्तम्भ देखने मे आया है जो आधार मे तीन फुट वर्गाकार है तथा ऊपर पतला होता हुआ ढाई फुट ही रह गया है। परन्तु समकालीन अन्य सभ्यताओ के लोग खम्भो का प्रयोग करते थे जैसा कि सुमेर मे खुदाई से ज्ञात होता है। ऐसा लगता है कि सैंधव लोग रूढ़िवादी थे और उन्होने कभी भी गोल स्तभो के प्रयोग का प्रयत्न नही किया। यद्यपि प्रयुक्त सूजापट्टी की ईंटो से गोल खम्भे बनाना सरल तथा स्वाभाविक था। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होने प्रस्तर निर्मित खम्भो का भी प्रयोग नही किया। मोहेंजोदडो मे कई जगह से चूने पत्थर के बने वृत्ताकार १६″ से १९″ व्यास तक के लगभग फुट भर ऊँचे छल्ले मिले हे, जिनके उपयोग के बारे में कुछ विद्वानो का अनुमान है कि लकडी के लम्बे लट्ठे पर उन्हे पिरोकर स्तभ का काम लिया जाता था। इसके विपरीत अन्य लोग इन वृत्ताकार खण्डो का 'योनि' के रूप मे धार्मिक उद्देश्य मानना पसन्द करते हें।

मोहेंजोदडो नगर मे कई ऐसे भवनों की प्राप्ति हुई है जो विशिष्ट सार्वजनिक महत्त्व के ज्ञात होते हें। किन्ही सडको के मुहानो पर ऐसी इमारते हे, जिनके बडे कक्षो मे पक्का फर्श है, जिसमें जगह-जगह कटोरे जैसे उथले गढ्ढे हे, जिनके बनाने में सूजापट्टी की ईंटें लगी हे। अनुमान

है कि इनका उपयोग सार्वजनिक भोजनालय या ढाबे जैसा था । इसकी पुष्टि दो मुख्य सडको के मिलने की जगह बने एक ऐसे भवन से होती है, जिसमे सीढ़ी से चढकर एक विशाल मण्डप मे जाने का रास्ता है, जिससे सटी हुई रसोई का कमरा है। यह भी सम्भव है कि इन भोजनगृहो मे से कुछ का उपयोग विशिष्ट लोगो की सभा या जमावडे के लिए होता था ।

नगर के उत्तरी भाग में 'राजपथ' के उत्तरी ओर एक विशिष्ट महदाकार भवन के अवशेष है जो २४२'×११२' का है। उसकी बाहरी दीवारे ५' से भी अधिक मोटी है । उसमे प्रवेश मार्ग दक्षिण और पश्चिम की ओर से हैं । इसके उत्खनक के विचार मे यह किसी सार्वजनिक इमारत का भाग था जो ज्ञात सामग्री से प्राय एक महल प्रतीत होता है।

वस्तुत इसके पास ही दक्षिण की ओर महल सी दीखने वाली एक इमारत भी खुदाई मे सामने आ चुकी है। यह महत्त्वपूर्ण एव विशाल भवन अच्छे वास्तु का नमूना है, जिसमे दो विशाल मण्डप है, जिनके बीच ५ फुट का बरामदा है । चारो ओर इनसे सटे हुए कक्ष हैं, जिनकी पहचान नौकरो की कोटरियो तथा भाण्डागारो से की गई है। इस घरेलू भवन मे एक ३½" ऊँचा ३' ८" व्यास वाला गोल तदूर भी मिला है जो इस प्रदेश क्या सारे एशिया मे आज तक उपयुक्त होता है । इसमे ऊपरी मजिल या छत तक ले जाने वाली चार सीढियाँ भी हैं। (आकार २२०'×११५')

इसकी खुदाई से यह बात स्पष्ट ज्ञात होती है कि क्रमिक युगो मे इसकी हालत गिरती गई और अन्तिम काल मे किसी अज्ञात कारण या अत्यधिक महत्व गिर जाने से यह बहुत विपन्नावस्था मे थी।

डी-के हिस्से की एक अन्य विशाल इमारत उल्लेखनीय है, जिसे यात्रियो या पथिको के लिए पान्थागार या आवासगृह समझा गया है । इसमे मुख्य बात इसका अग्रेजी के 'एल' आकार का मण्डप है, जिसमें दीवार से निकले हिस्सो पर छत की भारी धरन टिकती थी या वे स्वय चारो ओर की वीथी बनाते थे । एक छोटे कक्ष मे कुआँ तथा परवर्ती काल मे जोड़ा गया शौचालय उल्लेखनीय है ।

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है कि हडप्पा तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० मे रावी पर बसा हुआ था और नगर को किसी भी समय बाढ का खतरा हो सकता था । इसमे कोई सन्देह नही कि दुर्ग रक्षा के प्रारम्भिक काल मे बने विशाल परकोटे का मिट्टी और ईंटो का बधा या वप्र बाढ के पानी से बचाने के उद्देश्य से बनाया गया था। बाह्य प्राचीर पर्याप्त ऊँची थी तथा दुर्ग-द्वार अत्यन्त विशाल था। यद्यपि साधारणत प्राचीर कच्ची ईंटो की बनी है, परन्तु सम्मुख भाग मे जहाँ बाह्य आक्रमण का विशेष भय होता था पक्की ईंटो का प्रयोग किया जाता था । यह चालीस फुट मोटी तथा ३५ फुट ऊँची थी । मोहेजोदडो मे भी जिसकी स्थिति द्वीप जैसी है, नदी के निकटतम भाग में प्रागैतिहासिक बँधे के अवशेष मिले हैं ।

दोनो ही नगरों मे इन पश्चिमी टूहो का स्वरूप कोट से घिरे पुरो का है, जिनमे तीस रूढ या उससे भी अधिक ऊँचे ईंटे-गारे के चबूतरे पर कई विचित्र रूपरेखा वाली महत्त्वपूर्ण इमारते बनी थी । इनके चारो ओर अन्दर कच्ची तथा बाहर पकाई ईंटो से बनी दीवार रक्षात्मक प्राकार है, जिसमे स्थान-स्थान पर चौकोर अट्टालक तथा विशाल गोपुर द्वार थे । हडप्पा में ऐसा देखा गया कि विशाल पुर के (४००×२०० गज) चबूतरे के ऊपर चारो तरफ बने प्राकार में प्रमुख द्वार उत्तर की ओर था और पश्चिम की ओर बने गोपुर को सभ्यता के परवर्ती काल मे पूर्णत

या अशत बन्द कर दिया गया था। यद्यपि यह निश्चित है कि हड़प्पा के विशेष महत्व के भवन जिन्हे राजकीय या सार्वजनिक कहा जायगा इसमे स्थित थे, किन्तु ये प्राय. पूर्णतया नष्ट हो चुके हैं। सौभाग्य से मोहेंजोदडो मे पुर के भीतर बने भवनो का स्वरूप अधिक स्पष्टता से सामने आता है।

मोहेंजोदडो में भी ऐसी ही रक्षा प्राचीर थी। इस अनुमान की पुष्टि मे १९५० मे श्री ह्वीलर पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध करने मे सफल हुए। यहाँ खुदाई मे सबसे बडी रुकावट कुषाण-कालीन बौद्ध स्तूप ने पैदा कर रखी है। अनुमान है, जो सत्य के निकट प्रतीत होता है, कि इस थूहे के नीचे प्रागैतिहासिक भवनो के महत्त्वपूर्ण खण्डहर दबे पडे हैं। किन्तु परकोटे के भीतर बने हुए अन्य भवनो मे महास्नान कुण्ड, अन्नागार, महल, सस्थागार आदि हैं।

महास्नानकुण्ड—मोहेंजोदडो मे स्तूप के पश्चिम सबसे प्रसिद्ध तथा निराली इमारत महास्नान कुण्ड है। इसकी लम्बाई ३९' तथा चौडाई २३' है, जिसमे पानी की गहराई ८' रहती थी। इस कुण्ड मे उतरने के लिए आमने-सामने (उत्तर-दक्षिण) दोनों किनारो से सीढियाँ बनी हैं, जिसके सोपान ९' से कुछ अधिक चौडे तथा ८' ऊँचे हैं। प्रत्येक सोपान किनारे पर इस प्रकार उठा हुआ है कि सरोवर के उपयोग के समय उन पर लकडी के तख्ते लगाए जाते थे। जहाँ दोनो सोपान मालाओ की परम्परा समाप्त होती है वहाँ पर दोनो ओर कुण्ड की चौडाई मे १६" × ३९" के चबूतरे बने हैं। सरोवर के चारो ओर १५' चौडी भ्रमणी है, जिसके फर्श की बनावट पक्की ईंटो के बने तथा मिट्टी से पटे चौकोर चट्टो की है। उसके आगे एक दीवार थी, जो इस समय पूर्ण भग्नावस्था मे है। कुण्ड खाली करने के लिए दक्षिणी-पश्चिमी कोड मे एक चौकोर मार्ग था जिसकी छत लकडी की आडी बल्लियों पर टिकी थी। पश्चिमी तरफ सफाई तथा निरीक्षण की सुविधा के लिए एक प्रवेश मार्ग था। वहाँ से पानी एक नाली द्वारा आगे जाता था, जो २' ४" चौडी थी। उसकी पट्टेदार छत इतनी ऊँची है कि सामान्य कद का पुरुष आसानी से बिना झुके जा सकता है। कुण्ड के तीन ओर बने बराडो के पीछे कक्ष-परम्परा मे से पूर्व स्थित एक कक्ष मे एक बडा जल कूप है, जो बाहर तथा भीतर दोनो ओर से सुलभ है। पूर्ववर्णित नालिका से तालाब मे कूप का साफ पानी सरलता से भरा जा सकता था और सम्भवत इसी कारण उसकी नियमित सफाई का प्रबन्ध था।

सरोवर की दीवारे बडी सावधानी से निर्मित थी। उनमे किसी भी प्रकार से जल प्रवेश का भय न था। इसमे जुडाई खड़-चूने से हुई है और ऊपर एक इच मोटा राल या चूने का पलस्तर चढा है।

कुण्ड के उत्तर तरफ एक जल-प्रणालिका-मार्ग के दोनो तरफ ४-४ की सख्या मे स्नान गृह बने हैं, जिनमें स्नान के लिए प्रयुक्त जल, साथ के जल-पथ से जाता था। प्रत्येक स्नानागार (लगभग ९½' × ६') का फर्श पक्का है और सीढियो की परम्परा ऊपर जाती हुई मिलती है यद्यपि ऊपरी मजिल के कक्ष अब गिर चुके हैं, जिसके अवशेष खुदाई मे मिले राख के ढेर से समझे जा सकते हैं। स्नान के लिए ऊपरी कक्षों मे रहने वाले विशेष लोग ही सीढी के मार्ग से आ सकते रहे होगे। इस कक्ष समूह के दक्षिण पूर्व तरफ एक कक्ष मे एक बडा गोलाकार कुआँ है जो इन स्नानागारो के लिए जल प्रदान करता था।

महास्नान कुण्ड तथा उसके संलग्न स्नानकक्षो से लगे हुए, पश्चिम की तरफ प्रारम्भिक खुदाई से ज्ञात किसी इमारत के ५' ऊँचे पक्के भग्नावशेषो को श्री मार्शल ने "हम्माम" समझा था जिसमे स्नानार्थ जल गरम किया जाता था। किन्तु १९५० मे श्री ह्वीलर की देखरेख में की गई समग्र

खुदाई के फलस्वरूप मूलतः १५० × ७५ फुट आकार के अन्नागार का भवन प्रकट हुआ, जिसमे दक्षिण की ओर परवर्ती परिवर्धन भी किए गए थे। ह्वीलर के दिए वर्णन तथा सलग्न रूपरेखा के अनुसार इसमें मूलत २७ कोठे थे, जिनमे अन्न भरा जाता था। ईंटो के बने इन कोठारो का आकार यद्यपि बदलता हुआ है, किन्तु फिर भी व्यवस्थित है। उत्तर की ओर बनते समय ही इन्हे बडा (लगभग दूना) कर दिया गया था। कोठारो के बीच मे बना आवागमन की वीथियो का आड़ा-तिरछा जाली-नुमा विन्यास हवा के नीचे-ऊपर प्रवहन के विचार से हुआ था। ऊपरी हिस्सा लकडी का था और पूर्व तथा दक्षिण की तरफ के हिस्सो मे बने लम्बवत् खाचो मे सभवत लकड़ी की सीढी फँसाई जाती थी।

इसके उत्तरी ओर इसी का एक हिस्सा ईंटो का लम्बा चौतरा है, जिससे अनाज उतारा-चढाया जाता था। उसके पश्चिमी किनारे पर भीतर की ओर दबी हुई सधि है, जिसमे बैलगाडी आदि वाहन अन्दर पास तक जा सकते थे। इसकी दीवार सीधी है अन्यथा चबूतरे की भीत और अन्य बाहर की ओर पडने वाली दीवारे ढालुआँ थी, जो इसे स्वत एक किले का रूप देती थी।

यह उल्लेखनीय बात है कि यह अन्नागार साथ के महासरोवर के भवन से पहले का था, क्योकि उसकी मुख्य प्रणाली से अन्नभाण्डागार की जगती का पूर्वी भाग कटने के कारण नष्ट-भ्रष्ट हो गया है।

परकोटे के दक्षिणी भाग मे एक विशाल वर्गाकार ६० फुट के भवन का अवशेष प्राप्त हुआ है इसकी छत २० चौकोर खम्भो पर टिकी हुई थी जो पाँच-पाँच के समूह मे चार श्रेणियो मे विभक्त थे। परवर्ती काल मे लोगो द्वारा भवन के स्वरूप मे परिवर्तन आदि के कारण भूमिस्थ रूपरेखा अस्पष्ट है। स्तभो के मध्य से चार गलियारे उत्तर से दक्षिण जाते थे जिनकी भूमि पर ईंटे बिछाई गई थी। ५'-६" चौडी एक पट्टी उत्तर से दक्षिण छोड दी गई थी। विद्वानो का अनुमान है कि इन खाली पट्टियो पर लम्बी-लम्बी बेन्चे लगाई जाती थी। मार्शल का सुझाव है कि इस भवन मे बैठने की ठीक वैसी ही व्यवस्था थी जैसी समीप के बौद्ध सघाराम मे रही होगी। कुछ विद्वानो के अनुसार यह धर्म-सभा भवन था। अन्य लोगो का विचार इसे "राजकीय आपण" या 'मण्डी' मानने का है। किन्तु इसे राजसभा या सस्थागार मानना उचित प्रतीत होता है।

महाकुण्ड के उत्तरपूर्वी तरफ एक असाधारण रूप से लम्बी इमारत (२३०' × ७८') मिली है, जिसकी पहचान किसी उच्च पदाधिकारी सभवत मुख्य पुरोहित के आवास सी की गई थी। वर्तमान अपर्याप्त अवशेषो के आधार पर कोई निश्चित मत देना सभव नही। किन्तु निश्चय ही यह एक मजबूत बनी हुई इमारत है, जिसमे ३३' वर्गाकार आगन के तीनो तरफ बने हुए खुले बराण्डे है। साधारण ढग की कोठरियो का समूह सम्भवत मूल भवन से परवर्ती काल का है। इसके उपयोग के बारे में पूरी खुदाई से पूर्व कोई निश्चित निष्कर्ष निकलना कठिन है।

स्तूप टीले के ठीक उत्तर की ओर विशाल अजिर के अवशेष बहुत महत्त्वपूर्ण और प्रभाव-शाली है। इसका केवल थोडा-सा भाग ही साफ किया गया है, जिसमे दक्षिणी तथा पश्चिमी भारी भित्तियाँ लगभग ६' ९" मोटी थी। दक्षिणी भित्ति स्तूप ढह के नीचे आगे जाती हुई पाई गई है, किन्तु पश्चिमी दीवार काफी भग्नावस्था में है। वस्तुत किसी समय अजिर का उत्तरी-पूर्वी भाग दीवार के ठीक बाहर लगी हुई मुख्य सडक और बहुत सभव है साथ ही दुर्ग की प्राचीर लिए-दिए जमीन में धँस गया था। श्री मैके का विचार है कि दुर्घटना पुर के इस भाग को स्पष्टत· ले

बीती और यह सदिग्ध है कि कभी इस महाअजिर की उत्तरी तथा पूर्वी भित्तियो का पता चल सकेगा। स्तूप ड्ह के नीचे गर्भित मदिर से सलग्न होने के विचार से उन्होने इसकी तुलना मे ऊर मे घाटो और नश्वर आवास के बीच स्थित मिलते-जुलते महा अजिर से की है, जिसका उपयोग ऐसा अनुमान है मदिर की उपज या माल के रूप मे आई आय जमा करने के लिए होता था।

हड़प्पा

जैसा कि कहा जा चुका है, हड़प्पा मे ईंटो की लूट-खसोट के कारण दुर्गस्थ इमारतो का कोई भी बुद्धिगम्य स्वरूप सामने नही आया। किन्तु उत्खनित भागो से यह स्पष्ट है कि वहाँ भवन-निर्माण पूरी तरह से हुआ है।

दुर्ग के उत्तरी ओर कई अत्यन्त महत्वपूर्ण आगारो और भवनो के अवशेष दृष्टिगोचर होते हैं। इस ओर के बीस फुट ऊँचे टीले की खुदाई से तीन भवन-समूह पहचाने गए हैं। उनमे से दक्षिणी समूह को उत्खननकर्त्ताओ ने 'कर्मकर-आवास' की सज्ञा से अभिहित किया था। वही उत्तर की ओर आगे पाँच वृत्ताकार चबूतरे बने हैं। समीप ही अन्नागार के छोटे-छोटे कक्ष हैं।

दक्षिण की ओर दुर्ग के पार्श्व मे बने कर्मकरो के घरो की दो कतारे है। प्रत्येक परिवार के निवास के लिए दो कक्ष थे, जिनमे एक आगन जैसा रहा होगा। इनके फर्श अशत पक्की ईंटो से पीट कर बने है। इन आवासो की एकरूपता से ऐसा ज्ञात है कि ये राजकीय निर्माण थे। मजदूरो के उस मुहल्ले के समीप ही कुछ ऊँचाई पर नाशपाती के आकार की १६ भट्टियो के अवशेष देखने को मिले हैं। इन्हे धातु-गलाने की भट्टी माना जा सकता है।

इन अवशेषो के उत्तर लगभग १०' की गोलाई के प्राय १८ वृत्ताकार चबूतरे हैं, जिनके मध्य मे ओखली जैसे गढ्ढे बने हुए हैं। इन्हे अनाज कूटकर आटा बनाने के यन्त्र माना गया है। कूटने के लिए लकडी के बडे-बडे भारी मूसल प्रयुक्त होते थे। इस प्रकार आटा पीसने की पद्धति आज भी कश्मीर और भारत के अन्य भागो मे प्रचलित है। इन तथाकथित ओखलो मे गेहूँ और चावल के अस्तित्व के सकेत भी मिलते हैं। इनके पास ही खडे होकर राजकीय मजदूर सामूहिक रूप से अन्न कूटते थे। इसका प्रमाण उनके नगे पैरो के निशान हैं, जो आज भी देखे जा सकते हैं। इन ओखलो से १०० गज उत्तर हट कर महा धान्यागार की स्थिति है। यह १६९' लम्बा तथा १३५' चौडा विशालकाय भवन है, जो चौडाई मे बीचोबीच २३' फुट लम्बे रास्ते से दो भागो मे बटा है, जिनमे से प्रत्येक मे ६-६ बडे प्रकोष्ठ एक श्रेणी मे हैं। प्रत्येक श्रेणी-भाग मे १२ दीवारे हैं। प्रत्येक दो दीवारे मिलकर एक (५०'×२०'') प्रकोष्ठ बनाती हैं और प्रत्येक अन्न प्रकोष्ठ दूसरे से ५' चौडे रास्ते द्वारा पृथक् है। प्रत्येक प्रकोष्ठ मे तीन छोटे-छोटे कुएँनुमा गढ्ढे बने हुए हैं। ये कक्ष ४ फुट ऊँची पीठिका पर बने हैं और इनका प्रवेश द्वार उत्तर की ओर था। अनुमान है कि इस धान्यकोष मे अनाज रूप मे मिला 'कर' एकत्र किया जाता था, जो नदी की समीप बहने वाली धारा से यहाँ तक सुविधापूर्वक लाया जा सकता था।

अन्य सन्निवेश

श्री मैके के शब्दो मे, 'हडप्पा वासियो के भवन निर्माण सम्बन्धी क्रिया-कलापो का एक अन्य स्वरूप श्री न० गो० मजूमदार के द्वारा किए गए सिंध और बलोचिस्तान सीमा के दो स्थलो के परीक्षण से प्रकट हुआ था। यहाँ चट्टानी क्षेत्र पर दो बडे सन्निवेश थे। प्रत्येक भारी पत्थरी किलेबन्दी से रक्षित था। इन दो स्थलो का अभी तक सम्यक् सर्वेक्षण नही हुआ है, किन्तु ऐसा

प्रतीत होता है कि कम से कम एक अनगढ ढोको की दुहरी दीवार से रक्षित था। दूसरी जगह दीवार पत्थर में स्थूल रूप से गढ़े (आकार में २×१×१ फुट के) खण्डो की बनी थी। यह दूसरा किला, अली-मुराद, आसन्न कीरथ शृंखला मे अबतक निरतर चलने वाले दर्रे का नियत्रण करता है और इसका वहाँ होना इस बात का अतिरिक्त प्रमाण उपस्थित करता है कि प्राचीन सैंधव नगरो को बलूचिस्तान के कबीलो से भय बना रहता था।

लोथल

सिंधुघाटी के निवासियो को किसी कारणवश बहुत सभव है आक्रमणो के दबाव मे अपने मूल अधिकृत अधिवास को छोडकर नीचे दक्षिण की ओर उतरना पडा। उनकी सभ्यता के अन्तिम काल में गुजरात-काठियावाड़ का ही प्रदेश उनका सन्निवेश था। कला के इतिहास की दृष्टि से लोथल का अत्यन्त महत्त्व है और प्राय उसे इस प्रदेश मे हडप्पा सभ्यता का सबसे पहला अधिस्थल माना जाता है।

समुद्र की सतह के अक्सर बढ जाने के कारण आबादी को डूबने से बचाने के लिए यह आवश्यक था कि सामान्य बाढ के स्तर से ऊँचाई पर मकान बनाए जायँ। इसके लिए कच्ची ईंटो के चबूतरे पर मकान बनाए गए थे। ध्यातव्य है कि हर बार जब भी बाढ के द्वारा क्षति पहुँचती थी, चबूतरों की ऊँचाई बढाई जाती थी और पुन घर बसाए जाते थे। इस तरह की चार बाढो के अवशेष हैं, जिनमे सभवत चौथे और अन्तिम विनाश के फलस्वरूप लोगो को स्थान छोड कर दूसरी जगह जाना पडा।

इन चबूतरो के अतिरिक्त लोथल की खुदाई से सामने आए महत्त्वपूर्ण अवशेष एक ईंट पकाने के भट्टे के प्रतीत होते हैं। यह १५ फुट ऊँचे १४०'×६०' के चबूतरे पर बना हुआ है। उसमे धूप मे सूखी ईंटो के १२ घनाकार चट्टे हैं जो तीन-तीन चट्टो की चार पातो मे लगे थे। दो चट्टो के बीच में लगभग पौने-तीन फुट की जगह छूटी हुई है। चट्टो की पार्श्व तथा ऊपरी सतह आग मे पकने से लाल हो गई है। इन चट्टो के साथ ही छूटी नालियो से मिट्टी के पके ढोके, गोलियाँ, टुकडो के साथ-साथ अजधला कोयला और राख का ढेर पाया गया था। इन्ही मे से एक नाली मे ७५ महत्त्वपूर्ण ठप्पे भी मिले थे। अनुमान है कि इस भट्टे का प्रयोग बडी तादाद मे मिट्टी की चीजे पकाने के लिए होता था।

१९५८-५९ की खुदाई से लोथल ताम्रयुगीन बडे बन्दरगाह के रूप मे सामने आता है, जहाँ अन्य खण्डहरो के साथ एक विशाल गोदी मिली है। इसका आकार विषम-समचतुर्भुज जैसा है, जिसके पूर्वी तथा पश्चिमी पुश्ते ७१०' लम्बे थे तथा उत्तरी और दक्षिणी क्रमश, लगभग १२४' तथा ११६' लम्बाई के हैं। इसके बधो की अधिकतम ऊँचाई १४' तक है। इसकी रचना ऐसी की गई थी कि पानी के चढाव के समय पूर्वी ओर के रास्ते से जहाज बन्दर के भीतर आ सकते थे और उतार के समय प्रवेश के पास बना हुआ नीचा बधा पानी रोक रखता था। दक्षिण की तरफ अधिक पानी के निकास के लिए एक उत्क्रमण कुल्या है, जिसके मुहाने पर दरवाजे फसाने के खाचे बने हैं। अन्त मे सिरे पर बनी सीढीनुमा मे केड द्वारा इच्छित स्तर तक पानी रोक रखने की सुविधा भी है।

किसी समय समुद्री जहाजो के समुचित परिवहन को सभव बनाने वाली यह गोदी इस बात का प्रमाण है कि लोथल ताम्रयुगीन एक बडा बन्दरगाह था, जिसका सैंधव लोगों की सभ्यता के सामुद्रिक तथा भूमिगत प्रव्रजन मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था।

संस्कृत-साहित्य की पृष्ठभूमि और विशिष्टता

डॉ० विद्यानिवास मिश्र

सस्कृत भाषा मे न केवल भारत के इतिहास, दर्शन, प्राचीन विज्ञान, सौन्दर्यबोध और अतीन्द्रिय अनुभव की निधि है, उसमे विश्व-मानव की अद्वितीय उपलब्धि है और वही वेद है। सस्कृत भाषा का इतिहास बहुत ही विवादग्रस्त विषय रहा है, पर एक बात असदिग्ध है कि सस्कृत जीवित भाषा थी और कई मानो मे भारतीय जीवन के गम्भीर एव पवित्र क्षणो मे आज भी वह एक जीवित माध्यम के रूप मे प्रयुक्त है। सस्कृत नाम प्राकृत का विरोधी नही है जैसा कि पश्चिम के विद्वानों ने समझ रखा है, प्राकृत सहज, सस्कृत गढी हुई। वस्तुत प्राकृत का अर्थ है प्रकृति (सस्कृत) से उद्भूत, जैसा कि वररुचि ने प्राकृत-प्रकाश के प्रारम्भ मे लिखा है। इसलिए यदि सस्कृत प्रकृति है तो वह प्राकृत या किसी अनगढ भाषा का परिमार्जित या कृत्रिम रूप कैसे हो सकती है ? वस्तुत सस्कृत नाम उसके बोलने वालो के सस्कार-केन्द्रित जीवन का प्रमाण है। वाणी की शक्ति और उसके सस्कार पर प्रारम्भ से ही बल दिया गया है। सस्कार का अर्थ कृत्रिम प्रक्रिया नही, बल्कि जीवन के गहन प्रयोजन की योग्यता पाने की सहज प्रक्रिया है। जब कालिदास ने 'सस्कारवत्येव गिरा मनीषी' यह उपमा दी तो इसी शक्ति की ओर इगित किया। वैसे यह भी सही है कि सस्कृत नाम प्राचीन नही है। स्वय पाणिनि ने छदस् और भाषा (और पतजलि ने लौकिक और वैदिक भाषा) का प्रयोग किया है। सस्कृत इन दोनों के लिए सामान्य अभिधान है और बाद मे देववाणी के नाम का प्रचलन भी इसमे निहित ज्ञानराशि के महत्व के कारण हुआ। वस्तुत छन्दस् और भाषा एक ही भाषा की दो अवस्थाएँ हैं। जब छन्दस् मे निहित साहित्य रहस्य और पवित्रता के प्रभामण्डल से आवृत हो गया तो उस भाषा को ही लोकातीत भाषा या परोक्ष जगत् या अतीन्द्रिय अनुभव या रहस्य की भाषा कहा जाने लगा। यह धारणा भी भ्रान्त है कि पाणिनि ने सस्कृत को बांधा। तीसरी-चौथी शताब्दी मे सस्कृत की उत्तराधिकारिणी भाषाओ का प्रचार प्रारम्भ हुआ। ये भाषाएं सस्कृत की ही प्राच्य, उदीच्य, मध्य आदि अनेक विभाषाओ से उद्भूत हुई। अशोक के अभिलेखो की विभाषाओ का भेद भी यह प्रमाणित करता है कि उत्तर-पश्चिम भारत की भाषा की वर्णसघटना सस्कृत के बहुत समीप थी। मध्य विभाषा की रूप-सघटना भी सस्कृत के बहुत समीप थी, पर प्राच्य विभाषा की वर्णसघटना और रूपसघटना दोनो ही सस्कृत से अपेक्षाकृत दूर हो गई थी। इसी कारण पूर्व के वैयाकरण पतजलि को यह चिन्ता हुई कि शिष्ट जन की भाषा के रूप मे जो भाषा सीमित हो गई है उसकी रक्षा कैसे की जाय। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि उन्होने भी 'रक्षार्थं वेदानामध्येय व्याकरणम्' ही कहा। यह नही कहा कि लोकभाषा की रक्षा के लिए व्याकरण का अध्ययन जरूरी है।

यहाँ इस चर्चा का विस्तार अपेक्षित नही है, केवल इतना ही कहना प्रासगिक होगा कि पाणिनि ने जिस भाषा का वर्णन किया वह भाषा शिष्ट जीवन मे यदि प्रतिमान बनी तो यह इतिहास

की प्रक्रिया थी, पाणिनि का प्रयोजन नही था। यह भी स्मरण रखने की बात है कि पाणिनि के सामने भाषा का बोला जानेवाला रूप भी उपस्थित था। वही रूप भारत के प्राचीन जीवन मे महत्त्वपूर्ण था भी, सत्य-क्रिया (पालि मे सच्चकिरिया) का प्रमाण के रूप मे ग्रहण भी इसीकी पुष्टि करता है। सस्कृत भाषा, लोकभाषा जब न भी रही तब भी, लोकसमादृत भाषा बनी रही। वह धार्मिक-सस्था, शासन या चिन्तन की भाषा तो गौण रूप से रही, मुख्य रूप से वह सामान्य जन के जीवन को सस्कार देनेवाली भाषा के रूप मे विकसित होती रही। यदि ऐसा न होता तो जिन लोगो ने आग्रहपूर्वक इसकी अवहेलना पहले की थी वे भी दो-तीन शताब्दियो मे अपनी भूल मानकर सस्कृत के माध्यम से अपने मत का प्रचार क्यो करते ? सक्षेप मे हम वैदिक सस्कृत और लौकिक सस्कृत यह भेद न स्वीकार करके सस्कृत की तीन अवस्थाएँ मानते हैं - छन्दस्, भाषा और शिष्ट भाषा। भाषा मे सहज क्रम से जो परिवर्तन होते हैं वे परिवर्तन शिष्ट भाषा मे यद्यपि कम हुए हैं, पर इतने हुए है कि यह सलक्ष्य हो जाता है कि उनकी सघटना वही नही है जो कि पाणिनि की भाषा की थी।

सस्कृत भाषा के बारे मे इतनी सूचना दे देने के बाद यह आवश्यक हो जाता है कि उसे बोलनेवाले समुदाय के बारे में भी जानकारी दी जाय। जातीय आधार पर यह सप्रमाण कहा जा सकता है कि यह समुदाय एकजातीय नही था। इसमे अनेक जातियो, जनो और स्तरो का प्रारम्भ से ही सम्मिश्रण था। अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त मे ही इस नानात्व की सूचना है। इसलिए हम आर्य शब्द का व्यवहार ही जातिवाचक अर्थ मे उचित नही मानते। इस शब्द का व्यवहार सदैव ही श्रेष्ठ या आदर्शपरायण अर्थ मे अर्थात् गुणवाचक अर्थ मे होता रहा है। आर्य होने के लिए द्रविड, मगोल, नार्डिक या कोल किसी एक रक्त का होना न होना महत्त्व नही रखता रहा है, आचरण ही आर्यत्व का विवेचक रहा। इसलिए हम वर्ग या समुदाय के अर्थ मे इस शब्द के व्यवहार को (यद्यपि यह मत १०५ वर्षो से प्रचलित रहा है) उचित नही मानते। उक्त समुदाय के बारे मे भौगोलिक सीमा जरूर निर्धारित की जा सकती है। इस भौगोलिक सीमा का क्रमश उत्तर-पश्चिम भारत और मध्य देश से आगे प्राच्य और दक्षिण भारत तक और कालान्तर मे बृहत्तर भारत तक विस्तार हुआ। पर सुदृढ़ परम्परा भारत की भारतीय उपमहाद्वीप मे ही अधिक काल तक सुरक्षित रही। इसका कारण यह नही था कि इस भाषा की मर्यादा राज्य की मर्यादा से नियत्रित थी, न यही था कि वह किसी एक या एक से अधिक धार्मिक विश्वास से ही नियत्रित थी। इसका वास्तविक कारण यह था कि यह आचरण के कुछ सर्वस्वीकृत मानो से मर्यादित थी।

सस्कृत बोलनेवाला समुदाय सस्कृत था। इसीलिए सस्कृत देश, काल, जाति की विश्वास की सीमाओ मे कभी बँधी नही रही। उसने मुक्त रूप से द्रविड भाषाओ से शब्द लिये, कोल-परिवार की भाषाओ से शब्द लिये तथा कुछ शब्द मगोल-परिवार की भाषाओ से लिये, उसी प्रकार जिस प्रकार भारतीय जीवन में अनुष्ठान की बीसो प्रक्रियाएँ अनेक स्रोतो से आयी, पर सभी सस्कृत हो गयी।

सस्कृत-भाषी समुदाय की तीसरी विशेषता थी ज्ञान की निरन्तर खोज के लिए आग्रह। जिन लोगों ने वेद का प्रामाण्य माना उन्होंने वेद को ज्ञान का स्रोत माना, ज्ञान का पूरा विस्तार नही और इसीलिए प्रत्येक उपलब्धि को उस स्रोत तक सूत्रबद्ध देखने की उन्होने कोशिश की। उनका आग्रह ज्ञान की निरन्तरता का आग्रह है, कूटस्थता का नही। जिन्होने वेद का प्रामाण्य

स्वीकार नही किया उन्होंने भी इस निरन्तरता की ही स्थापना के लिए (दूसरे शब्दो मे परम्परा) नेयार्थ और नीतार्थ शास्ता के दो प्रकार के वचन माने और नये अन्वेषण को प्राचीन अन्वेषण मे जोडने का एक नया मार्ग (या बहाना) ढूंढ निकाला। पर मानते सब रहे कि ज्ञान मे प्रतिष्ठा पाये बिना जीवन मे कोई मान-प्रतिष्ठा नही पा सकता। इसीलिए शास्त्रार्थ के द्वारा मत-परिवर्तन का इतिहास विश्व मे यही पर सबसे अधिक है। इसका अवश्यभावी प्रभाव ज्ञान की अभिव्यक्ति के माध्यम (भाषा) के विकास पर भी पडा। शब्दो का तथा शब्द के अवयवो का अर्थ इसीलिए सस्कृत मे बहुत परिच्छिन्न होता गया है। शब्द की तीन प्रकार की शक्तियो का अन्वेषण भी ज्ञान की इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए हुआ। व्याकरण को छ वेदागो मे मुख्य भी इसीलिए माना गया। भाषा मे इसीके कारण बहुत कसाव आया।

सस्कृत-भाषी समुदाय की चौथी विशेषता है वाचिक परम्परा मे विश्वास। यह बात चीन के सन्दर्भ मे अधिक आसानी से समझी जा सकती है। चीन का इतिहास लिखित परम्परा का रहा है, वहाँ भाषा बदली है, लिखित सकेत नही बदले है। इसीलिए जो लिखा है वही उनके लिए नित्य है। शब्द जो बोला जाता है वह उस नित्य की अधूरी अभिव्यक्ति मात्र है, क्योकि वह इतिहास बतलाने मे समर्थ नही है, विशेष करके प्रतीकग्रहण का इतिहास बतलाने मे। इसके विपरीत भारत मे जिस रूप मे मन्त्र का उच्चारण प्रत्येक शाखा मे हुआ उस रूप मे उसे सुरक्षित करने का प्रयत्न जो अद्यावधि होता रहा है वह यही प्रमाणित करता है कि बोले जानेवाले शब्द का महत्व भारतीय जीवन मे बहुत अधिक रहा है। सामाजिक जीवन मे भी वचन का मोल सबसे ज्यादा आँका जाता रहा है। वेदो का दर्शन श्रुति के द्वारा है, शब्द आकाश का गुण है, अनादि निधन है, जगत् उसका विवर्त है, साधनो मे सबसे अधिक परिष्कृत है, शिव की शक्ति है, यज्ञ का साधन है, देवत्व का वाहक है आदि-आदि मान्यताएँ वाचिक परम्परा के महत्व को ही प्रतिपादित करती है। इन्ही मान्यताओ के कारण वाणी के परिष्कार के ऊपर भारतीय शिक्षा के इतिहास मे सर्वाधिक, सर्वदा, सबसे अधिक ध्यान दिया जाता रहा है। जो लोग अक्षर-ज्ञान नही रखते थे वे भी भाषा के उच्चारण और प्रयोग मे ऊँचा प्रतिमान स्थापित करने की कोशिश करते रहे है। सस्कृत भाषा मे अर्थगर्भता के साथ-साथ निरन्तर साधना के कारण सहजता है। सामर्थ्य का वहन करते हुए भी उसमें पृथगर्थता पर बल है। समासो को ग्रहण करते हुए भी वाक्य-विन्यास की स्पष्टता है, वाणी के सस्कार के ऊपर इतना अधिक ध्यान देने के कारण ही।

सस्कृतभाषी समुदाय की पाँचवी मुख्य विशेषता है जगत् के साथ उसकी समरसता। प्रत्येक सस्कृति-समुदाय ने अपने परिवेश के प्रति एक निश्चित दृष्टि रखी है और उस समुदाय का इस दृष्टि के अनुसार आचरण भी नियमित होता है। पर इससे यह न समझना चाहिए कि यह दृष्टि समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति में प्रत्येक समय सलक्ष्य होती है। इस दृष्टि की सबसे अधिक शक्तिशाली अभिव्यक्ति काव्य-साहित्य मे मिलती है। परिवेश के दो अग है—सामाजिक परिवेश और वस्तु-जगत् का परिवेश। वस्तु-जगत् मे भी प्रकृति और मनुष्य की निर्मिति के दो विभाजन किये जा सकते हैं। भारतीय सस्कृति मे इन दोनो प्रकार के परिवेशो के साथ समरसता की दृष्टि पाई जाती है। समरसता पाने के लिए यत्न इसलिए प्रखर नही है कि समरसता को सिद्ध पदार्थ माना गया है, साध्य नही। बल है समरसता के मार्ग मे जो बाधाएँ हैं, जो आवरण है उनको दूर करने पर। इसीलिए सघर्ष परिवेश के साथ नही है, परिवेश के अज्ञान के साथ है। इस समरसता की दृष्टि

का दूसरा प्रभाव यह है कि इस समता को महत्व न देकर तादात्म्य को महत्व दिया गया है। इसी तादात्म्य को मिथुनीभवन के द्वारा भी प्रतीत कराया गया है जैसे—आकाश और पृथ्वी के मिथुनीभवन से अग्नि या प्रकाश का उद्भव है, उसी तरह मन और वाक् के मिथुनीभवन से सकल्प का उदय है। तन्त्रो मे इसका और अधिक विस्तार हुआ है और भक्ति मे इसीका रसोद्रेक भी हुआ। इसी मिथुनीभवन की बाधा पर आक्रोश व्यक्त करते हुए वाल्मीकि ने कहा—

मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगम शाश्वती-समा ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी काममोहितम् ।।

इसीकी अभिव्यक्ति कालिदास के मेघदूत मे हुई है जिसमे मेघ को प्रकृति-पुरुष के रूप मे देखा गया है और विद्युत् से उसके वियोग न होने की कामना की गयी है।

सस्कृतभाषी समुदाय की छठी विशेषता है स्वातन्त्र्य की परिकल्पना। 'आत्मार्थ पृथिवी त्यजेत्' का उच्चतम आदर्श पृथिवी के तिरस्कार के लिए नही है, वह आत्मा को आत्मा मे पूर्ण रूप से अवस्थित करने के लिए है। स्वातत्र्य का अर्थ 'पर' का लोप नही है, बल्कि 'स्व' का विस्तार है। जिस स्वात्मायतन विश्रान्ति-प्रतिभा की कल्पना अभिनवगुप्त ने की है वह अखण्ड बोध की कल्पना है, यह स्वतन्त्रता की कामना 'स्व' की सीमा से है, 'पर' से नही। इसीलिए कोरे बौद्धिक ताटस्थ्य मे और इस स्वातन्त्र्य मे बहुत बडा अन्तर है। अनुभव की सार्थकता उसकी बौद्धिकता मे नही स्वस-विद्विश्रान्ति मे है। इसीलिए स्वातन्त्र्य मे जितनी भी बाधाएँ हो सकती है उनको क्रमिक स्तरो मे इस तरह रखा जा सकता है कि उत्तरोत्तर पहली बाधा का खण्डन अपने आप होता चलता है और अपने-अपने स्तर पर वह बाधा कितनी भी बडी क्यो न लगे, अपने उच्चतर स्तर पर एकदम ध्वस्त हो जाती है। इन बाधाओ से मुक्ति एकाएक पाने की कामना भी इसीलिए नही की जाती और इसीलिए इन बाधाओ का निवारण वर्जन के द्वारा नही, उन्नयन के द्वारा किया जाता है। यही कारण है कि जीवन की एक अखण्ड दृष्टि इस सस्कृत-भाषी समुदाय मे मिलती है।

अन्तिम विशेषता है परोक्षप्रियता। ब्राह्मणो मे देवताओ को 'परोक्षप्रिय' कहा गया है। ब्राह्मणो मे वर्णित 'पुष्करपर्ण', जो अग्नि या वसिष्ठ का जन्मस्थान है और इसीलिए जो समस्त भुवन का आधार है, वनस्पति जगत् का पुष्करपर्ण नही है। वनस्पति जगत् का पुष्करपर्ण केवल एक निर्देश है परोक्ष पृथ्वी के लिए। यज्ञ या उपासना की प्रक्रिया मे जब तक परोक्ष के इस सन्दर्भ को नही देखा जाता तब तक उसका ठीक अर्थ नही लग सकता। कला मे भी इसीका अर्थविस्तार हुआ है। जैसा कि कुमारस्वामी ने कहा है—"कला का कमल ऐन्द्रिय-अनुभव का कमल नही है, यह परोक्ष है उनके लिए जो कला की समझ नहीं रखते। वनस्पति जगत् के कमल के बहुत से अनुषग इसीलिए कमल प्रतीक मे नही मिलते—दूसरे शब्दो मे, यह कमल अधिदैवत है, प्रत्यक्ष नही।" परोक्षप्रियता ने ही प्रतीक का आग्रह सस्कृत-भाषी समुदाय की सस्कृति मे ला दिया है। ऐसा नहीं है कि दूसरी सस्कृतियो मे यह बात न हो पर जितने विस्तार मे और जितना बल देकर यह आग्रह इस सस्कृति मे मिलता है उतना अन्यत्र नही। परोक्ष का अर्थ अबुद्धिगम्य नही है, है केवल अतीन्द्रिय। इसीलिए सस्कृत-साहित्य का आपात मूल्याकन करते समय यह आग्रह उबानेवाला लगता है। पर जब हम उसके प्रयोजन पर ध्यान देते है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतीक-प्रतीयमान सम्बन्ध ही अर्थ का द्वार है, इसीलिए वह साहित्य का प्राण है।

सस्कृतभाषी समुदाय की उपरिलिखित विशेषताएँ शायद आशसापरक ही अधिक लगे पर

इसका अर्थ यह नही है कि हम उसकी दुर्बलताओ पर पर्दा डालना चाहते है। वे दुर्बलताएँ जहाँ साहित्य मे प्रतिबिम्बित हुई है वहाँ इनका उल्लेख किया जा सकता है। पर यहाँ तो वैशिष्टय बतलाना उद्देश्य था, चाहे वह कितना भी विरल क्यो न हो। इस वैशिष्टय के ही कारण सस्कृत-साहित्य मे एक ऐसा आकर्षक गुण है जो उसे पश्चिमी साहित्य से विलग करता है। इस विलगाव के मुख्यत पाँच प्रकार है।

पहला प्रकार है अर्थग्रहण का। वस्तु-जगत् का दर्शन किसी एक झरोखे से करने का यत्न सस्कृत-साहित्य मे नही है। वस्तु-जगत् जिस रूप मे अनुभव करनेवाले रचनाकार या सहृदय के मन मे है, उसी रूप मे वह साहित्य मे अभिव्यक्त किया गया है। इसलिए साहित्य का अर्थ न तो काल्पनिक है न वास्तविक। वह एक शब्द मे कहा जाय तो आनुभविक है। यह स्मरण रखने की बात है कि बल जगत् के अनुभूत होने पर नही, बल्कि अनुभविता के उस जगत् मे होने पर है। यही कारण है कि कभी-कभी जगत् का चित्र बहुत गणितात्मक सा लगने लगता है। सौन्दर्य के वर्णन भी ऊपरी दृष्टि मे लकीर मे बँधे दिखते है। गहराई मे जाने पर ही यह पता चलता है कि ऐसे वर्णनो मे बँधे उपमान केवल साधना का काम देते है। वे माध्यम मात्र है जिनके सहारे 'इदमित्थम्' रूप मे अनिर्वचनीय अनुभविता व्यक्त होती है। वे बार-बार दुहराए इसलिए जाते है कि अर्थग्रहण करनेवाले को बाहर के वैशिष्टय पर अधिक भटकना न पडे। इसका सबसे बडा प्रमाण है ध्यान-मुद्राओ को व्यक्त करनेवाली मूर्त्तियाँ। इन मूर्त्तियो मे कौन आयुध किस हाथ मे होगा, नेत्र, हाथ और पैर की मुद्रा किस प्रकार की होगी, शरीर का भग (लोच) किन-किन जोडो पर होगा, उष्णीश की रचना किस प्रकार की होगी और पार्श्ववर्ती या अधोवर्ती अनुचर और वाहन कौन से होगे, इन सबकी निश्चित व्यवस्था है। वह व्यवस्था शिल्प, नृत्य, नाटच, साहित्य, धर्म-साधना, सर्वत्र सर्वमान्य है। कलाकार की प्रतिभा की परीक्षा इन निश्चित विधानो मे ही नूतन अर्थ को अच्छी तरह अभिव्यक्त करने मे है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय साहित्य और कला मे अर्थ न तो अगविशेष मे केन्द्रित है और न ऐन्द्रिय-ग्रहण मे सीमित। वह अर्थसवेदन से शब्दाकाश मे फेका गया प्रनिक्षेप है।

दूसरा उल्लेखनीय प्रकार है दिक्कालातीत बोध। पश्चिमी साहित्य मे स्वभावत एक गृहीत क्षण मिलेगा या विद्युल्लेखा की एक कौध मिलेगी या दूसरे शब्दो मे, काल की सीमा की सजगता मिलेगी और देश के वैशिष्टय का आग्रह। पश्चिम का साहित्य इसीलिए ऐतिहासिकता से ग्रस्त है। वह ईश्वरपुत्र ईसामसीह को भी ऐतिहासिकता से मुक्त नही कर पाया। प्राचीन भारतीय साहित्य मे इतिहास और 'मिथ' पर्यायवाची है और साहित्य के आराध्य जन इसीलिए इतिहास से मुक्त है। इसीलिए वाल्मीकि के राम और भवभूति के राम मे कोई विरोध नही है, क्योकि राम इतिहास-निरपेक्ष व्यक्ति है। वे निरन्तर सत्य है। इसीलिए भारतीय साहित्य मे एक क्षण पर नही, क्षणो की सन्तानवाही धारा पर और जीवन के गतिशील प्रवाह पर बल है। कमल और हसमिथुन की पट्टिका के द्वारा कला मे और अनेक जन्म-जन्मान्तर तक चलनेवाले व्यापार के द्वारा कला-साहित्य मे, एक प्रदीप से प्रवर्तित होनेवाले दूसरे प्रदीप की शृखला के द्वारा काव्यो मे इसीकी अभिव्यक्ति की गयी है। जिसको पश्चिमी आलोचक ऐतिहासिक बोध का शोचनीय अभाव कहते है वह सस्कृत साहित्य की कमजोरी नही, इस माने मे, शक्ति है कि इतिहास का मूल्य सूचना देने तक सीमित है और साहित्य का प्रयोजन सूचना से ऊपर उठना है। प्राय जो सूचनाएँ निष्कर्ष के रूप में निकाली भी जाती है और

जिनके आधार पर वैदिक युग, महाभारत युग, रामायण युग जैसे वर्गीकरण कर लिये जाते है वे स्वयं में सूचनाएँ नहीं है, कम से कम कालविशेषबद्ध सूचनाएँ तो नही ही हैं। युग-विशेष का वातावरण कहना भी जहाँ अभिप्रेत है वहाँ युग काल का बोधक नही, वृत्ति का बोधक है। ऊपर जो कहा गया है उसका अभिप्राय यह नही कि कालचक्र की एकदम उपेक्षा ही सस्कृत-साहित्य मे है। इसके विपरीत वहाँ कालचक्र के प्रवाह की बहुत प्रखर अभिव्यजना मिलती है, क्योकि वह प्रवाह मानव-जीवन के प्रवाह से सम्पृक्त है। ऋतुचक्र का, सवत्सर का जीवन के साथ एकीकरण है, क्योकि दोनो ही यज्ञ के साधन है और सारा जगत् यज्ञ की प्रक्रिया है। जो यज्ञ नही मानते वे धर्मचक्र मानते है। हाँ, काल को एकदम अलग स्वतन्त्र और निरपेक्ष माननेवाले दर्शन भी कम है और साहित्य-साधक तो और भी कम। इसी प्रकार लैड्स्केप मे जिस दिक्सीमा का रहना आवश्यक है उसका प्राय अभाव-सा ही सस्कृत-साहित्य में मिलता है। जैसे भारतीय शिल्प और चित्रकला मे प्राकृतिक पृष्ठभूमि का चित्रण होता है वैसे ही साहित्य मे भी प्रकृति-वर्णन मूल वर्णन से अलग न होकर उसके शीर्षस्थ रहता है। कारण यह है कि प्रकृति-वर्णन का उद्देश्य वस्तु को उतना उभारना नही है जितना कि उसको ओतप्रोत करना। दूसरे शब्दो मे, अगर कहा जाय कि उसमे खण्ड-दृष्टि नही है, जीवन, धर्म, ईश्वर, ससार या प्रकृति की कोई अलग सीमा नही है। एक ही सत्ता के ये विभिन्न पहलू है। प्रकृति व्यवहार मे जड नही है और वह भी चैतन्य से उतनी ही ओतप्रोत है जितना कि मनुष्य। साथ ही प्रकृति चरमसाध्य भी नही है। प्रकृति के अन्दर इसीलिए रमकर भी, उससे ग्रहण कर भी, उसको अपने मे अधिष्ठित कर भी अपने चैतन्य से उसको प्रक्षालित करने का चैतन्य सस्कृत-साहित्य मे वर्तमान है। प्रकृति के दान से सन्तुष्ट रहना सस्कृत-कवि ने नही सीखा। यह तो देश का एक अर्थ हुआ। शुद्ध भौगोलिक अर्थ मे भी देश का बोध एक सीमा के रूप मे न होकर सीमातीत विश्व के सदृश अभिव्यक्ति के रूप मे है। हिमालय भारत का मानदण्ड नही है, पृथ्वी का मानदण्ड है। गगा उत्तर भारत की नदी नही है, तीन लोको मे प्रवाहित होनेवाली शुचिता की धारा है। विन्ध्याटवी भारत की ही मेखला नही, समस्त भूमण्डल की मेखला है। भारत का निर्धारण प्राचीन सस्कृत-साहित्य मे केवल कुछ भौगोलिक नामो की सूचियो से नही। निर्धारण है एक विशाल कुल की कल्पना के द्वारा जिसमे पर्वत-नदी से लेकर देव-किन्नर तक, पशु-पक्षी से लेकर वनस्पति तक सभी बराबर के साझीदार है। भारत की सीमा का निर्धारण मुख्यत आचरण और आचरण मे एकान्त निष्ठा से है। इसी कारण वह तप और कर्म की भूमि है। वह एक सदैव चढा हुआ धनुष है, जगती हुई यज्ञ-देवी है। वह भौगोलिक आकार से काफी ऊपर उठा हुआ मानवीय विश्वास का आकार है।

तीसरा प्रकार है पुरुषवाद। यह पुरुषवाद मानववाद से इस माने मे भिन्न है कि पुरुष सज्ञा से बोध मनुष्य मात्र का न होकर देव, असुर, यक्ष, गन्धर्व, विद्याधर, पशु, पक्षी, वनस्पति—इन सभी चैतन्य, प्रवहमान पिण्डों का होता है और इन सबमे एक अखण्ड प्रवाह देखना ही सस्कृत-साहित्य का परम पुरुषार्थ है। इसी दृष्टि से भागवत मे यह कहा गया—

न यद्वचश्चित्रपद हरेर्यशो जगत्पवित्र प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद्वायस तीर्थमुषन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक् क्षया॥

वह वाणी व्यर्थ है जिसने जगत् को पवित्र करनेवाले हरि की कीर्ति-गाथा नही गायी। उस काव्य में कौओं के काँव-काँव का बसेरा भले हो जाय मानसावगाही हसो का लीला-केन्द्र नही हो सकता।

इसके पीछे निहित अर्थ वस्तुत. यह है कि शब्दार्थ की रमणीयता व्यजक है अनन्तता और अखण्डता की यशोगाथा की। पुरुषवाद का अर्थ है लोकातीत विराट् पुरुष की प्रतिष्ठा। वह पुरुष हव्य, होता और आहुति—तीनो एक साथ है। कश्मीर शैवदर्शन की भाषा मे प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण तीनो एक साथ है। भक्ति की भाषा मे उपास्य, उपासना और उपासक तीनो एक साथ है। मानववाद तो इस पुरुषवाद का एक वामन रूप है जो अभिमानी को छलने भर को है। कहा जा सकता है कि यह पुरुष सस्कृत-साहित्य मे भी बहुत विरल है, क्योकि सस्कृत-साहित्य मे राजवशो के वर्णन है, भौतिक जीवन के विलास है, विषय-वासना है। इन सबमे कहाँ तक पुरुषवाद का अर्थ खीचतान कर निकाला जा सकता है। इस शका का समाधान यह है कि पुरुषवाद की यह कल्पना सुख-दु ख, राग-द्वेष, ऐन्द्रिय-इन्द्रियातीत जैसे द्वन्द्वो की कल्पना से ऊपर है। इन द्वन्द्वो का अस्तित्व काव्यास्वाद से भिन्न धरातल पर स्वीकार करते हुए भी काव्यास्वाद के धरातल पर काव्यास्वाद मे ही विलीन कर दिया गया है। यही सस्कृत साहित्य-शास्त्र का रसवाद है। रस के व्यजक पदार्थ इस जगत् के है, सामान्य अनुभव के है और तब भी उनसे जो व्यजना होती है वह इस जगत् की सीमा के विगलन रूप मे होती है। जब तक काव्य इस व्यजना को देने मे समर्थ नही है तब तक वह उत्तम नही कहा जा सकता। रस मौलिभूत प्रयोजन है। वस्तु या नेता इसके साधन है। बहुधा रस कहने से चित्तवृत्ति का जो बोध होता है वह आभास मात्र है और जहाँ आभास नही है वहाँ रसना की प्राप्ति नही है। ऐसे स्थल साहित्य मे काफी मिलते है। रस के स्थल से सख्या में ज्यादा ही मिलते है पर इससे रस की मूर्धन्यता मे कोई क्षति नही होती, क्योकि ये असफलताएँ अप्राप्त सफलता की ही ओर इगित करती है। इसलिए रस साहित्य का आराध्य-सौन्दर्य (कुमारस्वामी के शब्दो मे 'आइडियल ब्यूटी) है। रस-सिद्धान्त ही साहित्य के चरित्र और वस्तु को सहजता प्रदान करता है। बाणभट्ट इसी को 'रसेन शय्या स्वयमभ्युपागता' के द्वारा कहा है। रस अनुभव की एक समानान्तर स्थिति है और वैषयिक अनुभव की न तो वह विरोधिनी है और न अनुवर्तिनी। वैषयिक अनुभव से असपृक्तता टी० एस० ईलियट की दृष्टि मे भी आदर्श की स्थिति है—"भोक्ता और रचयिता मे भेद है। यह भेद जितना ही बडा होता है कला उतनी ही महनीय होती है।" पर ध्यान देने की बात यह है कि ईलियट ने जहाँ भोक्ता और रचयिता—दोनो स्थितियो की बीच मे दूरी बढाने पर बल दिया है वहाँ भारतीय विचारकों ने दूरी या सान्निध्य की चिन्ता ही नही की है, क्योकि रचयिता भी भोक्त‌ा है और रचना भी भोग है। रचयिता मे रचयिता का अह रहता है, पर रस के भोक्ता मे भोक्ता का अह नही रहता। वे अपने शिल्पी, चित्रकार, कवि या कथाकार स्वयभू माने जाते है और उनकी कला शिव की, आनन्दशक्ति की, अभिव्यजक सर्वकर्तृत्व रूप क्रियाशक्ति मानी जाती है, जिस क्रियाशक्ति मे मन, बुद्धि, अहकार और अन्त करण समा जाते है। कला सन्धिनी शक्ति है, पर यह सन्धान स्थापित करती है शिव और साधक के बीच न कि मनुष्य और उसकी दुर्बलता के बीच।

चौथा प्रकार है शिव-दृष्टि। कही-कही इसका निषेधमुख से 'शिवेतरक्षति' के रूप मे प्रतिपादन हुआ है और कही-कही विधिमुख से हुआ है लोकमगल के रूप मे। पर यह शिवदृष्टि सर्वत्र है। अभिनवगुप्त ने सबसे ऊँची प्रतिभा को शिवा कहा है। परशुराम-कल्पसूत्र मे शिव के रूप में स्वय साधक है जो होता और अग्नि दोनों बनता है। प्रश्न उपनिषद् में बहुत पहले ही कहा जा चुका है—

या ते तनुर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ।
या च मनसि सन्तता शिवं तां कुरु नोत्क्रमी ।।

तुम्हारा शरीर जो तुम्हारी वाणी मे, श्रुति मे, दृष्टि मे और तुम्हारे मन मे प्रतिष्ठित है उसको शिवमय करो, उसके बाहर उछल-कूद न करो। देह को इसलिए सस्कृत-साहित्य ने सहजात पाप (ओरिजिनल सिन) नही माना है, इसे आनन्द का अधिष्ठान माना है—"आनन्द ब्रह्मणो रूप तच्च देहे व्यवस्थितम्" (परशुराम कल्पसूत्र)। इसीलिए सस्कृत-साहित्य मे आध्यात्मिकता का कोई नारा सुनने को नही मिलता। आधुनिक भारतीय साहित्य मे अध्यात्मवाद पश्चिम की देन है। देह को शिवमय बनाने पर जो बल है वही मगलान्त कल्पना का मूल है। दु ख मे अन्त वही होगा जहाँ देह या दृश्य जगत् एक अकाम्य और पारमार्थिक दृष्टि से प्रतिकूल स्थिति है। इसी सिलसिले मे बात आती है अशिव की क्षति की। प्रश्न है कि अशिव है क्या ? शिव का प्रतिषेधी है या शिव से इतर है। उत्तर मिलता है, शिव से इतर है, क्योंकि शिव का प्रतिषेध तो कही है ही नही और शिव से इतर होने का अर्थ है शिव से केन्द्रानुसारी होना। शिव की कल्पना भारतीय सस्कृति की सुन्दरतम कल्पना है। वे योगीश्वर है अर्थात् वे उस बडे योग के साधक है जो समत्व (समत्व योग-मुच्यते—गीता), कुशलता (योग कर्मसु कौशलम्), चित्तवृत्ति-निरोध (योगश्चित्तवृत्तिनिरोध —योगसूत्र) इन सभी अर्थों मे प्रयुक्त होनेवाले योग मे युक्त है। इस योग का फल है आत्मा और जगत् का ब्रह्म मे विलयन, शक्ति के साथ सामरस्य, अपने कचुको से पूर्ण स्वातत्र्य, जगत् के तारक रामनाम मे स्थिति, अमृतकला का स्फुरण और त्रितापनिवारिणी गगा के द्वारा अभिषेक। साहित्य मे शिव दृष्टि की बात जब हम कहते है तो हमारे सामने रहती है शिव से उपलक्षित होने वाली समग्र साधना। तपोवन की, गृहस्थ-आश्रम की, गुरु-सेवा की, सत्यपालन की, त्याग की और लोक-सग्रह की। इसीके कारण तप और तपोवन की महिमा है, जीवन का अखण्ड बोध है, व्यष्टि और समष्टि में सामजस्य है और धर्म का जीवन से इतना लगाव है।

पश्चिमी साहित्य का जो इतना मान है वह इसलिए कि सघर्ष की विवशता साहित्य को अभिभूत किये हुए है और इस सघर्ष को ही उदात्त बनाकर जीवन मे सार्थकता लाने की कोशिश की गयी है। वहाँ भी कल्याण-भावना है पर कल्याण अकृतार्थ होकर ही तीव्र है। वहाँ कल्याण दु ख से चित्त के परिष्कार मे है, सुख के सस्कार मे नही। इसीलिए वहाँ नैतिक निरपेक्ष इस प्रकार के मान-सघर्ष होते रहते है। सस्कृत-साहित्य मे शिव की स्थिति लोकोत्तर स्थिति है, अतिक्रामी (ट्रान्सेण्डेण्टल) स्थिति है, उस प्रकार के मान-सघर्ष की सम्भावना भी यहाँ नही रही।

सस्कृत-साहित्य का पाँचवाँ वैशिष्टय (जो सबसे अधिक चौकानेवाला है) विवेक है। मयूर-वाहनी सरस्वती तो उत्तरकालीन शब्दाडम्बर की प्रवृत्ति की द्योतिका है, हसवाहनी सरस्वती ही सस्कृत की कृतियो की आराध्य है। इसीलिए हस बामपुरुष मेघ को पथ दिखलाता है, शारदा की अगवानी करता है, वेद अर्थात् ज्ञान का रक्षक विष्णु-अवतार बनता है। हस विवेक का प्रतीक है और भारत की सर्वशुक्ला सरस्वती का वाहक बनने मे समर्थ है। यह अवश्य है कि यह विवेक सद्-असद् या धर्म-अधर्म का उतना नही जितना परमार्थ-सत् और व्यवहार-सत् का है। यह धर्म-अधर्म के प्रपच को परमार्थ से विविक्त करता है। जिन लोगो की दृष्टि सस्कृत-साहित्य मे भौतिक विलास, उद्दाम शृगार और निभृत प्रेमलीला मात्र पर जाकर टिकती रहती है उन्हे यह भी स्मरण करना चाहिए कि प्रेम की तीव्रता का निरूपण इतने स्वाभाविक रूप मे इसलिए कराया गया है कि—

दु सहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभा
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमंगला ।
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गता
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धना ।।

वह तीव्रता पुण्य-अपुण्य दोनों का क्षय कर सके, परमात्मा से संगत कर सके। यहाँ विवेक है आत्मा और अनात्मा में। कालिदास के काव्य में पार्वती का 'पर्याप्तचन्द्रेव शरत् त्रियामा' के रूप में चित्रण प्रेम की धौत शुभ्रता का चित्रण है, भवभूति की सीता की 'दुग्धकुल्येव' दृष्टि से राम का अभिषेक सीता में निहित अमृतकला का ही छिड़काव है, बाणभट्ट की कादम्बरी और श्रीहर्ष की दमयन्ती के प्रेम में भी जो एकनिष्ठता है वह विवेक को बिसरा कर नहीं, क्योंकि ये दोनों नायिकायें मर्यादा का अतिक्रमण न करती हुई भी एकनिष्ठ रह जाती हैं। विवेक के इस स्वर के ही कारण उत्तम नायक उद्धत नहीं, प्रशान्त नहीं, ललित नहीं, उदात्त है। विवेक की पुकार पर ही काम भस्म होता है और तप रूप की अवन्ध्यता लाता है। इसीके कारण रोमांटिक प्रवृत्ति का लगभग अभाव सा दीखता है संस्कृत-साहित्य की मूल धारा में। एक छोटी-सी धारा है रोमांटिक प्रणय-गाथा की, पर वह भी विवेक की चौड़ी धारा में आकर विलीन हो गयी है। यह विवेक ही संस्कृत-काव्य के मानव का मस्तक देवता के सम्मुख युद्ध में उन्नत रखता है। रघु, अर्जुन, नल और राम इसीलिए तो संस्कृत-साहित्य की मानवी परिकल्पना के प्रतिमान बन गये हैं। पर इतना है कि वह विवेक ताटस्थ्य का विवेक नहीं, यह तादात्म्य लानेवाला विवेक है। यह आरोपित भी नहीं है, यह अन्तःकरण का सहज विवर्तन है। यही यह पश्चिमी बौद्धिकता से (जो कभी-कभी क्या प्रायः बहुत निर्मम है) और चीनी निश्चिन्तता से विलग है।

ब्राह्मी अथवा ब्राह्मी-वैदिक भाषा और लिपि

डॉ० विश्वम्भरशरण पाठक

ब्राह्मी (प्राकृत बम्भी) शब्द लौकिक संस्कृत मे साधारणत एक लिपि का अभिधान है, किन्तु कही-कही पर भाषा के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है।

ब्राह्मी की व्युत्पत्ति ब्राह्मण और जैन-परम्पराओ मे पौराणिक कथाओ के आधार पर की गयी। नारद-स्मृति मे ब्रह्मा के द्वारा प्रणीत होने के कारण इसे ब्राह्मी का नाम दिया गया।[1] चीनी विश्व-कोष (सन् ६६८ ई० मे निर्मित) फा-युअन-चू-लिन को भी यह परम्परा ज्ञात थी, क्योंकि उसके अनुसार दो भारतीय लिपियाँ ब्राह्मी एव खरोष्ठी क्रमश. ब्रह्मा एव आचार्य खरोष्ठ के द्वारा प्रणीत है।[2] ब्रह्मा एव ब्राह्मी व्याकरण के नियमो से सम्बद्ध है ही, हिन्दू देवता-मण्डल मे ब्रह्मा की शक्ति का नाम भी ब्राह्मी ही है।

जैन-परम्परा मे ब्राह्मी लिपि एव भाषा आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ ने अपनी ब्राह्मी नाम की पुत्री के लिए प्रणीत की। अभयदेव सूरि ने 'भगवती सूत्र' और 'समवायाग सूत्र' की टीकाओ मे उपर्युक्त परम्परा का उल्लेख किया है।[3]

किन्तु ये दोनो परम्पराएँ कथात्मक है, अत काल्पनिक हैं। आचार्य डॉ० राजबली पाण्डेय का कथन है कि यह लिपि भारतीय आर्यों के द्वारा 'ब्रह्म' अर्थात् वेद के सरक्षण के लिए निर्मित हुई और प्रमुखतया ब्राह्मणो के द्वारा वैदिक परम्परा को जीवित रखने तथा आनेवाली पीढ़ियो मे मौखिक और लिखित रूप से सक्रान्त करने के लिए प्रयुक्त हुई।[4] ब्राह्मी का ब्रह्म से सम्बन्ध ही युक्ति-सगत है।

परवर्ती साहित्य में ब्राह्मी शब्द ब्रह्म (परम तत्त्व) से सयुक्त है। कलचुरि अभिलेखों का प्रारम्भ 'ब्रह्म' के नमन से होता है, फिर शिव-रूप ब्रह्म की स्तुति और बाद मे ब्राह्मी का उल्लेख है।[5] भगवद्-गीता मे भी ब्राह्मी स्थिति का वर्णन 'ब्रह्म' को दृष्टि मे रखकर किया गया है।[6] अन्यत्र[7] भी ब्राह्मी शब्द इसी प्रसग मे उपलब्ध होता है; किन्तु ब्रह्म का अर्थ यहाँ वेद से नही लिया जा सकता।

---

१ म० म० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : प्राचीन भारतीय लिपि माला, पृष्ठ १।

२ वही, पृष्ठ १८।

३ "तथा 'बंभिति' ब्राह्मी, आदिदेवस्य भगवतो दुहिता ब्राह्मी वा संस्कृतादिभेदा वाणी तामाश्रित्य तेनैव या दर्शिता अक्षरलेखनप्रक्रिया सा ब्राह्मी लिपिः।" अभयदेवसूरि-कृत 'समवायांग सूत्र' की टीका। 'बंभीए लिविए' लिपिः पुस्तकादावक्षर-विन्यासः, सा चाष्टादश प्रकाराऽपि श्रीमन्नभयजिनेन स्वसुताया ब्राह्मीनामिकया दर्शिता ततो ब्राह्मीत्यभिधीयते। अभयदेवसूरिकृत 'भगवती सूत्र' की टीका।

४ डॉ० राजबली पाण्डेय : इण्डियन पेलियोग्राफी, पृष्ठ ३४, वाराणसी, ५२।

५ कार्पस इंस्क्रिप्शन्स इण्डिकेरम् ४, पृष्ठ २५५, श्लोक २।

६ गीता २, ७२, शांकरभाष्य—ब्राह्मी-ब्रह्मणि मता।

७ गोपथब्राह्मण—१, १, १६।

ऋग्वेद (९, ३३, ५–६) मे 'ब्रह्मी' शब्द आया है :—

तिस्रो वाच उदीरते गावो मिमन्ति धेनव. ।
हरिरेति कनिक्रदत् ।।
अभि ब्रह्मीरनूषत यह्वी ऋतस्य मातर ।
मर्मृज्यन्ते दिव शिशुम् ।।

(सायण के अनुसार—ऋक्, यजु एव साम की त्रिविध स्तुतियाँ उच्चरित हो रही हैं। प्रीतिदायक गाये दोहन के कारण आवाज कर रही हैं। पीत वर्ण का सोम स्वर करता हुआ कलश मे प्रवेश करता है। ब्राह्मण-प्रेरित महान् तथा यज्ञ-निर्मात्री स्तुतियाँ स्तवन करती है। देवताओ का शिशु परिमृष्ट होता है।)

यहाँ 'ब्रह्मी' के साथ ही 'यह्वी' शब्द ऋत् की माताओ का विशेषण है। वैदिक 'यह्वी' और अवस्ता का 'यज्वी' एक ही शब्द के दो रूप हैं। अवस्ता मे (यश्न, १३१, ८) जरस्थुस्त्र की कनिष्ठा पुत्री का नाम यज्वी था। फ्रेञ्च विद्वान् रेनू के अनुसार यह (यजू) 'यजुष पुत्रो' (फरहगे ओ इम, ३९) का ही रूप है जिसमे 'पुथ्रो' शब्द हटा दिया गया और इसलिए यजुष् शब्द ही 'युवक पुत्र' का अर्थ ध्वनित करता है।[8] ऋग्वेद मे नदियाँ, सूर्य के हरिताश्व (५, ४१, ७) उषा तथा रात्रि के विशेषण के रूपमे यह्वा और यह्वी शब्द आते हैं। पाश्चात्य वैदिक विद्वान् प्रसग और वेद-अवेस्ता के तुलनात्मक अध्ययन मे इस शब्द का अर्थ 'युवक-युवती' करते हैं, यद्यपि मायण के भाष्य मे 'महान्', 'महती' पर्याय हैं।

ब्रह्मी विशेषण की सज्ञा 'ऋतस्य मातर' भी अनिश्चित और विवदनीय अर्थ रखनेवाला वाक्याश है। द्विवचन मे 'ऋतस्य मातरौ' कभी 'रोदसि-द्यावापृथिवी' (९, १०२, ७, १०, ५९, ८, ६, १७, ७) और कभी 'उषा और नक्त' (१, १४२, ७, ५, ५, ६) के लिए ऋग्वेद मे आया है। बहुवचन 'ऋतस्य मातर' केवल इसी ऋचा मे प्रयुक्त हुआ है। सायण के अनुसार 'यज्ञ की निर्मात्री स्तुतियाँ' (ब्रह्मी) इसका अर्थ है। पाश्चात्य विद्वानो के पास इसकी निश्चित व्याख्या नही।

'ब्रह्मी' शब्द का अर्थ ज्ञात करने के लिए अधिक सहायक है "तिस्रो वाच"। यह ऋग्वेद में प्रस्तुत ऋचा के अतिरिक्त तीन बार (९, ५२, ९ ९७, ३४, ७, १०१, १) आया है। सायण इसका अर्थ 'ऋग्यजुसामात्मिका स्तुतिरूपा' करते हैं। एक स्थान पर (७, १०१, १) 'द्रुतविलम्बितमध्यम-भेदेन त्रिविधा वाच.' के रूप से उनकी व्याख्या है। यह अर्थ एक स्थान पर गेल्डनर स्वीकार करते हैं।[9] किन्तु ल्यूडर्स अपनी सद्य प्रकाशित पुस्तक 'वरुण' मे सप्तम मण्डल की ऋचा (१०१, १) की व्याख्या करते हुए 'तिस्रो वाच' का अर्थ 'तीन दिव्य नदियाँ' करते हैं।[10] पुस्तक के सम्पादक एल्सडॉर्फ प्रस्तुत ऋचा (९, ३३, ५) मे प्रश्नवाचक चिह्न के साथ टिप्पणी करते हैं कि ऋक्पाट, गायो का मिमियाना और सोम का अभिषव के कारण स्वर करना तीन बोलियाँ (?) हैं।

'ब्रह्मी' शब्द की व्याख्या सायण के मतानुसार है—'ब्राह्मणप्रेरिता स्तुतय.'। पाश्चात्य वैदिक

---

[8] बुलेटिन ऑव दि स्कूल ऑव ओरियण्टल ऐंड आफ्रिकन स्टडीज, जि० २०, पृष्ठ ४७५।

[9] ऋग्वेद, ७, १०१, १ का अनुवाद : हार्वर्ड ओरियण्टल सीरीज में प्रकाशित।

[10] ल्यूडर्स : 'वरुण', पृष्ठ ३९२, ६९२।

विद्वानो के लिए यह शब्द एक प्रहेलिका है। ओल्डेनबर्ग इसके व्याकरण की दृष्टि मे असामान्य रूप के कारण कल्पना करते हैं कि 'यह्वी' के साथ प्रयुक्त होने के कारण उसके तौल पर ही 'ब्रह्मी' शब्द का ऋषि ने उपयोग किया।[११] रेनू भी इसकी निस्सन्दिग्ध व्युत्पत्ति देने मे असमर्थ हैं। उनके अनुसार यह सदिग्ध है कि 'ब्रह्मन्' का स्त्रीलिंग 'ब्रह्मी' है—यद्यपि इसकी सम्भावना की जा सकती है। जिस प्रकार 'अथर्वन्' और 'अथर्वी' शब्द प्राप्त होते हैं वैसे ही 'ब्रह्मन्' और 'ब्रह्मी' शब्द भी है।[१२] गेल्डनर 'ब्रह्मी' को स्त्रीलिंग मानकर, उसका अर्थ 'स्त्री-स्तोता-गण' करते हैं। एल्सडॉर्फ पहले इसको प्रस्तुत ऋचा मे 'गायो' का विशेषण मानते हैं, किन्तु टिप्पणी मे प्रश्नवाचक चिह्न के साथ 'ऋक्-पाठ' भी 'तीन बोलियों' मे एक स्वीकार करते हैं।

एल्सडॉर्फ यद्यपि प्रश्नवाचक चिह्न के साथ 'तिस्रो वाच' की व्याख्या करते हैं तथापि प्रसग मे उनका अर्थ ही ठीक उपयुक्त लगता है। तीन बोलियो—गायोका मिमियाना, सोमाभिषव का रव और ब्रह्मी—मे ब्रह्मी भी एक 'वाक्' है। ब्रह्मी का चाहे गेल्डनर का अर्थ 'स्त्री-स्तोतावृन्द' स्वीकार किया जाय, चाहे सायण का 'ब्राह्मण-प्रेरिता-स्तुतय', किन्तु प्रसग मे उसका 'वाक्' से सम्बन्ध प्रतीत होता है।

अत 'ब्रह्मी-वाक्' का अर्थ प्राचीन भाष्यकार तथा भाषा-विज्ञानविद् भी नही दे सकते। 'ब्रह्मी-वाक्' का महाभारत मे प्रयोग है। अपरिचित ययाति से देवयानी ने प्रश्न किया—

राजवद् रूपवेषो ते, ब्राह्मी-वाच बिभाष च।
को नाम त्व कुतश्चासि, कस्य पुत्रश्च शस मे॥

'राजवद्रूपवेष' एव ब्राह्मी-वाक् के सहसगति की जिज्ञासा का प्रतिउत्तर—

ब्रह्मचर्येण वेदो मे कृत्स्नो श्रुतिपथ गत।
राजाह राजपुत्रञ्च ययातिरिति विश्रुत॥

'राजपुत्र' होने के कारण राजवद्वेष और समग्र वेद के अध्ययन करने के कारण 'ब्राह्मीवाक्' मे सभाषण। सस्कृत मे लौकिक बोलना राजा के लिए असगतिजनक नही, परन्तु वैदिक सस्कृत मे ? तभी तो 'वेदो मे कृत्स्न. श्रुतिपथ गत' कहकर समाधान दिया गया। अन्यत्र भी महाभारत मे ब्रह्म और ब्राह्मी शब्द वैदिक मन्त्र भाषा के लिए प्रयुक्त हुए हैं —

अहन्त्वा वर्धयिष्यामि ब्राह्मै मन्त्रै सनातनै[१३]।

शान्तिपर्व के वर्ण-धर्म-प्रसग मे भी ब्राह्मी शब्द वैदिक भाषा के लिए प्रयुक्त है—

इत्येते चतुरो वर्णा येषा ब्राह्मी सरस्वती।
विहिता ब्राह्मणा सर्वे लोभादज्ञानता गता[१४]॥

सम्भवत ब्रह्मी-ब्राह्मी का अर्थ मूलत वैदिक भाषा और उससे सम्बद्ध लिपि एव अक्षर-प्रक्रिया ही हो। इस अर्थपरम्परा का मूल ऋग्वेद तक जायगा तभी ब्राह्मी-लिपि का उद्भव भारत मे माना जा सकेगा।

---

११ वही—पृष्ठ ४३३, टि० २।

१२ अन्य उद्धरणों के लिए देखिए डॉ० वी० एम० डॉ आप्टे का 'काणे कोमेमोरेशन वाल्यूम' में प्रकाशित 'वैदिक साइन्शंस इन दि महाभारत'।

१३ उद्योग, १६, ८।

१४ शान्ति-पर्व १८८, १५।

श्रीकृष्ण का लौकिक चरित : एक विश्लेषण

बलदेव उपाध्याय

श्रीकृष्ण के लौकिक चरित की महत्ता

वृन्दावनविहारी नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र के अलौकिक व्यक्तित्व की इतनी अधिक चर्चा भक्ति-साहित्य तथा कृष्णकाव्यों में है कि उनका लौकिक व्यक्तित्व आलोचकों तथा सामान्य जनों की दृष्टि से एक प्रकार से ओझल ही रहता है—सत्ता होने पर भी वह असत्ता के साम्राज्य में ही अधिकतर विचरण करता दिखाई देता है। भक्तों की उधर दृष्टि ही नहीं जाती कि उनका लौकिक जीवन भी उतना ही भव्य तथा उदात्त था जितना उनका अलौकिक जीवन मधुर तथा सुन्दर था। पुराणों में, विशेषकर 'श्रीमद्भागवत' में, श्रीकृष्ण परमैश्वर्यमण्डित, निखिल ब्रह्माण्डनायक, अघटितघटनापटीयान् भगवान् के रूप में चित्रित किये गये हैं। व वाणी के एकमात्र वर्णनीय विषय माने गये हैं। जो वाणी श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन नहीं करती, वह वायसतीर्थ के समान उपेक्षणीय तथा गर्हणीय है, हंसतीर्थ के समान श्लाघनीय तथा आदरणीय नहीं—

> न तद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
> जगत् पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
> तद्ध्वाङ्क्षतीर्थं न तु हंससेवितं
> यत्राच्युतस्तत्र हि साधवोऽमलाः ॥ (भागवत १२।१२।५०)

यह कथन कृष्णचन्द्र के लौकिक चरित्र के अनुरोध से भी सम्बन्ध रखता है। इस अलौकिक चरित्र से पृथक् तथा भिन्न उनका एक लौकिक चरित्र भी था जिसमें उदात्तता का कम निवास न था।

हरिवंश तथा पुराण—ये दोनों ही जनता में कृष्ण के प्रति भव्य भावुक भक्ति के उद्भावक ग्रन्थ हैं। फलतः इन दोनों में श्रीकृष्ण का अलौकिक जीवनवृत्त ही प्रधानतया प्रतिपाद्य है। लौकिक वृत्त के चित्रण का मुख्य आधार है महाभारत, जहाँ श्रीकृष्ण पाण्डवों के उपदेशक तथा जीवन-निर्वाहक मुख्य सखा के रूप में चित्रित किये गये हैं। जीवन के नाना पक्षों के द्रष्टा, स्वयं कार्य करनेवाले, महाभारत युद्ध के लिए पाण्डवों के मुख्य प्रेरक के रूप में महाभारत उन्हें प्रस्तुत करता है। उसी स्वरूप का विश्लेषण कर उनकी उदात्तता तथा मूर्धन्यता प्रकट करने का यह एक सामान्य प्रयास है।

श्रीकृष्ण की अद्वयता

प्रथमतः विचारणीय है कि कृष्ण एक थे अथवा अनेक? कृष्ण के बाल्यकाल तथा प्रौढ़काल के जीवनवृत्तों का असामञ्जस्य ही उनके अनेकत्व की कल्पना का आधार है। उनका बालजीवन इतने अल्हड़पने से भरा है—नाच-गान, रंगरेलियों की इतनी प्रचुरता है उसमें कि लोगों को विश्वास नहीं होता कि वृन्दावन का बालकृष्ण ही महाभारत के युद्ध में अर्जुन का सारथी तथा गीता के अलौकिक ज्ञान का

उपदेष्टा है। यूरोपीय विद्वानो ने ही इस असामजस्य के कारण दो कृष्णो के अस्तित्व की कल्पना की जो डॉ० रामकृष्ण भाण्डारकर के द्वारा समर्थित होने पर भारतीय विद्वानो के लिए एक निर्भ्रान्त सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत हुआ।[१] परन्तु श्रीकृष्ण के दो होने की कल्पना नितान्त भ्रान्त तथा सर्वथा अप्रामाणिक है। पौराणिक कृष्ण तथा महाभारतीय कृष्ण के चरित्र मे पार्थक्य होना तत्तत् आधारग्रन्थो की भिन्नता के ही कारण है। पुराणो का लक्ष्य कृष्णचन्द्र के प्रति जनता की भक्ति जागरूक करना था, फलत अपने लक्ष्य से बहिर्मुख होने के कारण इन्होने श्रीकृष्ण के प्रौढ जीवन की लीला का वर्णन नही किया। पुराणो मे केवल श्रीमद्भागवत ने श्रीकृष्ण के उभयभागीय वृत्तो का उचित रीति से वर्णन किया है। दशम स्कन्ध का पूर्वार्द्ध कसवध तक ही सीमित है, परन्तु इसके उत्तरार्ध मे महाभारत युद्ध से सम्बद्ध कृष्णचरित्र-का पूर्ण सकेत तथा सक्षिप्त विवरण दिया गया है। महाभारत का प्रधान लक्ष्य श्रीकृष्ण के प्रौढ जीवन की घटनाओ का वर्णन है—उन घटनाओका, जब ये पाण्डवो के सम्पर्क मे आते है तथा भारत-युद्ध का सचालन करते है। फलत वह उनके बाल्यजीवन की घटनाओ का वर्णन नही करता अपने उद्देश्य-पूर्ति के बहिरग होने के कारण। परन्तु समय-समय पर उन घटनाओं का सकेत अभ्रान्त रूप मे करता है। सभापर्व मे राजसूय की समाप्ति पर अग्रपूजा के अवसर पर शिशुपाल ने श्रीकृष्ण के ऊपर नाना प्रकार के लाछन जब लगाये थे, उसने उनके बालचरित को लक्ष्य कर ही ऐसा किया था—

यद्यनेन हता बाल्ये शकुनिश्चित्रमत्र किम्।
तौ वा श्ववृषभौ भीष्म यौ न युद्धविशारदौ ॥७॥
चेतनारहित काष्ठ यद्यनेन निपातितम्।
पादेन शकट भीष्म तत्र कि कृतमद्भुतम् ॥८॥
वाल्मीकमात्र सप्ताह यद्यनेन धृतो चल।
तदा गोवर्धनो भीष्म न तच्चित्र मत मम ॥९॥
भुक्तमेतेन बह्वन्न क्रीडता नगमूर्धनि।
इति ते भीष्म शृण्वाना. परे विस्मयमागता ॥१०॥
यस्य चानेन धर्मज्ञ भुक्तमन्न बलीयस।
स चानेन हत कस इत्येतन्न महाद्भुतम् ॥११॥ सभापर्व, ४१ अध्याय।

इन पद्यो मे श्रीकृष्ण की सामान्यत आश्चर्यभरी लीला का यौक्तिक उपहास किया गया है। सप्तम श्लोक मे पूतना, केशी तथा वृषभासुर के वध का सकेत है। आठवे श्लोक मे चेतनारहित शकट के पैर से तोड डालने का उपहास है, नवम श्लोक बतलाता है कि कृष्ण के द्वारा गोवर्धन पर्वत का हाथ पर धारण करना कोई अचरजभरी घटना नही है, क्योकि इसे चीटियो ने खाकर खोखला बना डाला था। पहाड के शिखर पर नाना पकवानो के भक्षण की बात सुनकर दूसरे लोग ही अर्थात् मूर्ख लोग ही आश्चर्य मे पडते है। जिस कस के अन्न को इसने खाया था, उसे ही मार डालना अद्भुत काम नही है—यह कृतघ्नता की पराकाष्ठा है।

शिशुपाल की निन्दाभरी वक्तृता श्रीकृष्ण के एकत्व स्थापन मे पर्याप्त प्रमाण है। यह स्पष्ट बतला रही है कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ मे जिस व्यक्ति की अग्रपूजा की गई है, वह उस व्यक्ति से

[१] देखिए, भांडारकर : वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड माइनर सेक्ट्स, पूना संस्करण।

भिन्न नही है जिसने[१] बाल्यकाल मे पूतना, वृषासुर, केशी, नामक राक्षसो का वध किया था, गोवर्धन पर्वत-को हाथ पर धारण किया था तथा उसके शिखर पर उसने बहुत सा अन्न अकेले ही खा डाला था तथा राजा कस का वध किया था। ये श्रीकृष्ण की बाल्यकाल की आश्चर्यरस से भरी लीलायें है। फलत महाभारत की दृष्टि मे कृष्ण की एकता तथा अभिन्नता इस प्रकार समर्थित तथा प्रमाणित है।

श्रीकृष्ण का सौन्दर्य

श्रीकृष्ण की बाह्य आकृति, उनका साँवला रग, उनका पीताम्बर, उनके शरीर की गठन आदि भौतिक शरीर उस युग के मानवो के ही लिए आकर्षक न था, प्रत्युत गत सहस्रो वर्षो से वह कवियो के आकर्षण का विषय बना हुआ है। बाल्यकाल मे उनकी रूपछटा का अवलोकन कर यदि सरल ग्रामीण गोप-वधुएँ तथा नगर की स्त्रियाँ आनन्द से आप्लुत हो उठती थी, तो यह हमारे चित्त मे इतना कौतुक नही उत्पन्न करता ? जब हम देखते है कि भीष्म पितामह—श्रीकृष्ण के पिता के समवयस्क, सौ वर्ष से ऊपर वयवाले, शरशय्या पर योग के द्वारा अपना जीवन समाप्त करने के इच्छुक, इच्छामरण भीष्म—श्रीकृष्ण के सामने आने पर उनके शरीर-सौन्दर्य से आकृष्ट हुए बिना नही रहते, तो फिर श्रीकृष्ण के शारीरिक सौन्दर्य और आकर्षण को हठात् मानना ही पडता है। यह है उनकी प्रौढावस्था की घटना। इसीलिए भीष्म नारायण के रूप मे श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए भी उनकी शारीरिक सुषमा का विशद सकेत करते है—

> त्रिभुवनकमनीय तमालवर्ण
> रविकरगौरवराम्बर दधाने ।
> वपुरलककुलावृताननाब्ज
> विजयसखे रतिरस्तु मेनवद्या ॥

आशय है कि उनका शरीर त्रिभुवन सुन्दर तथा श्याम तमाल के समान साँवला है, जिस पर सूर्य किरणो के समान श्रेष्ठ पीताम्बर लहराता है, और कमल सदृश मुख पर घुघराली अलके लटकती रहती है, उन अर्जुनसखा कृष्ण मे मेरी निष्कपट प्रीति हो।

यह वर्णन है श्रीकृष्ण की प्रौढावस्था के रूप का और वर्णनकर्ता है उस युग के सबसे विद्वान् ज्ञानी शिरोमणि भीष्म, जिनके ऊपर पक्षपात का दोषारोपण नही किया जा सकता। श्रीकृष्ण की देह-कान्ति सचमुच ही अत्यन्त ही चमत्कारी थी। पीताम्बर के बाह्य परिधान से वह और भी सुसज्जित की गई थी। इस बाह्य सौदर्य को श्रीकृष्ण ने मानसिक गुणो के सवर्धन से और भी चमत्कृत तथा उदात्त बना रखा था। क्योकि उस युग के सबसे प्रौढ विद्वान् काशीवासी साम्प्रत उज्जयिनीप्रवासी सान्दीपनि गुरु से चतुष्षष्टि विद्याओ और कलाओ का अध्ययन कर उन्होने विद्या के क्षेत्र मे भी अपनी चरम उन्नति की थी। गीता के उपदेशक होने की योग्यता का सूत्रपात श्रीकृष्ण के जीवन-प्रभात मे ही इस प्रकार मानना सर्वथा युक्तिसगत प्रतीत होता है।

---

[१] **इन लीलाओं का वर्णन अनेक पुराणो में एक समान ही किया गया है—विशेषतः विष्णु-पुराण के पंचम अंश में तथा श्रीमद्भागवत् के १०म स्कन्ध के पूर्वार्ध में। यथा—पूतना वध भाग १०।६, वृषासुर वध १०।३६, केशीवध १०।३७, गोवर्धनधारण तथा अन्नभक्षण १०।२४-२५, कंस का वध, १०।४४।**

श्रीकृष्ण की अग्रपूजा

युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के पर्यवसान म अग्रपूजा का प्रसग उपस्थित था। यज्ञ के अन्त मे किसी महनीय उदात्त व्यक्ति की पूजा की जाती है जो 'अग्रपूजा' की सज्ञा से याज्ञिको द्वारा अभिहित की जाती है। सहदेव के पूछने पर भीष्म पितामह ने श्रीकृष्ण को ही अग्रपूजा का अधिकारी बतलाया। इस अवसर पर उन्होने कृष्ण के चरित्र का जो प्रतिपादन किया, वह यथार्थत उनकी उदात्तता, महत्ता तथा अलोकसामान्य वैदुषी और सौदर्य का स्पष्ट प्रतिपादक है। इस प्रसग के एक-दो ही श्लोक पर्याप्त होगे—

एषत्वेषा समस्ताना तेजोबलपराक्रमै ।
मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्कर ।।
असूर्यमिव सूर्येण निर्वातमिव वायुना ।
भासित ह्लादित चैव कृष्णेनेद सदोहिन ।। —सभा० प० ३६।२८-२६

इन पद्यो का तात्पर्य है कि इस सभा मे एकत्र राजाओ के बीच—जहाँ भारतवर्ष के समस्त अधीश्वर उपस्थित थे—तेज, बल तथा पराक्रम के द्वारा श्रीकृष्ण ही ज्योतियो के मध्य सूर्य के समान तपते हुए की भाँति प्रतीत होते है। जिस प्रकार सूर्य से विरहित अन्धतामिस्र से युक्त स्थान को भगवान् सूर्य चमका देता और निर्वात स्थान को—जहाँ लोगो का हवा के बिना दम घुटता रहता है—वायु आल्हादित कर देता है, ठीक उसी प्रकार कृष्ण के द्वारा यह सभा उद्भासित तथा आह्लादित की गई है।

शिशुपाल इस अग्रपूजा के अनौचित्य पर क्षुब्ध होकर कृष्ण के दोषो का विवरण देकर भीष्म के ऊपर पक्षपात तथा दुराग्रह का आरोप करता है। इसके उत्तर मे परमज्ञानी दीर्घजीवी तथा जगत् के व्यवहारो के नितान्त अनुभवी भीष्म का कथन ध्यान देने योग्य है। कृष्ण की अग्रपूजा का कारण उनका सम्बन्धी होना नही है, प्रत्युत अलोकसामान्य गुणो का निवास ही मूल हेतु है। उनमे दान, दक्षता, श्रुत (शास्त्र का परिशीलन), शौर्य, ह्री, कीर्त्ति, उत्तम बुद्धि सन्तति, श्री, धृति, तुष्टि तथा पुष्टि का नियत निवास है। इसीलिए वे अर्च्यतम है (सभा० प० ३८।२०)। अपने गुणो से कृष्ण ने चारो वर्णो के वृद्धो को अतिक्रमण कर लिया है (३८।१७)। वे एक साथ ही ऋत्विक्, गुरु, विवाह्य, स्नातक, नृपति तथा प्रिय है। इसीलिए उनकी अर्चा अन्य महापुरुषो के रहते हुए की गई है (३८।२२)। 'सबसे बडी बात यह है कि वेदवेदाग का यथार्थ ज्ञान ब्राह्मण के महत्व का हेतु होता है और बल-सम्पत्ति क्षत्रिय के गौरव का कारण होती है। ये दोनो ही कृष्ण मे एकसाथ अन्यन भाव से विद्यमान है। इसलिए मेरी स्पष्ट सम्मति है कि इस मानव-लोक मे कृष्ण से बढकर क्या कोई भी व्यक्ति वर्तमान है?" भीष्म पितामह की यह सम्मति यथार्थरूपेण श्रीकृष्ण के परम गौरव तथा उदात्त चरित्र की प्रतिष्ठापिका उक्ति है—

'वेदवेदागविज्ञान बल चाप्यधिक तथा ।
नृणा लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्ट केशवादृते ।।

—वही, ३८।१९

सजय भी उस युग के विशिष्ट विद्वान्, कुरुपाण्डवो के हितचिन्तक तथा धृतराष्ट्र को शुभ मन्त्रणा तथा श्लाघ्य प्रेरणा देनेवाले मान्य पुरुष थे। श्रीकृष्ण के प्रभाव का सकेत उनके ये शब्द कितनी विशदता से दे रहे है—

एकतो वा जगत् कृत्स्नमेकतो वा जनार्दन ।
सारतो जगत कृत्स्नादतिरिक्तो जनार्दन ।।
भस्म कुर्यात् जगदिद मनसैव जनार्दन ।
न तु कृत्स्न जगच्छक्त भस्म कर्तु जनार्दनम् ।।
यत सत्य यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जव यत ।
तत भवति गोविन्दो यत कृष्णस्ततो जय ।।

—उद्यो० पर्व ६८।६-१०

इस प्रसग मे ये श्लोक नि सन्देह महनीय तथा मननीय है ।

समस्त जगत् तथा केवल कृष्ण की तुलना की जाय तो सार-मूल्य-गौरव की दृष्टि मे समस्त जगत् से कृष्ण बढकर हैं । जनार्दन मे इतनी शक्ति है कि वे मन से ही केवल समस्त ससार को भस्म कर सकते है, परन्तु पूरा ससार भी उनको भस्म नही कर सकता । इस पद्य मे 'मनसैव' पद किसी अलौकिक जादू-टोना का प्रतिपादक नही है, प्रत्युत वह एक चिन्तन, ध्यान तथा केन्द्रित विचार-शक्ति का स्पष्ट निर्देशक है । यही इसका व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होता है । जिस ओर सत्य रहता है, धर्म होता है, ह्री (अकार्यात् निवृत्ति ह्री = अर्थात् बुरे काम करने से निवृत्त होना) रहती है और जिधर आर्जव (ऋजुता, स्पष्टवादिता तथा निर्दुष्ट चरित्र) रहता है, उधर ही रहते है गोविन्द और जिधर कृष्ण रहते है, उधर ही जय रहता है । फलत कृष्ण का आश्रय विजय का प्रतीक है ।

कितना सुन्दर चरित्र-विश्लेषण है श्रीकृष्ण का इन नपे-तुले शब्दो मे । और ये वचन है भी किसके ? ये कौरव-पक्ष के अनुयायी व्यक्ति के है जिसके ऊपर पक्षपात करने का आरोप कथमपि मढा नही जा सकता । पाण्डव-पक्ष का व्यक्ति मिथ्या प्रशसा का दोषी ठहराया भी जा सकता है, परन्तु भीष्म तथा सजय के इन वचनो मे पक्षपात की कही गन्ध भी नही है ।

इस अवसर पर श्रीकृष्ण की सहिष्णुता भी अपने पूर्ण वैभव के साथ प्रद्योतित होती है । शिशुपाल श्रीकृष्ण के विरोधी दल का नेता था, उसे यह अग्रपूजा तनिक भी न जँची । लगा वह कृष्ण पर गालियो की बौछार बरसाने । ध्यान देने की बात है कि इन गालियो मे कृष्ण के शौर्याभास का ही विवरण है, किसी लम्पटता तथा दुराचार का सकेत भी नही (जो आजकल लोग उनके चरित्र पर लाछन लगाया करते है गोपी प्रसग को लेकर) । कृष्ण के बाद वह टूट पडा भीष्म के ऊपर और लगा उन्हे भी कोसने नाना प्रकार की पक्षपात भरी बातो का हवाला देकर । भीष्म ने अपने पक्ष के समर्थन मे बहुत ही युक्तियाँ दी तथा तर्क उपस्थित किये, परन्तु श्रीकृष्ण ने अपनी मौन मुद्रा का भजन तब किया जब अपनी बुआ को दी गई पूर्व प्रतिज्ञा की समाप्ति हो गई । श्रीकृष्ण अपनी प्रतिज्ञा के पालन मे एक धुरन्धर व्यक्ति थे जिसका सकेत उन्होने द्रौपदी को आश्वासन देते समय स्वय किया था—

सत्य ते प्रति जानामि राज्ञा राज्ञी भविष्यति ।
पतेत् द्यौर्हिमवान् शीर्येत् पृथिवी शकली भवेत् ।
शुष्येत् तोयनिधि कृष्णे न मे मोघ वचो भवेत् ।।

—वन प० १२।३०-३१

आकाश चाहे गिर जाय, हिमालय चूर्ण-विचूर्ण होकर धराशायी हो जाय, पृथ्वी टुकडे-टुकडे हो जाय, और समुद्र सूख जाय, परन्तु हे कृष्णे (द्रौपदी), मेरा वचन व्यर्थ नही हो सकता । ऐसे सत्यप्रतिज्ञ की प्रतिज्ञा कभी झूठी नही होती ।

इस प्रसग मे श्रीकृष्ण की महती सहिष्णुता तथा भूयसी दृढ प्रतिज्ञा का पर्याप्त परिचय मिलता है ।

श्रीकृष्ण की स्पष्टवादिता

स्पष्टवादिता महापुरुष का एक महनीय लक्षण है । जो व्यक्ति अपने चरित्र की त्रुटियो को जानता ही नही, प्रत्युत वह उन्हे भरी सभा मे, गण्य-मान्य पुरुषो के सामने नि सकोच भाव से कहने का भी साहस रखता है, वह सचमुच एक महान् पुरुष है, आदर्श-उदात्त मानव है । इस कसौटी पर कसने से श्रीकृष्ण के चरित्र की महनीयता स्वत प्रस्फुटित होती है । एक ही दृष्टान्त उनकी प्राञ्जल स्पष्टवादिता को प्रदर्शित करने मे पर्याप्त होगा । विष्णुपुराण (४ अश अध्याय) मे स्यमन्तक मणि की कथा विस्तार के साथ सुबोध सस्कृत गद्य मे निबद्ध की गई है । शतधन्वा नामक यादव ने सत्यभामा के पिता सत्राजित की हत्या कर स्यमन्तक मणि को छीन लिया । कृष्ण को सत्यभामा ने अपने पिता की निर्मम हत्या की सूचना स्वय दी । वारणावत से वे द्वारिकापुरी मे आये । इसकी खबर पाते ही शतधन्वा अपनी शीघ्रगामिनी वडवा पर चढ पूरब की ओर भाग खडा हुआ और श्रीकृष्ण ने अपने अग्रज बलभद्र-जी के साथ चौकडी-जुते रथ पर चढकर उसका पीछा किया । द्वारिका से भागा हुआ शतधन्वा नाना प्रान्तो को पार करता मिथिला पहुँचा जहाँ उसकी वह तेज घोडी रास्ते मे थकान के मारे अकस्मात् गिरकर मर गई जिससे वह पैदल ही भागा । कृष्ण ने अपना सुदर्शन चलाकर उसका सिर वहीं काट डाला, परन्तु उनके विषाद की सीमा न रही जब उसके कपडो के टटोलने पर भी वह मणि नही मिली । बलभद्र ने सत्या के मिथ्या वचनो मे आसक्ति रखनेवाले अपने अनुज की बडी भर्त्सना की और रुष्ट होकर वे मिथिलेश राजा जनक के यहाँ चले गये । खाली हाथ कृष्ण द्वारिका लौट आये और अपने विपुल उद्योग की विफलता पर खेद प्रकट किया । शतधन्वा ने वह मणि श्वफल्क के पुत्र अक्रूर जी-के पास रख दिया था जिन्होने उससे प्रतिदिन उत्पन्न होनेवाले सोने का वितरण कर 'दानपति' की महनीय उपाधि प्राप्त की थी । 'दानपति' अक्रूर जी ने स्यमन्तकमणि को श्रीकृष्ण को देने का प्रस्ताव किया, परन्तु यादवो की भरी सभा मे उन्होने इसे अस्वीकार करते समय जिस स्पष्टवादिता का परिचय दिया, वह वास्तव मे श्लाघनीय तथा वन्दनीय थी । श्रीकृष्ण ने कहा—यह स्यमन्तक मणि राष्ट्र की सम्पत्ति है । ब्रह्मचर्य के साथ पवित्रता से धारण करने पर ही यह राष्ट्र का कल्याण साधन करता है, अन्यथा यह अमगलकारक है । दस हजार स्त्रियो से विवाह करने के कारण उस आवश्यक पवित्रता का अभाव मुझे इसे ग्रहण करने की योग्यता प्रदान नहीं करता, सत्यभामा तब कैसे ले सकती है ? हमारे अग्रज बलराम जी को मद्यपान आदि समस्त उपभोगो को इसके लिए तिलाजलि देनी पडेगी । इसलिए अक्रूर जी के पास ही इस मणि का रहना सर्वथा राष्ट्रहित के पक्ष मे है । इस प्रसग मे श्रीकृष्ण के मूल शब्दो पर ध्यान दीजिये—

एतच्च सर्वकाल शुचिना ब्रह्मचर्यादिगुणवता ध्रियमाणमशेषराष्ट्रस्योपकारकम्, अशुचिना ध्रियमाणम् आधारमेव हन्ति ।।१५५।। अतोऽहमस्य षोडशस्त्रीसहस्रपरिग्रहादसमर्थो धारणे, कथमेतत् सत्यभामा स्वीकरोति ।।१५६।। आर्य बलभद्रेणापि मदिरापानाद्यशेषोपभोगपरित्याग कार्य ।।१५७।। तदल यदुलोको य बलभद्र सत्या च त्वा दानपते प्रार्थयाम —तद् भवानेव धारयितु समर्थ ।।१५८।।

—विष्णुपुराण ४।१३

इतनी अमूल्य मणि के पाने का सुवर्ण अवसर कृष्ण के पास था, परन्तु उन्होने राष्ट्र के कल्याण के लिए अपनी अयोग्यता अपने मुँह से यादव सभा मे स्वीकार की । यह नि स्पृहता तथा इतनी स्पष्टवादिता

श्रीकृष्ण के चरित्र को नितान्त उदात्त सिद्ध करती है। इतना ही नही, वे निरभिमानता की उज्ज्वल मूर्ति थे। इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है युधिष्ठिर के राजसूय मे, जब ब्राह्मणो के पाद-प्रक्षालन का क्षुद्र काम श्रीकृष्ण ने अपने ऊपर लिया था और यज्ञ के महनीय तथा उच्च पदो का अधिकार दुर्योधन आदि कौरवो के सपुर्द कर दिया था। 'कृष्ण पादावनेजने' (भागवत ७५।५)

चरणप्रक्षालने कृष्ण ब्राह्मणाना स्वय त्वभूत्।
सर्वलोकसमावृत्त पिप्रीषु फलमुत्तमम्॥

—सभा पर्व ३५।१०

उत्तम फल पाने की इच्छा से कृष्ण ने ब्राह्मणो के पैर पखारने का काम अपने जिम्मे लिया—यह काम सचमुच ही श्रीकृष्ण के निरभिमानी व्यक्तित्व का स्पष्ट परिचायक है।

श्रीकृष्ण का सन्धि कार्य—

महाभारत युद्ध के आरम्भ होने से पहले श्रीकृष्ण ने अपना पूरा उद्योग तथा समस्त प्रयत्न युद्ध रोकने के लिए किया। वे पाण्डवो तथा कौरवो के बीच सम्भाव्यमान युद्ध की भयकरता तथा विषम परिणाम से पूर्णतया परिचित थे और हृदय मे चाहते थे कि भारत मे रणचण्डी का वह प्रलयकारी नृत्य न हो और इसके लिए उनके मनोभावो का तथा तीव्र प्रयत्नो का पर्याप्त वर्णन महाभारत का उद्योग-पर्व करता है। धृतराष्ट्र के पास प्रधान पुरुष होकर भी स्वय सन्धि का सदेश लेकर जाना और दूत का कार्य करना श्रीकृष्ण के उदात्त चरित्र का पूर्णतया परिचायक है। पाण्डवो के सामने अपने दौत्य कर्म की सम्भावनीय असफलता को स्वीकार करते हुए भी वे कहते है कि पार्थ, वहाँ मेरा जाना कदाचित् निरर्थक नही होगा। सम्भव है कदाचित् अर्थ की प्राप्ति हो जाय—सन्धि का प्रस्ताव स्वीकृत हो जाय। इतना न हो, तो भी अन्त मे हमे निन्दा का पात्र नही बनना पड़ेगा—

न जातु, गमन पार्थ! भवेत् तत्र निरर्थकम्।
अर्थप्राप्ति कदाचित् स्यादन्ततो वाप्यवाच्यता॥

इतना ही नही, श्रीकृष्ण भावी आलोचना का स्वय उत्तर प्रस्तुत करते है कि अधर्मिष्ठ, मूढ तथा शत्रु लोग मुझे ऐसा न कहे कि समर्थ होकर भी कृष्ण ने क्रोध से हठी कौरवो और पाण्डवो को नही रोका—इसलिए यह दौत्य कर्म मेरे लिए नितान्त उचित तथा समजस है। कृष्ण के ये मार्मिक वचन ध्यान देने योग्य है—

उभयो साधयन्नर्थमहमागत इत्युत।
तत्र यत्नमह कृत्वा यच्छेव नृष्ववाच्यताम्॥
मम धर्मार्थयुक्त हि श्रुत्वा वाक्यमनामयम्।
न चेदादास्यते बालो दिष्टस्य वशमेष्यति॥

किसी सभा के सभासदो का भी यह पवित्र कर्तव्य होता है कि वे न्याय के पक्ष का अवलम्बन कर न्यायोपेत तथ्य का ही निर्णय करे। यदि वे ऐसा नही करते, न्याय की उपेक्षा करते है तथा सत्य का गला जानबूझ कर घोटते है, तो सभासद ही उस अधर्म से स्वय विद्ध हो जाते है। पाण्डवों के एतद्विषयक वचनो को कहकर श्रीकृष्ण सभासदो के उदात्त कर्तव्य की चेतावनी देते है इन विशिष्ट शब्दो मे—

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्य यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणाना हतास्तत्र सभासद॥

विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभा यत्र प्रपद्यते।
न चास्य शल्य कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासद ।।
धर्म एतानारुजति यथा नद्यनुकूलजान् ।।

—वही ९५।४८-५०।

कितनी नीति भरी है इन वचनो मे तथा धर्माधर्म का कितना मार्मिक विवेचन करना न्याय्य है सभासदो-की ओर से। श्लोको का अभिप्राय है—जहाँ सभासदो के देखते-देखते अधर्म के द्वारा धर्म का और मिथ्या के द्वारा सत्य का गला घोटा जाता हो, वहाँ वे सभासद नष्ट हुए माने जाते है। जिस सभा मे अधर्म से विद्ध हुआ धर्म प्रवेश करता है, और सभासदगण उस अधर्म रूपी काँटे को काटकर निकाल नही देते हैं, वहाँ उस काँटे से सभासद् ही बिधे जाते हैं अर्थात् उन्हें ही अधर्म से लिप्त होना पड़ता है। जैसे नदी अपने तट पर उगे हुए वृक्षो को गिराकर नष्ट कर देती है, उसी प्रकार वह अधर्मविद्ध धर्म ही उन सभासदो का नाश कर डालता है। श्रीकृष्ण के वचन सभाधर्म का निष्कर्ष प्रस्तुत करते है। ऐसी भावना विदुरजी ने द्रौपदी के चीरहरण के प्रसग पर सभापर्व (अ० ५६) मे भी प्रकट की थी जहाँ 'विद्धो धर्मो' वाला श्लोक पहले ही आया है (श्लोक ७७)।

अहापयन् पाण्डवार्थं यथावत्
शम कुरूणा यदि चाचरेयम्।
पुण्य च मे स्याच्चरित महात्मन्
मुच्येरश्च कुरवो मृत्युपाशात् ।।

—उद्योग प० ९३, अ० १७-१९

आशय है कि मैं दोनो—कौरवो तथा पाण्डवो का कल्याण सिद्ध करने आया हूँ। मैं इसके लिए पूर्ण यत्न करूँगा जिससे मैं जनता मे निन्दा का भाजन होने से बच जाऊँगा। मेरे दौत्यकार्य का उद्देश्य क्या है? महात्मन्, यदि मैं पाण्डवो के न्याय्य स्वत्व मे बाधा न आने देकर कौरवो तथा पाण्डवो मे सन्धि करा सकूँगा, तो मेरे द्वारा यह महान् पुण्यकर्म बन जायगा और कौरव लोग भी मृत्यु के पाश से बच जायेंगे।

श्रीकृष्ण ने ये वचन दोनो पक्षो के महनीय हितचिन्तक तथा राजनीति के कुशल पण्डित विदुर जी से कहे थे जिनसे उनके शुद्ध हृदय की पवित्र भावनाओ की रुचिर अभिव्यक्ति हो रही है। ये वचन कितने मर्मस्पर्शी हैं और कितनी रुचिरता से श्रीकृष्ण की शान्ति भावना के प्रख्यापक हैं।

पाण्डवो के प्रतिवाद की अवहेलना कर श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र को समझाने तथा पाण्डवो के लिए केवल पाँच गाँवो के देने का प्रस्ताव रखने कौरव-सभा मे गये और अपना बडा ही विशद, तर्कपूर्ण तथा युक्ति-समन्वित भाषण दिया (९५ अध्याय) जिसका अनुशीलन उनके निश्छल परिश्रम तथा प्रयत्न पर एक निर्दिष्ट भाष्य है। युद्ध के अकल्याणकारी रूप को दिखला कर उन्होंने कहा कि युद्ध मे कभी कल्याण नही होता। न धर्म सिद्ध होता है और अर्थ की ही प्राप्ति होती है, तो सुख कहाँ? अब विजय भी अनिवार्य रूप से युद्ध में सम्भव नही होती। ऐसी दशा मे युद्ध मे अपना चित्त मत रखो—युद्ध बडी भयानक वस्तु है।

न युद्धे तात कल्याण न धर्मार्थौ कुत. सुखम्।
न चापि विजयो नित्य न युद्धे चेत आधिथा ।।

—उद्योग प० १२९।४०

अर्थ और काम का मूल धर्म होता है। उसका आश्रय न करना राजा के लिए सर्वथा विघ्नकारी होता है—

कामार्थौ लिप्समानस्तु धर्ममेवादितश्चरेत्।
न हि धर्मादपेत्यर्थं कामो वापि कदाचन॥
इन्द्रियैं प्राकृतो लोभा धर्मं विप्रजहाति य।
कामार्थानपायेन लिप्समानो विनश्यति॥

—उद्योग प० १२४।३६,३७

श्रीकृष्ण कौरवों तथा पाण्डवों के परस्पर सौहार्द तथा मैत्री के दृढ अभिलाषी थे और इसके लिए धृतराष्ट्र के प्रति उनके ये वचन सुवर्णाक्षरों में अंकित करने लायक हैं—अपने पुत्रों से समन्वित धृतराष्ट्र वन हैं तथा पाण्डु के पुत्र व्याघ्र हैं। व्याघ्र के साथ वन को मत काटो। ऐसा दुर्दिन भी न आये कि वन से व्याघ्र नष्ट हो जायँ—

वन राजा धृतराष्ट्र मपुत्रो
व्याघ्रास्ते वै सजय पाण्डुपुत्रा।
मा वन छिन्धि सव्याघ्र
मा व्याघ्राऽनीनशन् वनात्॥

—वही २६ अ०, ५४ श्लोक

व्याघ्र तथा वन का यह दृष्टान्त सचमुच बडा ही हृदयग्राही और तथ्यपूर्ण है। बिना जगल के व्याघ्र मार डाला जाता है और बिना व्याघ्र के जगल भी काट डाला जाता है। अर्थात् दोनो मे उपकार्योपकारक भाव है। दोनो के परस्पर सौहार्द से दोनो का मगल सिद्ध होता है। इसलिए व्याघ्र को वन की रक्षा करनी चाहिए तथा वन को व्याघ्र का पालन करना चाहिए—

निर्वनो वध्यते व्याघ्रो निर्व्याघ्र छिद्यते वनम्।
तस्माद् व्याघ्रो वन रक्षेद् वन व्याघ्र च पालयेत्॥

—वही श्लोक ५५

यह दृष्टान्त कितना सुन्दर है और कितनी रुचिर है परस्पर उपकार की भावना। परन्तु इतने तर्कपूर्ण उपदेश का पर्यवसान क्या हुआ—दुर्योधन द्वारा श्रीकृष्ण को बन्दी बनाने का उपहासास्पद उद्योग। कृष्ण इस अवसर पर अपनी अलौकिक महिमा से अपना विराट् रूप दिखलाकर बच गए, परन्तु ऐसे सदुपदेशो की उपेक्षा करनेवाला कौरवराज दुर्योधन महाभारत-युद्ध मे भस्म होने से न बच सका। इतनी सद्भावना देखकर भी क्या श्रीकृष्ण के ऊपर युद्ध के प्रेरक होने का लाछन लगाना न्याय्य है? नही, कभी नही।

श्रीकृष्ण की राजनीतिज्ञता

श्रीकृष्ण अपने युग में राजनीति के—पुस्तकस्था राजनीति के ही नही, प्रत्युत व्यावहारिक राजनीति के—प्रौढ विद्वान् थे। इस तथ्य के अगीकार करने के अनेक प्रबल प्रमाण है। शान्ति पर्व के ८१वें अध्याय का अनुशीलन इस विषय मे विशेषत महत्वशाली है। वह अध्याय श्रीकृष्ण के राजनीतिक वैदुष्य, व्यावहारिक कुशलता और नि सहाय होने पर भी अकेले ही यादवीय राजनीति के संचालन-पाडित्य का पूर्ण परिचायक तथ्य प्रस्तुत करता है। ऐतिहासिक तथ्य है कि यादवो में दो प्रधान कुल थे—

वृष्णि तथा अन्धक। और दोनों का गणतन्त्र राज्य सम्मिलित गणतन्त्र के रूप में प्रतिष्ठित था। इस गणतन्त्र के दो मुख्य (आजकल की भाषा में 'अध्यक्ष' = प्रेसिडेन्ट) थे उग्रसेन तथा श्रीकृष्ण। वृद्ध होने के कारण उग्रसेन अपने राजनीतिक कार्य के निर्वाह में उतने जागरूक नहीं थे, फलतः उस गणतन्त्र के संचालन का पूरा उत्तरदायित्व श्रीकृष्ण के ही ऊपर था। अपने एकाकीपन तथा राजनीतिक संघर्ष का विवरण देकर श्रीकृष्ण ने नारदजी से उपदेश की प्रार्थना की है। वृष्णि कुल की ओर से उस लोकसभा में आहुक नेता थे तथा अन्धक कुल की ओरसे अक्रूर। दोनों में अपने-अपने स्वार्थ के लिए निरन्तर संघर्ष चला करता था जिसका प्रशमन कर गणतन्त्र को अभ्युदय की ओर ले जाना श्रीकृष्ण की राजनैतिक वैदुषी तथा व्यावहारिकता के लिए भी एक चुनौती थी। इसी की चर्चा करते हुए श्रीकृष्ण के ये वचन कितने मर्मस्पर्शी तथा तथ्यपूर्ण हैं--

दास्यमैश्वर्यभावेन ज्ञातीनां वै करोम्यहम्।
अर्धभोक्तरि भोगानां वाग्दुरुक्तानि च क्षमे ॥५॥
बलं संकर्षणे नित्यं सौकुमार्यं पुनर्गदे।
रूपेण मत्तः प्रद्युम्नः सो सहायोऽस्मि नारद ॥७॥
सोऽहं कितवमातेव द्वयोरपि महामुने।
नैकस्य जयमाशंसे द्वितीयस्य पराजयम् ॥११॥

'नारद जी महाराज, मैं अपनी दुरवस्था की बात क्या कहूँ आपसे। मैं कहने के लिए तो ईश्वर (शासक) हूँ, परन्तु वस्तुतः मैं अपने दायादों की चाकरी करता हूँ और उनके कड़वे वचन सहता हूँ। अपने राजकार्य में मैं एकान्त असहाय हूँ। मेरे भाई तथा पुत्र दोनों ही अपनी राह चलते हैं, मुझे सहायता देने की उन्हें चिन्ता ही नहीं। मेरे अग्रज संकर्षण (बलराम) में बल है,[३] मेरा अनुज गद सुकुमारता तथा कोमलता का जीवित रूप है। मेरा ज्येष्ठ पुत्र प्रद्युम्न अपने अलौकिक रूप में भूला है। कहिए, मेरी असहायता का क्या कहीं अन्त है? आहुक तथा अक्रूर की राजनीतिक कुछ चालों से तथा आपसी संघर्ष से मैं और भी चिन्तित और व्यग्र रहता हूँ। दोनों को शान्त रखने का मैं यथावत् प्रयत्न करता हूँ। मेरी दशा दो जुवाड़ी पुत्रों वाली उस माता के समान है जिसके दोनों पुत्र आपस

[३] महाभारत युग में चार योद्धा महाबलशाली माने जाते थे--बलराम, भीम, मद्रराज शल्य तथा मत्स्यराज का सेनानी कीचक। परन्तु इन चारों में भी बलरामजी सबसे अधिक बलिष्ठ थे। उन्होंने गदायुद्ध में भीष्म को भी परास्त किया था। श्रीकृष्ण के कथन का ध्वन्यर्थ यह भी प्रतीत होता है कि शारीरिक बल से सम्पन्न होने से वे राजकाज में विशेष सहायता देने के योग्य भी नहीं हैं। महाभारत के ये श्लोक इस विषय में ध्यातव्य हैं--

साम्प्रतं मानुषे लोके सदैत्य-नर-राक्षसे।
चत्वारस्तु नरव्याघ्रा बले शक्रोपमो भुवि॥
उत्तमप्राणिनां तेषां नास्ति कश्चिद् बले समः।
बलदेवश्च भीमश्च मद्रराजश्च वीर्यवान्॥
चतुर्थः कीचकस्तेषां पंचमं नानुशुश्रुम।
अन्योन्यान्तरबलाः परस्परजयैषिणः॥
येन नागायुतप्राणो सकृद् भीष्मः पराजितः॥

में जुआ खेलते है और एक दूसरे को हराने की चिन्ता मे लगे रहते है। वह दोनो का हित चाहती है। न वह एक का जय चाहती है और न दूसरे का पराजय।

'कितवमाता' की यह उपमा कितनी सुन्दर तथा अर्थाभिव्यजक है। उसे दोनो पुत्रो का मगल अभीष्ट है। फलत वह न एक के जय की अभिलाषिणी है और न दूसरे के पराजय की। यह उपमा श्रीकृष्ण के राजनीतिक चिन्ताग्रस्त जीवन के ऊपर भाष्यरूपा है। यह श्रीकृष्ण की ही अनुपम राजनीतिमत्ता थी कि यह वृष्ण्यन्धक सघ इतने दिनो तक अपना प्रभुत्व भारत के पश्चिमी प्रान्त मे बनाये रहा।

महाभारत-युद्ध के प्रधान सूत्रधार होने से भी श्रीकृष्ण की कूटनीतिज्ञता का परिचय अनुमेय है। उन्होंने अपने मुख से भी इसका परिचय तथा सकेत स्थान-स्थान पर किया है—

मयानेकैरुपायैस्तु मायायोगेन चासकृत्।
हतास्ते सर्व एवाजौ भवता हितमिच्छता॥
यदि नैवविध जात, कुर्यां जिह्ममह रणे।
कुतो वो विजयो भूय कुतो राज्य कुत. सुखम्॥

—शल्य पर्व ६१।६३-६४

श्लोको का तात्पर्य है कि भीष्म, द्रोण, कर्ण और भूरिश्रवा भूतल पर अतिरथी के नाम से विख्यात थे। मायायुद्ध का आश्रय लेकर ही मैंने अनेक उपायो से उन्हे मार डाला है। यदि कदाचित् युद्ध मे इस प्रकार—माया—कौशलपूर्ण कार्य नही करता, तो फिर आपको विजय कैसे प्राप्त होती? राज्य कैसे हाथ मे आता और सुख कैसे मिल पाता? यह नई बात नही है। देवो ने भी प्राचीन काल मे ऐसा ही आचरण किया था। यह मार्ग सज्जनो के द्वारा पूर्वकाल मे समादृत हुआ है और इसके करने मे मेरा कोई भी दोष नही है—

पूर्वैरनुगतो मार्गो देवैरसुरघातिभि।
सद्भिश्चानुगत पन्था स सर्वैरनुगम्यते॥

—शल्य पर्व ६१।६८

इस निबन्ध मे श्रीकृष्णचन्द्र के राजनीतिक जीवन के महत्वपूर्ण स्वरूप को दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। उनके आध्यात्मिक उपदेष्टा का रूप स्वत विख्यात है। अत उसे यहाँ देने की आवश्यकता नही। महाभारत के सन्देहहीन स्थलो का उद्धरण देकर दिखलाया गया है कि श्रीकृष्ण उस युग के महामहिमशाली राजनीतिक नेता थे, जिन्होंने कौरवो को पूर्णतया समझा कर पाण्डवो का हित-साधन करते हुए भी युद्ध रोकने का यथावत् प्रयत्न किया, परन्तु कौरवो के दुराग्रह तथा हठ-धर्मिता से वे अपने इस सार्वभौम मगलकारी कार्य मे कृतकार्य न हो सके। राजनीतिक दूरदर्शिता मे, भारतीय राष्ट्र की मगल चिन्तना मे तथा राष्ट्र को धर्ममार्ग मे अग्रसर करने मे श्रीकृष्ण की वैदुषी अनुपमेय थी—इसमे सन्देह करने के लिए लेशमात्र भी स्थान नही। व्यास जी का यह कथन 'इतिहास' के पृष्ठो मे सदा-सर्वदा गूंजता रहा है और भविष्य मे भी गूंजता रहेगा—

यत्र योगेश्वर कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धर।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

—गीता १८।७८

पुराणों में कल्पसूत्र का प्रसंग

डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य

कल्पसूत्र—वेद के छ अंगो मे कल्पसूत्र (श्रौत-गृह्य-धर्मसूत्र एव शुल्वसूत्र) की गणना चिरकाल से प्रचलित रही है।[1] यह गणना पुराणो मे भी मिलती है।[2] पुराणो मे कल्पसम्बन्धी सामान्य निर्देश ही मिलते हैं, कदाचित् ही कोई विशिष्ट निर्देश मिलता है। नारदपुराण मे कल्पसम्बन्धी एक विशद विवरण मिलता है (१।५१ अ०)। ऐसा विशद विवरण अन्यत्र नही मिलता।

कल्प की प्रामाणिकता और उपादेयता—इस विषय मे पुराणो का ऐकमत्य है। यज्ञादि-कर्मकाण्ड मे सूत्र के मुख्यत और गौणत उल्लेख बहुत स्थलो पर मिलते है। चतुर्दशविद्यास्थानो की गणना मे सर्वत्र वेदाङ्गभूत कल्प गणित होता ही है (विष्णु०, ३।६।२८-२९)। अनुशासन पर्व मे शिव का एक नाम ही 'सकल्प' कहा गया है, जिसकी व्याख्या मे नीलकण्ठ कहते हैं—'यज्ञकल्पकेन प्रयोगविधिविचारेण सहितो मीमासान्यायसघ।' कल्प तो 'प्रयोगविधि' ही है, जैसा हम आगे दिखाएंगे।

कल्प (स्वकुलक्रमागत सूत्र) के अनुसार ही धर्मकार्य करना चाहिए, ऐसा निर्देश पुराणो मे सर्वत्र मिलता है। 'स्वगृह्योक्तविधानेन' वाक्य इस प्रसग मे द्रष्टव्य है (पद्म०, ४।१०४।२७, भविष्य० २।२।१६।१८१)। कर्मकाण्ड के प्रसग मे 'यथाविधि', 'विधानत' (पद्म० ४।६।२६) आदि जो वचन मिलते हैं, उनका तात्पर्य भी कल्पसूत्रीय निर्देश से है (कल्पमूलक ब्राह्मणादि भी)। कुलक्रमागत सूत्र का अतिक्रमण करना निन्दित कर्म माना गया है—

"य. स्वसूत्रमतिक्रम्य परसूत्रेण वर्तते। अप्रमाणमृषि कृत्वा सोऽप्यधर्मेण युज्यते।।"

(२।१२७।१४८–१४९)।

कल्प के पर्याय—विष्णुपुराण मे 'अनुवाकाश्च ये क्वचित्' वाक्य मिलता है (१।२२।८२)। यहाँ श्रीधरस्वामी 'अनुवाका कल्पसूत्रादय' कहते हैं। कल्पसूत्र का अनुवाक रूप पर्यायशब्द अन्यत्र अप्रसिद्ध है। कल्प को कभी-कभी 'यज्ञविद्याङ्ग' कहा गया है, जैसा कि आदिपर्व ७०।३९ के 'यज्ञ-विद्याङ्गविद्भि' पद की व्याख्या मे नीलकण्ठ ने कहा है—"यज्ञविद्यायामङ्गभूतानि कल्पसूत्रादीनि। इससे कल्पशास्त्र का स्वरूप भी बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है।

कल्पस्वरूप—वर्गद्वयवृत्ति मे कहा गया है—'कल्पो वेदविहिताना कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पना-शास्त्रम् (पृष्ठ १३)। पुराणो मे यह लक्षण सर्वथा स्वीकृत हुआ है—'मन्त्राणा कल्पना चैव विधि-दृष्टेषु कर्मसु (वायु०, ५९।१४१, ब्रह्माण्ड०, १।३३।५७)। विष्णुधर्मोत्तर ३।१७।१ का 'कल्पना च

---

[1] देखिये मुण्डक १।१।५—'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्त छन्दो ज्योतिषमिति'। आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।८।११ में षड् वेदाङ्गों की गणना है। कौटिल्य कहते हैं—'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोविचितिः ज्योतिषमिति' (१।२ अध्याय)।

[2] शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषं तथा। छन्दःशास्त्रं षडेतानि वेदाङ्गानि विदुर्बुधाः।। (नारदीय० १।५०।१०)। देवीपुराण में कहा गया है—'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषं षडङ्गानि भवन्त्येते' (१०७।२४-२५)। देवीपुराण का यह अध्याय चरणव्यूहानुसारी है।

तथा कल्पा कल्पश्च ब्राह्मणस्तथा' (यहाँ का पाठ ईषद्भ्रष्ट है) वचन भी इस तथ्य का ज्ञापक है। किस वेदविहित कर्म के लिए किस मन्त्र का विनियोग करना चाहिए, यह श्रौतसूत्र का मुख्य विषय है। धर्म-गृह्य-सूत्र मे भी वेदानुसारी वर्णाश्रमधर्मोचित कर्म एव गृह्याग्निसाध्य कर्म तथा तदनुकूल वेदमन्त्र उपदिष्ट हुए हैं। कल्प मे बहुलतया 'प्रयोग' है, अत 'कल्पप्रयोग' शब्द प्रयुक्त होता है। अनुशासन १०।३८ के 'कल्पप्रयोग' शब्द का अर्थ 'कल्पसूत्रोक्त यज्ञप्रयोग' किया गया है (नीलकण्ठ-टीका)। वस्तुत कल्प शब्द का अर्थ 'प्रयोग' ही है। बोधायन धर्मसूत्रगत 'अघमर्षणकल्प' शब्द की व्याख्या मे गोविन्दस्वामी कल्प = प्रयोग ही कहते हैं।

कल्पसूत्रीय-प्रयोग और इष्टसिद्धि—'देवीभागवत' मे कहा गया है—

"उपचार परा नून वेदमन्त्रा सहस्रश। वाञ्छितार्थकरा नून सूत्रै. सलक्षिता किल ॥" (५।२२।४)।

कामनासिद्धि के हेतुभूत यज्ञकर्म के चयनादि के प्रसग मे कल्पसूत्र का निर्देश यत्रतत्र मिल जाता है—'चयनानि कल्पसूत्रविधानत' (कुमारिका० ११।४२), 'स्वकल्पोक्तप्रकारेण होम कुर्यात्' (धर्मारण्य०)। कल्पशास्त्रसबद्ध अध्याय (नारदपुराणगते १।५१ अ०) मे कामनापूरक अनेक यज्ञ कहे गए हैं।

कल्प के भेद—कल्पसूत्र के तीन भेद प्रसिद्ध हैं—श्रौत, धर्म और गृह्य। श्रौत-धर्म-सूत्रो का शब्दत प्रत्यक्ष उल्लेख शायद ही कही मिलता हो, पर कर्मकाण्ड के प्रसग मे श्रौत-धर्म-सूत्रो का गौण निर्देश पुराण मे मिलता है। गृह्यसूत्र का शब्दत निर्देश है—'स्वगृह्योक्तविधानेन' आदि वाक्य इस प्रसग मे द्रष्टव्य हैं। सोमसस्था—हवि सस्था—पाकसस्थाओ का विवरण (गार्हपत्य—दक्षिण—आहवनीयाग्निसाध्य कर्मो की चर्चा) पुराणो मे बहुधा मिलती है। ये सब कर्म सूत्रानुसार अनुष्ठेय होते हैं। शाखाभेद के अनुसार श्राद्धादिकर्म मे भिन्नता होती है—'श्राद्धस्य बहवो भेदा शाखाभेदै-र्व्यवस्थिता' (नागरखण्ड)। शाखाभेद से सूत्रभेद होता है और सूत्रो को देखकर ही कर्म का अनुष्ठान किया जाता है। यज्ञादिगत अनुष्ठान का स्पष्ट—विशद-ज्ञान सूत्रो से जितना सम्भव है, सहिता-ब्राह्मण से उतना नही हो सकता।

शाखा और कल्प के निकटतम सबन्ध को देखकर ही 'सकल्पा शाखा' ऐसा प्रयोग पुराण-कारो ने किया है (कुमारिका ५।११४)। जहाँ भी स्वशाखाध्ययन कहा गया है (पद्म० ४।१००।४२) वहाँ सहिता-ब्राह्मण के साथ सूत्र का अध्ययन भी आवश्यक माना गया है। अङ्गो के साथ वेद का अध्ययनकारी अनूचन कहलाता है, यह स्मृतिशास्त्रोक्तमत नारदपुराण मे भी स्मृत हुआ है (१।५०।१२)।

पञ्चविध कल्प का एक विशिष्ट निर्देश नारदीय १।५१।१–८ मे मिलता है। यहाँ नक्षत्रकल्प (नक्षत्राधीश्वरो का आख्यान), वेदकल्प (पुरुषार्थो की सिद्धि के लिए वेदमन्त्रो का विधान), सहिता कल्प (मन्त्रो के ऋषि-छन्द-देवता का निर्देश), आङ्गिरसकल्प (मारण आदि षट् कर्मो का प्रतिपादन) एव शान्तिकल्प (दिव्य-भौम-अन्तरिक्षोत्थ उत्पात की शान्ति)—इन पाँच कल्पो का विवरण है। यहाँ इन पाँच कल्पो का सम्बन्ध वेदसामान्य के साथ है, ऐसा कहा गया है, पर बाद मे इन पाँचो का सम्बन्ध अथर्ववेद के साथ विशेष रूप से जोडा गया है जैसा कि सायण ने अथर्ववेदभाष्यभूमिका में दिखाया है। अथर्ववेद के परिशिष्टो में इन कल्पो का भी विस्तार के साथ प्रतिपादन मिलता है।

कल्प के प्रवक्ता—पुरुषोत्तम० १७।५४ मे 'कल्पकारा' शब्द प्रयुक्त हुआ है। ये कल्पकार कौन है, इस विषय में पुराण में बहुत ही महत्त्वपूर्ण एक उक्ति है—'ऋषिपुत्रा प्रवक्तार कल्पाना ब्राह्मणस्य तु' (ब्रह्माण्ड० १।३३।२२)। यह जानना चाहिए कि यहाँ ऋषिपुत्र का अर्थ ऋषि के

पौत्र आदि भी है, जैसा कि कहा गया है—'तत्पुत्रपौत्रनप्तार ऋषिपुत्रा इति स्मृता" (आर्यविद्या-सुधाकर, पृष्ठ २९-३० मे उद्धृत पूर्वाचार्यवाक्य)। ऋषिपुत्र भी ऋषि ही हैं (एक ही ज्ञानधारा के प्रवर्तक-प्रचारक होने के कारण), जैसा कि चरकसूत्र-स्थान की व्याख्या मे चक्रपाणि कहते हैं—"अनेन चतुर्विधा अपि ऋषय ऋषिका ऋषिपुत्राश्च देवर्षयो महर्षयो गृह्यन्ते" (अ० १)।

कल्प और ब्राह्मणो के प्रवक्ता ऋषि है, यह कल्पकारो के नामो को देखने से भी ज्ञात होता है। व्याकरणशास्त्रीय तद्विषयता का नियम (जो सहिता-ब्राह्मण में प्रवर्तित होता है) कल्पसूत्र पर भी प्रवर्तित होता है (अष्टा०, ४।२।६६)। कल्पसूत्र में छन्दोवत् कार्य होता है, यह 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' वाक्य से भी जाना जाता है। अन्य वेदाङ्ग की अपेक्षा (वैदिक कर्म की दृष्टि मे) कल्प का वेद के साथ निकटतम सम्बन्ध है, यही कारण है कि 'विधाबद्ध' की व्याख्या मे निरुक्त मे 'मन्त्र-ब्राह्मणकल्पै.' (१३।४ खण्ड) कहा गया है—अन्य किसी वेदाङ्ग का नाम नही लिया गया।

कल्प-प्रवचन के विषय मे पुराणो मे एक विशिष्ट कथन उपलब्ध होता है। कई पुराणो मे कहा गया है कि द्वापरयुग मे कल्पो का बहुविध प्रवचन किया गया है (वायु०, ५८-१४, ब्रह्माण्ड० १।३१।१४, लिङ्ग० १।३९।६०, कूर्म० १।२९।४६, मत्स्य० १४४।१३)। श्लोक है—'ब्राह्मण कल्पसूत्राणि मन्त्रप्रवचनानि च' (कही-कही स्वल्प पाटान्तर मिलता है)। जान पडता है कि अत्यन्त प्राचीन काल मे कल्पसूत्र बहुसख्यक नही थे। बाद मे याज्ञिक क्रिया मे जैसा-जैसा परिवर्तन होता गया, कल्पसूत्रो की रचना भी बढती गई। यज्ञ की सख्या-वृद्धि और यज्ञ मे परिवर्तन आदि कालानुसार हुए है, इस विषय मे पुराणो का 'तत प्रभृति यज्ञोऽय युगै सह विवर्धित' वाक्य प्रमाण है।

कल्पकारों के नाम—पुराणो मे सूत्रकारो के नाम शायद ही कही मिलते हो। स्कन्द पुराण के नागरखण्ड मे वेदसूत्रकार कात्यायन का उल्लेख मिलता है (१३१।८८)। यह कात्यायन श्रौत-गृह्य-धर्मसूत्रों के अतिरिक्त शुक्लयजु पार्षद आदि ग्रन्थों के रचयिता है। इष्टिकर्ता आपस्तम्ब का नाम मत्स्य० ७।३३-३४ मे है, निश्चित ही ये गृह्यादिसूत्रकार आपस्तम्ब हैं।

कल्पसूत्र वाक्य—क्वचित् पुराणो मे कल्प के वाक्य और मतो का स्पष्ट निर्देश मिलता है। कुमारिकाखण्ड मे कहा गया है—

"तथा हि गृह्यकारेण श्रुतौ प्रोक्तमिद वच। नकुल सकुल ब्रूयात् नकश्चिन्मर्मणि स्पृशेत्॥" (१३।८४-८५)।

यह वाक्य किस सूत्र का है, यह अन्वेषणीय है। अनुशासनपर्व मे 'अनृता स्त्रिय इत्येव सूत्रकारो व्यवस्यति' कहा गया है (१९।६)। धर्मसूत्रो मे इस भाव के प्रतिपादक वाक्य मिलते हैं।

कही-कही श्रुति कहकर भी कल्पसूत्रों का मत कहा गया है। यद्यपि श्रुति पद से कल्पसूत्र का ग्रहण मुख्यत नही होता, पर चूंकि कल्पसूत्र मन्त्रब्राह्मण प्रतिष्ठित है, इसलिए गौणरूप से कल्पसूत्र के मतो को 'श्रुतिमत' के रूप मे कहा गया है। स्वय पुराण 'श्रुति' मे वेदाङ्गो का (जिनमे कल्पसूत्र है) अन्तर्भाव करता है—'ऋचो यजूंषि सामानि ब्रह्मणोङ्गानि च श्रुति'।

कल्पमत को श्रुतिमत कहकर उल्लेख करने का एक उदाहरण दिया जा रहा है। अनुशासन पर्व मे एक क्रिया को लक्ष्यकर कहा गया है—'वेदश्रुतिनिदर्शनात्' (८५।१४८)। इस वाक्य से किसी कल्प का मत निर्दिष्ट किया गया है, ऐसा नीलकण्ठ ने कहा है—'वेदश्रुतिरिति।' अग्नावनुगतेऽन्तरा आहुतीर्हिरण्य उत्तरा जुहुयात् इति कल्पकारेण दर्शिता।"

मनुस्मृति की कुछ समस्याएँ

डॉ० हरिहरनाथ त्रिपाठी

मनु का उल्लेख ऋग्वेद से प्रारम्भ हो जाता है। उन्हे मानवी सृष्टि का मूल पुरुष मानने से ही 'मानव' सज्ञा का निर्देश होता है। परम्परानुसार मनु के मूल का सम्बन्ध वैवस्वत, स्वायम्भुव और सार्वाणि से है। अदिति विवस्वत पुत्र होने से उन्हे वैवस्वत कहा जाता है। स्वय उत्पन्न होने से स्वायम्भुव नाम पडा। विवस्वत की स्त्री 'सवर्णा' थी अतएव वे सार्वाणि भी कहे गये। सृष्टि के मूल पुरुष के रूप मे होने से उन्हे प्रजापति भी कहा गया और यज्ञ मे भाग मिला।[१] मैत्रायण ब्राह्मणोपनिषद् मे भी उन्हे दैवी रूप मे प्रस्तुत किया गया।[२] दैवी रूप के बाद ऋषि रूप मे उनका उल्लेख मिलता है।[३] प्रलय के बाद इडा से सृष्टि का विकास करनेवाले मनु द्वारा अपने पुत्रो मे सम्पत्ति विभाग करने का उल्लेख तैत्तिरीय सहिता मे मिलता है।[४] मनुष्य रूप मे सदाचारो का पालन करते हुए शतपथ ब्राह्मण मे उनका उल्लेख है।[५] पुरूरवा, शर्याति और इक्ष्वाकु के पिता के रूप मे भी मनु का उल्लेख है। उन्होने विभिन्न वैदिक भाषाओ का दर्शन किया। महाभारत मे उन्हे 'श्राद्धदेव' कहा गया है।[६] छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार उसके अन्तिम अश का दर्शन ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) के द्वारा कश्यप प्रजापति को हुआ, उनसे मनु को मिला और उन्होने उसे मानव मात्र मे प्रसारित किया। योग भी भगवान् से विवस्वान को, उनसे मनु और उनसे इक्ष्वाकु को प्राप्त हुआ।[७]

मनु शब्द से अभिप्रेत मनु या मनुओ का उल्लेख मिलता है। लेकिन कही मनु के लिए बहुवचन शब्द का प्रयोग नही है जिससे यह कहा जाय कि मनु विभिन्न थे। साथ ही सभी उल्लेखो को यदि एकत्र कर दिया जाय, फिर भी यह नही कहा जा सकता कि मनु एक ही थे।

मानव आचार, सदाचार एव विधि के सम्बन्ध मे मनु के नियम थे। उनके सम्बन्ध मे कहा गया है कि 'मनु' ने जो कुछ कहा वह भेषज है।[८] मनु-सहिता की एक परम्परा थी इसका ज्ञान निरुक्त

---

[१] प्रजापतये मनवे स्वाहा। तै० ब्रा० ३।२।८।१, ४।१।६।१।

[२] मै० ब्रा० ५।१।

[३] यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ्ङ धियमत्नतः। ऋ० १।८०।१६।
याभिः पुरा मनवे गातुमीषथुः ऋ० १।११२।१६।

[४] मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत् (तै० सं० ३।१।६।४)।

[५] शतपथ ब्राह्मण १।८।१।

[६] महाभारत १२।१२१।२६।

[७] भगवद् गीता ४।१-२।

[८] यद्वै किंच मनुरब्रवीत् तद्भेषजम् तै० सं० २।२।१०।२।
मनुर्वै यत्किंचिदवदत्तद्भेषजमभूतायै। ताण्ड्य ब्राह्मण २३।१६।१७।
यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
सं सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥ मनु० २।८।

से भी होता है।[९] निरुक्त ने स्वायम्भुव मनु के जिस वचन को उत्तराधिकार के सम्बन्ध में उद्धृत किया है, वह वर्तमान मनुस्मृति में मिलने को कौन कहे, उत्तराधिकार सम्बन्धी उसके नियम के भी प्रतिकूल है। श्राद्ध शब्द और कर्म का प्रारम्भ मनु से हुआ, इसका उल्लेख आपस्तम्ब में है।[१०] गौतम ने भी मनु के निर्देश का उल्लेख किया है।[११] पुत्रो में समान विभाग के सम्बन्ध में मनु को प्रमाणित माना गया है।[१२] ऋतुमती होने के बाद कन्या के विवाह करनेवाले पिता को पातकी मानने में बौधायन ने मनु का अनुकरण किया है।[१३]

महाभारत में मनु का २४ बार उल्लेख आया है। १६ में केवल मनु नाम, १ में प्राचेतस् मनु के विचार राजधर्म के सम्बन्ध में, ७ में स्वायम्भुव मनु के स्मृति-सम्बन्धी उद्धरण आये हैं। एक स्थान पर ब्रह्मा से खड्ग उपलब्ध होता है, जिसमें धर्म अन्तःसन्निविष्ट है, वे उस खड्ग से प्राणिमात्र की रक्षा करते हैं। भगवद्गीता चार मनु का उल्लेख करती है। पुराण १४ मनुओं का उल्लेख करते हैं, जिनसे मन्वन्तर का क्रम विकसित होता है और इनमें ६ मनुओं का काल बीत गया। हमारा युग वैवस्वत में चल रहा है। महाभारत में जिस प्राचेतस् मनु का उल्लेख है उनका नाम १४ मनुओं में नहीं आता। उनका नाम १० ऋषियों में आता है, जिन्होंने मनु को उत्पन्न किया। मनुस्मृति या पुराणों में सृष्टि-रचना का काल-परिगणन विशाल है। उनमें काल-चक्र-प्रवर्त्तक मनु ही हैं। वे सृष्टि के मूल पुरुष एवं संरक्षक होते रहे। वे पशु, पक्षी एवं समग्र सृष्टि के निर्माता होने के साथ ही विधि-प्रदाता भी रहे हैं। स्वायम्भुव मनु की विधि-संहिता में वर्णधर्म की प्रतिष्ठा की गयी। वर्णधर्म एवं मनु-संहिता दोनों को दैवी रूप दिया गया।

सभी मनुओं और ऋषियों का अमरत्व पुराणों में प्रतिपादित है। वे सदाचार एवं परम्परा के संचालक एवं विधि के नियामक हैं। वे धर्मज्ञ हैं, धर्मपालक हैं और प्रलय के बाद भी स्थिर रहते हैं। उनसे ही विश्व-चक्र चलता है। वे प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में आकर प्रजा को धर्म का ज्ञान कराते हैं। वर्तमान सृष्टि के लिए मनुस्मृति मनु द्वारा घोषित विधि-संहिता है।[१४] मेधातिथि ने 'मनु' के नाम के स्थान पर 'पद' बताया है। इस प्रकार की परम्परा चलने से सम्प्रदाय अविच्छिन्न रहता है। वर्तमान मनु को अग्नि, इन्द्र, वायु आदि देवताओं का रूप एवं उनकी स्मृति को वेद पर आधारित बताया है।[१५] अतएव मनु से विपरीत किसी स्मृति का प्रमाण नहीं।[१६]

---

[९] अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥ (निरुक्त ३।४)।

[१०] सह देवमनुष्या अस्मिंल्लोके पुरा बभूवुः। अथ देवाः कर्मभिर्दिवं जग्मुरहीयन्त मनुष्याः। तेषु ये कर्माण्यभिरमन्ते सह देवैर्ब्रह्मणा चामुष्मिन् लोके भवन्ति। अथैतन्मनुः श्राद्धशब्दं कर्म च प्रोवाच प्रजानिश्रेयसं च। आ० ध० सू० २।१६।१।

[११] त्रीणि प्रथमान्यनिर्देश्यानि मनुः। गौ० ध० सू० २१।८।

[१२] बौ० २।३।२, आप० २।१४।११।

[१३] बौ० ४।१।१३ तुलनीय : मनु० ९।९०-९१।

[१४] मत्स्य पुराण, अ० १४५।

[१५] मनु० २।७; ७।४२; १२।१२५।

[१६] वेद प्रतिबद्धत्वात् प्रामाण्यं तु मनोः स्मृतम्।
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते। बृहस्पति स्मृति : गाय ८५ संस्कार १३।

कल्प, मन्वन्तर एव युग के साथ नैतिकता के नियमों मे भी परिवर्तन होता आया है। प्रारम्भ मे तप, उसके बाद ज्ञान, पुन यज्ञ और अन्तिम युग मे दान की नैतिकता की प्रधानता मानी गयी। स्मृतियो मे विभिन्न विधियो के होने मे युगान्तर-विषय कारण रहा है। इस प्रकार का सकलन अपने वर्तमान युग के लिए 'कलिवर्ज्य' है। 'स्मृत्यर्थ सार' मे आयी हुई धारणा का मूल महाभारत और मनुस्मृति है। काल-भेद से शक्ति मे भेद हो जाता है। अतएव दान, भक्ति, यज्ञ एव प्रायश्चित्त मे प्रतिनिधि की व्यवस्था मानी गयी। कुछ ऐसे अवसर एव कार्य हैं जिनमे प्रतिनिधि नही माना गया। कुछ का कलियुग मे शक्तिहीनता के कारण निषेध कर दिया गया। तप एव प्रायश्चित्त मे शूद्रो के लिए सरल विधान किये गये और फल मे वे द्विजातियों के समान माने गये। लेकिन बिना युगभेद के मनु ने शूद्रो को विशेष नियम मे बाँध दिया। उन्हे ऐसे नियमों के साथ रखा गया, जिन्हे देखकर कहा जा सकता है कि शूद्रो को प्राचीन भारतीय विधि-संहिता मे कोई स्थान ही नही। द्विजातियो के लिए कुछ क्षेत्रो मे जाने का निषेध है, किन्तु शूद्र किसी भी स्थान पर जा सकता है।[१७] शूद्र को कोई पातक नही और उसे सस्कार की अपेक्षा भी नही। उसका अधिकार भी धर्म मे नही।[१८] युगभेद मे द्विजातियो के आचारो मे इस प्रकार के परिवर्तन आये कि समाज के उस काल के द्विजातियो पर विमर्श होने लगा। शूद्र तो केवल दान से शुद्ध हो जाता है।[१९] नियोग की वैदिक विधि का मनु ने घोर विरोध किया और उसे पशु-धर्म बताया।[२०] इस निषेध मे तप आदि की शक्तिहीनता को बृहस्पति ने कारण बताया है।[२१]

परम्परावादी भारतीयों के अनुसार वेद ज्ञानमय एव विद्याओं का मूल है। उसमे शका व्यक्त करना नास्तिकता है और उसे सामाजिक अधिकार भी नही मिलते। उन्हे 'वेदबाह्य', 'वेदनिन्दक' और 'नास्तिक' कहा जाता रहा। पुराण, इतिहास और स्मृतियाँ वेद की परम्परा का विकास करती है। मनु सर्वज्ञ (सर्वज्ञानमयो हि स) थे, अतएव उन्होंने अपनी स्मृति मे स्थापित सभी विधियो को वेद पर ही आधारित किया। अतएव मनुस्मृति ब्राह्मणों एव उनके शिष्यो को पढना चाहिए।[२२] स्मृति पढनेवाला ही विद्वान् एव शसित व्रत माना जाता है।[२३] मनुस्मृति के ही आधार पर जीवनयापन करने मे पितर भी मुक्त होते हैं और स्वय का लौकिक एव पारलौकिक कल्याण होता है।[२४] मनु के अनुसार वेद-शास्त्रविद् से ही सेनापतित्व, राज्य एव दण्डनेतृत्व तथा सर्वलोकाधिपत्य सम्भव है।[२५]

[१७] शूद्रस्तु यस्मिन् कस्मिन् वा निवसेद् वृत्तिकर्शितः। मनु० २।२४।

[१८] न शूद्रे पातकं किंचिन्न च संस्कारमर्हति।
नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मं प्रतिषेधनम्। मनु० १०।१२६।

[१९] शूद्राणां नोपवासः स्यात् शूद्रो दानेन शुध्यति। चरा० ६।५१।

[२०] मनु० ६।६४, ६६–६८।

[२१] बृहस्पति व्यवस्था २५।१६-१७।

[२२] विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः।
शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यङ्नान्येन केनचित्॥ १।१०३।

[२३] इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः। १।१०४।

[२४] मनु० १।१०५।

[२५] सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥ १२।१००

वेदों से सूत्रकाल तक ब्राह्मणों मे उक्त कार्यों की योग्यता एव अधिकार नही माना गया । आपत्काल मे शस्त्र उठाने की इतस्तत परवर्ती काल मे उक्ति चलती रही । उसे वैधानिक रूप भी दिया गया, किन्तु मनु ने यह नयी घोषणा वेद पर कैसे आधारित की, इस पर टीकाकार ध्यान नही देते । स्पष्ट है कि मनुस्मृति का यह सस्करण सेनापति पुष्यमित्र का समर्थन कर रहा है ।

मनुस्मृति के संस्करण

मनुस्मृति के वर्तमान सस्करण मे १२ अध्याय और २६९ श्लोक हैं । यह सभी स्मृतियो से विशाल है । प्रथम अध्याय मे वर्ण्य विषय का निर्देश दिया गया है ।[२६] विषय-निर्देश[२७] की परम्परा अति प्राचीन नही है । मेधातिथि आदि के काल, बृहस्पति-स्मृति मे मनु पर विचार आदि से मनुस्मृति सातवी शताब्दी मे व्यवहार मे थी, इस प्रकार का अनुमान होता है ।[२८] मनुस्मृति मे स्वय उल्लिखित परम्परा से ज्ञात होता है कि वह स्वायम्भुव मनु से प्रारम्भ होती है । वे उसे ब्रह्मा से उपदेश रूप मे प्राप्त करते हैं । स्वायम्भुव मनु ने दस ऋषियो को उसका उपदेश किया, क्योंकि वे सृष्टि-निर्माण कर रहे थे (१।३५,३६) । मनु ने स्वय शास्त्र का निर्माण किया और उसे मानसपुत्र भृगु को प्रदान किया (५।१-३,१२।१-२) । उन्होंने मनु के भावो को ७ अध्यायों मे सगृहीत किया ।[२९] कुछ मे उपलब्ध श्लोक के आधार पर कहा जाता है कि वर्तमान मनुस्मृति परम्परा से सम्पादित एव सम्बधित है ।[३०] वर्तमान स्मृति का तृतीय या चतुर्थ सस्करण होते हुए भी इसे मूल वेद से सम्बद्ध रखने के प्रयास से इसकी प्रामाणिकता कही जाती है । परम्परावादी धारणावाले इस वर्तमान मनुस्मृति म प्रतिपादित उन अशो पर ध्यान नही देते जिनका सम्बन्ध वेदों से नही है । उन्हे लुप्त श्रुति का स्मरण मानने से समस्या नही सुलझती ।

मनुस्मृति की मान्यता और रचनाकाल

परम्परावादियो के अनुसार मनुस्मृति वेद के समान ही प्रमाण है । वेद मे मनु के विधान का उल्लेख ही नही, उसके पालन का विवरण मिलता है ।[३१] उस काल (अनादि) से आज तक की स्मृति एक ही है । लेकिन उपलब्ध स्मृति मे 'मनु द्वारा कहा' (मनुराह, मनुरब्रवीत्, मनुरनुशासनम्) जैसे उद्धरण इस तथ्य के प्रतिकूल हैं ।[३२] वस्तुत मनुस्मृति के विभिन्न सस्करणों का उल्लेख स्वय पुराण एव टीका-ग्रथ करते हैं ।[३३] भृगु, नारद, बृहस्पति और आगिरस ने मनुस्मृति को सक्षिप्त किया ।

[२६] मनु० १।१११-११८ ।

[२७] कौटिल्य अर्थशास्त्र के पूर्व इसका व्यवहार प्रायः नही मिलता । निबन्ध-ग्रन्थो में अवश्य इसका बाहुल्य प्रयोग हुआ ।

[२८] पी. वी काणे : हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, जिल्द १ पृष्ठ १५० ।

[२९] मनु० ३।२२२।, ४।१०३।, ५।४१, १३१।, ५।५६।, ८।१२४, ८।१३९, ८।१६८, २०४, २४२। २७६, २९२, और ३३९, ९।१५८, १८२, २३९, १०।६, ७८ ।

[३०] स्वायम्भुवे नमस्कृत्य ब्रह्मणेऽमिततेजसे । मनुप्रणीतान् विविधान् धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान् ।

[३१] मानपथः पित्र्यान्मानववाविधि दूरं नैष्ट परावतः । ऋ० ८।३०।३ ।

[३२] मनु० ९।१४५।, १०।७८।, ८।१३९।, २७९।, ९।२३९ ।

[३३] मनु० १।५८ पर मेधातिथि । दानखण्ड पृष्ठ ५२८, संस्कार-मयूख पृष्ठ २ में उद्धृत भविष्य-पुराण का वचन ।

स्वायम्भुव के नाम से विश्वरूप ने जिन वचनों का उद्धरण किया है वे वर्तमान मनुस्मृति में नहीं मिलते।[३४] इसी प्रकार अपरार्क के उद्धरण भी मनुस्मृति में नहीं मिलते। तात्पर्य यह कि कुछ शताब्दियों में इतना बड़ा पाठभेद हो गया, तो फिर सनातनी परम्परा से अनादिकालीन वेद में उपलब्ध स्मृति का पाठ आज तक कैसे मिल सकता है?

मनुस्मृति की रचना एवं उसका काल निर्धारित करना सरल नहीं है। ऋग्वेद के मनु से वर्तमान स्मृति का कोई सम्बन्ध नहीं। तथाकथित मानवधर्म-सूत्र और मनुस्मृति में भी सम्बन्ध नहीं है। मानवगृह्य-सूत्र और मनुस्मृति में भी भिन्नता एवं विरोध है।[३५] डाक्टर कैलेंड के अनुसार श्राद्धकल्प और मनुस्मृति के एक श्लोक की समानता है, किन्तु शव-संस्कार के कोई भी श्लोक समान नहीं हैं। ब्रैडक भी इस प्रकार की तुलनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। महाभारत में मनु को धर्मशास्त्र और मनु प्राचेतस को अर्थशास्त्र, राजशास्त्र, राजधर्म एवं अर्थविद्या का प्रतिष्ठापक कहा गया है।[३६] कौटिल्य के मनु का मनुस्मृति में कोई भी विचार नहीं मिलता। वे स्वायम्भुव से भिन्न अर्थशास्त्र के मनु हैं। विलक्षणता यह है कि 'मानवा' के नाम से प्रस्तुत विचार मनुस्मृति में नहीं हैं, किन्तु कौटिल्य में मनुस्मृति के वाक्य के वाक्य हैं।[३७] मनु ने जिस साहित्य का उल्लेख किया वे कालविशेष के हैं। उनमें एवं उद्धरणों में अन्तर के साथ उनमें मनु के काल पर प्रकाश पड़ता है। वे ३ वेद और अथर्ववेद को अथर्वांगिरस श्रुति के रूप में उद्धृत करते हैं।[३८] वे स्वयं केचित् अपरे, अन्ये का उदाहरण अरुचि से देते हैं।[३९] फलतः कहा जा सकता है कि मनुस्मृति अपने से पूर्व काल की परम्परा का खण्डन भी करती है।

विपुल प्रमाण इसके लिए उपलब्ध हैं कि मनुस्मृति का परम्परावादियों के अनुसार माने गये काल के साथ समन्वय नहीं है। मनुस्मृति में वेद, वेदांग, धर्मशास्त्र (स्मृति २।१०), वेद के खिल, आरण्यक, धर्मशास्त्रों का उल्लेख, आख्यान, इतिहास और पुराणों के उद्धरण हैं। मीमांसक, निरुक्त (Etymology), धर्मपाठक, हेतुक (Logician) का नाम परिषद् निर्माण करनेवालों में आता है।[४०] अग्नि, गौतम, शौनक और भृगु के विचारों से शूद्र से विवाह करनेवाला ब्राह्मण जाति-

---

[३४] याज्ञ० २।७३, ७४, ८३, ८५, ११८७, २५२ पर विश्वरूप।

[३५] मानव० गृ० सू० २।१२।१–२। मनु० ३।११, मा० गृ० सू० १।४।७ मनु० ४।९५, मा० गृ० सू० १।१२८।१ मनु० २।३४, मा० गृ० सू० १।२१।१। मनु० २।३५। मा० गृ० सू० १।२२।१। मनु० २।३६।, मान० गृ० स० २।१२।१-२। मनु० ३।८४-८६ आदि।

[३६] शान्तिपर्व २१।१२, ५७।४३, ५८।२।

[३७] अलब्धलाभार्था कौ० १।४। अलब्धमिच्छेद्दण्डेन—मनु० ७।१०१, तस्माल्लोकयात्रार्थी नित्य-मुद्यतदण्डः स्यात्—कौ० १।४। नित्यमुद्यतदण्डः स्यात्—मनु० ७।१९२, असभाव्ये देशे साक्षि-भिर्मिथः समावते—कौ० ३।१, असभाव्ये साक्षिमिश्च देशे संभावते मिथः—मनु० ८।५५, साहसमन्वयत् प्रसभकर्म—कौ० ३।१७। स्यात्साहसं त्वन्वयवत् प्रसभ कर्म यत् कृतम्—मनु० ८।३३२।

[३८] मनु० ११।३३।

[३९] मनु० ३।२६, १०।७०, ९।३२।

[४०] मनु० १२।१११

बहिष्कृत कर दिया जाता है।[४१] वैखानस का भी उद्धरण दिया गया है।[४२] सूद मे वसिष्ठ के मत का उद्धरण आता है।[४३] अवैदिक सम्प्रदायो या सगठनो का उल्लेख और उनके लिए निषेध प्रस्तुत किया गया है।[४४] स्पष्टतया इन्हे वेदबाह्य कहा गया है।[४५] नास्तिक और नास्तिक्य का उल्लेख हुआ है।[४६] नास्तिकाक्रान्त राष्ट्र तथा नास्तिक ब्राह्मण का वर्णन आया है।[४७] वेद-निन्दको के साथ ही वेद-बाह्य स्मृतियो का अस्तित्व भी मनु के समय मे था।[४८] पुत्र पर पिता के अधिकार के समय विभिन्न मतो के आधार पर विमर्श किया गया है।[४९] सृष्टि के आदि मे यदि मनुस्मृति का प्रणयन या स्मरण किया गया तो क्या इन तत्वो एव सगठनो का अस्तित्व था ? ऋतम्भरा प्रज्ञा मे श्रेय एव प्रेय का भावी ज्ञान उन्हे था ? यह धारणा तथ्यहीन है। इस आधार पर इन समस्याओ का अध्ययन नही किया जा सकता। मेधातिथि आदि ने मनु को 'सर्वज्ञानमय' के स्थान पर 'पुरुष-विशेष' ही माना है।[५०]

स्वायम्भुव मनु को स्मृति की परम्परा मे ब्रह्मा के विधान से लगाया जाता है।[५१] वर्तमान मनुस्मृति के मनु के सामने समस्या अवैदिक समाजो एव सम्प्रदायो से वैदिक परम्परा एव समाज की सुरक्षा की थी। अतएव उन्होंने अपने मत को दैवी उत्पत्ति से जोड दिया। विभिन्न विचार-धाराओ मे परस्पर सम्मिश्रण हो रहा था। अतएव सदाचार, परम्परा एव विधि पर भी उसका प्रभाव पड रहा था। एकात्मकता के लिए दैवी-विधान का आश्रय लेना आवश्यक था, क्योकि दैवी-विधान ही आवश्यक एव सार्वभौम हो सकता था। वर्तमान समाज की पृष्ठभूमि मे स्मृति का तात्पर्य लगाने के लिए न्याय, युक्ति एव परिषद् को आधार माना गया और उन्ही से शास्त्र का अर्थ उपलब्ध हो सकता था।

मनु, भृगु आदि की परम्परा से मूलस्मृति का नया रूप सामने आता रहा। नियोग,[५२] ब्राह्मण-शूद्रा-विवाह[५३], विभिन्न वर्णों के अनुसार विवाह के भेद[५४] मास-भक्षण,[५५] आचार्य और पिता का

[४१] मनु० ३।१६।
[४२] मनु०—वैश्वानरमते स्थितः ६।२१।
[४३] मनु० ८।१४०।
[४४] पाखण्डिनो विकर्मस्थान् तथा हेतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्। मनु० ४।३०।
[४५] ये वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टय.। १२।९५, ४।६१, ५।८९-९० ६।२२५; ११।६६; १२।९५-९६।
[४६] २।२, ४।१६३; ११।६६; ८।२२।
[४७] ३।५, २।११; ३।१६१।
[४८] १२।९५।
[४९] १०।८०-८२।
[५०] मनुर्नाम कश्चित्पुरुषविशेषः १।१।
[५१] वात्स्यायन कामसूत्र, १।१।५-४८, नारदस्मृति (सम्पा० जॉली) १८८० पृ० १-३, भविष्यपुराण उद्धृत हेमाद्रि पृष्ठ ५२८।
[५२] ९।५९-६३, ११।६४-६६।
[५३] ३।१२-१३।
[५४] ३।२३-२६।
[५५] ५।२७-५६।

स्तर-निर्धारण एव भृगु की उत्पत्ति[५६] के चित्रण से मनुस्मृति की आधुनिकता स्पष्ट हो जाती है। इसमे परस्पर असगतियाँ विभिन्न काल के सम्पादन की असावधानी से विद्यमान हैं। परम्परा के अनुसार इसमे विभिन्न मतो का सकलन भी होता रहा।[५७] बूलर के अनुसार वर्तमान स्मृति मे आधा अश प्रक्षिप्त है और मनुस्मृति उसी सूत्र से ली गयी है, जिससे विष्णुस्मृति। कुछ अश प्रत्यक्षत पौराणिक ढग के हैं अत उनका सम्बन्ध स्मृति से नही होना चाहिए। इन दो उक्तियो के आधार पर बूलर के विचारो का प्रासाद खडा होता है, जिसे अब विद्वान् मानने के लिए प्रस्तुत नही।[५८]

कल्पसूत्र की अपेक्षा मनुसहिता का क्षेत्र व्यापक है। दोनो के विषय मे पूर्ण समानता नही है। स्मृति मे लेखक का व्यक्तित्व स्पष्ट ही पृथक् है। याज्ञवल्क्य-स्मृति मनु की अपेक्षा योग पर अधिक ध्यान देती है। उसकी भाषा मे भी अन्तर है, लेकिन इसका तात्पर्य यह नही कि दोनो के विकास-क्रम की कडी जुडी है। दोनो मे भेद वर्णन के उद्देश्य से है। उद्देश्य के अनुसार वर्णन-पद्धति मे भेद आ ही जाता है। बृहस्पति, नारद एव कात्यायन की वर्णन-शैली की भिन्नता के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कि वे मनु और विष्णु के बाद उस काल मे लिखी गयी जब वैधानिक विकास हो चुका रहता है, कुछ मूल तथ्यो की अवहेलना करना है। इस प्रकार के मत प्रस्तुत करनेवाले स्वय मनु एव विष्णु मे आधुनिक विचार प्रस्तुत करते हैं। वास्तविकता यह है कि उत्तर-वर्त्ती काल के लेखक वैयक्तिक अनुभव, आत्मप्रेरणा आदि की अपेक्षा पूर्ववर्ती विधि-सहिता के साथ अपने युग की समस्या एव उसका समाधान कर विधिरूप मे अपने विचार प्रस्तुत कर देते हैं। इसमे उन्हे पूर्ववर्त्ती स्मृतिकारो से साराश बनाने मे सुविधा रहती है। याज्ञवल्क्य और कौटिल्य अर्थशास्त्र मे तुलना करने पर सैद्धान्तिक मतभेद नही प्रस्तुत होगा, केवल वर्णन के प्रकार एव उद्देश्य मे भेद होगा। भारत मे सास्कृतिक बिखराव, लोकाचार एव जात्याचार के सम्मिश्रण से नयी स्थितियाँ उत्पन्न होती रही। उनमे समन्वय करने से सामान्य नवीनता आयी, किन्तु उससे नैतिकता एव सदाचार के नियमो मे मतभेद नही उत्पन्न हुआ। यह नही भूलना चाहिए कि यदि सभी स्मृतियाँ एक ही बात कहती जायँ, तो उनके पृथक् निर्माण की आवश्यकता ही क्या? नयी स्मृतियो के निर्माण मे नयी विधि की स्थापना करना उद्देश्य नही रहा। उनका उद्देश्य यही रहा कि पूर्ववर्ती स्मृतियो मे स्थापित सिद्धान्तो को युग की स्थिति मे स्पष्ट किया जाय।

आधुनिक मत

बूलर ने अर्थशास्त्र के प्रकाशन के पूर्व निष्कर्ष प्रस्तुत किया था। उन्हे यदि अर्थशास्त्र के प्रकाशन का ज्ञान होता तो वे अवश्य अपने निष्कर्षों मे सशोधन करते। बूलर मनु मे उपस्थित प्रक्रिया (Procedure) के आधार पर कहते हैं कि 'मनु प्रक्रिया मे वास्तविकता एव व्याव-हारिकता के स्थान पर नैतिकता पर अधिक जोर देते हैं। प्रक्रिया के अशो का विकास याज्ञवल्क्य और नारद मे होता है।' वस्तुत यह उद्देश्य के आधार पर अन्तर ज्ञात होता है, विकास और स्तरभेद पर नही। बूलर मनु का काल अधिक से अधिक १०० ई० पू० मानने को तैयार हैं।

---

[५६] १।३५, ६।३२-५६।

[५७] **हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र। जि० १ पृष्ठ १४८-५१।**

[५८] **के० वी० रंगस्वामी आयंगर : आस्पेक्ट्स ऑव सोशल ऐण्ड पोलिटिकल सिस्टम ऑव मनुस्मृति, पृष्ठ ५४।**

क्या यह माना जा सकता है कि उस समय या उससे पूर्व प्रक्रिया का विकास या प्रयोग भारत में नही था ? याज्ञवल्क्य एव नारद की भी प्रक्रिया मे नैतिक अशो का परित्याग नही किया गया।

धर्मसूत्र और मनुस्मृति के काल मे भेद होने से उनके उद्देश्य मे भी भेद हो जाता है। धर्मसूत्र के सामने वे समस्याएँ नही थी, जो मनु के समय मे वैदिक समाज का ध्वस कर रही थी। धर्मसूत्र शिष्यो के माध्यम से सामने आते है और स्मृतियो मे विधि की उद्घोषणा होती है। मनु के सामने वैदिक विधि, परम्परा एव सामाजिक मान्यता मे अविश्वास करनेवालो की समस्या थी। राष्ट्र 'शूद्रभूयिष्ठ' एव 'नास्तिकाक्रान्त' हो रहे थे।[५९] वेद एव स्मृति की पवित्रता भग की जा रही थी। परम्परा से प्राप्त विधि के प्रसग मे मनु ने सामाजिक स्थिति का समन्वय किया। परिषदो मे तार्किको की सदस्यता आवश्यक समझी, जिससे समाज की स्थिति मे अनुकूल विधि की वास्तविक व्याख्या हो सके।[६०] 'न्याय' को प्रमाण माना।[६१] इस नयी स्थिति के लिए प्रस्तुत विधि के पीछे दैवी सम्पर्क भी लगा दिया गया।

मनुस्मृति के काल पर प्रकाश डालने के लिए कुछ अन्तर्-बाह्य साक्षिया है जिन पर ध्यान देना आवश्यक है। मेधातिथि (९वी शती) एव विश्वरूप ने मनुस्मृति का जो स्वरूप दिया है वह आज भी उपलब्ध है। शकराचार्य ने वेदान्तसूत्र मे मनु का उद्धरण दिया है।[६२] बृहदारण्यक उपनिषद् मे मनु का मत मिलता है।[६३] वे मनु को 'शिष्ट' मानते है।[६४] तन्त्रवार्तिक मे कुमारिल मनु को गौतम से उच्च स्थान देते है। मृच्छकटिक मे मनु के आदेश पर निर्णय होता है।[६५] पाचवी शती के आसपास के वल्लभी आदि शिलालेखो मे मनु का उल्लेख है।[६६] बृहस्पति ने मनु के लिए लिखा है कि वेद से अधिक निकट होने से मनु का सर्वाधिक प्रामाण्य है।[६७] बृहस्पति ने विभिन्न स्थानो पर मनु का उद्धरण दिया है। एक स्थान पर उनका विरोध भी किया है।[६८] भृगु का मनुस्मृति से सम्बन्ध बृहस्पति को भी ज्ञात था[६९]। अश्वघोष के वज्रसूची मे मनु का उद्धरण है। रामायण भी मनु

---

[५९] यद्राष्ट्र शूद्रभूयिष्ठ नास्तिकाक्रान्तमद्विजम्। विनश्यत्याशु तत्कृत्स्न दुर्भिक्षव्याधिपीडितम्॥ मनु० ८।२२।

[६०] मनु० १२।१११।

[६१] मनु० १२।१०५।

[६२] वेदान्तसूत्र १।३।२८; ४।२।६, ३।४।३८; १।३।३६; २।१।११ म क्रमश. मनु० १।५,२१। १।२७; २।८७; १०।४, १२६, १२।९१, १०५-६ का उद्धरण है।

[६३] बृ० उ० १।४।१७ पर 'मानवे च सर्वाः प्रवृत्तिकामहेतुक्येवेति'।

[६४] वेदान्तसूत्र ३।१।१४

[६५] मृच्छ० ९।३९

[६६] ए० इं० जिल्द ८, पृष्ठ ३०३, जिल्द ४, पृ० १०५।

[६७] वेदार्थोपनिबन्द्धृत्वात्प्राधान्य तु मनुस्मृतौ। मन्वर्थ विपरीता या स्मृति सा न प्रशस्यते॥ तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च। धर्मार्थमोक्षोपदेष्टा मनुर्यावन्न दृश्यते॥ मनु० १।१ पर कुल्लूक द्वारा उद्धृत बृहस्पति वचन।

[६८] याज्ञ० २।११९ पर अपरार्क द्वारा उद्धृत।

[६९] विवाद रत्नाकर पृ० १००।

का उद्धरण देता है।[७०] महाभाष्य मे भी मनु का वचन मिलता है ।[७१] इन उद्धरणो से इतना तो सिद्ध होता है कि द्वितीय शताब्दी तक के ग्रन्थो मे मनुस्मृति का उद्धरण दिया गया है।

मनुस्मृति मे परस्पर विरोधी मत भी हैं। ब्राह्मण को शूद्रा के साथ विवाह का विधान[७२] और निषेध[७३] दोनो है। एक स्थान पर नियोग का समर्थन है[७४] और दूसरे स्थान पर उसे पशु-धर्म कहा गया है।[७५] श्राद्ध एव मधुपर्क मे मांस का विधान[७६] और सर्वत्र मांस-प्रयोग का निषेध है।[७७] एक श्लोक मे पिता आचार्य से श्रेष्ठ और दूसरे मे आचार्य पिता से श्रेष्ठ कहा गया है।[७८] भृगु को अग्नि मे उत्पन्न और स्वायम्भुव मनु से भी उत्पन्न माना है। इन आधारो पर कहा जाता है कि मनुस्मृति के विभिन्न सस्करण हुए और उनपर देश, काल एव परिस्थिति का प्रभाव पड़ा। लेकिन इस प्रकार के सस्करण तीसरी शती तक हो चुके थे। वर्तमान स्मृति मनु की अपेक्षा भृगु से अधिक सम्बद्ध है। नारद और बृहस्पति स्मृतियाँ मनुस्मृति पर निर्भर करती हैं, यद्यपि उनमे भी परिवर्तन हुआ। तीगरी पताब्दी के बाद भी मनुस्मृति के मूल मे परिवर्तन की बात तथ्य की अपेक्षा करती है। यह कहना कि विश्वरूप आदि के उद्धरण वर्तमान मनुस्मृति मे नही मिलते यह उनकी स्मरण-शक्ति एव उद्धरण की शैली पर निर्भर करता है। वह भी शिलालेख मे मनु का वचन जिस रूप मे दिया गया है, वह वर्तमान मनुस्मृति मे नही है। क्या इससे यह कहा जा सकता है कि वर्तमान मनुस्मृति का रूप ७वीं शती तक भी नही स्थिर हो सका था ?

अन्त साक्ष्य की भी कुछ बाते विचारणीय हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति की अपेक्षा मनु की प्रक्रिया और वैधानिक शब्दावलियाँ अव्यवस्थित हैं। अतएव मनुस्मृति को तीसरी शती से पूर्व का ही माना जा सकता है, लेकिन बहुत पूर्व नही। गेड, आन्ध्र, पौण्ड्र, चौण्ड्र, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खश आदि तीसरी शती के आसपास के है जिनका वैधानिक समाधान मनुस्मृति मे मिलता है।[७९] अतएव ईसा से तीसरी शताब्दी से आगे उसका काल नहीं जाता। सेनापति का उल्लेख सेनापति पुष्यमित्र की ओर सकेत करता है।[८०] धर्मसूत्रो से मनुस्मृति की भाषा नवीन है। इन आधारो पर बूलर इस निष्कर्ष पर आते हैं कि ईसा से २०० वर्ष पूर्व से ईसा से २०० वर्ष बाद के बीच मे मनुस्मृति का सम्पादन सम्पन्न हुआ, लेकिन यह वर्तमान स्मृति के सम्बन्ध मे है। जिस स्मृति का सम्पादन सम्पन्न हुआ उसका सम्बन्ध महाभारत से है।

ऋक० १८।३०-३२।
महाभाष्य ३ पृष्ठ ५८। उद्योग ३८।१।
मनु० ३।१२-१३।
मनु० ३।१४-१९।
मनु० ९।५९-६३।
मनु० ९।६४-६९।
मनु० ५।३१-३२, ३५, ३६, ४१।
मनु० ५।४८-५०।
मनु० २।१४५।
मनु० १०।४४, ४८।
जायसवाल, कलकत्ता वीकली, जिल्द १५।

वी० एन० माण्डलिक के अनुसार मनुस्मृति महाभारत से ली गयी है।[८१] बूलर यह मत स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि महाभारत के १२वे एव १३वे पर्व मे मानव-धर्मशास्त्र का उल्लेख है। उसका सम्बन्ध मनुस्मृति से हो सकता है, किन्तु वह इससे अभिन्न नही है। लेकिन वे स्वय आगे मानते हैं कि महाभारतकार धर्मसूत्र जानते थे।[८२] हाप्किस 'मनुराह' एव 'मनुरब्रवीत्' आदि के आधार पर मानते हैं वैदिक मनु के दार्शनिक विचार महाभारत और मनुस्मृति मे उल्लिखित हैं। उन दार्शनिक भागो को दो ग्रन्थो ने व्यवस्थित ग्रन्थ से नही लिया। अतएव परस्पर असमन्वय और बिखराव है।[८३] इन विचारको ने कुछ बातो पर ध्यान नही दिया। महाभारत मे मनुस्मृति का उल्लेख नही, किन्तु मनुस्मृति मे इतिहास (बहुवचन) का उल्लेख है।[८४] मनुस्मृति मे आये ऐतिहासिक सकेतो मे महाभारत का भी अश है। आगिरस, अगस्त्य, वेन, नहुष, सुदास, निमि. पृथु, मनु, कुबेर, वसिष्ठ, वत्स, अक्षमा, शार्ङ्गी, दक्ष, अजीगर्त, वामदेव, भारद्वाज, विश्वामित्र, पृथु आदि इसके प्रमाण हैं।[८५] इनमें वशिष्ठ, अजीगर्त एव आगीरस का जिस सन्दर्भ मे उल्लेख है, उनका सम्बन्ध वेदो से है।[८६] अन्य व्याख्यान भी महाभारत से पूर्ववर्त्ती हैं। द्यूत आदि का सम्बन्ध भी वेदो से है।[८७] ऋग्वेद की ऋचा को महाभारत ज्यो का त्यो लेता है।[८८] बूलर इन तथ्यो पर पर्दा डालते हैं। महाभारत में स्वय 'मनुरब्रवीत्' 'मनु का राजधर्म' आदि कहा है। बूलर वन, अनुशासन एव शान्ति पर्व के २६० श्लोक मनुस्मृति मे पाते हैं। अन्यत्र भी सैकडो श्लोक मनुस्मृति के महाभारत मे विद्यमान हैं। हाप्किस मानते है कि अनुशासनपर्व एक मनुस्मृति का सकेत देता है जो आज की मनुस्मृति से भिन्न नही है। बूलर भी स्वीकार करते हैं, किन्तु उसका नामकरण मानव-धर्मशास्त्र कर देते हैं।

अनुशासन पर्व स्पष्ट 'मनु से अभिहित शास्त्र' का उल्लेख करता है।[८९] मनु से 'गाये हुए' दो श्लोको का उद्धरण भी शान्तिपर्व मे है।[९०] प्राचेतस मनु के राजधर्म के श्लोक का भी उद्धरण है।[९१] मनु, प्राचेतस मनु, एव स्वायभुव मनु की अर्थविद्या, राजधर्म और अनुशासन अनेक स्थानो पर आया है।[९२] हाप्किस की धारणा है कि अनुशासन पर्व ही मनुस्मृति को जानता था, अन्यत्र

[८१] व्यवहार मयूख की भूमिका।

[८२] सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द २५।

[८३] ग्रेट एपिक्स ऑव इण्डिया, पृष्ठ २१-२२।

[८४] मनु० ३।२३२।

[८५] मनु० २।१५१-५२; ५।२२; ७।४१-४२; ८।११०,११६; ९।२३; ९।१२८-१२९; १०।१०५-१०८; ९।४४, ३१४।

[८६] ऋग्वेद ७।१०४।१५, बृहद्देवता ६।३२–३४, ऐ० ब्रा० ७।१६, ताण्ड्य महाब्रा० १३।३।२४।

[८७] ऋ० १०।३४।

[८८] उद्योग० ३७।१९।

[८९] मनुनाभिहितं शास्त्रं यच्चापि कुरुनन्दन। अनु० ४७।३५।

[९०] शान्ति० ५६।२३–२५।

[९१] शान्ति० ५७।४३–४५।

[९२] महाभारत, द्रोण० ७।१, शान्ति० २१।१२; ७८।३१; ८८।१४, १६; १२१।१०, १२; १५२।३०; २४६।५; अनुशासन० ११४।१२; ४४।१८, २३; ६५।१, ३; ६७।१९; ६८।३१; ८८।४; ११५।५२-५३; वन० १८०।३४-३५; ३२।३९; आदिपर्व ७३।९; १२०।३२-३६; ४१।३१; ७४।३९। उद्योग० ३७।१–६; ४०।९–१०।

वैदिक मनु से ही सम्बन्ध है। काणे हाप्किस का उत्तर देते हुए लिखते हैं कि मनु के राजधर्म एव अर्थविद्या का उल्लेख अन्यत्र भी हुआ है।[१३] हमने पीछे दिखाया है कि मनुस्मृति से महाभारत मे आये हुए मनु के राजधर्म एव अर्थविद्या मे कोई सम्बन्ध नही। कौटिल्य ने मानव-अर्थशास्त्र के जितने उद्धरण दिये हैं या उनके विचार मनुस्मृति-सम्मत नही हैं। बूलर मानवधर्मसूत्र को ही महाभारत का प्रतिपाद्य मानते हैं। लेकिन महाभारत मे विभिन्न धर्मशास्त्रकारो का उल्लेख होते हुए[१४] भी मनु को धर्मसूत्रकार के रूप मे कही नही कहा गया। एक स्थान पर सूत्रकार का नाम न देते हुए भी सूत्रकार का वचन अनुशासन पर्व मे आया है और वह भाव मनुस्मृति में मिलता है।[१५] आश्चर्य तो यह है कि महाभारत मे हस्तिसूत्र और अश्वसूत्र मिलते हैं,[१६] किन्तु किसी धर्मसूत्र या नीतिसूत्र का उल्लेख नही है।

उक्त तथ्यो से बूलर का मत समीचीन नही है। वस्तुत ईसा से प्राय ४०० पूर्व मानव-धर्मशास्त्र था और प्राचेतस मनु का राजधर्म। दोनो सम्बद्ध भी हो सकते हैं। महाभारत मे आया प्राचेतस वचन मनुस्मृति मे है।[१७] मनुस्मृति का सम्बन्ध महाभारत से न होकर मानव-धर्मशास्त्र से है। मनुस्मृति का वर्तमान रूप २०० ई० के आसपास तक हो पाया। इसमे प्राचीन परम्परा के साथ नवीन आदर्शो का भी समन्वय किया गया। नारद के अनुसार यह कार्य सुमति भार्गव (भृगु) से हुआ। वे वृद्ध मनु और बृहन्मनु को अलग रखते हैं। यही मनुस्मृति हमारे काल तक आ सकी और उसका प्रभाव लका, वर्मा, जावा तथा अन्य द्वीपो पर पड़ा।

---

[१३] काणे : हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, जिल्द १ पृष्ठ ५४।

[१४] शान्ति० १६७।४; २६८।४०; ३४१।७४। अनुशासन० १६।८६; ४५।१७-२०। वनपर्व २०७।८३, २६३।३५, ३१३, १०५। आदि० ३।३२, ७७।

[१५] अनृता स्त्रिय इत्येवं सूत्रकारो व्यवस्यति। अनु० १६।६, तुलनीय : निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियो नृतमिति। मनु० ९।१८।

[१६] सभापर्व ५।२०।

[१७] मनु० ४६।१-२। मनु० ३।५४।

मध्यकालीन तांत्रिक धर्मों का विकासस्थल

शिवकुमार शर्मा 'मानव'

उड्डीयान पीठ

स्वायम्भुव मन्वन्तर में दक्षयज्ञ के विध्वस के बाद विष्णु के सुदर्शनचक्र से छिन्न होकर सती के अग जिन-जिन स्थानो पर गिरे वे स्थान 'पीठ' के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन पीठो का वर्णन तंत्र-ग्रन्थों को छोडकर सर्वप्रथम महाभारत मे देखने को मिलता है। उसके बाद सस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि साहित्यो मे तथा भारत की बँगला, गुजराती, मराठी, तेलगू, तमिल आदि प्रान्तीय भाषाओं मे प्राप्त होता है, परन्तु इन पीठो की सख्या के बारे मे काफी मतभेद है। देवीभागवत मे इनकी सख्या १०८ गिनायी गयी है।[1] शिवचरित्र मे ५१, देवीगीता मे ७२, तन्त्रचूडामणि मे ५३, गौरीतंत्र, विद्युल्लता आदि प्राय सभी तत्रों मे तथा विशेषकर मेरुतत्र मे मातृकापरक ५१ पीठ माने गये है।

वर्तमान मे तत्रविद् आचार्यगण महाभारत की गवाही पर तत्रचूडामणितत्र के अनुसार इक्यावन पीठ मानते है। इस तत्र में विभिन्न पीठो से सम्बद्ध विभिन्न देवियो एव भैरवो का भी उल्लेख मिलता है। सख्या के सम्बन्ध मे कहा जा सकता है कि हस्तलिखित ग्रन्थो मे जो ह्रास-वृद्धि आदि दोष पाये जाते है, उसी के कारण इसमे तिरपन सख्या प्रतीत होती है। मूलत तन्त्रचूडामणि मे इक्यावन पीठ ही माने गये है, लेकिन 'वामगण्ड' शब्द की द्विरुक्ति अथवा प्रक्षेप से सख्या तिरपन हो गयी है।[2]

इस समय इक्यावन पीठो मे से नौ पीठ भारत के बाहर है, जिनमे से ५ पीठ पाकिस्तान मे है। प्रथम पीठ हिंगलाज मे है। हिंगलाज कराची से १० मील उत्तर-पश्चिम मे नदी के तट पर स्थित गुफा मे है। वहाँ पर ज्योति का दर्शन होता है। द्वितीय पीठ भवानीपुर मे, जहाँ बगोडा स्टेशन (पूर्वी पाकिस्तान) से जाना पडता है। अपर्णा देवी का मन्दिर है। तृतीय पीठ भी पूर्वी पाकिस्तान के शिकारपुर की सुनन्दा नदी के तट पर स्थित है, जहाँ उग्रतारा का मदिर है। पाँचवाँ स्थान चटगाँव से २४ मील दूर (सीताकुण्ड स्टेशन) चन्द्रशेखर पर्वत पर है। यह भवानी मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। तिब्बत मे मानसरोवर पर दाक्षायणी गौरी का मदिर है। दो पीठ नेपाल मे है। प्रथम पीठ गुह्येश्वरी देवी के मदिर में महामाया का स्थान है। द्वितीय पीठ गण्डकी के उद्गम-स्थान पर है जहाँ गण्डकी भैरवी का मदिर है। एक स्थान लका मे भी माना गया है, जहाँ पर इन्द्राक्षी देवी का स्थान होना चाहिए। पर इस स्थान का अभी ठीक-ठीक पता नही है। इसी तरह आठ स्थान और भी है जिनका बिलकुल पता नही है। कुछ स्थान ऐसे

[1] **देवीभागवत—७।३०।५४, ५८।**

[2] **तंत्रचूडामणि—"पञ्चाशदेक पीठानि तथा भैरवदेवताः। अङ्गप्रत्यङ्गपातेन विष्णुचक्रक्षतेन च॥"**

संदिग्ध हैं, जिनके बारे में यह दावा नहीं किया जा सकता कि ये वे ही प्राचीन स्थान हैं जिनका उल्लेख शास्त्रों में किया गया है।

कामाख्या, पूर्णगिरि, उड्डीयान और जालन्धर चार आदि पीठ माने जाते हैं। इनमें से उड्डीयान और पूर्णगिरि भी संदिग्ध स्थानों की तालिका में हैं। साधनमाला में वज्रयान के कामाख्या, सिरिहट्ट, पूर्णगिरि और उड्डीयान नामक चार आदि पीठों का वर्णन मिलता है।[३] इस सम्बन्ध में नाथ और तान्त्रिक बौद्ध-साहित्य पर अनुसन्धान करनेवाले विद्वानों ने काफी काम किया है, पर अभी भी यह बात संदिग्ध ही है कि उड्डीयान पीठ कहाँ था? इस सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों के मत निम्नलिखित हैं।

इन्द्रभूति को उड्डीयान का राजा माना जाता है।[४] गुरु पद्मसंभव, जो शान्तिरक्षित की सहायता करने तिब्बत गये थे, इन्द्रभूति के पुत्र माने जाते हैं। पद्मसंभव ने शान्तिरक्षित की एक बहिन से शान्तिरक्षित के ही प्राचीन देश जाहोर में शादी की थी। इन्द्रभूति ने अपने पुत्र पद्मसंभव को राजद्रोह करने के कारण अपने देश से निकाल दिया था। उसी निष्कासन की अवस्था में ही उसने शान्तिरक्षित की बहन से शादी की थी। उस जाहोर को पूर्वीय बंगाल के ढाका जिले के साभार ग्राम से अभिन्न सिद्ध किया जाता है। वडेल ने, जो स्वात घाटी के उद्यान से उड्डीयान को अभिन्न मानते हैं, जाहोर को आधुनिक लाहोर माना है। शान्तिरक्षित का मूल स्थान जाहोर था, जहाँ के राजवंश में वे उत्पन्न हुए थे। इसलिए यह असंभव है दूसरे देश का राजा काशगढ जैसे दूर के भाग से आनेवाले घुमक्कड के साथ अपनी बहिन की शादी होने देगा। यह सम्बन्ध तभी संभव है जब उड्डीयान और जाहोर को एक दूसरे के समीप मान लिया जाय। उड्डीयान का उल्लेख कामाख्या और श्रीहट्ट के साथ होता है, जबकि ये दोनों एक दूसरे के बहुत नजदीक हैं। अतः यह कठिनता से संभव है कि बौद्ध तंत्रों में उड्डीयान को उन दो ऐसे स्थानों से सम्बद्ध किया गया होगा, जो बहुत दूर के होंगे।

पैग साम जॉग जैन के प्रमाण के आधार पर उड्डीयान ऐसा स्थान है जहाँ तान्त्रिक बौद्ध धर्म सबसे पहले विकसित हुआ। चौरासी सिद्धों के इतिहास में उड्डीयान को पाँच लाख कस्बोंवाला प्रदेश बताया गया है। उसे दो राज्यों में बाँट दिया गया है। एक राज्य साम्भल में इन्द्रभूति राज्य करता था, जबकि दूसरे राज्य लंकापुरी में जालेन्द्र राज्य करता था जिसके पुत्र ने इन्द्रभूति की बहिन लक्ष्मीकरा से शादी की थी। जब इन्द्रभूति से दीक्षित होकर लक्ष्मीकरा सिद्ध बन गयी तो इन्द्रभूति अपने पुत्र को राज्य देकर वन में चला गया।

अतः उड्डीयान का निर्णय अब लंकापुरी पर आधारित है जिसे कभी अमरकंटक की चोटी या मध्यभारत के या आसाम के एक स्थान 'सीलोन' से अभिन्न माना जाता है। लेकिन लंका को सुदूर पूर्व-पश्चिम या सुदूर उत्तर में कभी भी नहीं माना गया। यदि हम आसाम में लंका को मान लें तो उड्डीयान को भी उसी प्रदेश में मानना पड़ेगा, संभवतः आसाम के पश्चिम भाग में। यह अधिक संभव भी मालूम पड़ता है, क्योंकि सिलहट और कामाख्या दोनों ही आसाम में हैं, जो अभी-अभी बंगाल के भाग बन गये हैं। यदि लंकापुरी को, जो उड्डीयान का पूरक भाग था, जैकोबी के अनुसार आसाम में मान लिया जाय, तो उड्डीयान को भी आसाम में मानना होगा, संभवतः उसके

---

३ साधनमाला—पृष्ठ ४५३, ४५५।

४ ऐन इन्ट्रोडक्शन टु बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म—डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य, पृष्ठ ४३, ४४, ४५, ७३, ७६।

पश्चिमी भाग में, जो स्वय बगाल का एक भाग है। ऐसी स्थिति मे उड्डीयान के बंगाल मे ही होने की सभावना अधिक है।[५]

डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने उपर्युक्त मत की आलोचना करते हुए लिखा है कि इस तरह डॉ० भट्टाचार्य ने कभी तो उड्डीयान को आसाम मे और कभी उडीसा मे सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[६] यह ध्यान मे रखना चाहिए कि तिब्बत मे इस नाम के दो रूप मिलते हैं--(१) ओडियन (२) ओडिया या ओडिशा। इनमें से एक रूप तो इन्द्रभति से सम्बद्ध है, जबकि दूसरे रूप का उनसे कोई सम्बन्ध नही है। प्रथम रूप के भी कई रूप मिलते हैं--ओडियान, उड्डीयान। सिल्वाँ लेवी ने इसे स्वात घाटी मे स्थित सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण उपस्थित किये हैं।

(१) सभी चीनी स्रोतों ने, यथा फाह्यान, ह्वेन्साग, उड्डीयान को स्वात घाटी मे बताया है। आठवी-नौवी शताब्दी के एक हस्तलिखित ग्रन्थ मे "ओड्डियान मे मगकोष्ठ के वज्रपाणि" सकेत आया है। मगकोष्ठ मगलपुर का केवल दूसरा नाम है और मगलपुर स्वात घाटी का प्रधान नगर था। (२) हेवज्र जैसे प्राचीन तत्र के सातवे पटल मे पीठों का वर्णन इस प्रकार है--

पीठ जालधर ख्यात ओडियान तथैव च।
पीठ पूर्णगिरी चैव कामरूपस्तथैव च ।।[७]

अत उड्डीयान किसी भी स्थान के समीप होगा तो वह कामरूप के समीप नही, जालधर के समीप होगा। (३) तग के सिद्धान्त मे उड्डीयान को सिन्धु-सौराष्ट्र के साथ गिना गया है। (४) 'तग एनरुल्स चवन्नअ डाकुमेन्टस्' मे उड्डीयान की सीमा बतायी गयी है--दक्षिण मे भारत, पश्चिम मे चित्राल।[८] कहा गया है कि यह सिन्धु के उत्तर मे स्थित है।(५) उड्डीयान की प्राचीनता के विषय मे कहा गया है कि कुषाण युग के सातवे वर्ष के एक शिलालेख मे उड्डीयान के एक निवासी जीवक की भेट की ओर सकेत मिलता है। (६) उड्डीयान, ओडियान आदि शब्द एक ही शब्द के रूपान्तर हैं।

डॉ० भट्टाचार्य ने तीन सदेह और रखे हैं--(१) जाहोर कहाँ था जिसके राजवश से शान्तिरक्षित सम्बद्ध था, क्योकि इन्द्रभूति ने, जो उड्डीयान का राजा था, अपनी बहिन की शादी जाहोर मे की थी, अत जाहोर उड्डीयान के समीप होना चाहिए। (२) लकापुरी जिसका राजा पहले जालेन्द्र था तथा जिसके पुत्र ने इन्द्रभूति की बहिन से शादी की थी, उड्डीयान के समीप होना चाहिए। (३) तिब्बती परम्परा के अनुसार लुइपा उड्डीयान के राजा के कर्मचारी थे।

तिब्बती परम्परा मे जाहोर के विषय मे कहा गया है कि उसकी यात्रा इन्द्रभूति ने उड्डीयान छोडने के बाद की थी। उसने विद्ध की श्मशान-भूमि की यात्रा की थी, जो काश्मीर का विशेष श्मशान था। अन्तत जाहोर को लका कहा गया है। अत किसीको भी किसी सन्दर्भ के बिना किसी शब्द को उद्धृत करने का अधिकार नही है। इस विषय मे काश्मीर का सकेत यह कह रहा है कि जाहोर नेपाल और काश्मीर की सीमा पर था, जो उड्डीयान से बहुत दूर नही था। ऐसे बहुत से सकेत हैं जो यह बताते हैं कि पश्चिमोत्तर भाग मे एक-न-एक स्थान ऐसा अवश्य था, जिसे लका कहते थे।

---

[५] साधनमाला--डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य, इन्ट्रोडक्शन, पृष्ठ ३७,३६।

[६] स्टडीज इन दि तंत्राज--डॉ० प्र० चं० बागची, भाग १, पृष्ठ ३७,४०।

[७] हेवज्रतंत्र, सातवाँ पटल,--देखिए--स्टडीज इन दि तंत्राज, भाग १ वही।

[८] स्टडीज इन दि तंत्राज, भाग१, वही--'तंग एनरुल्स चवन्नअ डाकुमेन्ट्स सम्बन्धी संदर्भ।

चक्रसम्बर तत्र के तिब्बती अनुवादक जयभद्र लका के ही थे। उन्होने भी उसे लका ही कहा है। इस समय तक सीलोन को लोग लका के नाम से नही जानते थे। चक्रसम्बर तत्र का सीलोन से कोई सम्बन्ध नही है। इसके विपरीत बात यह है कि सम्बर तत्र की सभ्यता का सम्बन्ध सम्भल से था, जो उड्डीयान का एक भाग कहा जाता है। अत जयभद्र की लका जालेन्द्र की लकापुरी है।

ह्वेन्त्साग ने बताया है कि उसके समय मे लंगकिलो में जो सिन्धु की निचली घाटी मे था, १०० विहार तथा हीनयान और महायान के ६०० भिक्षु थे। यह लगा या लका नाम बिलूचिस्तान की उस लग नाम की जाति से मिलता है, जो इस समय भी वही कही रह रही है। यह असभव नही कि इस जाति ने स्वात घाटी पर कभी अधिकार कर लिया हो और उसके नाम से इस प्रदेश का नाम लका पड गया हो।

तिब्बती परम्परा और काडियार दोनों ही मत्स्येन्द्र और लुइपा को एक मानते हैं।[९] यह सभव है कि योगियों का जो सम्प्रदाय मत्स्येन्द्र से प्रचलित हुआ, उसका प्रचार दूर देशों तक हुआ हो और मत्स्येन्द्र से अभिन्न लुइपा बगाल और उड्डीयान दोनो से सम्बद्ध कर दिये गये हो। कारण यह है कि आज भी योगी जाति और सम्प्रदाय सारे भारत मे परस्पर सम्बद्ध होकर दूर देशों तक फैले हुए है।

नाथसप्रदाय के इतिहास की लेखिका डॉ० कल्याणी मल्लिक ने अपने ग्रन्थ मे इस विषय की आलोचना इस प्रकार की है—तिब्बती मत से लूइपा पहले सामन्त शोभा के नाम से प्रसिद्ध थे। इन्होने उड्डीयान मे बगाली शबरीपाद से दीक्षा ग्रहण की थी। उड्डीयान एक समय बौद्ध-तात्रिको मे प्रधान पीठ था। जादू विद्या के लिए भी उड्डीयान प्रसिद्ध था। उड्डीयान राजकुमारी लक्ष्मीकरा और उसके भाई इन्द्रभूति जादू-विद्या मे निपुण थे। बाद मे इन दोनो ने चौरासी सिद्धो मे स्थान पाया। उड्डीयान पीठ के सम्बद्ध मे विभिन्न मतामत हैं—(क) हरप्रसाद शास्त्री उड्डीश, भट्टाचार्य के मत से आसाम, (ख) लेवी के मत से उत्तर-पश्चिमी सीमा पर स्थित सौवाट् उपत्यका, (ग) मालिनी दासगुप्त के मत से बग देश। कहा गया है कि उड्डीयान के राजा इन्द्रभूति ने जाहोर की राजकन्या से विवाह किया था और लकापुरी के राजकुमार ने उड्डीयान की राजकुमारी लक्ष्मीकरा से विवाह किया था। इसलिए भट्टाचार्य महाशय का अनुमान है कि उड्डीयान, जाहोर और लकापुरी तीनो एक ही अचल मे होगे। कामाख्या और कामरूप आज भी जादू-विद्या के लिए प्रसिद्ध हैं। इसलिए भट्टाचार्य महाशय के पिता शास्त्री महोदय ने तत्रसार ग्रन्थ के पीठ स्थान के नाम का उल्लेख करके उड्डीयान को उडीशा कहा है। किन्तु तत्रसार का उड्डीयश नाम उडीसा के लिए है एव उड्डीयान का पृथक् भाव से उल्लेख होने के कारण उड्डीयान उडीशा मे नही हो सकता। प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि उड्डीयान उत्तर-पश्चिमी सीमा की सौवाट उपत्यका मे मान लिया जाय तो जाहोर और लकापुरी कहाँ हैं? उड्डीयान के कर्मचारी लुइपा ने बगला मे पदरचना किस प्रकार की? बागची महाशय ने बताया है कि उड्डीयान के राजा इन्द्रभूति ने जाहोर और वहाँ पर अवस्थित लकापुरी नामक समाधि का दर्शन किया था। उनके अनुसार जाहोर काश्मीर और नेपाल की सीमा पर है।[१०]

९ स्टडीज इन दि तंत्राज—भाग १, वही—'काडियार'—कैटलग, पृष्ठ ३३ के सन्दर्भ द्रष्टव्य।

१० नाथ-संप्रदायेर इतिहास-दर्शन ओ साधनाप्रणाली,— डा० कल्याणी मल्लिक, पृष्ठ ११३—११४— स्ट० इन दि तं०—पृष्ठ ३९; कदली राज्य—पृष्ठ १०; ना० सं० इ० द० सा० प्र०—पृष्ठ ११४; साधनमाला, द्वितीय भाग, भूमिका, कदलीराज्य, पृष्ठ ११।

भट्टाचार्य महाशय ने साधनमाला की भूमिका में ढाका के साभार ग्राम को स्पष्टतया जाहोर माना है और स्वयं ही यह भी कहा है कि आसाम में लंका होने पर उड्डीयान उसीके समीप होगा। अध्यापक नाथमहाशय ने जैक का उल्लेख करते हुए आसाम की लंका को लंका स्थिर किया है और उसीके निकट जाहोर को स्थिर बनाया है। लंका के निकट होजाइ अंचल ही उनके मत से उड्डीयान है। दासगुप्त महाशय ने अनेक युक्तियों द्वारा उड्डीयान को बंगदेश में स्थिर करने का प्रयास किया है।

किन्तु लुइपा का जन्म बंगदेश में हुआ था और उनका प्रथम स्थान उडीशा में था। यही विवाद प्रचलित है। उनका जन्म उडीशा में हुआ था यह तथ्य नाथमहाशय ने चौरासी सिद्धों के इतिहास से उद्धृत किया है। अतएव उड्डीयान की स्थिति बंगदेश में थी, इस विचार में कोई सार्थकता नहीं है। सिद्धों के जन्मस्थान के सम्बन्ध में जो किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं, उनका कोई विशेष मूल्य नहीं। कारण यह है कि जिस समय जिस देश में जिस सिद्ध व्यक्ति ने प्रतिष्ठा प्राप्त की, उनके जन्मस्थान के सम्बन्ध में भी उसी स्थान का निर्देश करने की चेष्टा की गयी है। ऐसा सर्वत्र देखने में आता है। बुद्धदेव मगध और कोशल के बाहर कभी भी किसी भी जगह नहीं गये। परन्तु परवर्ती बौद्ध-साहित्य में उनके बंगाल में भ्रमण करने की बात पायी जाती है। लुइपा का जन्म बंगदेश में हुआ था तथा उड्डीयान में कर्मचारी थे। इस अवस्था में बंगला में पदरचना करना कोई असंभव बात नहीं, आदि। उपर्युक्त वितण्डावाद से केवल एक ही बात समझ में आती है और वह यह है कि विजयी जाति द्वारा अपने जीवन के मान-प्रतिमान और साधनों का विजित जाति पर आरोप और विजित जाति द्वारा उनके अधानुकरण द्वारा अपनी ही संस्कृति और इतिहास का बर्बरीकरण होता है।

धार्मिक तत्त्वों का प्रतिपादन करने के लिए उपर्युक्त आधार अपर्याप्त है और साथ ही तथ्यहीन भी। आदिकाल से भारतवर्ष एक धर्मनिष्ठ देश रहा है। धर्म का अपना एक इतिहास है, अपनी एक परम्परा है, अपना एक विश्वास है, उसके साथ-साथ धर्म का नाम लेने पर जनसाधारण के मन में जो भाव उत्पन्न होते हैं, वे भी अपना एक स्वतंत्र स्थान रखते हैं और उनके अपनी ही तरह के मान-प्रतिमान भी स्थित हैं। शुष्क भौतिक इतिहास को आधार मानकर किसी भी धर्म के किसी पक्ष पर विचार सर्वथा असंभव है।

पीठ तत्त्व

पीठों का जहाँ तक सम्बन्ध है, ये धर्म-विशेष की विशिष्ट सम्पत्ति हैं। पीठ कब, कैसे और क्यों पैदा हुए, ये किस सम्प्रदाय-विशेष की सम्पत्ति हैं, साधनात्मक भूमिका में इनका क्या स्वरूप या उपादेयता है किस पीठ-विशेष पर किस प्रकार की साधना करनी चाहिए तथा तत्तत् पीठों पर किस प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, या यों कहिये इसके सिद्ध या सिद्धि-तत्त्व क्या हैं, तथा किस-किस पीठ से किन सिद्धों और सम्प्रदायों का सम्बन्ध रहा है—आदि प्रश्न ही वस्तुतः विचारणीय हैं। पीठों को नाथ, तांत्रिक बौद्ध और शाक्त नामक तीन सम्प्रदायों द्वारा मान्यता प्राप्त है। पीठों का विचार इन्हीं दो पक्षों से किया गया है। किन्तु इन्हें छोड़, उपर्युक्त प्रकार का विचार करने से अनेक प्रकार की असंगतियाँ उत्पन्न होती हैं।

यह स्पष्ट है कि पीठ शक्ति-अंग संभूत हैं। अतः ये शक्ति-सम्प्रदाय की विशेष धरोहर हैं। आधुनिक इतिहासकारों ने तथा बौद्ध एवं नाथ-साहित्य के अध्येताओं ने बिना किसी हिचकिचाहट के कामाख्या, जालंधर और पूर्णगिरि को स्वीकार कर लिया है, जबकि वहाँ पर बौद्धों या नाथों का कोई भी अस्तित्व दिखलाई नहीं पड़ता। ठीक इसके विपरीत, तथ्य यह है कि आदिकाल से लेकर

शाक्त-सम्प्रदाय का इन पर अधिकार रहा है और जो आज भी विद्यमान है। इसके प्रमाण के लिए इनके पास पर्याप्त सामग्री है और पर्याप्त साहित्य भी। इतना ही नही, नाथो और बौद्धो के भी ग्रन्थ स्वत इसके लिए प्रमाण हैं कि इन लोगों ने सहसा पीठो को स्वीकार नही किया। इन्हे क्रमश स्वीकार करने का एक इतिहास है जिसे स्वय इन्ही के ग्रन्थ स्वत बतलाते हैं।

नाथो के सिद्धसिद्धान्तसग्रह नामक ग्रन्थ मे कामाख्या और उड्डीयान नामक दो ही पीठो को स्वीकार किया गया है, जिनमे उड्डीयान को सिद्धिप्रद स्थान माना गया है। कौलज्ञाननिर्णय मे उपपीठो के साथ कामाख्या, ओडियान तथा पूर्णगिरि नामक तीन पीठो को स्वीकार किया गया है।[११] इसमे जालन्धर पीठ का उल्लेख नही है। अर्बुद को अर्धपीठ के रूप मे स्वीकार किया है। इस तरह मत्स्येन्द्रनाथ ने साढे तीन पीठ माने हैं और उड्डीयान को, सिद्ध पीठ होने के नाते, महापीठ कहा है। योगशिखोपनिषद्-काल मे नाथ लोग चारो पीठो को पूर्ण रूप से मानने लगे। इस विकास की पुष्टि चाहे इतिहास मे न हो, पर यह तथ्य पारम्परिक मान्यताओ के क्रम को तो उद्घाटित करता ही है।

इसी प्रकार बौद्धो ने भी साधनमाला नामक ग्रन्थ मे कामाख्या, सिरिहट्ट, पूर्णगिरि और उड्डीयान नामक चार पीठो को स्वीकार किया है।[१२] इसमे जालन्धर पीठ की जगह सिरिहट्ट है। हेवज्रतन्त्र मे कामाख्या, पूर्णगिरि, उड्डीयान, जालन्धर और अर्बुद नामक पाँच पीठो के साथ-साथ मालव और सिन्धुनगर नामक दो उपपीठ भी माने गये हैं। इसमे अर्बुद को विकल्प रूप से स्वीकार किया गया है और सिरिहट्ट की जगह जालन्धर को माना है। क्षेत्र-उपक्षेत्र आदि की भी इसमे नयी कल्पना है। बौद्ध गान ओ दोहा मे २४ पीठ माने गये हैं।[१३] इस प्रकार पीठ, उपपीठ महापीठ, क्षेत्र-उपक्षेत्र आदि की क्रमबद्ध शृखला को देखते हुए यह जोर देकर कहा जा सकता है कि बौद्धो ने भी बहुत सोच-समझ कर धीरे-धीरे पीठ-तत्त्व को स्वीकार किया है। पाश्चात्य विद्वानो ने जिन-जिन स्थानो की ओर सकेत किया है, हो सकता है, वे स्थान उपपीठ, क्षेत्र आदि मे से कुछ रहे हो, परन्तु मूल पीठ नही। हाँ, जिस पीठविशेष मे पीठ-क्षेत्र, उपक्षेत्र, उपपीठादि को सबद्ध किया गया होगा वहाँ पर तत्तत् पीठ के साधनात्मक परिवेश का पाया जाना सभव है, पर पाँच लाख कस्बोवाले किसी राज्य का विवरण पुराण, इतिहास या किसी सम्प्रदायविशेष के इतिहास मे न पाये जाने से इतिहासज्ञो की बात गले के नीचे नही उतरती।

शाक्त-सम्प्रदाय और उड्डीयान पीठ

उत्कलेनाभिदेशस्तु विरजा क्षेत्रमुच्यते।
विमला सा महादेवी जगन्नाथस्तु भैरव ॥[१४]

[११] कौलज्ञाननिर्णय पृष्ठ २४, पटल ८—"प्रथमं पीठमुत्पन्नं कामाख्यानाम सुव्रते। उपपीठस्थिते सप्तदेवीनां सिद्धिआलयम् ॥ पुनः पीठद्वितीयं तु सज्ञा पूर्णगिरि प्रिये। ओडियान महापीठ उपपीठसमन्वितम् ॥ अर्बुदस्त्वर्द्धपीठन्तु उपपीठसमन्वितम् ॥"

[१२] साधनमाला पृष्ठ ४५३-४५४—ऐन इन्ट्रोडक्शन टू बुद्धिष्ट एसोटेरिज्म-पृष्ठ ४३।

[१३] बौद्ध गान ओ दोहा—चर्या० २, सं० टी०।

[१४] तंत्रचूडामणि।

शाक्त-सम्प्रदाय जगन्नाथ मंदिर (पुरी) मे, जहाँ गुप्तगृह मे विमला भैरवीचक्र बताया जाता है, उस स्थल-विशेष को ही उड्डीयान पीठ मानता है। यहाँ, उत्कल मे, विरजाक्षेत्र मे, भगवती की नाभि गिरी थी। इसकी अधिष्ठात्री देवता विमला देवी और जगन्नाथ भैरव हैं। जगन्नाथ भैरव का सम्बन्ध ऊपर रखी हुई काष्ठमूर्तियो से नही है। ऊपर भी कुछ कालपूर्व काले पत्थर की भैरव की मूर्ति तब तक विद्यमान थी, जब तक मंदिर पर पुरी के शकराचार्य का आधिपत्य रहा। बाद मे वह मूर्ति हटा दी गयी। परन्तु आज भी पुरी के जगन्नाथ मंदिर मे बाह्याचार मे भैरवी-चक्र का परिनेश पाया जाता है, उच्छिष्टोच्छिष्ट का विवक वहाँ नही है। जिस पीठ को लेकर बौद्ध तथा नाथ-साहित्य के अध्येताओ ने ऊहापोह किया है, वह उड्डीयान पीठ न होकर महा उड्डीयान पीठ था। बीच-बीच मे इन लोगो ने उसे महापीठ कहा भी है। वर्तमान मे एक ऐसा स्थान मिला है जिस पर विचार करने से उपर्युक्त सभी समस्याएँ हल हो जाती हैं।

पंचसागरतीर्थ

यह स्थान मयूरभज स्टेट (उडीसा) मे है। यहाँ तक पहुँचने के लिए हावडा से पुरी एक्स-प्रेस या मद्रास मेल से रूपसाया बालेश्वर मे गाडी बदलकर ब्राच लाइन से बारिपदा उतरना पडता है। यहाँ से वृन्दागढी जाने के लिए उदला बस सर्विस की बसे मिलती हैं। वृन्दागढी से १८ मील दूर घोर जगल मे यह परम पुनीत स्थान है जिसे 'पचसागरतीर्थ' कहते हैं। यहाँ पर देवकुण्ड, देवी-कुण्ड, हरिद्राकुण्ड, तैलकुण्ड और भूदारकुण्ड नामक पाँच अति प्राचीन सरोवर हैं। इन्हे रत्नाकर या सागर भी कहते हैं। इसीलिए यह स्थान 'पचसागरतीर्थ' के नाम से शास्त्रो म प्रसिद्ध है। इन कुण्डो की अधिष्ठात्री देवताएँ इस प्रकार हैं—

सागर-नाम	अधिष्ठात्री देवता	पीठेश्वरी
१. देवकुण्ड	त्रिपुरा रत्नेश्वरी	त्रिदशाम्बिका
२. हरिद्राकुण्ड (हस्तिपीठ)	मातगी रत्नेश्वरी	गौरीश्वरी
३ तैलकुण्ड	भुवनेश्वरी	त्रिपादमुद्रा
४ देवीकुण्ड	सिद्धलक्ष्मी	अम्बिका देवी
५ भूदार कुण्ड	वार्ताली रत्नेश्वरी	वाराही देवी

पाँच स्थानो मे से दो स्थान ऐसे हैं जिनकी गणना इक्यावन पीठो के अन्तर्गत की गयी है।

अम्बिका पीठ या महाउड्डीयान पीठ

विराट् देशमध्ये तु पादांगुलिनिपातनम्।
भैरवश्चामृताख्यश्च देवी तत्राम्बिका स्मृता ॥
अधो दतो महारुद्रो वाराही पचसागरे ॥[१५]

देवीकुण्ड के ऊपर एक विशाल कृष्ण शिला के मध्य भाग मे वाम पाद की पाँचो अँगुलियो के चिह्न हैं और इस चिह्न के ठीक पीछे शिव-शक्ति का प्रतीकात्मक (योनिलिङ्ग) सामरस्य महायत्र है। यही अम्बिका का रहस्यात्मक स्वरूप है। यत्रस्थ (योनि) लिंग का नाम ही अमृताख्य भैरव

[१५] तंत्रचूडामणि।

है। इसे दक्षिणामूर्ति भैरव भी कहते हैं। इस लिंग से अहर्निश बूंद-बूंद पारद गिरता रहता है। योनि अम्बिका देवी का रहस्यात्मक प्रतीक है। अम्बिका को तंत्रों में पराम्बिका, उड्डीयाना, कुरुकुल्ला ओड्डेश्वरी शिवा, त्रिपुरसुन्दरी, वज्रप्रस्तारिणी आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। इस सामरस्य पीठ के सामने लिंगयुक्त योनि-यंत्र है। इस महायोनितंत्र के चारों तरफ एक सौ पैंतीस योनियाँ चिह्नित हैं और भगमालिनी के मंत्र में भी १३५ अक्षर हैं। अतः इसे भगमालिनी यंत्र कहा जाता है। इस कुण्ड की सिद्धलक्ष्मी अधिष्ठात्री और पीठेश्वरी अम्बिका देवी हैं।[१९] अम्बिका पीठ के उड्डीयान पीठ के नाम से प्रसिद्ध होने का इतिहास गौरीतंत्र में इस प्रकार है--

विराटानाम्मण्डलोऽस्ति उड्डीयानास्पदे भुवि।
पीठानां परमे पीठे महोड्डीयानसंज्ञके॥

वसु नाम के राजा को इन्द्र से एक स्फटिक-विमान मिला था जिससे वह प्रतिदिन आकाश-मार्ग में भ्रमण किया करता था। इसी कारण इस राजा का दूसरा नाम उपरिचर भी था। राजा उपरिचर अम्बिका देवी के परम भक्त थे। अम्बिका देवी की कृपा से इन्होंने बहुत-सी सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। राजा उपरिचर प्रत्यह स्फटिक-विमान पर आरूढ होकर शून्यमार्ग से देवकुण्डस्थित महापीठ में अम्बिका महादेवी का अर्चन-पूजन करने के लिए जाते थे। कालक्रम से यही विमान राजा उपरिचर के पुत्र मत्स्यराज विराट को प्राप्त हुआ। वे भी प्रत्यह शून्यमार्ग से सपरिवार यमुनाकच्छ से अम्बिका महादेवी का अर्चन-पूजन करने के लिए आया करते थे। विराटों के यातायात के कारण, क्रमशः, यह स्थान विराटों के मण्डल के अन्तर्गत माना गया। विराटों ने यहाँ पर गाँव, नगर, भवन, मंदिर, दुर्ग आदि का भी निर्माण करवाया। मत्स्य-राज विराट प्रत्यह स्फटिक-विमान पर आरूढ होकर शून्यमार्ग से उड़कर शून्यवाहिनी अम्बिका का पूजन करने सपरिवार आया करते थे। अतः यह स्थान उड्डीयान (पीठ) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विराटों की पुरानी राजधानी जयपुर (राजस्थान) से ४१ मील उत्तर में स्थित वैराट ग्राम में भी मानी जाती है। यहाँ पर विराट नगर के प्राचीन खण्डहर और पाण्डव गुफाएँ हैं तथा अम्बिका देवी का मंदिर भी है। इस स्थान के बारे में भी यही प्रसिद्धि है कि सती के वामपाद की अंगुलियाँ यहाँ गिरी थीं। पर इसका कोई शास्त्रीय प्रमाण प्राप्त नहीं है।

इस प्रकार शाक्त तंत्रों के अध्ययन से स्पष्ट है कि उड्डीयान प्रदेश स्थित 'अम्बिका-पीठ', जिसे 'महाउड्डीयान' कहा गया है, मध्ययुग में सम्प्राप्त सभी तांत्रिक सम्प्रदायों का मूलस्थान रहा है। यही स्थान उड्डीयान नाम से प्रसिद्ध था। इस पीठ के दो प्रधान तत्त्व हैं। प्रथम और सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है--शिव-शक्ति का मिथुन पिण्ड, जिसे सामरस्य, समरस या सपरिष्वक्त रूप कहा जाता है। यही बौद्धों के यहाँ युगनद्ध, सहजतत्त्व या महासुख के नाम से अभिहित किया जाता है। दूसरा है अमृताख्य भैरव, जिसे रस (पारद) लिंग कहा जाता है। मध्ययुग के कापालिक सम्प्रदायों, वज्रयान तथा इनसे प्रादुर्भूत होनेवाले सभी तांत्रिक धर्मों के सम्बन्ध में दो ही बातें मुख्य मानी जाती हैं। एक तो यह कि सभी रसवादी थे और दूसरी यह कि सभी सम्प्रदाय अपनी-अपनी मूल साधना के रूप में सहज तत्त्व को स्वीकार कर चुके थे। नाथ-सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ ने भी दिव्य-वीर-क्रम के भेद से कुलजा और सहज। कुण्डलिनी के रूप में सहज तत्त्व को स्वीकार

[१९] 'आर्यदर्पण'--बंगला मासिक पत्रिका, वर्ष ४६, अंक १, 'पंचसागर तीर्थ' शीर्षक लेख, लेखक-- महाराजकुमार पी. सी. भंजदेव।

किया है[१७] और सिद्धमार्ग को सिद्धामृत मार्ग कहा है[१८] जो स्पष्टतया अमृताख्य भैरव को अपने मूल देवता के रूप मे स्वीकृत करने का प्रतीक है, क्योंकि महस्रार का अमृत नही सिद्ध किया जाता। वह तो स्वयसिद्ध है। इस अवस्था मे इस बात को स्वीकार किये बिना और कोई उपाय समझ मे नही आता कि अमृताख्य भैरव ही नाथ-सम्प्रदाय के आराध्य देवता और पराम्बिका मूल देवी थी। रसेश्वर-सप्रदाय के गठन के बारे मे भी यही प्रसिद्धि है कि नाथ-सप्रदाय के ही गोरक्षनाथ आदि प्रमुख व्यक्तियो ने अपने योगबल से रसेश्वर-सप्रदाय की स्थापना की थी।[१९] रसलिग, जिन्हे अमृताख्य भैरव कहा जाता है, रसेश्वर-सप्रदाय के मूल देवता है।[२०] नाथ-सप्रदाय[२१] और स्वय मत्स्येन्द्रनाथ की उत्पत्ति[२२] पराम्बा (ललिता) के पादागुष्ठ से तथा भगवती के दक्षागुष्ठ से मानी जाती है। इसके और भी बहुत से प्रमाण मिलते है।

सहजयान का मूल सहज तत्व ही है। सहजयान की प्रवर्तक इन्द्रभूति की बहिन लक्ष्मीकरा थी और इन्द्रभूति उनके सहायक थे। सहजयान के मूल प्रवर्तक होने के नाते सिद्धसाहित्य मे इन्हे उड्डीयान प्रदेश का राजा माना गया है। लुइपा और मत्स्येन्द्रनाथ के सम्बन्ध का बौद्ध तात्रिक सप्रदायवादियो ने अपने ढग से चित्रित किया है। इसका ऐतिहासिक दृष्टि से कोई मूल्य नही। प्राय. सभी तथ्य चौरासी सिद्धो के इतिहास, अन्यान्य सिद्धो के जीवनचरित से, विशेषकर तिब्बती सूत्रो से सप्राप्त सूचनाओ के आधार पर सगृहीत कर शोध-साहित्य मे उपस्थित किये गये है। तिब्बती सूत्रो का जहाँ तक सम्बन्ध है, वे विशेष विश्वासयोग्य नही है। केवल बौद्ध दृष्टिकोण से सिद्धो पर शोधप्रबन्ध लिखनेवाले डा० धर्मवीर भारती ने अपने सिद्ध-साहित्य नामक शोधग्रन्थ मे तिब्बती साहित्य मे पाये जानेवाले ऐतिहासिक तथ्यो की परीक्षा करके बतलाया है कि ऐतिहासिक दृष्टि से तिब्बती साहित्य मे सप्राप्त ऐतिहासिक सूचनाए विश्वसनीय नही है।[२३] इस बात को डा० भारती ने अपने ग्रन्थ मे कई बार दोहराया है। जो भी हो, इन्द्रभूति राजा रहे हो या नही, हमे सप्रदाय के स्वपक्षस्थापन के अर्थ मे ही इन्हे ग्रहण करना चाहिए। इन्द्रभूति का इस स्थान पर आधिपत्य था, सभवत इसी अर्थ मे राजा शब्द का प्रयोग धर्म-ग्रन्थो मे किया गया है। जैसा भी हो, सप्रदाय या सिद्ध-साहित्य की दृष्टि से इस बात को मानने मे कोई आपत्ति नही कि अम्बिका पीठ का, जो उड्डीयान प्रदेश के अन्तर्गत माना जाता है तथा जिसकी मूल साधना सहजप्रधान ही रही है, एक समय राजा इन्द्रभूति ही था। योगिनीहृदय मे उड्डीयान पीठ के नाथ को कलियुग का नाथ कहा है।[२४] मध्ययुग के सिद्ध-साधना-साहित्य को तथा इस पीठ के तत्कालीन वैभव को देखने से प्रतीत होता है कि शक्ति-सप्रदाय भी इसी अम्बिका पीठ को उड्डीयान पीठ के रूप मे मानता था

---

[१७] **कौलज्ञाननिर्णय—पृष्ठ २२ और ५४।**

[१८] **वही पृष्ठ ६१।**

[१९] **नाथ-सप्रदाय—पृष्ठ १७४।**

[२०] **मातृकाभेदतत्र रसरत्नसमुच्चय—अध्याय ६, पृष्ठ ६२।**

[२१] **कौलज्ञाननिर्णय—पृष्ठ १, श्लोक १।**

[२२] **ललितासहस्रनाम भाष्य—पृष्ठ ४६।**

[२३] **सिद्धसाहित्य—पृष्ठ ३१०।**

[२४] **योगिनी हृदय का उद्धरण 'कल्याण' के 'शक्तिअंक' में गोपीनाथ कविराज के लेख से उद्धृत।**

और नाथ-सम्प्रदाय भी इसी पीठ को उड्डीयान पीठ मानता था। आज भी उड़ीसा का यह मयूरभंज प्रदेश नाथों का गढ़ है और वहाँ मत्स्येन्द्रनाथ की पूजा होती है।

कापालिक मत और वज्रयान का आदिस्थान वाराही पीठ

"अधोदन्तो महारुद्रो वाराही पचमागरे।"

अम्बिका पीठ के दो कुण्डों के बाद ही भूदार कुण्ड या भूडार सागर है। यहाँ पर भगवती की दन्तपंक्ति गिरी है। इस रत्नाकर की अधिष्ठात्री शक्ति वार्ताली रत्नेश्वरी एवं पीठेश्वरी वाराही देवी है। इसे स्वप्नवाराही, वज्रवाराही तथा भूदारचण्डी भी कहते हैं। इसका भैरव महारुद्र है। इसके एक ही शिवलिंग में सौ लिंग बने हुए हैं। अतः इसे शतरुद्र भी कहते हैं। इसी के पास जगदम्बा की त्रिपादमुद्रा तथा नूपुरों के चिह्न भी शिला पर विद्यमान हैं। शिवलिंग के दक्षिण में बगलादेवी का योनिपीठ भी है। इस तरह वाराही पीठ के दन्तपंक्ति, वाराही, शतरुद्र भैरव, त्रिपादमुद्रा, नूपुर आदि महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं। इसका रहस्यमय पीठत्व भगवती की दन्तपंक्ति है। इस स्वयंभू तत्त्व का अर्चन-पूजन करके साधक उस पराम्बा भगवती की कृपादृष्टि प्राप्त कर लेता है। ऐसी वस्तुओं को धारण करना, उनका पूजन करना ही यहाँ का समयाचार है।

वराह शब्द का अर्थ एक कल्प परिमित काल है। वर शब्द का अर्थ श्रेष्ठ अर्थात् आत्मा है। उसे जो आहत या आवृत्त करे उसीका नाम वराह है। कालसत्ता ही सर्वप्रथम आत्मा को आवृत करती है। इसी कारण से कालशक्ति का नाम ही वाराही है। यही पृथ्वी को पाताल से दाँतों द्वारा निकालती है। उस अधिष्ठान चैतन्य के आधार पर जो आधारशक्ति निर्भर है, वही वाराही शक्ति है। इसका कोई वाहन नहीं, क्योंकि वह किसी आधार पर प्रकाशित नहीं होती।[२५]

तन्त्रों में वाराही, दण्डिनी, वाराही मातृका, स्वप्नवाराही, वाराहीयोगिनी, लघुवाराही आदि बहुत से रूप प्राप्त होते हैं। अद्यावधि वाराही के जितने भी रूप प्रकाश में आये हैं, यह उन सबसे भिन्न है। इस वाराही की विशेषता यह है कि इसने अपने दाँतों पर पृथ्वी के स्थान पर पराम्बिका को धारण कर रखा है। इससे यह आभास होता है कि यह पराम्बिका अर्थात् अम्बिका पीठ की धर्मसत्ता को नियंत्रित कर अपनी सत्ता, धर्म या स्वभाव द्वारा आवृत्त किये हुए है। इसके प्रमाण में कहा जा सकता है कि त्रिपादमुद्रा[२६] (गुरुचरणलय) अर्थात् गुरुतत्त्व इसी पीठ पर विद्यमान है, अम्बिका पीठ पर नहीं। इससे एक बात यह भी[२७] समझ में आती है कि यह किसी सम्प्रदाय-विशेष का मूलस्थान अवश्य रहा है।

वज्रयान और वाराही

बौद्धों में वज्रयान के परमोच्च देवता हेरुक उपाय है।[२८] उनकी शक्ति वाराही प्रज्ञा है। प्रज्ञा या वाराही ज्ञान है और उपाय या हेरुक ज्ञेय है। इन दोनों से अवधूतीमण्डल का निर्माण

[२५] 'कल्याण', शक्ति अंक', पृष्ठ ५६७।

[२६] योगिनीहृदय—पृष्ठ १४८, ५८–५९।

[२७] वही—पृष्ठ २५२—'संप्रदायो....गुरुमुखे स्थितः'।

[२८] तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य—पृष्ठ १३९।

होता है। अद्वयवज्रसंग्रह में प्रज्ञा को शक्ति और उपाय को वज्र कहा गया है। साधनमालातंत्र[२९] में हेरुक के ध्यान में कहा गया है कि वे अपने कानों में तथा दोनों हाथों में नरास्थि की माला धारण किये हुए हैं तथा शाक्ततंत्र में प्राप्त वाराही के शिव (शतरुद्र) के ध्यान में शिव को गले में मुण्डों की माला तथा हाथों में धनुष और वज्र धारण किये हुए बताया गया है। इस तरह बौद्धों की वाराही या वज्रवाराही ब्राह्मणों की वाराही या दण्डिनी से प्रायः मिलती-जुलती है। शाक्तों की वाराही के महारुद्र भैरव एवं बौद्धों की वाराही के हेरुक भैरव, जिनकी तुलना शिव से की गयी है, दोनों ही, अस्थियों के आभूषण और मुण्डमाला धारण करनेवाले हैं। उपर्युक्त सभी बातों को विद्वानों ने स्वाभाविक रूप से स्वीकार किया है तथा अनुसंधान करनेवाले विद्वानों का मत है कि वज्रयान ने दो महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं।[३०] प्रथम गुरुतत्त्व की महती प्रतिष्ठा और दूसरा अपने सभी देवी-देवताओं को तथा पूजन की सामग्रियों को अर्थात् साधना में प्रयुक्त होनेवाले सभी उपकरणों को वज्रांकित करना। अर्थात् वज्रयान का साधनात्मक और धार्मिक प्रतीक वज्र है। गुरुतत्त्व और वज्र इस पीठ की प्रधान धरोहर है। अतः विशेष प्रमाण जुटाने की जरूरत नहीं। इन आधारों पर यह स्पष्ट है कि बौद्धों का इस देवता से तथा पीठ से सम्बन्ध रहा है और बौद्धों की कल्पना का मूल आधार भी यही रहा है।

नाथ-संप्रदाय (कापालिक मत) और वाराही पीठ

मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने कौलज्ञाननिर्णय[३१] नामक ग्रन्थ में कौलों का जो विभाजन किया है, उसमें कण्ठकूपोद्भव कौल को पादोत्थ कौल कहा है। कण्ठकूप में विशुद्धाख्य चक्र माना जाता है। यहाँ पर प्राणों का निरोध करनेवाली मुद्रा का नाम जालन्धरबन्ध या मुद्रा है। नाथ-सम्प्रदाय के योगविषयक ग्रन्थों में इस बात का भी उल्लेख पाया जाता है कि जालन्धरनाथ जालन्धरबन्ध के पण्डित थे और इन्हीं के नाम पर इस बन्ध का नाम जालन्धरबन्ध पड़ा।[३२] उड्डीयान और जालन्धरबन्ध का सम्बन्ध जालन्धरनाथ से परम्परा के अनुसार भी माना जाता है। स्मरण रखना चाहिए कि उड्डीयानबन्ध के बाद ही जालन्धरबन्ध लगाया जाता है। गुरुचरण में प्राप्त शिक्षा-दीक्षा पर चलनेवाले या आरूढ़ रहनेवाले को पादोत्थ कौल कहा जाता है। ये सभी लोग कापालिक थे, यह सर्वमान्य मत है।[३३] मत्स्येन्द्रनाथ ने गुरु के द्वारा प्राप्त मार्ग छोड़ दिया था, परन्तु जालन्धरनाथ उस पर आरूढ़ रहे। मत्स्येन्द्रनाथ ने पादोत्थ कौल पर कण्ठकूपोद्भव कौल की व्याख्या करते हुए जिन विशेषताओं का वर्णन किया है और विशुद्धाख्यचक्र की जो व्याख्या प्राप्त होती है,[३४] उन दोनों में, अद्भुत साम्य है। ऐसा मालूम होता है, मानो एक दूसरे ने एक ही वस्तु को छन्दभेद में लिखा हो।

विशुद्धाख्यचक्र की शाकिनीदेवी भी वाराही की ही तरह शून्यवाहिनी है, अस्थि पर विराजमान है और वाराही भी दंताधिष्ठात्री देवता है। इस तरह दार्शनिक और साधनात्मक आधार दोनों

[२९] नाथ-सम्प्रदाय—पृष्ठ ८३।

[३०] तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य पृष्ठ १३६।

[३१] कौलज्ञाननिर्णय—पृष्ठ ४६, ४८, ४९।

[३२] नाथ-संप्रदाय—पृष्ठ ७८।

[३३] प्राचीन बंगला ओ बंगाली—पृष्ठ ३२ तथा नाथसंप्रदाय—पृष्ठ ६।

[३४] कौलावलीनिर्णय—उद्धरण, पृष्ठ १३९।

के एक ही हैं। स्पष्ट है कि विशुद्धाख्यचक्र की शाकिनी देवी और वाराही अस्थ्यधिष्ठात्री देवता हैं। महारुद्र शिव और हेरुक भी अस्थ्याभरण धारण करनेवाले देवता हैं। इस अवस्था में "देवो भूत्वा देव यजेत्" के आधार पर कापालिकों तथा वज्रयानियों के समयाचार और परिधान आदि के साम्य देखकर कहा जा सकता है कि इन लोगों के आराध्य देवता वाराही और महारुद्र या शतरुद्र भैरव थे। इस स्थान से विपादमुद्रा अर्थात् गुरुतत्त्व का जड़ित होना यह सूचित करता है कि कापालिकों का तथा परिवर्तित अर्थ में नाथ-सम्प्रदाय का एवं वज्रयान का मूल स्थान यही था। वज्रयान के मूल प्रवर्तक भी कापालिक थे। जालन्धरनाथ ही वाराही पीठ के महान् उपासक थे, इस तत्व के उद्भट और निर्भीक उद्गाता थे तथा तत्कालीन कापालिक या औघड-सम्प्रदाय के आचार्य थे। जनसाधारण की भाषा में इन्हें वाराही पीठाधीश्वर महन्त या मालिक कहा जा सकता है। या यों कहना चाहिए कि वाराही पीठ में जालन्धरनाथ का एकछत्र राज्य था। तान्त्रिक बौद्ध साहित्य, नाथ-साहित्य और शाक्त-तन्त्रों के पर्यवेक्षण से इतना स्पष्ट है कि वज्रयान और कापालिक सम्प्रदाय का मूल स्थान वाराही पीठ ही था जिस पर जालन्धरनाथ (जालेन्द्र) शासन करते थे। सहजयान, कौल-सम्प्रदाय तथा रसेश्वर-सम्प्रदाय का मूल स्थान अम्बिका पीठ या उड्डीयान पीठ था जिस पर इन्द्रभूति और मत्स्येन्द्रनाथ का आधिपत्य था। यहाँ के मूल उत्तराधिकारी मत्स्येन्द्रनाथ ही थे पर बौद्ध-सम्प्रदाय-वादियों ने इन्हें कर्मचारी के रूप में चित्रित किया है, जबकि वे आज भी तिब्बत में अवलोकितेश्वर के रूप में पूजे जाते हैं। पर लंका नामक स्थान की मूल समस्या अभी भी रह गयी। इसके सम्बन्ध में शाक्त तन्त्र-ग्रन्थों की मान्यता इस प्रकार है।

लंका

लंकायां नूपुरं चैव भैरवो राक्षसेश्वरः। इन्द्राक्षी देवता तत्र इन्द्रेणोपासिता पुरा॥
उड्डीशाख्यं महातन्त्रं सिद्धं भवति तत्र तु। नूपुरं पतितो यत्र डामरश्चोपपीठकम्॥[३५]

लंका नामक स्थान में सती का नूपुर गिरा है। इस स्थान की अधिष्ठात्री देवी इन्द्राक्षी और भैरव राक्षसेश्वर हैं। जहाँ पर सती का नूपुर गिरा है, उस स्थान पर उड्डीशाख्य तन्त्र सिद्ध होता है। यह स्थान डामर उपपीठ के नाम से प्रसिद्ध है। उपर्युक्त प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि जहाँ पर सती का नूपुर गिरा है, उस स्थान का नाम लंका है। उड्डीशाख्य तन्त्र का सिद्ध होना भी यही सूचित करता है कि यह स्थान उड़ीशा (उड्डीयान) में ही होना चाहिए और वह भी उड्डीयान प्रदेश के उस महत्त्वपूर्ण बिन्दु पर जो सिद्धियों का मूल आश्रय हो। वज्रयान, सहजयान, कापालिक-सम्प्रदाय तथा नाथ-सम्प्रदाय के ८४ सिद्धों का मूल स्थान वाराही पीठ और अम्बिका पीठ ही रहा है। इस अवस्था में लंका का भी उसी स्थान पर अवस्थित रहना कोई बड़ी बात नहीं।

इन्द्राक्षी देवी का विद्या, उपविद्या या महाविद्या की गणना में न आने से इनका स्वतंत्र ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। आज प्राय दशमहाविद्या का ही सामान्य साहित्य उपलब्ध होता है। वैसे इन्द्राक्षी का अपना माहेन्द्रीतन्त्र या इन्द्राक्षीतंत्र अवश्य है। माहेन्द्रीतन्त्र की गणना प्रधान चतुषष्टि तन्त्रों में बहुरूपाष्टक के अन्तर्गत की जाती है, पर वह तन्त्र भी उपलब्ध नहीं है। वर्तमान में इन्द्राक्षी की सामान्य पूजापद्धति तथा स्तोत्रादि ही उपलब्ध हैं। उन्हीं के आधार पर कुछ विचार किया जा सकता है। इन्द्राणी या ऐन्द्री या माहेन्द्री अष्टमातृकाओं में मानी जाती हैं। इन्द्र द्वारा पूजित होने

[३५] मेरुतंत्र—पृष्ठ २३६।

के कारण इन्द्राक्षी के नाम से प्रसिद्ध हुई। इन्द्राक्षी का इन्द्रकृत अष्टश्लोकी स्तोत्र[२६] प्राप्त होता है। फलश्रुति आदि को लेकर इसमें सपूर्ण चौदह श्लोक हैं। सहस्रनाम, शतनाम, स्तोत्र, हृदय आदि के रूप में जितने भी स्तुत्यात्मक स्तोत्र प्राप्त होते हैं, उनमें अष्टश्लोकी स्तोत्र का बहुत बडा महत्व है, क्योकि उसमे स्तुत्य देवता की विशेषताओं का सारभूत अश ही रहता है। इस स्तोत्र मे इन्द्राक्षी के दिव्य नामो मे से निम्नलिखित नाम महत्त्वपूर्ण हैं—

महिषासुरहन्त्री च चामुण्डागर्भदेवता।
वाराही भीमरूपा च भीमा भैरववाहिनी॥

इन्द्राक्षी चामुण्डागर्भदेवता है। उड्डीयानक्रम मे चामुण्डा शब्द वाराही का पर्यायवाची माना जाता है, क्योकि वाराही को भूदारचण्डी भी कहा जाता है। चण्डी और चामुण्डा शब्द सर्वत्र समान अर्थ मे प्रयुक्त होते हैं। इस तरह स्तोत्र के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन्द्राक्षी की कोई प्रतिमा नही होनी चाहिए और न अभी तक कोई प्रतिमा ही प्राप्त हुई है। 'चामुण्डागर्भदेवता' पद यही बतलाता है कि इन्द्राक्षी वाराही में ही अन्तर्हित देवता है। इसकी पूजा वाराही पीठ पर ही होनी चाहिए। वाराही विशेषण भी इसी बात को पुष्ट करता है कि यह वाराही की ही अशभूता मरीचि है। शतरुद्र शिव की बगल मे ही डामर उपपीठ है। अत इसका भैरव भी यही शिवविशेष है और वाराही का भैरव भी यही है। अत यह भी सभव है कि इसकी पूजा महारुद्र (शतरुद्र) भैरव के शिवलिंग पर ही होती हो, क्योंकि इसे भैरववाहिनी भी कहा गया है। जब तक अन्य साहित्य तथा इन्द्राक्षी की मूर्ति उपलब्ध नही होती तब तक यही मानना चाहिए। स्वयभू तत्व के आगे साकार विग्रह का प्राप्त होना न होना कोई महत्व नही रखता।

ऋग्वेद में शची को ही प्रज्ञा कहा गया है। वेद मे इन्द्र के साथ शक्ति के रूप मे (शची का) ग्यारह बार प्रयोग हुआ है।[३०] बाद मे नारी के रूप मे, सार्वजनिक रूप से इन्द्राणी के रूप मे, स्वीकृत की गयी है। बौद्धो ने इसी परम्परा के अनुरूप इसे ग्रहण किया है।[२८] बौद्धो का वज्र मूल रूप मे इन्द्र का ही वज्र है। एक स्थान पर वज्र को त्रिदन्त कहा गया है और बुद्ध, धर्म और सघ को तीन अस्थियाँ बताया गया है। अपने विरोधियो से रक्षा के लिए यह अमोघ अस्त्र सब तरह से बौद्ध साधको के लिए इतना सर्वाच्छन्नकारी बना कि बौद्धो ने पचध्यानी बुद्धो के अधिष्ठाता परम दैवत के रूप मे वज्रसत्त्व नामक छठे बुद्ध की कल्पना की जो प्रज्ञापारमिता (इन्द्राणी) रूपी शक्ति के पति हैं, जिनका अस्त्र अमोघ वज्र है तथा जो युगनद्ध रूप मे सदैव अपनी शक्ति से समन्वित रहते हैं।[२९] साधनागत भेद से कापालिक बौद्ध वाराही को तथा वज्रयानी लकापीठ को विशेष मानते थे। इस तरह बौद्ध साहित्य तथा तन्त्रशास्त्र के अनुसार इन्द्राक्षी पीठ वही स्थल था, जिसका नाम लकापीठ भी था। इसे ही इतिहासकारो ने लकापुरी कहकर उधृत किया है।

---

[२६] दुर्गार्चनसृति—पृष्ठ ४५३–४५४।
[३०] ऋग्वेद—३.६०.२।
[२८] सिद्धसाहित्य—पृष्ठ १२८ तथा टिप्पणी सख्या ७६, पृष्ठ ४६१।
[२९] वही—पृष्ठ १४२।

शाक्त-तंत्रो के आधार पर यह स्पष्ट है कि उड्डीयान से सटा हुआ लका नामक स्थान यही था और जालेन्द्र भी यही राज्य करते थे। जालेन्द्र जालन्धरनाथ का ही दूसरा नाम है। राज्य का अर्थ आधिपत्य से है। पहले यह सिद्ध किया जा चुका है कि जालन्धरनाथ ही वाराही पीठ के एक-मात्र मालिक (आचार्य) थे। अत जालेन्द्र की लका यही थी और इन्द्रभूति का उड्डीयान प्रदेश भी अम्बिका पीठ नामक स्थान ही था। इस तरह तन्त्रो के आधार पर लका और उड्डीयान का विभाजन साधनागत भेद के रूप मे प्राप्त होता है।

इस सबध मे निम्न महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ ध्यान देने योग्य है।

अत्रोपास्य महादेवी जामदग्न्यो महामुनि।
द्रक्ष्यति प्रयतस्ता वै वत्स्यतीदैव तद्गत ॥
कल्पसूत्र तदादिष्टो रचयन्नत्र सोऽग्रणी ॥

जामदग्न्य परशुराम ने भी यही (अम्बिकापीठ) बैठकर कल्पसूत्रो (परशुरामकल्पसूत्र) की रचना भगवती के आदेश से की थी। हरिद्राऋषि, कापालि मुनि के शिष्यो का तथा कालामुख सप्रदाय का इस स्थान (वाराही पीठ) से विशेष सम्बन्ध रहा है। साम्प्रत मे पुनर्निर्माण काल में मदिर की नीव खोदते समय कुषाणकालीन ताम्रमुद्राएँ भी प्राप्त हुई है जो स्व० महाराजकुमार पी सी भजदेव, नगरपदा (मयूरभज) के निजी सग्रहालय मे सुरक्षित है तथा वर्धमान मे उन्ही के चिरजीव श्री प्रवीणचन्द्र भजदेव, बस्तरनरेश के अधिकार मे है। जीर्णोद्धार के समय द्विभुजा महिष-मर्दिनी की मूर्ति, हेरम्ब तथा क्षेत्रपाल की मूर्ति और कुषाणकालीन अति सुन्दर बटुक भैरव की प्रतिमा भी मिली है, जो पुरातत्त्व की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। नौकारूढा अम्बिका की अष्टधातु की प्रतिमा तथा एक युगनद्ध की भी मूर्ति मिली है। ऐसी मूर्ति अभी तक कही भी नही मिली थी और न किसी मदिर मे प्रतिष्ठित ही है। यह अज्ञात ऐतिहासिक शृखलाओ को जोडने के लिए महत्त्वपूर्ण कडी सिद्ध होगी।

लगभग ६ठी-७वी शताब्दी से लगभग १७वी शताब्दी तक के साम्प्रदायिक, दार्शनिक एव साधनात्मक विकास को देखने से तात्रिक साहित्य एव साधन के व्यापक प्रभाव का स्पष्टीकरण हो जाता है। इस तांत्रिक साहित्य के अध्ययन की प्रथम सीढी सिद्ध-साहित्य है। सिद्ध-साहित्य पर अभी तक जो भी कार्य हुआ है, भारतीय दृष्टि से नही के बराबर है। यह कार्य 'बौद्ध गान ओ दोहा' की सापेक्षता में हुआ है। तात्रिक बौद्धों को मूल मानकर एकांगी मत, जो शोधकार्य किये गये है, वे एकाकी और पूर्वाग्रह से ग्रस्त है। वस्तुत 'बौद्ध गान ओ दोहा' का साहित्य न तो केवल बगला भाषा का साहित्य है, जैसा कि बहुत से विद्वान् सिद्ध कर चुके है और न 'बौद्ध गान ओ दोहा' के रचनाकार ही बंगाली थे। यहाँ तक कि सरहपाद, शबरपाद, भुसुक आदि, जिनके पदो मे "आज भूसु बगाली भइली" आदि वाक्यो में जो बग या बगाली का प्रयोग हुआ है, वे भी बगाली नही थे। 'बौद्ध गान ओ दोहा' के सम्पादक म. म हरप्रसाद शास्त्री महोदय ने अपने मुखबन्ध मे प्रधान सिद्धो को बग-देशीय माना है, तथा अन्यान्य सिद्धो को उनकी परम्परा मे मानकर ८४ सिद्धो को बगसतति सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया है। उसी आधार पर शोधकर्ताओ ने भी तत्कालीन बगदेशीय सस्कृति, सामाजिक मान्यताओ, तत्कालीन सम्प्राप्त राजवशो से सम्बन्ध आदि के आधारो पर मूल तथ्यो के रहस्योद्घाटन का प्रयत्न किया है। वस्तुत मूलाधार के दूषित होने पर तदाधृत सभी विवेचन दूषित होते है।

इस सम्बन्ध मे स्मरण रखना चाहिए कि कान्हू भट्ट ने 'बौद्ध गान ओ दोहा' का सपादन यह प्रतिपादन करने के लिए किया था कि सहजयान ही निर्वाणमार्ग है, यह सरल सुबोध तथा जन-साधारण का सर्वसम्मतधर्म है, इस साधना को प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। इसी बात को प्रतिपादित करने के लिए विभिन्न सिद्धो के वचनो का सग्रह 'चर्याचर्यविनिश्चय' नाम से किया गया है। इस अर्थ में यह जरूरी नही कि पदकर्ता बौद्ध सिद्ध ही हो, किसी ग्रन्थ के भाष्य मे प्रयुक्त ग्रन्थ उस मूल सप्रदाय के ही नही होते, जिस सप्रदाय-विशेष के ग्रन्थ पर भाष्य किया गया है। इस ग्रन्थ का मूल नाम 'चर्याचर्यविनिश्चय' है जिसका सामान्य अर्थ है कि कौन-सा साधन करणीय है और कौन-सा अकरणीय, इसकी मीमासा। इसी अर्थ मे 'बौद्ध गान ओ दोहा' का विनियोग है। पर, इसका विनियोग एकागी रूप मे ही किया गया है, अत सबका सब एक दूसरे के विपरीत हो गया है। अत: बिना इस विनियोग को ध्यान में रखे, सत-परम्परा के बारे मे भी कुछ कहना उचित नही।

(पृष्ठ १०६ का शेषाश)

युवान-च्वाङ् ने चाहे वृद्ध वसुबन्धु का उल्लेख किया हो चाहे कनीयस् वसुबन्धु का, कम से कम 'विक्रमादित्य' का उल्लेख करते समय उसका तात्पर्य कनीयस् वसुबन्धु के सरक्षक से न होकर वृद्ध वसुबन्धु के सरक्षक से था। इस प्रकार फ्राउवाल्नर का यह दावा कि किसी साक्ष्य से भी वृद्ध वसुबन्धु का किसी गुप्त-सम्राट् से सम्बन्ध सकेतित नही है, गलत हो जाता है और वामन के चन्द्रप्रकाश को युवान-च्वाङ् के विक्रमादित्य और समुद्रगुप्त से अभिन्न मानने के लिए पर्याप्त आधार मिल जाता है। वस्तुत: फ्राउवाल्नर ने इस तथ्य को सर्वथा विस्मृत कर दिया है कि वामन के साक्ष्य को परमार्थ के साक्ष्य के विरुद्ध कहकर उसी स्थिति मे अमान्य ठहराया जा सकता है जब हम वामन द्वारा उल्लिखित चन्द्रप्रकाश को नरसिंहगुप्त बालादित्य अथवा पाचवी शती ई० का कोई अन्य गुप्त-सम्राट् माने। चन्द्रप्रकाश और समुद्रगुप्त को एक मानने से इस अस्वीकृति के लिए कोई कारण नही रह जाता और युवान-च्वाङ् के साक्ष्य की भी अधिक तर्कयुक्त मीमासा हो जाती है।[११] हमारा यह सुझाव फ्राउवाल्नर के दो वसुबन्धुओ के अस्तित्व और उनके जीवन-वृत्तान्त विषयक मत के सर्वथा अविरुद्ध ही नही है, वरन् उसे सबलतर-भी करता है, क्योंकि इसके स्वीकार से यह कहना सम्भव हो जाता है कि दोनो वसुबन्धुओं को विक्रमादित्य उपाधिधारी नरेशो का सरक्षण उपलब्ध हुआ था, इसलिए परमार्थ अथवा उसके शिष्यो से उन्हें एक मानने की गलती हो गयी।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि वामन द्वारा उद्धृत श्लोक में 'चन्द्रप्रकाश' शब्द को चन्द्रगुप्त के पुत्र का नाम न मानकर 'तनय:' का विशेषण भी माना जा सकता है (पाठक, आई०, ए०, १९११, पृ० १७०; एलेन (कैटेलॉग', मू० पृष्ठ ५३, पा० टि० ३, दशरथ शर्मा, आई० एच० क्यू०, १०, पृष्ठ ७६०)। उस अवस्था में इसका अर्थ होगा 'यह चन्द्रगुप्त का पुत्र जिसकी शोभा चन्द्रकांति के समान है—'। इस श्लोक और मेहरौली-प्रशस्ति के 'चन्द्राह्वेन समग्रचन्द्रसदृशी वक्त्रश्रियं बिभ्रता' पद की सादृश्यता स्पष्ट है।

वसुबन्धु की तिथि और संरक्षक सम्राट्

श्रीराम गोयल

वसुबन्धु की तिथि

पाँचवीं शती ईसवी विषयक मत--वसुबन्धु का काल-निर्णय भारत के साहित्यिक और दार्शनिक इतिहास की एक गम्भीर समस्या है। यह सर्वसम्मत रूप से स्वीकृत किया जाता है कि वे गुप्तकाल में आविर्भूत हुए, लेकिन चौथी शती ई० में या पाँचवी शती ई० में, यह प्रश्न विवादास्पद है। सर्वश्री नोएल पेरी[1], वी० ए० स्मिथ[2], विनयतोष भट्टाचार्य[3], सतीशचन्द्र विद्याभूषण[4], मेक्डोनल[5], विटरनित्ज़[6], राधागोविन्द बसाक[7], राहुल सांस्कृत्यायन[8], क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय[9] तथा र० च० मजूमदार[10] प्रभृति विद्वान् उनका समय चौथी शती मानते हैं तथा ताकाकुसू[11], वोगीहारा[12], एलन[13], होर्नले[14] तथा पाठक[15] आदि पाँचवी शती। ताकाकुसू और उनके समर्थको का मत मुख्यतः परमार्थ

[1] नोएल पेरी, बी० ई० एफ० ई०, ११ (१९११), पृष्ठ ३३९—६०, उनके अधिकांश तर्कों का ई० फ्राउवाल्नर ने 'ऑन दि डेट ऑव बुद्धिस्ट मास्टर ऑव ला वसुबन्धु' (रोम १९५१), में विस्तार से तथा स्मिथ ने 'अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया' (पृष्ठ ३२६-२७) में संक्षेप में उल्लेख किया है।

[2] स्मिथ, वही।

[3] तत्वसंग्रह, भू०, पृ० ६६-७०।

[4] स० च० विद्याभूषण, 'दिङ्नाग एण्ड हिज़ प्रमाण समुच्चय', जे० ए० एस० बी०, १९०५, पृष्ठ २२७।

[5] मेक्डोनल, 'हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर', [१९६१,] पृष्ठ ३२७।

[6] विंटरनित्ज़, एम० ए० 'हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर', भाग २, पृष्ठ ३५५ अ०।

[7] रा० गो० बसाक, 'हिस्ट्री ऑव नॉर्थ ईस्टर्न इण्डिया', पृष्ठ ३३।

[8] राहुल सांकृत्यायन, 'पुरातत्व निबन्धावलि', पृष्ठ १७६-७७।

[9] क्षे० च० चट्टोपाध्याय, दि डेट ऑव कालिदास, पृष्ठ १६४।

[10] वाकाटक गुप्त एज, पृष्ठ १५५।

[11] ताकाकुसू, जे०, जे० आर० ए० एस०, १९०५, पृष्ठ ३३ अ०। बाद में ताकाकुसू को भी अपने मत में संशोधन करने और वसुबन्धु को प्राचीनतर मानने की आवश्यकता अनुभव होने लगी थी, वही १९१४, पृष्ठ १३ अ०।

[12] वोगीहारा, यू०, 'इंसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन ऐंड एथिक्स', खंड १२, पृष्ठ ५९५-९६।

[13] एलेन, 'कैटेलॉग', भू० पृष्ठ ५१—५२।

[14] जे० आर० ए० एस०, १९०९, पृष्ठ १०२; आई० ए०, १९११, पृष्ठ २६४।

[15] के० बी०, पाठक 'कुमारगुप्त, 'दि पेट्रन ऑव वसुबन्धु', आई० ए०, १९११, पृष्ठ १७० अ०।

(५००-५६१ ई०) नामक भारतीय बौद्ध-धर्म-प्रचारक द्वारा लिखित 'वसुबन्धु की जीवनी'[१६] नामक ग्रन्थ तथा चीनी-यात्री युवान-च्वाङ[१७] द्वारा उल्लिखित कुछ तथ्यो पर निर्भर है।

(१) परमार्थ ने वसुबन्धु का समय भगवान् बुद्ध के निर्वाण के ११०० वर्ष उपरान्त माना है और युवान-च्वाङ ने १००० वर्ष उपरान्त। उनके द्वारा प्रदत्त ये तिथियाँ निर्वाण-सम्वत् की विभिन्न गणना पर आधृत है और सम्भवत मूलत अभिन्न है। इनसे वसुबन्धु का समय पाचवी शती ई० निर्धारित होता है।

(२) परमार्थ ने वसुबन्धु को बुद्धमित्र का शिष्य बताया है। इस नाम के एक बौद्ध-भिक्षु का उल्लेख कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल के मकुवार-अभिलेख (४४८-४९ ई०) मे हुआ। पाठक महोदय ने उसे वसुबन्धु के गुरु से अभिन्न माना है।[१८]

(३) परमार्थ के अनुसार वसुबन्धु विक्रमादित्य और बालादित्य के शासनकाल मे हुए। उसने लिखा है कि अयोध्यानरेश विक्रमादित्य पहले साख्यदर्शन को मानते थे, लेकिन वसुबन्धु ने अपने ग्रन्थ 'परमार्थसप्ततिका' मे साख्याचार्य विन्ध्यवास की सफल आलोचना करके उनकी सद्धर्म मे रुचि उत्पन्न की। यहाँ तक कि विक्रमादित्य ने अपने युवराज बालादित्य की शिक्षा का भार भी उन्हीको सौंप दिया था। विक्रमादित्य की मृत्यूपरान्त बालादित्य और राजमाता ने वसुबन्धु को (जो इस बीच मे अपनी जन्मभूमि लौट गये थे) अयोध्या बुलाया और राजसरक्षण प्रदान किया। वही अस्सी वर्ष की आयु मे उनकी मृत्यु हुई। ताकाकुसू आदि का कहना है कि परमार्थ द्वारा उल्लिखित ये नरेश स्पष्टत पाँचवी शती ई० मे रखे जाने चाहिए।[१९]

चौथी शती विषयक मत—वसुबन्धु को पाँचवी शती ई० मे आविर्भूत माननेवाले विद्वानो की ये युक्तियाँ काफी सबल लगती हे, लेकिन जो विद्वान् उन्हे चौथी शती ई० मे रखते है, उनके समवेत-रूपेण रखे गए निम्नलिखित तर्क भी उपेक्षणीय नही कहे जा सकते —

(१) यह सही है कि परमार्थ और युवान-च्वाङ ने वसुबन्धु को पाँचवी शती मे रखा है, लेकिन बौद्ध-साहित्य मे निर्वाण के ९०० वर्ष के उपरान्त उनकी सर्वाधिक मान्य तिथि रही है। स्वय परमार्थ भी वसुबन्धु की इस तिथि को मानते थे, यह क्युई-ची और हुई-शियाग (७वी शती ई०) नामक प्राचीन चीनी-लेखको ने उसके ग्रन्थो को उद्धृत करते समय लिखा है। युवान-च्वाङ के अनुयायी

[१६] **जे० आर० ए० एस०, १९०५, पृष्ठ ४४–५३।**

[१७] **वाटर्स, टा० 'ऑन युवान-च्वाङ्स ट्रेविल्स इन इण्डिया', खण्ड १, पृष्ठ २१० अ०, खण्ड २ पृष्ठ ३५५ अ०।**

[१८] **के० बी० पाठक, 'ऑन बुद्धमित्र, दि टीचर ऑव वसुबन्धु', आई० ए०, १९१२, पृष्ठ २४४।**

[१९] **परमार्थ द्वारा उल्लिखित विक्रमादित्य और बालादित्य को ताकाकुसू, बोगीहारा, पाठक और फ्राउवाल्नर ने क्रमशः स्कन्दगुप्त और नरसिंहगुप्त बालादित्य माना है, एलेन और बी० पी० सिन्हा (डिक्लाइन ऑव दि किंग्डम ऑव मगध, पृष्ठ ८१) मे पुरुगुप्त और नरसिंहगुप्त बालादित्य, हरप्रसाद शास्त्री (जे० आर० ए० एस० बी०, १९०५ पृष्ठ २५३) ने चन्द्रगुप्त द्वितीय और कुमारगुप्त प्रथम तथा डी० आर० भण्डारकर (आई० ए०, ४१, पृष्ठ १ अ०) ने और आर० एन० साल्तेतोर (लाइफ इन दि गुप्त एज, पृष्ठ २८) ने चन्द्रगुप्त द्वितीय और गोविन्दगुप्त।**

भी इस तिथि को ही अधिक विश्वसनीय मानते थे। इसके स्वीकार करने से वसुबन्धु का समय चौथी शती ई० निर्धारित होता है।

(२) वसुबन्धु का समय कुमारजीव नामक भारतीय विद्वान् से, जो ३८५ ई० मे चीन पहुँचे थे, पहले माना जाना चाहिए। इसके कई कारण हैं। एक, चीनी-ग्रन्थो मे कुमारजीव का एक कथन सुरक्षित है जिसके अनुसार उनकी युवावस्था (लगभग ३६० ई०) में उनके गुरु सूर्यसोम ने उनसे वसुबन्धु के एक ग्रन्थ का अध्ययन करने का आग्रह किया था। दूसरे, चिग मायि द्वारा ६६४-६५ ई० मे तैयार की गई बौद्ध-ग्रन्थ-सूची में कुमारजीव द्वारा लिखित 'वसुबन्धु की जीवनी' का उल्लेख हुआ है। यह जीवनी आजकल अनुपलब्ध है। ताकाकुसू ने इसके अस्तित्व मे शका प्रकट की है, परन्तु इसका कारण नही बताया है। तीसरे, 'तत्वसिद्धिशास्त्र' के लेखक हरिवर्मन के ग्रन्थ का कुमारजीव ने चीनी भाषा मे अनुवाद किया था। जबकि हरिवर्मन की तिथि ८९० निर्वाण-सम्वत् है, इसलिए वसुबन्धु-को जिनकी तिथि ९०० निर्वाण-सम्वत् मानी गई है, हरिवर्मन के समय और कुमारजीव के पूर्व रखना होगा। चौथे, कुमारजीव द्वारा स्वय वसुबन्धु प्रणीत दो ग्रन्थो—'शतशास्त्रटीका' और 'बोधिचित्तोत्पादनशास्त्र'—के चीनी भाषा मे किये गये अनुवाद सुरक्षित हैं। मेक्डॉनल ने इस तथ्य को वसुबन्धु की तिथि के लिए निर्णायक माना है।

(३) एक बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार धर्मरक्ष नामक विद्वान् ने वसुबन्धु के अग्रज असग द्वारा रचित 'बोधिसत्वभूमि' ग्रन्थ का ४१३–३१ ई० मे अनुवाद किया था।

(४) बोधिरुचि नामक भारतीय बौद्ध विद्वान् ने, जो ५०८ ई० मे चीन पहुँचे, वसुबन्धु-कृत 'वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिताशास्त्र' की टीका को ५३५ ई०मे चीनी भाषा मे अनूदित किया था। इसमे उसने वसुबन्धु की तिथि ५३५ ई०से २०० वर्ष पूर्व अर्थात् ३३५ ई० बताई है।

(५) परमार्थ ने 'वसुबन्धु' की जीवनी लिखने के अतिरिक्त वसुबन्धु के शिष्य दिङ्नाग, दिङ्-नाग के शिष्य शकरस्वामी एव साख्याचार्य ईश्वरकृष्ण (जो सम्भवत दिङ्नाग के समकालीन थे और जिनकी 'कारिका' पर उस समय तक एक प्रामाणिक टीका भी लिखी जा चुकी थी) के ग्रन्थो का भी चीनी भाषा मे अनुवाद किया था। परमार्थ ५४६ ई० मे चीन पहुँचे थे। अब अगर हम यह माने कि वसुबन्धु की मृत्यु ५०० ई० या इसके कुछ पूर्व हुई तो फिर स्वीकृत करना होगा कि उपर्युक्त सब विद्वानो ने, जो उनसे परवर्ती थे, अपने ग्रन्थो की रचना और ख्याति का अर्जन ५०-६० वर्ष मे ही कर लिया था। यह स्पष्टत असम्भव है।

(६) सारमति नामक बौद्ध विद्वान् के 'महायानावतार' नामक ग्रन्थ मे, जिसका चीनी भाषा मे अनुवाद ४३७–३९ ई० मे हुआ, वसुबन्धु के अग्रज असग के ग्रन्थ 'महायानसूत्रालकार' को उद्धृत किया गया है।

(७) तिब्बती अनुश्रुतियो के अनुसार वसुबन्धु और तिब्बतीनरेश ल्हा-थो-थो-री (मृ० ३७१ ई०) समकालीन थे।

फ्राउवाल्नर का मत—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वसुबन्धु की तिथि-विषयक उपर्युक्त दोनो मतो के पक्ष मे काफी सबल युक्तियाँ दी जा सकती हैं। इसका कारण सम्भवतः वसुबन्धु नाम के दो बौद्ध विद्वानो का, जो क्रमश· चौथी और पाँचवी शती ई० मे आविर्भूत हुए, अभिन्न मान लिया

जाना है। इस सम्भावना की ओर किमूर[20], कीथ,[21] पूसे[22] तथा शेरबास्की[23] जैसे कुछ विद्वानो का ध्यान पहले ही गया था। वसुबन्धु कृत 'अभिधर्मकोश' के टीकाकार यशोमित्र का (जो परमार्थ के कनीयस् समकालीन थे) यह स्पष्टत कहना कि 'अभिधर्मकोश' के रचयिता वसुबन्धु के पहले भी वसुबन्धु नाम के एक और विद्वान हो चुके हैं[24], एव प्राचीन चीनी-बौद्ध-साहित्य मे परमार्थ द्वारा लिखित 'वसुबन्धु की जीवनी' के अतिरिक्त वसुबन्धु नामक भारतीय विद्वान् के अन्य प्रकृत्या भिन्न जीवन-चरित विद्यमान होना इस सम्भावना को पर्याप्त आधार प्रदान करते हैं।[25] हाल ही मे फ्राउवाल्नर ने परमार्थ द्वारा लिखित 'जीवनी' पर इस दृष्टि से विचार करके यह लगभग निर्णायक रूप से सिद्ध कर दिया है कि इसे विभिन्न स्रोतो से ली गई सामग्री की सहायता से सम्भवत कई व्यक्तियो ने विभिन्न समय मे लिखा था।[26] उन्होंने सब ज्ञात तथ्यो का अत्युत्कृष्ट विश्लेषण करके निष्कर्ष निकाला है कि असग के अनुज वसुबन्धु (३२०–८० ई०) 'अभिधर्मकोष' के रचयिता वसुबन्धु (४४०-८० ई०) से भिन्न थे। असग के अनुज अथवा वृद्ध वसुबन्धु का जन्म पुरुषपुर (पेशावर) मे एक ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। वह पहले सर्वास्तिवादी थे, बाद वे असग के प्रभाव से योगाचार सम्प्रदाय मे श्रद्धा रखने लगे। कनीयस् वसुबन्धु के जन्मस्थान और परिवार विषयक तथ्य अज्ञात हैं। वह स्थविर बुद्धिमित्र के शिष्य थे। उन्होंने 'अभिधर्मकोश' नामक सुप्रथित ग्रन्थ का प्रणयन किया था। उनके सरक्षक स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (४५५-६७ ई०) और नरसिहगुप्त बालादित्य प्रथम (४६७–७३ ई०) थे। उनकी अस्सी वर्ष की आयु मे अयोध्या मे मृत्यु हुई थी। परमार्थ अथवा उसके शिष्यो ने गलती से इन दोनो वसुबन्धुओ को अभिन्न मान लिया, जिससे उनका तिथिविषयक यह भ्रम उत्पन्न हो गया है।

वसुबन्धु का संरक्षक सम्राट्

वामन का साक्ष्य—फ्राउवाल्नर का उपर्युक्त विश्लेषण हमे सही प्रतीत होता है; क्योकि इससे वसुबन्धु की तिथि विषयक परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले लगभग सभी साक्ष्य सगत हो जाते हैं। लेकिन वसुबन्धु के सरक्षक सम्राट् का अभिज्ञान स्थिर करते समय उनका वामन के साक्ष्य को स्वीकृति न देना सुचिन्तित नही जान पडता। वामन (लगभग ८०० ई०) कश्मीर-नरेश जयापीड की राजसभा में थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'काव्यालकार-सूत्रवृत्ति' मे एक प्राचीन, सम्भवत गुप्तकालीन, कृति से एक श्लोक उद्धृत किया है जिसका अर्थ है 'यह चन्द्रगुप्त का युवक पुत्र चन्द्रप्रकाश जो विद्वानो का आश्रय है और अब राजा हो गया है, अपने परिश्रम मे सफलीभूत हुआ।' इसके आगे उसने एक टिप्पणी दी है जिसके अनुसार इस श्लोक मे 'आश्रय. कृतधिया' यह विशेषण साभिप्राय है, क्योकि वसुबन्धु

---

[20] **विंटरनित्ज (पृष्ठ ३५५, पाद टिप्पणी ६) द्वारा उद्धृत।**

[21] **कीथ, ए० बी०, 'बुद्धिस्ट फिलॉसफी इन इण्डिया एण्ड सीलोन', पृष्ठ १५६ अ०।**

[22] **विंटरनित्ज द्वारा उद्धृत।**

[23] **शेरबास्की, टी०, 'बुद्धिस्ट लॉजिक', १, पृष्ठ ३१ अ०।**

[24] **शेरबास्की, टी०, 'दि सेन्ट्रल कन्सेप्शन ऑव बुद्धिज्म', पृष्ठ २, पा० टि०, २; फ्राउवाल्नर, वही, पृष्ठ २१ अ०।**

[25] **फ्राउवाल्नर, वही, पृष्ठ ४७।**

[26] **वही, पृष्ठ १४ अ०।**

चन्द्रप्रकाश के सचिव थे।[३७] इससे स्पष्ट है कि वामन के अनुसार वसुबन्धु का संरक्षक चंद्रगुप्त का पुत्र चन्द्रप्रकाश था।[३८] प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह चन्द्रगुप्त कौन था—चन्द्रगुप्त प्रथम अथवा चन्द्रगुप्त द्वितीय ? पाठक महोदय ने उसे चन्द्रगुप्त द्वितीय और चन्द्रप्रकाश को कुमारगुप्त प्रथम माना है और परमार्थ द्वारा उल्लिखित विक्रमादित्य और बालादित्य को क्रमश स्कन्दगुप्त और नरसिंहगुप्त बालादित्य। इसके विपरीत स्मिथ महोदय, जो वसुबन्धु का समय चौथी शती ई० मानते थे, यह विश्वास करते थे कि वामन द्वारा उल्लखित नरेशो को क्रमश. चन्द्रगुप्त प्रथम और समुद्रगुप्त मानना चाहिए। और क्योकि वह एक ही वसुबन्धु के अस्तित्व मे श्रद्धा रखते थे, इसलिए उनकी यह भी मान्यता थी कि परमार्थ के विक्रमादित्य और बालादित्य का तादात्म्य भी चन्द्रगुप्त प्रथम और समुद्र-गुप्त से ही स्थापित किया जाना चाहिए। फ्राउवाल्नर को ये दोनो सुझाव अस्वीकाय है। वे कनीयस् वसुबन्धु को पाँचवी शती मे रखकर उसका सरक्षक स्कन्दगुप्त और नरसिहगुप्त को तो मानते है, परन्तु वामन के साक्ष्य को सर्वथा अमान्य ठहराते है। उनके लिए काव्यशास्त्र के लेखक वामन के साक्ष्य को 'वसुबन्धु की जीवनी' के लेखक परमार्थ के साक्ष्य की तुलना मे महत्वहीन मानना और इसलिए चन्द्र-प्रकाश को वसुबन्धु कनीयस् से सर्वथा असम्बद्ध मानना उचित ही है। उनका यह कहना भी बुद्धिगम्य है कि वामन द्वारा उल्लिखित नरेशो को चन्द्रगुप्त द्वितीय और कुमारगुप्त प्रथम भी नही माना जा सकता, क्योकि उस अवस्था मे स्वीकृत करना होगा कि वसुबन्धु प्रथम की युवावस्था मे, उसके सम्राट् बनते ही, उसके सचिव हो गए थे और नरसिहगुप्त बालादित्य प्रथम के शासनकाल तक गुप्त-सरक्षण का उपभाग करते रहे। यह पूर्णत. अकल्पनीय है। लेकिन फ्राउवाल्नर महाशय की यह घोषणा कि वामन का साक्ष्य सर्वथा त्याज्य है और इसके आधार पर वृद्ध वसुबन्धु को भी समुद्रगुप्त का सचिव नही माना जा सकता, युक्तिसगत नही कही जा सकती।

परमार्थ का साक्ष्य—फ्राउवाल्नर ने अपनी इस घोषणा के पक्ष मे केवल एक बात कही है, और वह यह कि वृद्ध वसुबन्धु का किसी गुप्त-सम्राट् से सम्बन्ध था, यह बात किसी अन्य स्रोत से ज्ञात नही होती। यहाँ यह स्मरणीय है कि वसुबन्धु का गुप्त-सम्राट् से सम्बन्ध निर्देशित करनेवाले केवल तीन स्रोत है—परमार्थ, युवान-च्वाङ् और वामन। इनमे वामन का साक्ष्य तो विचाराधीन है ही। शेष दो मे परमार्थ का साक्ष्य, जैसा कि देखा जा चुका है, कनीयस् वसुबन्धु के सम्बन्ध मे है। लेकिन इसमे वृद्ध वसुबन्धु के सरक्षक का नाम उल्लिखित न होने का कारण वृद्ध वसुबन्धु को किसी सम्राट् का निश्चयत. सरक्षण न मिलना नही, वरन् दोनो वसुबन्धुओ के जीवन-वृत्तान्तो का घुलमिल जाना है। जैसा कि फ्राउवाल्नर ने स्वय प्रदर्शित किया है, परमार्थ के ग्रन्थ मे जहाँ वसुबन्धु की जन्मभूमि और

---

[३७] साभिप्रायत्वं यथा—

'सो यं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयश्चन्द्रप्रकाशो युवा।
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः ॥'

आश्रयः कृतधियामित्यस्य च वसुबन्धु साचिव्योपक्षेपपरत्वात्साभिप्रायत्वम् ॥

—काव्यालकारसूत्रवृत्ति ३।२।२।

[३८] हरप्रसाद शास्त्री, रंगा स्वामी सरस्वती, नरसिंह चर्यर तथा क्षे० च० चट्टोपाध्याय का कहना है कि वामन ने वसुबन्धु का नहीं, 'सुबन्धु' का उल्लेख किया है। लेकिन पाठक, होर्नले, स्मिथ तथा एलन ने 'वसुबन्धु' पाठ को ही मान्यता दी है। फ्राउवाल्नर ने भी इस पाठ को सत्य के निकटतर माना है।

माता-पिता आदि का उल्लेख है वहाँ वृद्ध वसुबन्धु विषयक तथ्य मिलते हैं और जहाँ उसके तत्कालीन सम्राट् से सम्बन्ध का वर्णन है वहाँ कनीयस् वसुबन्धु-विषयक तथ्य। इसलिए उसमे एक ओर कनीयस् वसुबन्धु के माता-पिता के नाम अनुल्लिखित रह जाते हैं तो दूसरी ओर वृद्ध वसुबन्धु के सर्वथा सम्भव सरक्षक का नाम आने से रह गया है। इस दृष्टि से विचार करने पर फ्राउवाल्नर का यह कथन कि किसी साक्ष्य से वृद्ध वसुबन्धु और गुप्त-सम्राट् का सम्बन्ध सकेतित नही है, कम से कम परमार्थ के सम्बन्ध मे निस्सार हो जाता है।

युवान-च्वांङ् का साक्ष्य—युवान-च्वाङ् के अनुसार वसुबन्धु के समय श्रावस्ती-नरेश विक्रमादित्य-का शासन था जिसने हाल ही मे 'भारतो' पर विजय प्राप्त करके ५ लाख सुवर्ण-मुद्राएँ दान दी थी। उसने वसुबन्धु की अनुपस्थिति मे अन्यायपूर्वक उसके गुरु मनोरथ को एक शास्त्रार्थ मे पराजित घोषित करवा दिया था। इस घटना का विवरण वसुबन्धु के पास भेजकर मनोरथ मृत्यु को प्राप्त हुए। इसके कुछ समय उपरान्त ही विक्रमादित्य ने अपना साम्राज्य खो दिया और एक ऐसा व्यक्ति राजा बना जो विद्वानो का आदर करता था। वसुबन्धु ने उससे आग्रह करके मनोरथ के विरोधियो को शास्त्रार्थ के लिए बुलवाया जिसमे वे सब पराजित हो गए। युवान-च्वाङ् द्वारा विक्रमादित्य-विषयक प्रदत्त ये तथ्य परमार्थ द्वारा प्रदत्त तथ्यो से भिन्न हैं और स्कन्दगुप्त से अधिक समुद्रगुप्त पर लागू होते हैं। उदाहरणार्थ, उसकी 'भारतो' पर विजय का उल्लेख अनायास समुद्रगुप्त का स्मरण दिलानेवाला है। इसी प्रकार उसके द्वारा सुवर्ण-मुद्राएँ दान दिये जाने का उल्लेख गुप्त-अभिलेखो के इस कथन से मिलता है कि समुद्रगुप्त ने करोडो सुवर्ण-मुद्राएँ दान दी थी।[२९] स्कन्दगुप्त को तो इतनी विपत्तियो का सामना करना पडा था कि उसके शासनकाल मे गुप्त-मुद्राओ का स्तर ही गिर गया।[३०] युआन-च्वाङ् का यह कथन भी कि 'इसके कुछ समय बाद ही विक्रमादित्य ने अपना साम्राज्य खो दिया और एक ऐसा व्यक्ति राजा बना जो विद्वानो का आदर करता था, समुद्रगुप्त की मृत्यूपरान्त रामगुप्त के शासनकाल मे गुप्तों की शको द्वारा पराजय और बाद चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्यारोहण से साम्य रखता है, स्कन्द-गुप्त की मृत्यूपरान्त बालादित्य के राज्यारोहण के साथ नही।[३१] यहाँ यह स्मरणीय है कि युवान-च्वाङ् ने बालादित्य का, जिसका उसने अनेकत्र उल्लेख किया है, वसुबन्धु के सबध मे कही नाम तक नही लिया है।

इस पृष्ठभूमि मे विचार करने पर यह तथ्य कि, समुद्रगुप्त ने 'श्रीविक्रम.' विरुद भी धारण किया था, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है और यह बात निर्विवाद लगने लगती है कि

(शेषाश पृष्ठ १०० पर)

---

२९ समुद्रगुप्त के लिए 'न्यायागतानेक-गो-हिरण्य-कोटि-प्रदस्य'—पद का प्रयोग उसके अपने गया और नालन्दा अभिलेखों में तथा उसके उत्तराधिकारियों के अनेक अभिलेखों में हुआ है। उसके एरण अभिलेख में भी कहा गया है कि उसने सुवर्ण-दान में पृथु, राघव और अन्य नरेशों को मात कर दिया था।

३० प्रारम्भिक गुप्त-सम्राटों की मुद्राओं में शुद्ध सुवर्ण सामान्यतः ९० प्रतिशत मिलता है और स्कन्दगुप्त की मुद्राओं में ७८ प्रतिशत; देखिये—अल्तेकर, 'क्वायनेज' पृष्ठ २४१।

३१ फ्राउवाल्नर ने युवान-च्वांङ् के इस कथन को स्कन्दगुप्त पर लागू करने के लिए मान लिया है कि उसे अपने शासन-काल के अन्त में हूणों के विरुद्ध युद्ध करना पड़ा था (फ्राउवाल्नर, वही, पृष्ठ ३१, पा० टि० १) परन्तु यह पूर्णतः निराधार कल्पना है। देखिये—बी० पी०, सिनहा, डिक्लाइन ऑव दि किंगडम ऑव मगध, पृष्ठ ५९।

मध्ययुगीन भारतीय समाज

डॉ० वासुदेव उपाध्याय

भारत के प्राचीन समाज का इतिहास वैदिक युग से ही उपलब्ध होता है, परन्तु स्मृति-ग्रन्थो मे सामाजिक सस्थाओ का अधिक वर्णन किया गया है। मध्ययुग का भारतीय समाज अपनी एक विशेषता रखता है जिसकी जानकारी हमे अभिलेखो से पर्याप्त रूप मे होती है। स्मृतियो में वर्णित समाज की रूपरेखा का चित्रण प्रशस्तिकारो ने पूर्ण रीति से किया है। यद्यपि वह प्रासगिक है, किन्तु सामाजिक इतिहास की उपलब्धि अभिलेखो के आधार पर (साहित्य के अतिरिक्त) समुचित रूप से हो जाती है। मध्ययुगीन भारतीय समाज का जो वर्णन प्रशस्तियो अथवा ताम्रपत्रो मे निहित है, वही किसी न किसी रूप मे आज भी वर्तमान है। भारत के उन्नयन तथा गौरवमय जीवन का बहुत कुछ श्रेय वर्णाश्रम नामक सस्था को है। भारतीय अभिलेखो का उद्देश्य वर्णाश्रम का विवरण उपस्थित करना नही था, तथापि शासन अथवा दान के प्रसग मे वर्ण के नाम उल्लिखित मिलते हैं। मौर्य-युग से गुप्त-काल तक किसी वर्ण का नाम लेखो मे विशेष प्रसग को लेकर आया है। अशोक के तीसरे, चौथे तथा आठवे प्रधान शिलालेखो मे यह विचार व्यक्त किया गया है कि ब्राह्मण का दर्शन तथा उन्हे दान देना श्रेयस्कर है (वाम्हण-समणान साधुदान, वाम्हण-समणान दसणे च दाने)। इसी प्रकार द्वितीय शताब्दी के क्षत्रप अभिलेख मे 'ब्राह्मणेभ्य षोडश ग्रामदान' (नासिक गुहालेख) वाक्य स्पष्टतया ब्राह्मण को दानग्राही के रूप मे वर्णित करता है। महाक्षत्रप रुद्रदामन के जूनागढ शिलालेख मे यौधेय गण को क्षत्रियो मे शौर्य से उपेत माना गया है। इसी प्रकार गुहाकालीन इन्दौर के ताम्रपत्र मे ब्राह्मण को दान देते समय क्षत्रियवशी दाता अचलवर्म एव भ्रुकुण्ठ सिह के नाम उल्लिखित हैं। इस कथन का तात्पर्य यह है कि वर्णों की चर्चा लेखो मे यदा कदा किसी प्रसग मे की जाती थी।

गुप्तयुग के पश्चात् बौद्धो के कारण वर्णाश्रम मे शिथिलता आने लगी। इसी सस्था के आधार पर हिन्दू-समाज अवलम्बित था। सम्भवत समाज की स्थिति बनाए रखने के निमित्त पूर्व मध्ययुग से शासको का यह कर्त्तव्य निश्चित किया गया कि वे वर्णाश्रम-सस्था को नष्ट होने से बचावे। साहित्य के अध्ययन से ऐसे विचार का निर्देश नही मिलता, किन्तु मध्ययुग के अभिलेखो का परीक्षण शासको के कार्य तथा कर्त्तव्य पर प्रकाश डालता है। वैदिक धर्मानुयायी अथवा बौद्ध धर्मावलम्बी नरेश इस सस्था को सबल बनाने एवं समाज को समुचित रूप से स्थिर रखने के निमित्त प्रयत्नशील थे। लेखों के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि शासकगण वर्णाश्रमधर्म की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझते थे।

वर्णाश्रमधर्म

सातवी शती से लेकर बारहवी शती तक के अभिलेखो, मुहरो अथवा दानपत्रो में ऐसी चर्चा मिलती है जिसका स्पष्टीकरण निम्नलिखित कुछ उदाहरणो से हो जाता है। परिव्राजक नरेश के खोह (मध्यभारत का भूभाग) के ताम्रपत्र में 'वर्णाश्रमधर्मस्थापननिरतेन' का उल्लेख है (कारपस इन्स्क्रप्शन

इण्डिकेरम्, ३, पृ० ११४) । हर्षवर्धन के पिता प्रभाकरवर्धन के समक्ष भी यही समस्या थी जिसका आभास बासखेरा के ताम्रपत्र में उल्लिखित वाक्य से 'वर्णाश्रमव्यवस्थापनप्रवृत' मिल जाता है (एपिग्राफिया इण्डिका ४, पृ० २१०) । मौखरिनरेश अवन्तिवर्मन के लिए इन्ही शब्दो का प्रयोग मिलता है (ए० इ० २७, पृ० ६४) । सातवीं शती के कामरूप (असम प्रदेश) के नरेश भास्करवर्मन के लेख से प्रकट होता है कि राजा वर्णाश्रम संस्था को सुव्यवस्थित रखने मे दत्तचित होकर लगा रहा ('आवकीर्ण वर्णाश्रमधर्मप्रविभागाय निर्म्मितो'—निधानपुर ताम्रपत्र, ए० इ० १२, पृ० १७५) । उसी प्रदेश के राजा इन्द्रपाल ने इस संस्था की मर्यादा स्थिर रखने का प्रयत्न किया था ('सम्यक् विभक्त चतुराश्रमवर्णधर्मा'—गोहाटी ताम्रपत्र, ज० ए० सो० व १८६७, पृ० १२५) । समाज को विघटन से बचाने के प्रश्न को मध्ययुगीन शासक पूर्ण रीति से समझते थे और उसके दुष्परिणाम का भी अनुमान लगा लिया था। यही कारण था कि बौद्धधर्मानुयायी पालवंशी नरेश वर्णाश्रम को सुव्यवस्थित रखने मे प्रयत्नशील थे । वे आर्यधर्म के प्रकाश से प्रकाशित हो उठे थे । 'मर्यादा परिपालनैकनिरत' वाक्य का प्रयोग पाल-नरेशो के लिए किया गया था (बानगढ का लेख—ए० इ० १४, पृ० ३२६) । धर्मपाल ने भी इसके महत्त्व को समझा तथा समस्त वर्णों को अपनी सीमा मे रहने के लिए बाधित किया ('वर्णानाम् प्रतिष्ठापयता स्वधर्मे'—इ० ए० २१, पृ० २५५) । इसी वश के राजा विग्रहपाल तृतीय को चारों वर्णों का रक्षक कहा गया है ('चातुर्वर्ण्यसमाश्रय'—वही पृ० ९९) । सम्भवत भारत के पूर्वी भाग मे तन्त्रयान के प्रचुर प्रसार से शासकगण सतर्क थे और उन्हे 'वर्णाश्रमपरमोपासक' के विशेषण से विभूषित किया गया था । इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रजा को वर्णाश्रमधर्म पालन करने के निमित्त विवश किया जाता था। मध्ययुग मे उत्तरी भारत पर बाहरी आक्रमण हो रहे थे, अतएव तत्कालीन स्मृतिकारो ने भी समाज की एकरूपता को स्थिर रखने के लिए नियम तैयार किये । उनके उल्लघन तथा विघटनकारी प्रवृत्तियो को रोकने का राजाओ ने प्रयत्न किया जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है ।

मध्ययुग के अभिलेखो का अध्ययन एक बात को स्पष्ट कर देता है कि ब्राह्मणसमूह की विभिन्न उपजातियाँ स्थानविशेष से सम्बन्धित होने के कारण क्षेत्रीय नाम से प्रसिद्ध हुई । पञ्चगौड ब्राह्मणो के विभिन्न नामकरण उसी आधार पर किये गये और यही कारण है कि कान्यकुब्ज, सरस्वती का भूभाग, उत्कल, मिथिला तथा गौड (उत्तरी बगाल) प्रदेशो के निवासी होने के कारण ब्राह्मण पाँच नाम से प्रसिद्ध हुए । इनके स्थानान्तरित होने पर भी प्रशस्तिकारो ने उन्हे उसी नाम से उल्लिखित किया है। गहड़वाल नरेश गोविन्दचन्द्र देव के पालिलेख मे सरयूवारा अथवा सरयूपारा (उत्तर प्रदेश का उत्तर-पूर्वी भाग) नामक भूभाग का वर्णन आता है ('गोविन्दचन्द्र देवो विजयी सरूवारा'—ए० इ० ५, पृ० ११४) जिस भाग के ब्राह्मण सरयूपारी नाम से प्रसिद्ध हुए । यद्यपि सरयूपारी ब्राह्मण पञ्चगौड़ के अन्तर्गत माने जाते हैं, किन्तु इनका नामकरण पालि-अभिलेख से स्पष्ट विदित हो जाता है और इसकी सार्थकता प्रकट होती है ।

मध्ययुगीन अभिलेख मे मग नामक ब्राह्मणवर्ग का नामोल्लेख मिलता है। गया (बिहार प्रदेश) जिले के गोविन्दपुर प्रशस्ति में मग (शाकद्वीपी ब्राह्मण) का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है जिनके सूर्य के पुजारी होने की चर्चा भविष्यपुराण में मिलती है। लेकिन गोविन्दपुर का लेख मग ब्राह्मण का पूर्व सम्बन्ध शकद्वीप से बतलाता है जिससे शाकद्वीपी नाम की सार्थकता प्रकाशित होती है—'शाकद्वीपस्य दुग्धाम्बुनिधि बलयितो यत्र विप्रे मगाख्या ।' (ए० इ०, भाग २, पृ० ३३३) ।

मध्ययुग के लेखों में ब्राह्मणो के वर्गीकरण का प्रश्न अत्यन्त सरलता से सुलझाया गया है। बारहवी शती के लेख में पाँच सौ दान लेनेवाले ब्राह्मणो के नाम मिलते हैं जिनका गोत्र भी उल्लिखित है। ('नाना गोत्रेभ्य. पचशतसख्येभ्य ब्राह्मणेभ्य.'—चन्द्रावती दानपत्र, विक्रम सवत् ११५०, ए० इ० १४, पृ० २०२-६)। चन्देलनरेश परमर्दि के सेमरा-अभिलेख मे चालीस गोत्र के नाम आते हैं जिनमे आजकल सभी प्रचलित नही हैं। काश्यप तथा भारद्वाज गोत्र अधिक लोकप्रिय थे ऐसा प्रकट होता है (ए० इ० ४, पृ० ११५-७)। गोरखपुर (उत्तर-प्रदेश) जिले के कलहा ताम्रपत्र से भी ऐसी ही सूची उपलब्ध होती है (ए० इ० ७, पृष्ठ ८७)। ब्राह्मणो का दूसरा वर्गीकरण वेद की शाखा मे सम्बन्धित है। ब्राह्मण जिस वैदिक शाखा का अध्ययन करता था उसीसे वह प्रसिद्ध था। मालवा के लेख, मध्यदेश के अभिलेख तथा कन्नौज-शासकों के दानपत्रो मे माध्यन्दिन, छान्दोग्य, वाजसनेय, आश्वलायन तथा कौथुम आदि शाखाध्यायी ब्राह्मणो के नाम मिलते हैं। पाल तथा सेनवशी प्रशस्तियो मे उल्लिखित वैदिक शाखाओ के आधार पर ब्राह्मण पृथक्-पृथक् वर्णित हैं। अतएव मध्ययुगीन दानपत्रो से ब्राह्मणो की शिक्षा, कार्य तथा उपजातियो के सम्बन्ध मे पर्याप्त ज्ञान हो जाता है।

इस युग की प्रधान घटनाओ मे ब्राह्मणो के देशान्तर-गमन को प्रमुख स्थान दिया जा सकता है। मध्यदेश यानी कान्यकुब्ज के भाग से शासको के निमत्रण पर अथवा आर्थिक सकट के कारण ब्राह्मण बगाल, मालवा तथा मध्यभारत मे निवास करने लगे। 'मध्यदेशविनिर्गताय' वाक्य से इस घटना को व्यक्त किया गया है (ए० इ० भाग ४, १०, ११, १२ १४, १५ आदि)। यही कारण है कि कान्यकुब्ज ब्राह्मण उत्तरी भारत मे फैले और वर्तमान समय तक उनके वशज विभिन्न भागो मे निवास कर रहे हैं।

सातवी शती के पश्चात् प्रशस्तियों मे राजपुत्रो का वर्णन आता है जो राजनैतिक परिस्थिति के कारण समाज मे अग्रणी हो गए थे। ये प्राचीन क्षत्रियो के वशज थे तथा अधिक सख्या मे एव लम्बी अवधि तक शासक बने रहने के कारण मालवा के समीप का भाग राजपूताना के नाम से विख्यात हुआ। इनकी वीरता और कौशल का विस्तृत विवरण अभिलेखो मे पाया जाता है। आजकल की तरह 'राजपट्ट' या 'श्रीपट्ट' (एक प्रकार का तमगा) नामक प्रशसा-पत्र दिए जाते थे (राजपट्ट उपार्जिता श्रीमद् कमलपालेन बुद्धया—कमौली दानपत्र, १२वी शती, ए० इ० ४, पृष्ठ १३१) तथा युद्ध मे मृत्यु हो जाने पर उस वीर सैनिक के वशज को वृत्ति (मृत्युक-वृत्ति) भी दी जाती थी (मृत्युक-वृत्तौ प्रदत्त इति—ए० इ० भा० १६, पृष्ठ २७५)।

मध्ययुग की आर्थिक स्थिति

दान के प्रसंग में प्रशस्तिकारों ने आर्थिक विवरण भी उपस्थित किया है। मदिर-निर्माण तथा प्रतिमा-पूजन के निमित्त धन की आवश्यकता को ध्यान में रखकर विभिन्न वणिक् वर्गों का उल्लेख किया गया है। हाट या मेले के अवसर पर एकत्रित कर (टैक्स) पूजानिमित्त दान में दे दिया जाता था। उसी प्रसग मे अनेक श्रेणियो (वणिको की सामूहिक संस्था) के कर्तव्य का वर्णन किया गया है (ए० इ० ११, पृष्ठ ६०)। वैश्य-समाज के स्थानीय व्यवसाय, सार्थवाह की क्रिया, सामुद्रिक व्यापार तथा विभिन्न कारोबार का विवरण उस प्रसग की आवश्यक चर्चा थी। यही कारण है कि वणिक वर्ग के कार्यों, कर-दान तथा धार्मिक कृत्य का विवेचन हमें लेखो से मिल जाता है (ए० इ० १, ३, ४, २१ आदि)।

मध्ययुग के समाज मे कायस्थ नामक एक जातिसमूह की चर्चा मिलती है जो प्रशस्तियो के लेखक के रूप मे शासन से सम्बन्धित थे। क्योकि प्रशस्तियो में 'कायस्थ वश', 'कायस्थ जातीय' अथवा 'धर्मलेखी' शब्दो का प्रयोग मिलता है, अतएव जाति के रूप में कायस्थ की स्थिति प्रमाणित हो जाती है (ए० इ० १, ४, ११, १५, १६ आदि)। उनके सम्बन्ध मे सुन्दर अक्षर तथा ललित ढग से दानपत्र लिखने की चर्चा की गई है—लिखिता रुचिरा अक्षरा (ए० इ० १, पृष्ठ १२६) एव स्फुटललितनिवेशैरक्षरैस्ताम्रपट्टम् (ए० इ० भा० १६, पृष्ठ १४)। चन्देल तथा चेदि वश के लेखो में गौड-कायस्थ का उल्लेख है जो सुन्दर लिखने के लिए विख्यात थे। वे गौड देश (उत्तरी-बगाल) से निमत्रण पाकर आते रहे। आज भी उन्ही के वशज गौड अथवा करण-कायस्थ हिन्दू-समाज मे प्रतिष्ठित है। इसके अतिरिक्त पचम वर्ण अन्त्यज (चाण्डाल) तथा कुछ आदिम निवासी धीरू, भिल्ल, सबर तथा पुलिन्द के नाम अभिलेखो मे यत्र-तत्र उल्लिखित हैं। तात्पर्य यह है कि मध्ययुग की जातियो का स्वरूप, उपजातियो का विभेद तथा कार्यशैली आज भी हमे स्पष्टतया विदित हो जाती है।

मध्ययुगीन लेख प्रधानतया दान-पत्र के रूप मे अकित किये गये थे, अत उसी प्रसग मे समाज के विभिन्न पहलू पर आकस्मिक चर्चा मिलती है। स्मृतियो मे काल, देश एव पात्र का विवेचन दान के लिए परमावश्यक समझा गया है, इस कारण दानपत्र मे पात्र-सम्बन्धी विचार अधिकतर मिलता है। दानग्राही ब्राह्मण की योग्यता, शिक्षा-दीक्षा आदि पर विचार करते समय वैदिक तथा वेदाङ्ग शिक्षा का विवेचन किया गया है। अतएव प्रासगिक रूप से चारो आश्रमो के निर्दिष्ट कार्यों का भी वर्णन है। ब्रह्मचारी तथा यति-समाज भिक्षा मांगकर जीवित रहते थे, गृहस्थ दान देकर तथा राजा युवराज को राज्य समर्पित कर निजी कर्तव्यो का पालन करते रहे। अन्तिम दो आश्रमो का अत्यन्त सुन्दर वर्णन अभिलेखो मे मिलता है। स्वर्ण-प्राप्ति के लिए राजा राज्य त्यागकर पुण्यक्षेत्र मे निवास करता था तथा अनशन या नदी मे प्रवेश कर भौतिक शरीर का अन्त कर देता (अन्ते चानशन कृत्वा स्वर्गलोक समागत—ए० इ० १३, पृष्ठ २६२, अम्भसीव करीषाग्नौ मग्न स पुष्पपूजित—का० इ० इ० ३, पृष्ठ ४२)। आश्चर्य की बात है कि सन्यासी (कौपिनधारी) मध्ययुग मे मदिरो के प्रबन्धक भी हो गए थे। यही कारण है कि वर्तमान समय मे भी मठाधीश उसी वेशभूषा मे रहकर सन्यासी का जीवन व्यतीत करते दृष्टिगोचर होते हैं।

संस्कार

जहाँ तक सामाजिक सस्कारो का प्रश्न है, दानपत्र मौन है। लेकिन गहडवाल लेखो मे जातकर्म तथा नामकरण सस्कार सम्पन्न करते समय जयचन्द्र ने दान दिया था (ए० इ० ४, पृ० १२०-६), ऐसा उल्लेख आया है। इसी प्रकार कलचुरि राजा कर्णदेव द्वारा पिता का वार्षिक श्राद्ध (साम्वत्सरिक पार्वणि श्राद्धे) करने का वर्णन लेखो में मिलता है। पुराने समय से ही राजघरानों में बहु-पत्नी व्रत की प्रणाली प्रचलित थी। शासक एकसाथ कई स्त्रियों से विवाह कर लेता था। मध्ययुग मे यह परिपाटी अप्रिय न हो सकी और यहाँ तक कि चेदिनरेश गागेयदेव ने डेढ़ सौ स्त्रियो से विवाह किया था (सार्धशतेन गृहिणी—ए० इ० १२, पृष्ठ २०६)। दो-चार पत्नियों की कथा सामान्य थी।

स्त्रियों की दशा

प्रशस्तिकारो ने राजमहिषी अथवा सामान्य स्त्रियो के चाल, व्यवहार, रहन-सहन आदि का भी

विवरण यदा-कदा उपस्थित किया है। प्रतिहारनरेश महेन्द्रपाल की पहेवा-प्रशस्ति में व्यङ्ग रूप से कहा गया है कि राजा के सामंतो द्वारा शत्रुओ की पत्नियो के केश सीधे कर दिए गए है। अर्थात् विधवा होने से केश-ग्रथि तथा शृगार का अभाव है (ए० इ० १, पृष्ठ २४६)। इसी प्रकार चन्देल-लेख मे वर्णन है कि राजा ने शत्रु-वाराङ्गनाओ को सिन्दूररहित कर दिया था तथा अजन के प्रयोग से उन्हे विमुख कर दिया (वही, पृष्ठ १२९)।

भोजन और पेय

इस प्रसग मे यह कहना अप्रासगिक न होगा कि राजदरबार में किसी घटना का उल्लेख करते समय भोजन तथा पेय का सन्दर्भ मिलता है। राजघराने मे मधुपान साधारण सी बात थी। 'सम्यक् बहुघृनदधिभि व्यञ्जनै युक्तमन्नम्' का वाक्य देवपाल के नालन्दा ताम्रपत्र मे प्रयुक्त है (ए० इ० २०, पृष्ठ ४४)। देवता को नैवेद्य अर्पित करते समय गोधूम, घृत, मूंग आदि वस्तुओ का प्रयोग करते थे। साधारण जनता के लिए रसवती (ताडी) पेय समझा जाता था (ए० इ० २१, पृष्ठ ६६ भा० ६८)। मद्य तैयार करने के लिए कल्लपाल नामक व्यक्ति का वर्णन है। इस प्रकार अभिलेखो मे सामाजिक बातो की चर्चा की जाती थी।

तत्र-मंत्र का प्रभाव

समाज की उन्नति मे अन्धविश्वास और कल्पित कथाएँ बाधक समझी जाती है, परन्तु स्यात् ऐसा कोई युग न था जिसमे जनता इनसे मुक्त हो। मध्ययुग मे मत्र-तत्र का प्रभाव बढ रहा था। बौद्धो के मत्रयान ने पूर्वी-भारत मे घर बना लिया था। स्वर्ग कामना से ही शासक दान-पुण्य करते थे, ताकि उसके द्वारा ससार का बन्धन नष्ट हो जाय (इ० हि० क्वा० भा० ८, पृष्ठ ३१२ ए० इ० ३, ११, पृष्ठ २६६, भा० १८, पृष्ठ ६६)। स्वर्ग की कामना तथा नरक के भय से राजाओ द्वारा दान की प्रतिष्ठा मानी जाती थी (धर्मश्लोका, ए० इ० १२, पृष्ठ २४)। मध्ययुगीन दान के कालविषयक वार्त्ता मे ग्रहण को प्रमुख स्थान प्राप्त था जिससे राहु द्वारा सूर्य या चन्द्रमा पर आक्रमण की कल्पित कथा का प्रसार प्रकट होता है (राहुग्रस्ते दिवाकरौ—ए० इ० ४, ११)। यह विश्वास धार्मिक जनता मे आज भी उसी तरह प्रचलित है। भूतप्रेत तथा पितृ-तर्पण में विश्वास आज की तरह मध्ययुग मे भी था जिसका वर्णन लेखो में आता है (ए० इ० ४, कमौली दानपत्र)।

ऐसे वातावरण तथा राजनैतिक विषम परिस्थिति मे रहकर भी शासक गण आदर्श मार्ग का पालन करते थे। यद्यपि पुरातत्व विषयक अन्य सामग्रियों के आधार पर लोगों मे कामुकता की भावना का प्राबल्य दिखलाई पडती है, परन्तु विभिन्न लेखों मे 'निजवनितापरितुष्टो' या 'परदार-निवृत्तचित्तवृत्ते' वाक्यों का प्रयोग राजाओं के लिए किया गया है (ए० इ० १३, पृष्ठ २९२)। पाल-प्रशस्ति मे धर्मपाल तथा वाकपाल का जीवन तुलना में राम-लक्ष्मण के सदृश वर्णित है (ए० इ० १५, पृष्ठ २९३)। राजा-प्रजा सभी धार्मिक विचार मे मग्न रहकर दान से पुण्यलाभ एव स्वर्ग-प्राप्ति की कामना करते रहे। वैदिक यज्ञ के स्थान पर पौराणिक देवताओ की पूजा ने जनता के हृदय में स्थान बना लिया था। सभी बातो पर विचार कर यह कहना सर्वथा उचित होगा कि आज का हिन्दू-समाज मध्ययुगीन समाज का प्रतिबिम्ब है।

महायान बौद्धधर्म की उत्पत्ति और विकास

डॉ० लालमणि जोशी

हीनयान और महायान

तथागतश्रेष्ठ, मुनीन्द्र, गौतम बुद्ध की देशना बौद्धधर्म के ऐतिहासिक विभागद्वय—'हीनयान' और 'महायान'—अति प्राचीन काल से भारत एव भारतेतर एशियाई बौद्ध-साहित्य मे सुविख्यात है। 'हीनयान' को कतिपय आधुनिक लेखको ने 'प्राचीन बौद्धधर्म', 'पालि बौद्ध धर्म' एव 'दक्षिणी बौद्ध-धर्म' तथा 'महायान' को 'नवीन विकसित बौद्धधर्म', 'सस्कृत बौद्धधर्म' तथा 'उत्तरी बौद्धधर्म' आदि नामो से सम्बोधित किया है। इस प्रकार के काल-क्रम, भाषा-विषयक अथवा भौगोलिक नामकरणो के पर्याप्त आधार नही है। इसके विपरीत अनेक ऐतिहासिक युक्तियाँ उपस्थित की जा सकती है। उदाहरणार्थ, अनेक बौद्ध-सम्प्रदायो, यथा सर्वास्तिवाद का साहित्य सस्कृत मे है, परन्तु वे महायानी न होकर 'हीनयान' के अन्तर्गत आते है। लका (जो एशिया के सुदूर दक्षिण मे है) मे भी महायान बौद्धधर्म का प्रभाव और प्रचलन एक ऐतिहासिक तथ्य है। 'महायान' की अनेक मूलभूत बाते 'हीनयान' अथवा 'पालि-बौद्धधर्म' (तथाकथित 'प्राचीन बौद्धधर्म') मे विद्यमान है जिन्हे 'नवीन' कहना निर्भ्रान्त नही है।

बौद्धधर्म के विकास मे दो 'साम्प्रदायिक' विभागो को इगित करनेवाले 'हीनयान' और 'महायान' शब्दो की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, यह गवेषणीय विषय है। बौद्धधर्म के प्राचीनतम वाङमय, पालि त्रिपिटक मे ये शब्द अविदित है। आध्यात्मिक प्रगति का साधन होने के कारण धर्म की कल्पना 'यान' के रूप मे की गयी है। 'यान' से अर्थ 'पथ' अथवा 'मार्ग' से है। उपनिषदो मे 'देवयान', 'देवपथ', 'ब्रह्मपथ' आदि शब्दो का प्रयोग हुआ है।[1] सुत्तनिपात मे भी 'देवयान' शब्द का प्रयोग 'पथ' अथवा 'मार्ग' के लिए हुआ है।[2] चीनी सयुक्तागम मे अष्टाङ्गमार्ग को 'सद्धर्म-विनययान' तथा 'देवयान' की सज्ञाएँ दी गयी है।[3] स्पष्ट है कि 'हीनयान' और 'महायान' शब्दो का अर्थ क्रमश 'लघुतर मार्ग' और 'बृहत्तर मार्ग' से है।

'हीनयान' और 'महायान' शब्दो का प्रयोग सर्वप्रथम महायानसूत्रो मे हुआ है। इन शब्दो की शास्त्रीय और तुलनात्मक व्याख्या हमे अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र, लङ्कावतारसूत्र आदि के अतिरिक्त आचार्य नागार्जुन, असङ्ग आदि के ग्रन्थो मे देखने को मिलती है। इनके अनुसार 'महायान' से तात्पर्य प्रशस्त, बृहत्, गम्भीर, उत्तम, उच्चतम और वास्तविक आध्यात्मिक मार्ग से है। 'हीनयान' का अर्थ तुच्छ, लघु, सकुचित, निम्नतर तथा प्रारम्भिक धार्मिक पथ से है। यदि

---

[1] छान्दो० उप० ४।१५।६।

[2] खुद्दक निकाय, भाग १, नालन्दा देवनागरी पालि ग्रन्थमाला में भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा संपादित, पृष्ठ २८९। प्रस्तुत लेख में त्रिपिटक का यही संस्करण काम में लाया गया है।

[3] श्री आर० किमुर का 'ए हिस्टॉरिकल स्टडी ऑफ दि टर्म्स हीनयान एण्ड महायान' शीर्षक का लेख, कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा जर्नल ऑफ दि डिपार्टमेण्ट ऑफ लेटर्स, भाग १२, १९२५ में प्रकाशित, पृष्ठ १२१।

हीनयान दूध के समान है, तो महायान उस दूध का नवनीत है; पहला साधारण योग्यता के लोगो को अनुसरणीय है, परन्तु दूसरा विकसित बुद्धि और गम्भीर चिन्तनशक्ति युक्त व्यक्तियो के लिए है। इसमे सन्देह नही कि इस प्रकार का अर्थ रखनेवाले इन शब्दो के जन्मदाता महायानी थे, न कि हीनयानी।

श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान तथा बोधिसत्त्वयान

हीनयान और महायान के अतिरिक्त प्रारम्भिक महायान साहित्य मे हम 'श्रावकयान', 'प्रत्येकबुद्धयान' और 'बोधिसत्त्वयान' का यत्र-तत्र उल्लेख पाते है। 'श्रावकयान' का अर्थ है श्रोताओ अथवा शिष्यो का मार्ग, 'प्रत्येकबुद्धयान' व्यक्तिगत या व्यक्तिवादी बुद्धो का पथ है—ऐसे बुद्धो का मार्ग जो स्वय अपने आप और अपने ही कल्याण के लिए बोधि प्राप्त करते है। 'बोधिसत्त्वयान' भावी बुद्धो का, बोधिसत्त्वो का मार्ग है, बुद्धत्व प्राप्ति की इच्छा से पारमिताओ का अभ्यास करनेवालो का मार्ग बोधिसत्त्वयान कहलाता है। श्रावकयान और प्रत्येकबुद्धयान दोनो ही हीनयान के अन्तर्गत है।[४] श्रावकयान को अर्हत्‌यान भी कहते हैं—इस मार्ग के पथिक अर्हत् पद के लिए चेष्टा करते है। श्रावकयान तथा प्रत्येकबुद्धयान का लक्ष्य बोधि अथवा निर्वाण प्राप्त करना है। श्रावकगण सद्धर्म की शिक्षा बुद्ध मे अथवा बुद्ध के शिष्यो से प्राप्त करते हैं, वे सद्धर्म का प्रचार करके दूसरो को उसमे दीक्षित करते है। परन्तु प्रत्येक बुद्ध[५] ऐसा नही करते, वे न शिष्य होते हैं और न आचार्य, वे स्वय के प्रयत्नो से स्वय अपने लिए निर्वाण प्राप्त करते हैं। बोधिसत्त्वयान वस्तुत महायान है, इसे 'बुद्धयान', 'एकयान' तथा 'पारमितायान' आदि नामो से सबोधित किया जाता है। इस मार्ग के पथिक बोधिसत्त्वचर्या का अनुसरण करते हैं, उनका ध्येय प्राणियो के कल्याण के लिए असख्य जन्मान्तरो तक पारमिताओ यथा शील, दान, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा आदि के अभ्यास द्वारा बुद्ध-भूमि प्राप्त करना है। बोधिसत्त्व कौन है? जिसने प्राणियो के सुख और हित के लिए बुद्ध होने की प्रतिज्ञा कर ली है और उस प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिए जो सतत प्रयत्नशील है वह बोधिसत्त्व है। दूसरे शब्दो मे, जैसा कि भाष्यकार ने लिखा है 'तत्र बोधि अभिप्रायोऽस्येति बोधिसत्त्व'।[६] बोधि अथवा निर्वाण पर अभिप्राय निश्चित करनेवाले इन सत्त्वो को बोधिचित्तोत्पाद[७] करना पडता है और बोधिसत्त्वचर्या[८] अपनानी पडती है। प्रज्ञा और करुणा बोधिचित्त के दो आवश्यक अग हैं। प्रज्ञा द्वारा साधक ससार के नि-स्वभाव और प्राणियो के दुखो का ज्ञान प्राप्त करता है। प्रज्ञा 'शून्यता' का नामान्तर है[९], यह ज्ञान की पराकाष्ठा का द्योतक है, शून्यता वस्तुओ के वास्तविक स्वभाव का सम्यक् ज्ञान है, यह लोकोत्तर और अतीन्द्रिय ज्ञान है; यही परमार्थसत्य का बोधक है। करुणा से ओत-प्रोत हृदय होने के कारण साधुगण जीवों को ससाररूपी दुखसमुद्र से पार

[४] प्रोफेसर लुई द ला वाली पुसें का 'महायान' शीर्षक का लेख इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स वॉल्यूम ८ में।

[५] प्रत्येक बुद्धों पर देखिए—डॉ० जी० पी० मललसेकेर रचित 'डिक्शनरी ऑफ पालि प्रापर नेम्स', जिल्द २, पृष्ठ ९४-९५, २९४-२९५।

[६] बोधिचर्यावतारपञ्जिका, डॉ० प० ल० वैद्य द्वारा संपादित, पृष्ठ २००।

[७] वसुबन्धु कृत बोधिचित्तोत्पादसूत्रशास्त्र, विश्वभारती एनल्स, भाग २ में भदन्त शान्ति भिक्षु शास्त्री द्वारा सम्पादित व अनूदित।

[८] बोधिसत्त्वभूमि, प्रोफेसर उनरई वोगिहरा द्वारा संपादित।

[९] बोधिचर्यावतार, डॉ० प० ल० वैद्य द्वारा संपादित, ९ वॉं परिच्छेद।

निर्वाणनगरी तक ले जाने का निश्चय और प्रयत्न करते हैं।[१०] यही 'सवर' है, यही बोधिचित्त का उत्पादन है, यही महायान का उद्देश्य है।

सभी प्राणियो में तथागताङकुर है, सभी जीव सम्यक् सम्बुद्ध हो सकते हैं। अतएव सभी प्राणियो को निर्वाण दिलाने मे समर्थ मार्ग—महायान अथवा बोधिसत्त्वयान—वस्तुत महान् और श्रेष्ठ यान है। यही एकमात्र यान है, दूसरा कोई यान नही है. 'एक हि यान द्वितीय न विद्यते।'[११]

महायान बौद्धधर्म के अभ्युदय की शास्त्रीय परम्परा

महायान सूत्रो, शास्त्रो, परवर्ती बौद्ध तान्त्रिक ग्रन्थो एव चीनी तथा तिब्बती बौद्ध-साहित्यो में महायान के उद्भव, प्राचीनता एव प्रामाणिकता के बारे मे जो परम्परा सुरक्षित है वह इस प्रकार है। भगवान् बुद्ध ने सारनाथ के निकट मृगदाव मे प्रथमधर्मचक्रप्रवर्तन द्वारा हीनयान की देशना की थी। इस प्रथम उपदेश मे शाक्यमुनि ने श्रावकोपयोगी धर्म का प्रचार किया था। परन्तु निर्वाण-प्राप्ति के १६वे वर्ष मे उन्होने राजगृह के निकट गृध्रकूट पर्वत-शिखर पर बोधिसत्त्वो की विशाल सभा में महायान का उपदेश दिया था। अतएव महायान बौद्धधर्म भी उतना ही प्राचीन है जितना स्वय बुद्ध। इसके सूत्र बुद्ध-प्रोक्त हैं। प्रत्येक महायान सूत्र 'एव मया श्रुतम्। एकस्मिन् समये भगवान राजगृहे विहरति स्म गृध्रकूटपर्वते ' इस वाक्य से प्रारम्भ होता है, महायान का साहित्य उतना ही प्रामाणिक माना जाना चाहिये जितना कि पालि त्रिपिटक। आचार्य नागार्जुन के अनुसार बुद्ध ने दो प्रकार के उपदेश दिये थे—'व्यक्त' उपदेश और 'गुह्य' उपदेश। व्यक्त-उपदेश अर्हतो से सम्बन्धित, हीनयानविषयक थे; परन्तु गुह्य-उपदेश बोधिसत्त्वो से सम्बन्धित, महायानविषयक थे।[१२] सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र, अमितार्थसूत्र तथा सेकोद्देशटीका प्रभृति ग्रन्थों मे बुद्ध द्वारा गृध्रकूट पर्वत मे द्वितीय धर्मचक्रप्रवर्तन की परम्परा का उल्लेख मिलता है।[१३] परम श्रद्धालु बौद्ध पडित और परिव्राजक युवान-च्वाङ भी इस शास्त्रीय परम्परा का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि 'तथागत ने सद्धर्म के विकसित स्वरूप की देशना गृध्रकूट शिखर पर की थी।'[१४] तिब्बती बौद्ध विद्वान् बु-स्तोन अपने 'छोय-जुङ्' में इस किवदन्ती का उल्लेख करते हैं।[१५] आचार्य मैत्रेयनाथ तथा असङ्ग की दृष्टि में हीनयान और महायान का अभ्युदय साथ-साथ हुआ था।[१६] ई-चिङ ने भी दोनों यानो को समान रूप से उत्तम, प्रामाणिक एव बुद्ध-वचनानुसार माना है।[१७]

---

[१०] भावनाक्रम (प्रथम), प्रोफेसर ज्युसिप तुची द्वारा माइनर बुद्धिस्ट टेक्स्टस, भाग २ में संपादित।

[११] सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र, डॉ० प० ल० वैद्य द्वारा संपादित, पृष्ठ ३१।

[१२] श्री किमुर, पूर्वोल्लिखित ग्रन्थ, पृष्ठ ५७।

[१३] सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र, डॉ० नलिनाक्ष दत्त द्वारा संपादित, पृष्ठ ४४-४५; सेकोद्देशटीका, डॉ० एम. ई. कारेली द्वारा संपादित, पृष्ठ ४।

[१४] बुद्धिस्ट रिकार्ड्स ऑफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड, साम्युल बील द्वारा अनूदित, पृष्ठ ३७१-३७२ (कलकत्ता से प्रकाशित)।

[१५] हिस्ट्री ऑफ बुद्धिज्म, डॉ० ई० ऑबरमिलर द्वारा अनूदित, भाग २, पृष्ठ ४६–५२।

[१६] महायान सूत्रालङ्कार, डॉ० सिल्वाँ लेवी द्वारा संपादित, १।७।

[१७] ए रिकार्ड आफ दि बुद्धिस्ट रिलीजन एज प्रेक्टिस्ड इन इण्डिया एण्ड मलय आर्किपिलेगो, डॉ० जे० तकाकुसु द्वारा अनूदित, पृष्ठ १५।

यद्यपि उपर्युक्त 'शास्त्रीय परम्परा' महायानी दृष्टिकोण से पर्याप्त बलवती है, तथापि इसे ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्णरूपेण सत्य मानना निर्भ्रान्ति नही है। प्राचीनतम बौद्ध साहित्य, पालि त्रिपिटक में इस प्रकार की घटना का कोई आभास नही मिलता। बुद्ध के जीवन के इतिहास मे महायान के लिए आयोजित द्वितीय धर्मचक्रप्रवर्तन की ऐतिहासिक पुष्टि के लिए कोई निर्विवाद प्रमाण नही है। परवर्ती बौद्ध-साहित्य में महायान सूत्रो की प्रामाणिकता पर सन्देह की झलक मिलती है।[18] ऐसे महायान सूत्र जो ई० सन् की पहली या दूसरी शताब्दी मे रचे गये हैं वे बुद्ध-प्रोक्त नही हो सकते। इसी प्रकार बौद्ध तन्त्र, यथा गुह्य समाजतन्त्र, हेवज्रतन्त्र आदि भी बुद्ध-प्रोक्त नही कहे जा सकते। यह सच है कि 'सूत्र' (तिब्बती भाषा में '(म) दो') तथा 'तन्त्र' (तिब्बतीभाषा मे 'र्ग्युद') दोनो ही श्रेणी के ग्रन्थ अपने को बुद्ध-प्रोक्त कहते हैं। इस प्रसग मे सुविख्यात महायानी कथन 'यत्किंचिन्मैत्रेय सुभाषितं सर्वं तद्बुद्धभाषितम्'[19] ध्यान देने योग्य है। असङ्ग द्वारा 'मैत्रेय' से 'रहस्यवादी' बौद्ध धर्म (गुह्य-धर्म) विषयक उपदेश प्राप्त करने की परम्परा चीनी और तिब्बती बौद्ध-साहित्य में सुविदित है।[20] अपने सूत्रों और सिद्धान्तों को प्रामाणिक बनाने की चेष्टा में महायानियो ने उपर्युक्त परम्परा की सृष्टि की होगी। शाक्यमुनि बुद्ध ने अपने आध्यात्मिक अनुभव को 'गुह्य' एव 'व्यक्त' अथवा 'महायान' और 'हीनयान' नामक दो श्रेणियों मे विभाजित करके दो भिन्न-भिन्न अवसरो पर उनका प्रकाशन किया था, यह बात महायान के पक्ष में है और इस पर विश्वास करनेवाले श्री आर० किमुर के समान अन्य विद्वान् भी हैं।

आचार्य नागार्जुन और महायान की उत्पत्ति

भारत, नेपाल, तिब्बत तथा चीन में विद्यमान कतिपय महायान ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि महायान बौद्धधर्म के अभ्युदय और प्रारम्भिक विकास में आचार्य नागार्जुन की कृतियो का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था। लङ्कावतारसूत्र मे घोषणा की गयी है कि तथागत के महापरिनिर्वाण के चार सौ वर्षों के पश्चात् आचार्य नागार्जुन द्वारा महायान का प्रकाशन होगा।[21] आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प नामक वैपुल्य-सूत्र में भी यह महत्त्वपूर्ण उल्लेख पाया जाता है।[22] कश्मीरी इतिहासकार कल्हण भी नागार्जुन द्वारा बोधिसत्त्वों की सुरक्षा और संवृद्धि का उल्लेख करते हैं।[23] तिब्बती इतिहासकार गो-लोत्सावा जोङनुपल भी अपने 'देबथेर ङोन पो' में नागार्जुन को बुद्ध के परिनिर्वाण के चार सौ वर्षों बाद रखते हैं[24]। महायान के विकास में नागार्जुन के विशिष्ट और अद्वितीय प्रयत्नो का विशद उल्लेख सुम-पा-कनपो तथा तारानाथ के ग्रन्थो में भी देखा जा सकता है।[25] अधिकाश आधुनिक लेखको

[18] उदाहरणार्थ, बोधिचर्यावतार, ९।४२–४४।

[19] शिक्षासमुच्चय, डॉ० प० ल० वैद्य द्वारा संपादित, पृष्ठ १२।

[20] टॉमस वाटर्स, ऑन युवान-च्वाङ्स ट्रैवेल्स इन इण्डिया, दिल्ली से १९६१ में प्रकाशित, भाग १, पृष्ठ ३५५-३५७; जी० एन० रोरिक, दि ब्लू एनल्स, भाग १, पृष्ठ २३३ तथा पादटिप्पणी।

[21] लङ्कावतारसूत्र, डॉ० नान्जियो द्वारा संपादित, पृष्ठ २८६।

[22] मञ्जुश्रीमूलकल्पसूत्र, पंडित टी० गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित, पृष्ठ ६१६।

[23] राजतरंगिणी, डॉ० एम० ए० स्टाइन द्वारा संपादित, १.१६९-१७३।

[24] दि ब्लू एनल्स, भाग १, पृष्ठ ३४।

[25] मिस्टिक टेल्स ऑफ लामा तारानाथ, बी० एम० दत्त द्वारा अनूदित, पृष्ठ ९–१०; इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली १९५४, पृष्ठ ९३-९४।

ने नागार्जुन को दूसरी शताब्दी ई० मे रखा है और महायान के अभ्युदय से उनका अनन्य सम्बन्ध माना है। तिब्बती तथा चीनी परम्पराओ में आचार्य नागार्जुन के विषय में अत्यधिक गडबड़ सूचनायें पायी जाती हैं। तिब्बती ग्रन्थो मे, महायानी, माध्यमिक विचारक, सातवाहनयुगीन नागार्जुन और परवर्तीकाल के तान्त्रिक सिद्ध, सरह के शिष्य, ८४ सिद्धो मे १६वे, रसायनशास्त्र के कुशल पडित नागार्जुन के बीच कोई अन्तर व भिन्नता न समझने की भूल हुई है। इस भ्रामक सूचना को और भी शक्तिशाली बनाने की चेष्टा मे तिब्बती व चीनी लेखको ने नागार्जुन को छ या सात सौ वर्षों की दीर्घायु भी प्रदान की है। इसमे सन्देह नही कि नागार्जुन नाम के एक से अधिक व्यक्ति प्राचीन भारत मे हुए हैं।

महायान के मूल स्रोत

शाक्यमुनि बुद्ध की शिक्षाओ मे अनेक बाते महायान के बीजरूप मे सुरक्षित प्रतीत होती है। महायान तथाकथित हीनयान के गर्भ से उदित होता है और महायान सूत्रो व शास्त्रो मे प्रतिपादित सिद्धान्त-निकायो मे सुरक्षित सुत्तो की उपज है। पालि त्रिपिटक मे यत्र-तत्र उल्लिखित बुद्ध का स्वरूप, उनका विलक्षण व अनिर्वचनीय व्यक्तित्व, उनकी अपरिमित शक्ति, लोकोत्तरता, महाकरुणा, 'बुद्ध' तथा 'धर्म' का तादात्म्य प्रभृति कितनी ही बाते 'महायानी बुद्ध' की यादे दिलाती हे। एक स्थान पर भगवान् कहते हे--'यो म पस्सति सो धम्म पस्सति'।[२६] दूसरे स्थल पर तथागत कहते हैं--'मैं देव नही हूँ, गन्धर्व नही हूँ, यक्ष नही हूँ, मनुष्य भी नही हूँ। मै बुद्ध हूँ'।[२७] यह स्मरणीय है कि भगवत्, अर्हत, तथागत, सुगत और सम्यक्सम्बुद्ध आदि सज्ञाओ मे सबोधित होनेवाले बुद्ध स्वय घोषित करते हैं कि 'में मनुष्य नही हूँ'। पालि त्रिपिटक मे भी बुद्ध अलौकिक ही नही, अपितु लोकोत्तर भी है। अन्यत्र बुद्ध कहते हैं कि "ससार मे उत्पन्न होकर, ससार मे वृद्धि को प्राप्तकर, मैं संसार से ऊपर उठ चुका हूँ, जिस प्रकार पुण्डरीक (जल मे विकसित होकर भी) जल से लिप्त नही होता, उसी प्रकार मैं ससार से लिप्त नही होता।"[२८] एक बार एक व्यक्ति ने तथागत की जाति, स्थिति, गोत्र आदि जानने की इच्छा प्रकट की थी। उसे उत्तर मिला--'न मै ब्राह्मण हूँ, न राजपुत, न व्यापारी, मैं 'कुछ' भी नही हूँ, अकिञ्चन, गृहत्यागी, अहभावविहीन, निर्लिप्त साधु की भाँति लोक मे विचरण करता हूँ। मेरे गोत्र आदि विषयक प्रश्न पूछना अनुचित है।'[२९] आनन्द से एक बार बुद्ध ने कहा था--"यदि चाहे तो तथागत कल्पान्त तक जीवित रह सकता है।"[३०] बुद्ध के समकालीन व्यक्ति उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को 'अब्भुत' (अद्भुत) मानते थे।[३१] सचमुच वे माध्यमिको के 'शून्यता' की नाईं चतुष्कोटिविनिर्युक्त एव प्रपञ्चोपशम थे।[३२] जब बुद्ध किसी विपुल सभा में उपदेश देते थे, लोग समझते थे और कहते थे "कौन है यह जो इस प्रकार बोलता है? मनुष्य अथवा देव?"[३३]

---

[२६] संयुत्त निकाय, भाग २, पृष्ठ ३४०--३४१।।
[२७] अङ्गुत्तर निकाय, भाग २, पृष्ठ ४०--४१।
[२८] अङ्गुत्तर निकाय, भाग २, पृष्ठ ४१।
[२९] सुत्तनिपात (खुद्दकनिकाय, भाग १ में), पृष्ठ ३३४--३३५।
[३०] एफ० एल० वुड्वर्ड, समसेयिंग्स ऑफ दि बुद्ध, पृष्ठ ३३७।
[३१] दीघनिकाय, भाग २, पृष्ठ ८।
[३२] दीघ निकाय, भाग १, 'अब्याकटापञ्हा', पृष्ठ १५६ से आगे।
[३३] दीघनिकाय (अंग्रेजी अनुवाद) सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, भाग ११, पृष्ठ ४८।

लेखक की दृष्टि में बौद्ध धर्म के इतिहास के प्रथम पाँच सौ वर्षों मे सबसे महत्त्वपूर्ण विचार-विकास बुद्ध-विषयक था। महायान धर्म मे भी सर्वाधिक आकर्षक और व्यापक सिद्धान्त बुद्ध-विषयक ही है। उपर्युक्त विचार जो प्राचीन पालि वाङ्मय से चुने गये है, महायान सूत्रों मे वर्णित लोकोत्तर, देवातिदेव, त्रिकालदर्शी, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वभूतानुकम्पी, धर्मकाय, परमार्थस्वरूप, देवताओ और मनुष्यो के शास्ता, अनुत्तर सम्यक्-सम्बोधि की निर्मल देशना देनेवाले, त्रयस्त्रिंशत-लोकवासी, कालातीत, एव प्रत्यात्मवेदनीय तथागत के स्वरूप के सिद्धान्त के विकास के मूल स्रोत थे। बुद्ध के दैवीकरण के और भी अकुर पालित्रिपिटक मे विद्यमान हैं।[२४]

न केवल बुद्धविषयक विचार, अपितु महायान दर्शन--माध्यमिक एव विज्ञानवाद--की भी लगभग सारी सामग्री निकायो मे सुरक्षित है। नागार्जुन के दार्शनिक सम्प्रदाय--माध्यमिकनय--का नामकरण वस्तुत तथागत के मध्यम-मार्ग (मज्झेन धम्मो, मज्झिमापटिपदा) पर आधारित था। शाश्वतवाद और उच्छेदवाद का अतिक्रमण करना बुद्ध-दर्शन--प्रतीत्यसमुत्पाद, निर्वाण, नैरात्म्य आदि--के मूल मे निहित था। इसीका नामान्तर माध्यमिकनय अथवा शून्यतादर्शन है जो सत्-असत्, अस्ति-नास्ति, आदि प्रपञ्चपूर्ण मतो का निराकरण करता है। माध्यमिककारिकाओ मे प्रतिपादित शून्यता-दृष्टिकोण वस्तुत बुद्ध द्वारा प्रतिपादित अनित्यता एव प्रतीत्यसमुत्पन्नता के सिद्धान्तो का तार्किक निष्कर्ष है। सुञ्ञ (शून्यम्) शब्द का प्रयोग निकायो मे अनेक स्थलो मे हुआ है। एक स्थान पर भगवान् आनन्द से कहते है--"यस्मा च खो आनन्द, सुञ्ञ अत्तेन वा अत्तनियेन वा, तस्मा सुञ्ञा लोको ति वुच्चति।"[२५] सत्य तो यह है कि परिव्राजक निग्रोध बुद्ध की प्रज्ञा को 'शून्यता-ग्राही' कहा करता था।[२६] अर्हन्तसुत्त मे 'व्यवहार-सत्य' और 'परमार्थ-सत्य' का भेद ध्यान देने योग्य है।[२७]

महायान के प्रज्ञापारमिता साहित्य मे प्रज्ञा की जो महिमा है उसका बीजरूप हमे निकायो मे मिलता है। 'पञ्ञाचक्खु' अनुत्तर कहा गया है।[२८] प्रज्ञावानो (पञ्ञावन्ता) की सख्या अत्यल्प है।[२९] निर्वाणगामिनी प्रतिपदा के तीन आवश्यक तोरणो मे प्रज्ञा ही अनुत्तर विमुक्ति के निकट है।[३०] प्रोफेसर आर्थर बेरीडेल कीथ[३१] द्वारा प्रतिपादित यह मत कि महायान के 'प्रज्ञापारमिता' के सिद्धान्त के विकास मे यूनानी 'सोफिया' और एशियाटिक यूनान (बैक्ट्रिया आदि यूनानी बस्तियो) के 'ग्नॉसिस' के सिद्धान्त का प्रभाव पडा था, सर्वथा निस्सार एव निराधार मालूम होता है। उन्होंने महायान की जन्मभूमि उत्तरपश्चिमी प्रदेश, गन्धार-कश्मीर आदि को माना है। परन्तु, प्रज्ञापारमितानय अथवा महायान का उदय उत्तर-पश्चिम मे नही, दक्षिणी भारत मे हुआ था। इसके अतिरिक्त,

---

[२४] प्रोफेसर एच० नकामुरा का 'दि डिइफिकेशन ऑफ गोतम दि मेन' शीर्षक का लेख, नवीं आइ० सी० एच० आर०, टोक्यो १९५८ की प्रोसीडिंग्ज में प्रकाशित।

[२५] संयुक्तनिकाय, भाग ३, पृष्ठ ५०-५१; सुञ्ञ शब्द के लिये देखिये--दीघनिकाय, भाग १, पृष्ठ १७; अङ्गुत्तरनिकाय, भाग १, पृष्ठ २७९, आदि।

[२६] दीघनिकाय, भाग ३, पृष्ठ ३०।

[२७] संयुक्त निकाय, भाग १, पृष्ठ १५ तथा आमुख पृष्ठ ६।

[२८] खुद्दकनिकाय, भाग १, पृष्ठ २१८।

[२९] अङ्गुत्तरनिकाय, भाग १, पृष्ठ ३५।

[३०] दीघनिकाय, भाग २, पृष्ठ ९५।

[३१] बुद्धिस्ट फिलॉसफी इन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृष्ठ २१९।

'सोफिया' और 'प्रज्ञा' के अर्थों मे मौलिक भेद है । सोफिस्ट विचारको की 'सोफिया' सूक्ष्म बुद्धि (विज़्डम) है, परन्तु महायान सूत्रों की 'प्रज्ञापारमिता' शून्यता, धर्मता, तथता आदि का पर्याय है।

विज्ञप्तिमात्रतादर्शन की जडे भी दृढता के साथ निकायो के पृष्ठो पर अटकी हुई हैं । इस तथ्य की ओर पहले भी प्रोफेसर कीथ, प्रोफेसर पुसे, प्रोफेसर विधुशेखर भट्टाचार्य एव प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र पाण्डे प्रभृति विद्वानो ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया था।[५२] धम्मपद की प्रारम्भिक पक्तियाँ मानो विज्ञानवाद की घोषणा कर रही हैं--

"मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनो सेट्ठा मनोमया ।
मनसा चे पुदुट्ठेन भासति वा करोति वा ।
ततो 'न दुक्खमन्वेति' चक्कं व वहतो पद ।'।"[५३]

'चित्तसुत्त' मे मन को विश्व का शासक व नियन्ता कहा गया है।[५४] दीघनिकाय मे 'मन', 'चित्त' एव 'विज्ञान' एक दूसरे के पर्याय के रूप मे प्रयुक्त हुए हैं ।[५५] यह तथ्य वसुबन्धु की विंशतिका की प्रारम्भिक पक्तियो का स्मरण दिलाता है। अगुत्तरनिकाय मे एक स्थान पर मानो विज्ञप्तिमात्रता के सिद्धान्त की व्याख्या कर दी गयी है--"पभस्सरमिद, भिक्खवे, चित्त । त च खो आगन्तुकेहि उपक्किलेसेहि उपक्किलिट्ठति ।"[५६]

महायान के बोधिसत्त्व के आदर्श एव सिद्धान्त के लिए जातक-कथाये तथा शाक्यमुनि की जीवनी पर्याप्त पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हे । महाभिनिष्क्रमण, बोधिलाभ और धर्मचक्रप्रवर्तन आदि घटनायें "बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय, लोकानुकम्पाय" महाकारुण्य, उपायकौशल्य एव बोधिचित्तप्रभाद के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।[५७] विस्तृत जातक-साहित्य मे पारमिताओ मे परिपूर्णता प्राप्त करने के महान् प्रयत्नो का विशद वर्णन मिलता है । इस प्रकार हम पालित्रिपिटक मे--प्राचीनबौद्धधर्म मे--त्रिकायवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद, प्रज्ञापारमिता, बोधिसत्त्वचर्या आदि महायान के आधारभूत सिद्धान्तो के अङ्कुर पाते हैं ।

सम्राट्श्रेष्ठ अशोक के धार्मिक एव समन्वयात्मक प्रयत्नो के फलस्वरूप बौद्धधर्म मे ब्राह्मण-धर्म तथा भारतीय जन-विश्वासो एव सामान्य आचरणो का आक्रमण हुआ होगा । वैष्णव-सम्प्रदाय का, विशेषरूप से विष्णु-पूजा, कृष्णभक्ति, अवतारवाद आदि का महायान के विकास मे कुछ प्रभाव सम्भाव्य होते हुए भी गवेषणीय है।

महासांघिक बौद्ध विचार-धारा का विकास

बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग एक शताब्दी पश्चात् वैशाली मे सम्पन्न हुई द्वितीय बौद्ध-

---

५२ इन लेखको के द्रष्टव्य ग्रन्थ, क्रमशः प्रि-कैननिकलबुद्धिज्म, इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली १९३६; इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, १९३४; एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स में 'महायान' लेख; स्टडीज इन दि ओरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म, पृष्ठ ४९३, ४९८ तथा अन्यत्र ।

५३ खुद्दक निकाय, भाग १, पृष्ठ १७ ।

५४ संयुक्त निकाय, भाग १, पृष्ठ ३७ ।

५५ दीघनिकाय, भाग १, पृष्ठ २० ।

५६ अङ्गुत्तरनिकाय, भाग १, पृष्ठ १० ।

५७ द्रष्टव्य महावग्ग, पृष्ठ ६-१३ ।

संगीति में बुद्धशासन और भिक्षु-संघ दो निकायों में विभक्त हो गया था। इस घटना की सूचना हमें पालि साहित्य, सिंहली साहित्य, चीनी साहित्य तथा तिब्बती साहित्य से प्राप्त होती है।[४८] इन दो निकायों—(१) स्थविरवाद और (२) महासांघिक—में पहला कट्टर और ऐतिहासिक दृष्टि से यथार्थवादी तथा रूढ़िवादी था, परन्तु दूसरा उदार, जनतन्त्रात्मक और आदर्शवादी था। महासांघिक बौद्ध शाखा का जन्म ई० पूर्व चौथी शताब्दी के मध्य में रखा जा सकता है, यही शाखा महायानी विचारों के विकास में अग्रणी रही होगी, क्योंकि इन्हीं महासांघिकों की परम्परा से आगे चलकर 'लोकोत्तरवादी' बौद्ध शाखा का विकास हुआ। लोकोत्तरवादियों का उदयकाल लगभग ई० पूर्व तीसरी शताब्दी प्रतीत होता है। लोकोत्तरवादी महासांघिक बौद्धों की एक उप-शाखा 'वेतुल्यकों' की थी, इन वेतुल्ल-वादी (वैतुल्यक, वैपुल्यक) बौद्धों को ही वस्तुतः महायान का 'वास्तविक' जन्मदाता कह सकते हैं। जैसा कि त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन, डॉ० एन्ड्रो बारो तथा प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र पाण्डे महाशय ने माना है, इन वेतुल्यकों का सम्बन्ध वैपुल्यसूत्रों (महायान सूत्रों) तथा वज्रपर्वतवासीनिकाय (वज्रयान) से था।

मध्यदेशीय महासांघिक लोकोत्तरवादियों का एक प्रामाणिक शास्त्र महावस्तु अवदान है। हर्ष का विषय है कि यह महान् और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मूलरूप में प्रकाशित और आंग्ल भाषा में अनूदित किया जा चुका है।[४९] प्रोफेसर पुर्से का यह कथन कि महावस्तु हीनयान और महायान के मध्य पुल की तरह है, युक्तियुक्त है। लोकोत्तरवादियों के अनुसार बुद्ध लोकोत्तर थे। न केवल बुद्ध वरन् बोधिसत्त्व भी लोकोत्तर होते हैं। बुद्धों की सभी क्रियाएँ लोकोत्तर होती हैं; उनकी विष्ठा सुगन्धित होती है। इस ग्रन्थ में बुद्धों और बोधिसत्त्वों की असीमित संख्या, उनकी पारमार्थिक सत्ता तथा उनके दैवी और अतिमानुषिक स्वभाव व व्यवहार पर आस्था प्रकट की गयी है। बुद्ध माँ के गर्भ से नहीं जन्मते, उनका जन्म कोख से होता है, वह जन्म मनोमय होता है, शारीरिक या भौतिक नहीं। महाकरुणा से ओतप्रोत हृदय होने के कारण बुद्धों के कार्य लोकानुवर्तन के अनुकूल होते हैं। दशभूमिक शीर्षक के अध्याय में बोधिसत्त्वचर्या के सिद्धान्त का प्रारम्भिक रूप भी स्पष्ट देखा जा सकता है।[५०] लोकोत्तर सिद्धान्तों का विकास करने में महासांघिक और उनके उप-निकायों का कितना हाथ था इसका समुचित विवेचन प्रोफेसर एम० अनेसकी ने अपने एक निबन्ध में किया है।[५१]

---

[४८] बौद्ध निकायों के उद्गम और उनके प्रभेदों के इतिहास के मूल साक्ष्य ये हैं :—चुल्लवग्ग, पृष्ठ ४१६ से आगे; महावंस, अध्याय ४–५; दीपवंस, अध्याय ५–६; डब्ल्यु० रॉकहिल, लाइफ ऑफ बुद्ध, अध्याय ५ से आगे; जे० मसुदा, ओरिजिन एण्ड डॉक्ट्रिन्स ऑफ अर्ली इण्डियन बुद्धिस्ट स्कूल्स, एशिया मेजर, भाग २ में; वाटर्स, युवान-च्वाङ तथा तकाकुसु, ई-त्सिङ; ब्लु एनल्स, भाग १; आधुनिक ग्रन्थों में विशेष उल्लेखनीय ये हैं:—डॉ० नलिनाक्ष दत्त, अर्ली मॉनस्टिक बुद्धिज्म, भाग २; डॉ० ए० बारो, ले सेक्ट्स बुद्धीक्स दु पेटीट् वेहिकुल; डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डे, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ १८३ से आगे, तथा डॉ० ई० लामोत, हिस्तवायर दु बुद्धिस्मे इण्डीन, भाग १।

[४९] ई० सेनार द्वारा पेरिस से ३ भागों में संपादित और जोन्स द्वारा अंग्रेजी में अनूदित तथा लन्दन से प्रकाशित।

[५०] महावस्तु, ई० सेनार द्वारा संपादित, भाग १, पृष्ठ १४२–१९३।

[५१] देखिये 'बुद्धिस्ट डॉसेटिसिज्म' नामक लेख इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स में।

महायान का प्रकाशन श्रीपर्वत तथा श्रीधान्यकटक में (ई० पूर्व दूसरी शताब्दी)

ई० सन् की प्रारम्भिक शतियों के अनेक ब्राह्मी अभिलेखों से ज्ञात होता है कि महासांघिक परम्परा का विकास दक्षिणापथ में आन्ध्रशासकों—सातवाहन तथा इक्ष्वाकु राजवंशों के शासनकाल में—अपरशैल, पूर्वशैल तथा चैत्यकों द्वारा हुआ था।[51] अमरावती तथा नागार्जुनीकोंडा से प्राप्त बौद्ध पुरातत्त्वावशेष इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।[52] स्मरणीय है कि मञ्जुश्रीमूलकल्प इसी प्रदेश से प्राप्त हुआ था; यह ग्रन्थ विदिशा को उत्तर-पश्चिम के मध्य में उल्लिखित करता है, जिससे इसका आन्ध्रदेश में रचा जाना संकेतित है।[54] यह एक महायान वैपुल्यसूत्र है। इसमें श्रीपर्वत-महाशैल को बुद्ध-उपासना और चैत्यवादियों का केन्द्र कहा गया है।[55] युवान-च्वाङ के अनुसार महासांघिक भदन्तों की परम्परा में एक ग्रन्थ ऐसा था जो 'विद्याधरपिटक' अथवा 'धारणीपिटक' कहलाता था।[56] इस प्रकार का साहित्य महायान सूत्रों के अति निकट है।

तिब्बती साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि शैल-सम्प्रदाय के बौद्धों ने एक प्रज्ञापारमिता-ग्रन्थ को प्राकृत भाषा में लिपिबद्ध कर लिया था।[57] वेतुल्यकों ने बोधिसत्त्वों के लिए विशेष अभिप्राय से 'मेथुनोधम्मो' का प्राविधान अपने विनय के अन्तर्गत रखा था; यह एक प्रकार का उपायकौशल्य ही मानना पड़ेगा। इसकी सूचना हमें कथावत्थु से मिलती है।[58] यह ग्रन्थ अभिधम्म-पिटक का भाग है और इसके रचयिता अशोक के बौद्ध उपाध्याय स्थविर मोग्गलिपुत्ततिस्स बताये जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि महासांघिक परम्परा से प्रस्फुटित लोकोत्तरवाद, अपर-शैल, पूर्वशैल, चैत्यवादी तथा वैतुल्यवादी बौद्ध निकायों द्वारा ऐसे साहित्य और सिद्धान्तों का विकास हुआ जो महायान बौद्धधर्म की आवश्यक तथा निकटतम प्रस्तावना के विषय थे।[59] इन्हीं परिस्थितियों में कुछ प्रज्ञापारमिता सूत्रों का आविर्भाव हुआ। प्रज्ञापारमिता साहित्य का प्रकाशन वस्तुतः महायान का प्रकाशन माना जाना चाहिये। प्रज्ञापारमिता साहित्य का प्रकाशन ई० पूर्व दूसरी शताब्दी में रखा जा सकता है। इस मत के समर्थन में यह कहा जा सकता है प्राचीनतम प्रज्ञापारमिता-ग्रन्थ प्राकृत में निबद्ध रहा होगा, इसकी पुष्टि एक ओर तिब्बती परम्परा से होती है जिसके अनुसार शैलशाखाओं ने प्रज्ञा-ग्रन्थ को प्राकृत में रचा था, दूसरी ओर यह ध्यान देने योग्य है कि लगभग सभी महायान-सूत्र संस्कृत भाषा में होते हुए भी प्राकृत भाषा के शब्दों का पर्याप्त प्रयोग करते हैं; उनकी भाषा संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का मिश्रण है। प्रोफेसर फ्रेंकलिन एडजर्टन ने इसे 'हाइब्रिड संस्कृत' कहा है जो युक्त है।[60] प्रोफेसर हाजिमे नकामुरा का यह सुझाव कि प्रारम्भ में सभी महायान-

[51] एपीग्राफिया इण्डिका, भाग ६, पृष्ठ १३६, १४१, १४६; इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, १६३१; एन्शियन्ट इण्डिया, नं० १६, दिल्ली १६६०, पृष्ठ ६८-६६।

[52] जेम्स बर्जेस, बुद्धिस्ट स्तूप्स ऑफ अमरावती एण्ड जग्गयपेट, पृष्ठ १००; डॉ० नलिनाक्ष दत्त, एस्पेक्टस ऑफ महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ २२।

[54] मंजुश्रीमूलकल्प, टी० गणपति शास्त्री द्वारा संपादित, भाग १, पृष्ठ १७५।

[55] मंजुश्रीमूलकल्प, भाग १ पृष्ठ ८८।

[56] बुद्धिस्ट रिकॉर्ड्स ऑफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड, पृष्ठ ३८१।

[57] वासिल्यू, देर बुद्धिस्मस, पृष्ठ २६१; दत्त, ऐस्पेक्टस, पृष्ठ ३६।

[58] कथावत्थु, पृष्ठ ५३५।

[59] पं० राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्त्वनिबन्धावली, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १०७।

[60] बुद्धिस्ट हाइब्रिड संस्कृत, ग्रैमर एण्ड डिक्शनरी, २ भागों में।

सूत्र प्राकृतभाषा में लिपिबद्ध रहे होंगे, वास्तव मे बहुत आकर्षक और सत्य से भरा प्रतीत होता है।[११] प्रज्ञापारमिता साहित्य के साथ आचार्य नागार्जुन का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। आचार्य नागार्जुन का प्रादुर्भाव ई० पूर्व प्रथम शताब्दी मे हम पहले ही बतला चुके हैं और उसके लिए सबल साक्षो का उल्लेख भी ऊपर किया जा चुका है। नागार्जुन से पूर्व ही प्रज्ञापारमिता सूत्रो का प्रकाशन हो चुका था; क्योकि उन्होंने एक प्रज्ञापारमितासूत्र पर विस्तृत टीका लिखी थी जो महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र के नाम से चीनी अनुवाद में अब भी विद्यमान है।[१२] प्रोफेसर लामोत ने इस महान शास्त्र का फ्रांसीसी भाषानुवाद भी प्रकाशित कर दिया है।[१३] उपर्युक्त विवरण से हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

१ महायान बौद्धधर्म के मूल श्रोत बुद्ध के उपदेशो मे और पालित्रिपिटक मे विद्यमान थे।

२. महासांघिको के उप-निकायों द्वारा, विशेषरूप से, लोकोत्तरवादी तथा वैतुल्यक शाखाओं द्वारा, महायान की दिशा मे विचार और साहित्य का विकास हुआ। महायान और हीनयान उपाधियो का प्रयोग सर्वप्रथम इन्ही बौद्धो ने किया होगा।

३. महायान की पृष्ठभूमि को विकसित करनेवाले इन बौद्ध-सम्प्रदायो अथवा निकायो के क्रीडा-क्षेत्र दक्षिण भारत मे, आन्ध्र-प्रदेश मे, विशेषरूप से, श्रीपर्वत और धान्यकटक थे। अतः महायान की जन्मभूमि दक्षिणापथ मे निश्चित होती है।

४. प्राथमिक महायान सूत्रों—प्रज्ञापारमितासूत्रों—की रचना प्राकृत भाषा मे दक्षिण मे ई० पूर्व दूसरी शताब्दी मे हो चुकी होगी।

५. आचार्य नागार्जुन का आविर्भाव ई० पूर्व प्रथम शताब्दी मे हुआ। उन्होने प्रथम प्रज्ञापारमितासूत्र मे भाष्य लिखा और महायान की प्रारम्भिक प्रक्रिया को निश्चित दिशा प्रदान की।

६. महायान बौद्धधर्म का उन्मीलन ई० पूर्व दूसरी शताब्दी तथा ई० पूर्व प्रथम शताब्दी के मध्य मे दक्षिण भारत हो चुका था।

आलोचना

अधिकाश आधुनिक विद्वानो ने महायान का ऐतिहासिक उन्मीलन प्रथम ख्रिष्टाब्दी (ई० सन् की प्रथम सदी) मे माना है, इसी प्रकार महायान के प्राचीनतम सूत्रो—प्रज्ञापारमितासूत्रों—का प्रकाशनकाल भी प्रथम शताब्दी ई० पूर्व माना गया है, अत. आचार्य नागार्जुन का समय पहली व दूसरी शताब्दी ई० का मध्य माना जाता है। इस प्रकार के मतो के माननेवालो मे ला वाली पुसे, यामाकामी सोगन, हेनरी कर्न, मौरिज़ विन्टर्नित्स, नलिनाक्ष दत्त, चार्ल्स इलियट, मैकगवर्न, डॉ० पाण्डे आदि प्रसिद्ध विद्वानो के नाम गिनाये जा सकते हैं।[१४] दूसरी ओर, महायान के अभ्युदय में

---

[११] बुलेटिन ऑफ दि ओकुरायामा ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट, नं० २, १९५७।

[१२] बी० नञ्जियो, कैटलॉग ऑफ दि चाइनीज ट्रान्सलेशन ऑफ दि बुद्धिस्ट त्रिपिटक, संख्या ११६९ में उल्लिखित।

[१३] ल त्रेते द ग्रांद वर्तु द साजेस द नागार्जुन, २ भागों में।

[१४] क्रमशः 'महायान' इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स में; सिस्टम्स ऑफ बुद्धिस्टिक थॉट; मैनुअल ऑफ इण्डियन बुद्धिज्म; हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २; एस्पेक्टस ऑफ महायान बुद्धिज्म; हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, भाग २; इन्ट्रोडक्शन टु महायान बुद्धिज्म तथा बौद्धधर्म के विकास का इतिहास।

आर्थर बेरीडेल कीथ सरीखे लेखको ने बौद्धेतर एव अभारतीय प्रभाव देखा है और उसकी जन्मभूमि उत्तर-पश्चिम मे—गन्धार—कश्मीर के प्रदेशो मे व तिथि कुषाण कनिष्क के समय मे निश्चित की है।

१. आचार्य नागार्जुन के आविर्भाव के विषय मे मञ्जुश्रीमूलकल्प, लङ्कावतारसूत्र तथा देब-थेर स्ङोन-पो मे स्पष्ट कहा गया है कि बुद्ध के परिनिर्वाण के चार सौ वर्षों बाद उनका जन्म हुआ।[१५] प्रसिद्धि है कि नागार्जुन एक दीर्घायु मनीषी और सिद्धियुक्त योगी थे। युवान-च्वाङ, ई-चिङ, गो-लोत्सावा जोन्नु पल, तारानाथ तथा सुम-पा-कनपो आदि सभी प्राचीन और मध्यकालीन बौद्ध-विद्या-विशारद एक मत से इस बात की पुष्टि करते है कि आचार्य दीर्घायु थे और शातवाहन राजा के समय में उनकी मृत्यु हुई।[१६] यह शातवाहन राजा सम्भवत यज्ञश्री-गौतमीपुत्र (ई० १६६–१६६) था। उक्त वश के राजा और सुविख्यात आचार्य की मैत्री का प्रमाण 'सुहृल्लेख' मे भी है जो आचार्य द्वारा शातवाहन राजा को 'पत्र मित्र को' के रूप मे लिखा गया है।[१७] यद्यपि नागार्जुन को छ-सात सौ वर्षों की आयु नही दी जा सकती जैसा कि तिब्बती साहित्य मे पाया जाता है, परन्तु ई० पूर्व प्रथम शताब्दी मे पैदा होकर दूसरी शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध में मृत्यु को प्राप्त होना नागार्जुन जैसे महर्षि के लिए बहुत सभव है। अतएव आचार्य नागार्जुन का जन्म ई० पूर्व प्रथम शती और मृत्यु ई० सन् की दूसरी शती मे निश्चित की जा सकती है।

२. जब नागार्जुन का जन्म ई० पूर्व प्रथम शताब्दी मे सिद्ध होता है तो प्रज्ञापारमिता-सूत्रो की प्राचीनतम तिथि निश्चय ही नागार्जुन से पूर्व तय हो जाती है। एक प्रज्ञापारमितासूत्र, कदाचित् अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमितासूत्र का चीनी भाषा मे अनुवाद लोकरक्ष ने ई० सन् १४८ मे ही कर लिया था। परन्तु नागार्जुन ने जिस प्रज्ञापारमितासूत्र पर महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र नाम की विशाल टीका लिखी थी उसे ई० पूर्व दूसरी शताब्दी मे रखना ही पडेगा। डॉक्टर एम० विन्टरनित्स ने यहाँ तक कहा है कि नागार्जुन ने सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र को उद्धृत किया था। अत. यह प्रख्यात सूत्र भी अति प्राचीन होना चाहिये।

३. जहाँ तक महायान के उन्मीलन-क्षेत्र का प्रश्न है, उसके अभ्युदय का यूनानी धर्मों या इसाई धर्म से सम्पर्क का प्रश्न है, प्रोफेसर कीथ, डॉ० सुकुमार दत्त आदि विद्वानो की इस भ्रामक धारणा का[१८] कि महायान की उत्पत्ति कश्मीर-गन्धार मे कनिष्क के नेतृत्व में हुई, मूलोच्छेद प्राचीन एव प्रामाणिक साहित्यिक साक्ष्य के एक ही प्रहार से कर देना समीचीन होगा। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमितासूत्र मे कहा गया है—"शारिपुत्र. षट्पारमिता प्रतिसयुक्ता सूत्रान्तास्तथागतस्यात्ययेन दक्षिणापथे प्रचरिष्यन्ति दक्षिणापथात् पुनरेव वर्तन्या प्रचरिष्यन्ति वर्तन्या पुनरुत्तरापथे प्रचरिष्यन्ति।"

[१५] मंजुश्री मूलकल्प, पृष्ठ ६१६; लङ्कावतारसूत्र, पृष्ठ २८६; ब्लू एनल्स, भाग १, पृष्ठ ३४।

[१६] वाटर्स, युवान-च्वाङ, भाग २, पृष्ठ २००-२०५; तकाकुसु, ई० चिङ, पृष्ठ ३५, १५८, १६६; ब्लू एनल्स, भाग १, पृष्ठ ३४ तथा आगे, मिस्टिक टेल्स, पृष्ठ ६–१०; पग सम जोन-जङ्ग की सूचना के लिए देखिये—इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, १६५४, पृष्ठ ६३–६४। और भी द्रष्टव्य तारानाथ के छोय-जुङ्ग की सूचना के लिये, इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, १६३२-१६३४।

[१७] द्रष्टव्य—तकाकुसु, ई० चिङ, पूर्वस्थल; कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग २, प्रोफेसर नीलकण्ठ शास्त्री द्वारा संपादित, पृष्ठ ३७७।

[१८] कीथ, बुद्धिस्ट फिलॉसफी, पृष्ठ २१६; सुकुमार दत्त, दि बुद्ध एण्ड फाइव आफ्टर सेन्चुरीज, पृष्ठ २४२–२४३।

स्पष्ट है कि प्रज्ञापारमितानय अथवा महायान का अभ्युदय दक्षिण भारत मे (आन्ध्रदेश मे) हुआ; इसका प्रसार पूर्वी भारत (उडीसा, मगध) मे और उत्तरी-पश्चिमी भारत (कश्मीर, गन्धार) मे कालान्तर मे हुआ।[६९]

४. महायान के विकास मे नागार्जुन का महत्त्वपूर्ण हाथ था। तिब्बती परम्पराओ मे प्रज्ञापारमिता के साथ नागार्जुन का अपरिहार्य और अनिवार्य सम्बन्ध बताया गया है।[७०] इन साक्षो मे तथा अन्यत्र भी श्रीपर्वत को नागार्जुन का प्रमुख कार्य-क्षेत्र बताया गया है। डा० पी० एस० शास्त्री[७१] ने सुझाव रखा है कि नागार्जुन आन्ध्रदेशीय ब्राह्मण थे और बेदली उनका जन्म-स्थान था। यह ऊपर कहा जा चुका है कि आन्ध्रदेशीय शासक सातवाहन राजा उनका उपासक-मित्र था। इस प्रसग मे प्रोफेसर सिल्वाँ लेवी ने समुचित प्रकाश डाला है।[७२]

५. तारानाथ के छोय-जुङ्ग के अनुसार महायान का उदय प्राची मे, उडीसा मे महापद्मनन्द के समय मे हुआ।[७३] नागार्जुन के प्रज्ञापारमिताशास्त्र के अनुसार भी प्रज्ञापारमिता पर उपदेश पूर्व मे, मगध मे हुआ, और वहाँ से दक्षिणापथ की ओर और दक्षिणापथ से उत्तरापथ की ओर उसका प्रसार हुआ।[७४] इन साक्षो मे भी महायान का उदय उत्तर-पश्चिम मे न होकर पूर्वी और दक्षिणी भारत मे ही हुआ इगित होता है। स्मरणीय है कि 'महायान' पर द्वितीय धर्मचक्रप्रवर्तन का परम्परागत स्थान गृध्रकूट पर्वत राजगीर के निकट मगध मे था। परन्तु जहाँ इसके पक्ष मे प्रमाणो की कमी है वहाँ श्रीपर्वत व धान्यकटक में महायान के जन्म होने के पक्ष मे अनेक प्रमाण गिनाये गये है।

महायान बौद्धधर्म की विशेषतायें

यदि हम प्रज्ञापारमितासूत्र, सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र, चतुःशतक, सी-यू-की अथवा शिक्षासमुच्चय का पारायण करें तो हमें महायान बौद्धधर्म की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताये अधिगत होगी—

(अ) बुद्धो की विपुल सख्या, उनकी लोकोत्तर सत्ता और महत्ता।

(आ) बुद्धो के प्रति श्रद्धा और भक्ति और बुद्ध-मूर्ति की उपासना।

(इ) बोधिसत्त्व का आदर्श, प्रत्येक प्राणी के बोधिसत्त्व होने की सामर्थ्य, अत बोधिसत्त्वो की अगणित सख्या पर आस्था।

(ई) बोधिसत्त्वचर्या के रूप मे बोधिचित्त (महाकरुणा), योग, पारमिताओ और भूमियो का गूढ एवं विस्तृत प्राविधान।

(उ) 'पुग्दलशून्यता' के साथ-साथ 'धर्मशून्यता' के सिद्धान्त की चर्चा।

---

[६९] अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा संपादित, पृष्ठ २२५।

[७०] द्रष्टव्य—डॉ० इवान्स-वेन्ज, टिबेटन योग एण्ड सेक्रेट डॉक्ट्रिन्स, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३४४-३४६; तथा इन्हीं की टिबेटन बुक ऑफ दि ग्रेट लिबरेशन पृष्ठ १५६–१५७।

[७१] इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, १९५५, पृष्ठ १९३–१९९।

[७२] जर्नल एशियाटिक, १९३६, पृष्ठ ६१–१२१।

[७३] छोयजुङ्ग (जेस्चाइते देस बुद्धिस्मस इन्डीन, अनुवादक शीफनेर) पृष्ठ ५८; देखिये—इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, १९३२, पृष्ठ २४७–२५२।

[७४] ल ब्रेते व ग्रांद वर्तु व साजेस व नागार्जुन, भाग १, पृष्ठ २४-२५, प्रोफेसर पाण्डे द्वारा अपने बौद्ध-धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ ३३४ में उद्धृत।

(ऊ) बुद्धों और बोधिसत्त्वो के साथ-साथ अनेक देवी-देवताओ की उपासना, यथा प्रज्ञा-पारमिता, तारा, हारीती, वज्रपाणि, नाग, यक्ष, गन्धर्व आदि ।

(ए) महायानसूत्रो का पारायण, धारणियो तथा मन्त्रो का प्रार्थना के रूप मे प्रयोग ।

(ऐ) सूत्रो, शास्त्रो एव भाष्यो की रचना सस्कृत भाषा मे होना ।

(ओ) दार्शनिक चिन्तन एव दार्शनिक गुत्थियो अथवा दृष्टियो के सूक्ष्म तार्किक विश्लेषण पर आवश्यक बल ।

(औ) बौद्धेतर और महायानेतर सिद्धान्तो एव विचारो के खण्डन के लिए 'वाद' अथवा तर्कशास्त्र का आश्रय ।

प्रज्ञापारमितासूत्रो मे उपर्युक्त लगभग सभी बाते सामान्य रूप से पायी जाती है । महायान धर्म का समुचित और सर्वांगीण परिचय जानने के लिए हमे सूत्र-रत्न सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र[८५] का अध्ययन करना पड़ेगा । सर्वास्तिवादी चीनी बौद्ध सत ई-चिङ के आचार्य हुई-शी ने इस ग्रन्थरत्न का ६० वर्षों तक नित्यप्रति पारायण किया था, इस प्रकार उन्होने इसको बीस सहस्र बार पढा ।[८६] ई-चिङ (ई० ६७१-६८१) के अनुसार 'जो महायान सूत्रो का अध्ययन करते और बोधिसत्त्वो की उपासना करते थे वे महायानी कहलाते थे ।'[८७] ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी के बाद महायान बौद्धधर्म का विकास और प्रसार तीव्र गति से हुआ । कालान्तर मे महायान बौद्धधर्म और हिन्दू पौराणिक धर्म मे परस्पर अनेक तत्त्व समान रूप से विकसित हुए । इस समन्वय और घनिष्ठ सम्पर्क के घातक परिणाम बौद्धधर्म के लिए विनाशकारी सिद्ध हुए ।

श्रद्धा (सद्धा) का स्थान प्राचीन बौद्धधर्म मे भी महत्त्वपूर्ण था । महायान मे श्रद्धा और भक्ति सर्वोपरि हो जाते हैं—'श्रद्धा हि परम यान' । बुद्ध-भक्ति की झलक अश्वघोष के बुद्ध-चरित मे स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है । शान्तिदेव का बोधिचर्यावतार भक्ति-प्रधान महायान कविता का सर्वोत्कृष्ट नमूना है । सुखावतीव्यूहसूत्रो मे अमिताभ बुद्ध की भक्ति ही प्रमुख विषय है । युवान-च्वाङ की 'सी-यू-की' मे ७वी शती के भारत मे प्रचलित बौद्ध-भक्ति, पूजा-पद्धति और पोषध (उपोसथ) आदि बौद्ध त्योहारो, तथा ई-चिङ के 'नान-हाइ-ची-कुई-नाई-फा-चुआन' मे बौद्ध-उपासना, तीर्थयात्रा, प्रव्रज्या, उपसम्पदा, सामूहिक स्वाध्याय एव दार्शनिक तर्क-वितर्क आदि का विशद चित्रण पाया जाता है । मौर्य-शुङ्ग राजवशो के शासनकाल से लेकर सम्राट् हर्षवर्धन के समय तक सम्पूर्ण भारतवर्ष में सहस्रो बौद्ध-विहार, स्तूप, चैत्य-गृह, बुद्धो और बोधिसत्त्वो की प्रतिमाओ, अनेक विश्वविद्यालयो एव पुस्तकालयो का निर्माण और विकास हुआ जिनके पुरातात्त्विक अवशेष अब भी काल के निरन्तर प्रहार का सामना कर रहे हैं । इन सबके मूल में महायान की प्रेरणा थी ।

बोधिसत्त्व के आदर्श ने पारमिताओ का विकास न केवल साहित्य मे, वरन् व्यवहार और दैनिक जीवन में भी किया । पारमिताओ के अभ्यास से ही महायानी कहलाते थे—'ये सद पारमितासु चरन्ती ते प्रतिपन्न इहो महयाने ।' पारमिताओ मे दान, शील और प्रज्ञा तो सर्वोत्कृष्ट थे—'दानं हि बोधिसत्त्वस्य बोधिरिति ।' दान और शील से सुसज्जित राजा-महाराजा 'शीलादित्य', 'धर्मादित्य' तथा

[८५] अनेक संस्करणों में प्रकाशित, आधुनिकतम दरभंगा से १९६१ में; एक सुन्दर आंग्लभाषानुवाद, प्रोफेसर कर्न द्वारा लन्दन से प्रकाशित ।

[८६] तकाकुसु, ई-चिङ, पृष्ठ २०५ ।

[८७] तकाकुसु पृष्ठ १४–१५ ।

'परमसौगत, सुगतइव' आदि उपाधियो से विभूषित होते थे। प्रज्ञापारमिता तो ज्ञान की पराकाष्ठा है—'प्रज्ञापारमिता ज्ञान अद्वय स तथागत'। महायानी बौद्धाचार्य अश्वघोष सस्कृत के प्रथम नाटककार थे, महायान दार्शनिक नागार्जुन सस्कृत मे कारिका-शैली के पिता थे; महायानी तत्त्ववेत्ता दिङ्नाग भारतीय तर्कशास्त्र के जन्मदाता थे, महायान ने न केवल बौद्ध-सस्कृति का, अपितु भारतीय सस्कृति का भारत और भारतेतर देशो मे शताब्दियो तक नेतृत्व किया।

महायान का साहित्यिक और दार्शनिक विकास

महायान-साहित्य के विकास एव इतिहास के अध्ययन के क्षेत्र मे आधुनिक काल मे राजा राजेन्द्रलाल मित्र, पडित हरप्रसाद शास्त्री, प्रोफेसर मैक्समूलर, प्रोफेसर नञ्जियो, प्रोफेसर सुजुकी, प्रोफेसर लेवी, प्रोफेसर पुसे, प्रोफेसर विन्टरनित्स, महापण्डित साकृत्यायन, प्रोफेसर तुची, डॉ० कॉञ्ज, डॉ० वैद्य तथा डॉ० दत्त प्रभृति विद्वानो के श्लाघनीय एव पाडित्यपूर्ण कार्यो के हम अत्यन्त ऋणी हैं।

महायान का प्राचीनतम साहित्य प्रज्ञापारमिता साहित्य है जिसकी विशालता, विविधिता एव मार्मिकता की झांकी डॉ० कॉञ्ज द्वारा सकलित एक ग्रन्थ से प्राप्त होती है। प्रज्ञापारमिता नाम के अनेक ग्रन्थ रचे गये थे। इनमे शतसाहस्रिका, पञ्चविंशति साहस्रिका, दशसाहस्रिका, अष्टसाहस्रिका सप्तशतिका तथा वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सुविदित हैं। सम्पूर्ण प्रज्ञासाहित्य का मूल मन्त्र और केन्द्रबिन्दु 'शून्यता' समझना चाहिये।

महायान सूत्रो मे नव-धर्म सुविख्यात हैं। ये नौ महायानसूत्र हैं। ललित-विस्तर, लङ्कावतार, अष्टसाहस्रिका, समाधिराज, सद्धर्मपुण्डरीक, गण्डव्यूह, दशभूमिक, सुवर्णप्रभास तथा तथागतगुह्यक-सूत्र। इनमे से तथागतगुह्यकसूत्र के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकाशित हो चुके हैं। अन्य महायान-सूत्रो मे सुखावतीव्यूह, अमितायुर्ध्यानसूत्र, शूरङ्गमसूत्र, करुणापुण्डरीक, अक्षोभ्यव्यूह, बुद्धावतसक, कारण्डव्यूह, अगुलियमालिय, राष्ट्रपालपरिपृच्छा, तथा मञ्जुश्रीमूलकल्पसूत्र उल्लेख्य है।

आचार्य नागार्जुन के 'सूत्र-समुच्चय' मे ६० महायानसूत्रो से उद्धरण सकलित किये गये हैं। 'महाव्युत्पत्ति' मे १०५ सूत्रो की तालिका पायी जाती है जिसमे अधिकाश महायान सूत्र हैं। आचार्य शान्तिदेव के 'शिक्षा समुच्चय' में लगभग ११० सूत्रो से उद्धरण संकलित किये गये हैं, वे सभी महा-यान ग्रन्थ के है। चीनी त्रिपिटकाचार्य युवान-च्वाङ ने ७४ बौद्ध-ग्रन्थो को चीनी भाषा मे अनूदित किया था जिनमें अधिकांश महायान सूत्र और शास्त्र थे।[७८] अनेक भारतीय और मध्य-एशियाई बौद्ध विद्वानों ने समय-समय पर प्राचीन काल मे महायान-साहित्य को चीनी भाषा में अनूदित किया था।[७९] प्रोफेसर बन्चु नञ्जियो द्वारा सग्रहीत चीनी बौद्ध त्रिपिटक भी सूची में सूत्रभाग के अन्तर्गत ५४१ महायान सूत्रों का उल्लेख है।[८०] ८२४ ई० में 'पल-ब्रत्सेजे' तथा 'नम्क्-स्ञिङ्पो द्वारा सकलित 'देन-'कर पुस्तकालय की सूची में ५३६ महायान बौद्ध-ग्रन्थों के नाम सम्मिलित किये जा चुके थे।[८१] तिब्बती बौद्ध धार्मिक साहित्य-सग्रहो—'तन्ज्युर' तथा 'कन्ज्युर'—मे लगभग पाँच हजार बौद्ध-ग्रन्थ

[७८] भिक्षु थिच-मिन्ह चऊ कृत युवान-च्वाङ दि पिलग्रिम स्कॉलर, वियतनाम से १९६३ में प्रकाशित, पृष्ठ ८५–९९।

[७९] देखिये—राहुल सांकृत्यायन, बौद्ध संस्कृति, कलकत्ता १९५२।

[८०] पूर्व उल्लिखित कैटलॉग।

[८१] प्रोफेसर य्यूकी योशिमुरा, दि 'देन-'कर मा एन ओल्डेस्ट कैटलॉग ऑफ दि टिबेटन बुद्धिस्ट कैनन, क्याटो १९५०।

संस्कृत से तिब्बती में अक्षरश अनूदित किये हुए अभी भी विद्यमान है।[८] अनेक महायान ग्रन्थो की संस्कृत पाण्डुलिपियाँ तिब्बत से त्रिपिटकाचार्य राहुल साकृत्यायन तथा अकादमीशियन तुची द्वारा प्रकाश मे आ चुकी है। नेपाल मे विद्यमान महायान बौद्ध-साहित्य का सक्षिप्त परिचय राजा राजेन्द्रलाल मित्र, श्री सेसिल बेन्डल तथा पडित हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सकलित विस्तृत तालिकाओ (डेस्क्रिप्टिव कैटेलॉग्स) से प्राप्त होता है। मध्य एशिया, चीनी तुर्किस्तान तथा गिलगिट से प्राप्त महायान-साहित्य के अवशेषो का परिचय प्रोफेसर हॉनिल, प्रोफेसर लेवी तथा डॉ० दत्त के प्रकाशनो से अधिगत होता है। यह एक ऐतिहासिक एव खेदपूर्ण तथ्य है कि बौद्ध-साहित्य का बहुत बडा भाग भारत मे पूर्णरूपेण नष्ट हो गया। 'महावस्तु' का उल्लेख पहले किया जा चुका है; यह लोकोत्तरवाद का विनय-ग्रन्थ है और महायान के उष काल का प्रतिनिधि है। इसी कोटि मे हम 'अवदानशतक', 'दिव्यावदान' तथा अश्वघोष के 'बुद्धचरित' को भी रख सकते है। ये ग्रन्थ हीनयान और महायान के बीच की कडी प्रस्तुत करते है, इसीलिए दोनो बौद्धधर्मों के अनुयायियो मे इनका समादर रहा है। 'बोधिचित्तविवरण', 'बोधिसत्त्व प्रातिमोक्ष', 'बोधिसत्त्व-पिटक' तथा 'धारणी-पिटक' आदि महत्त्वपूर्ण संस्कृत बौद्ध-ग्रन्थो का रचनाकाल अनिश्चित है, परन्तु महायान के धार्मिक विकास मे इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'महायान श्रद्धोत्पादशास्त्र' के लेखक अश्वघोष सभवत पाँचवी शताब्दी के व्यक्ति थे। इसी काल में महान् कवि शूर अथवा आर्यशूर ने 'जातकमाला' और 'सुभाषित रत्नकरण्डक कथा' की रचना की थी। जातकमाला का प्रभाव अजन्ता के भित्तिचित्रो मे पाया जाता है, उसकी लोकप्रियता का विस्तृत उल्लेख ई-चिङ के 'रिकार्ड' मे भी पाया जाता है।

महायान दर्शन

महायान की प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही दार्शनिक गुत्थियो के विश्लेषण की ओर थी। प्रज्ञा-साहित्य मे गूढ एव सूक्ष्म दार्शनिक विचार सन्निहित है। महायान के प्रथम आचार्य नागार्जुन सर्वाधिक मेधावी विचारक एव तत्त्व-चिन्तक थे।

बौद्ध-धर्म-दर्शन के ख्यातिप्राप्त इतिहासकारो एव व्याख्याकारो मे अधिकाश ने महायान के गह्वर विचारसागर में साधारणतया दो दार्शनिक पद्धतियो का ही अवलोकन किया है। इन्हे माध्यमिक अथवा शून्यवाद और योगाचार अथवा विज्ञानवाद कहते है। महायान मे त्रिविध दार्शनिक परम्परायें ये हैं—

१. नागार्जुन की परम्परा—माध्यमिक दर्शन।

२. मैत्रेयनाथ की परम्परा—विज्ञानवाद दर्शन।

३. दिङ्नाग की परम्परा—तर्कशास्त्रीय तत्त्वदर्शन।

इनमें से प्रथम विचार-तरग प्रज्ञापारमिता सूत्रो तथा आचार्य नागार्जुन द्वारा सयुक्तरूपेण प्रवाहित हुई थी। द्वितीय तरंग का स्पष्ट एव सैद्धान्तिक उन्मीलन सन्धिनिर्मोचनसूत्र, लङ्कावतारसूत्र तथा आचार्य मैत्रेयनाथ के ग्रन्थों मे हुआ। प्राचीन हिन्दू दार्शनिको ने महायान बौद्धदर्शन में केवल इन्ही दो पद्धतियो का अनुशीलन किया था, इनके अतिरिक्त वैभाषिक और सौत्रान्तिक नयो को हीनयान दार्शनिक पद्धतियों के अन्तर्गत रखा था। यही व्यवस्था आधुनिक काल में भी अधिकांश लेखको ने अपनायी है, परन्तु यह सदोष है। बौद्धधर्म का गम्भीर एव समुचित अध्ययन करनेवाले इस निष्कर्ष पर पहुँचेगे कि बौद्ध-विचार और तत्त्व-चिन्तन का चरम विकास आचार्य दिङ्नाग की

[८] ए कम्प्लीट कैटलॉग ऑफ दि टिबेटन बुद्धिस्ट कैनन, तोहाकु इम्पीरियल यूनिवर्सिटी, सेन्डइ (जापान) से प्रकाशित।

परम्परा में हुआ। दिङ्नाग द्वारा प्रवाहित 'तर्कशास्त्रीय तत्त्व-दर्शन' की तरंगिणी को 'माध्यमिक' एवं 'विज्ञप्तिमात्र' दर्शनों से पृथक् समझना सर्वथा समीचीन जान पड़ता है। दिङ्नाग न केवल बौद्ध-न्यायशास्त्र के जन्मदाता थे, अपितु भारतीय तर्कशास्त्र अथवा प्रमाण-विद्या के भी वास्तविक व्यवस्थापक वही थे। उन्होंने 'सौत्रान्तिक' अथवा 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' तथा 'चित्तमात्रता' (विज्ञप्तिमात्रता) अथवा 'पूर्णाद्वैत आदर्शवाद' के बीच समुचित समन्वय और सामञ्जस्य स्थापित किया। बौद्ध-दर्शन के विरोधी वितंडावादियों के खण्डन का सामना करने, विशुद्ध बुद्धिवादियों को बौद्धिक सन्तोष प्रदान करने तथा बुद्ध-दर्शन की वैज्ञानिक प्रामाणिकता एवं पारमार्थिक उपयोगिता की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए उन्होंने न्याय अथवा तर्कशास्त्र का शिलान्यास एवं विकास किया। अतएव दिङ्नाग द्वारा विकसित तर्कशास्त्रीय तत्त्वदर्शन की यह अद्वितीय तरंग महायान के दार्शनिक विकास में ही नहीं, वरन् बौद्धदर्शन के इतिहास में अपना व्यक्तिगत और विशिष्ट स्थान रखती है।

उपर्युक्त दार्शनिक पद्धतियों के ऐतिहासिक विकास-क्रम की रूपरेखा इस प्रकार है—

(१) माध्यमिक-नय का विकास-क्रम

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि आचार्य नागार्जुन एक दीर्घजीवी मनीषी और युग-प्रवर्तक विचारक थे। बुद्धाब्द की चौथी शती में उनका आविर्भाव और ख्रीष्टाब्द की दूसरी शती के उत्तरार्द्ध में शातवाहन सम्राट् की प्रेरणा से उनका देहान्त हुआ।[८३] इस लम्बी आयु की तरह उनकी साहित्यिक कृतियाँ भी पाठकों को चकित कर सकती हैं। महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र, दशभूमिविभाषा-शास्त्र, मूलमध्यमकारिका, विग्रहव्यावर्तनी, सूत्रसमुच्चय, अकुतोभया, सुहृल्लेख, युक्तिषष्टिका तथा द्वादशमुखशास्त्र नागार्जुन की असंदिग्ध कृतियाँ हैं। परन्तु उनकी रचनाओं में उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त शून्यता-सप्ति, व्यवहारसिद्धि, प्रज्ञादण्ड, धर्मसंग्रह, चतुःस्तव, उपायकौशल्यहृदय, महायान-विंशिका, बोधिचित्तविवरण, प्रतीत्यसमुत्पादहृदय तथा प्रमाणविघटन आदि की भी गणना की जाती है। माध्यमिक दर्शन का समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए मध्यमकशास्त्र अथवा मूलमध्यमककारिका तथा विग्रहव्यावर्तनी ही पर्याप्त हैं। प्राचीन भारत के अबौद्ध-विचारकों और बौद्धदर्शन के आलोचकों ने नागार्जुन की विचार-तरंगिणी को 'शून्यवाद' नाम दिया है।[८४] कतिपय आधुनिक लेखकों ने भी इसी नाम को अपनाया है। इस नामकरण का कारण 'शून्य' एवं 'शून्यता' शब्दों का इस दर्शन-साहित्य में प्रचुर प्रयोग है, परन्तु इसे 'शून्यतावाद' कहना भ्रान्तिमूलक है। माध्यमिक साहित्य में कहीं भी इसे 'शून्यवाद' नहीं कहा गया है। माध्यमिक विचारक अपने को 'शून्यवादी' नहीं कहते हैं। माध्यमिकनय किसी प्रकार का 'वाद' नहीं है, चिन्तन की एक पद्धति है जो सर्वप्रकार के 'वादों', 'मतों' या 'सिद्धान्तों' को सदोष सिद्ध करके उनका निराकरण करती है।[८५] दोषयुक्त दृष्टि से अज्ञान की उपज होती है और सम्यक् दृष्टि के मार्ग में बाधक होती है, उसका निराकरण किये बिना प्रपञ्चोपशम नहीं हो सकता और प्रपञ्चसमतिक्रान्त किये बिना प्रत्यात्मवेदनीय परमार्थ-

---

[८३] देखिये—युवान-च्वाङ, भाग २, पृष्ठ २००—२०४; एम० वालेजेर, 'लाइफ ऑफ नागार्जुन फ्रॉम टिबेटन एण्ड चाइनीज सोर्सेज' एशिया मेजर, भाग १, पृष्ठ ४२१ से आगे तथा पूर्व उल्लिखित साक्ष्य।

[८४] उदाहरणार्थ शङ्कराचार्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, २.३१, निर्णयसागर प्रेस संस्करण, पृष्ठ ३५१-५२।

[८५] द्रष्टव्य—द्वादशमुखशास्त्र, प्रोफेसर एन० अय्यस्वामी शास्त्री द्वारा चीनी से संस्कृत में अनूदित, विश्वभारती एनल्स भाग ६ में प्रकाशित।

सत्य की अनुभूति दुर्लभ है। अतएव प्रपञ्चसम्भूत अथवा विकल्पसम्भव सभी दृष्टियो या दर्शनो का खण्डन आध्यात्मिक आवश्यकता है जिसके लिए शून्यता-बोध ही एकमात्र उपाय है। इस दर्शनश्रेष्ठ माध्यमिक दर्शन को 'शून्यवाद' समझनेवालो का ध्यान हम 'विग्रहव्यावर्तनी' के २९वे श्लोक—

'यदि काचन प्रतिज्ञा स्यान्मे तत एष मे भवेद्दोष.।
नास्ति च मम प्रतिज्ञा तस्मान्नैवास्ति मे दोष ॥'

तथा 'मध्यमकारिका' के १३वे अध्याय की ८वी कारिका—

'शून्यता सर्वदृष्टीना प्रोक्तानि सरण जिनै।
येषा तु शून्यतादृष्टिस्तानसाध्यान् बभासिरे ॥'

की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं।

नागार्जुन के बाद दूसरा प्रख्यात माध्यमिक विचारक आर्यदेव था; जो नागार्जुन का शिष्य था। 'चतु शतक' मुष्टिप्रकरण तथा 'अक्षरशतक' आर्यदेव के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। माध्यमिक विचारो का चरम विकास छठी और सातवी शताब्दियो मे हुआ। छठी शताब्दी मे बुद्धपालित और भावविवेक प्रसिद्ध माध्यमिक चिन्तक थे। उनमें परस्पर पद्धतिविषयक मतभेद होने के कारण माध्यमिको के दो भेद हो गये थे। बुद्धपालित ने मध्यमक शास्त्र पर टीका लिखकर 'प्रासगिक' शाखा का श्रीगणेश किया और भावविवेक ने मध्यमकशास्त्र पर 'प्रज्ञाप्रदीप' नामक टीका तथा मध्यमार्थसंग्रह, करतलरत्न-शास्त्र तथा तर्कज्वाला नामक ग्रन्थो का सृजन किया और 'स्वातन्त्रिक' शाखा का उद्घाटन किया। ७वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे चन्द्रकीर्ति एक प्रतिभाशाली माध्यमिक दार्शनिक थे जिन्होने प्रासगिक दृष्टिकोण अपनाया और नागार्जुन की दार्शनिक परम्परा का उत्कृष्ट प्रतिपादन 'प्रसन्नपदा' नाम की माध्यमिककारिका की वृत्ति में प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त चतु शतक वृत्ति, युक्तिषष्टिकावृत्ति, शून्यतासप्ततिवृत्ति, प्रदीपउद्योतन, मध्यमकावतार एवं मध्यमकावतारभाष्य चन्द्रकीर्ति की महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। ७वी शताब्दी के मध्य मे महायान सत, कवि, बौद्धशास्त्रो एव सूत्रो के प्रकाड पण्डित एव प्रखरबुद्धि माध्यमिक विचारक शान्तिदेव थे। उन्होने शिक्षासमुच्चय तथा बोधिचर्यावतार नामक ग्रन्थ लिखे। इनमे बोधिचर्यावतार का ९वां परिच्छेद माध्यमिक दृष्टिकोण से लिखा गया प्रासगिक प्रकरण है। अन्य माध्यमिक विचारको मे 'शतशास्त्र' एव प्राण्यमूल्यशास्त्र' के लेखक सिंहरश्मि, 'माध्यमिकसत्यद्वयविभङ्ग' के लेखक ज्ञानगर्भ, 'प्रज्ञाप्रदीपटीका' के लेखक अवलोकितव्रत तथा 'बोधि-चर्यावतारपञ्जिका' के रचयिता प्रज्ञाकरमति के नाम उल्लेख्य हैं।[८]

[८] माध्यमिक दर्शन के मूल, आधारभूत व प्रामाणिक ग्रन्थो में मध्यमकशास्त्र (मूलमध्यमककारिका) पुसें द्वारा सेंटपीटर्सबर्ग से प्रकाशित; विग्रहव्यावर्तनी, राहुल सांकृत्यायन द्वारा संपादित; चतुःशतक (उत्तरार्द्धमात्र) विधुशेखर भट्टाचार्य तथा परशुराम वैद्य द्वारा अलग-अलग तिब्बती से संस्कृत में अनूदित; करतलरत्न एवं मध्यमार्थसंग्रह, एन० अय्यस्वामी शास्त्री द्वारा संपादित; प्रसन्नपदा, पुसें द्वारा सेंटपीटर्सबर्ग से संपादित तथा बोधिचर्यावतार परशुराम वैद्य द्वारा संपादित उल्लेख्य है। आधुनिक ग्रन्थों में डॉ० स्चेर्बात्स्की कृत 'बुद्धिस्ट कन्सेप्शन ऑफ बुद्धिस्टिक थॉट'; डॉ० टी० आर० वी० मूर्तिकृत, 'सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑफ बुद्धिज्म', डॉ० पाण्डेकृत 'बौद्धधर्म के विकास का इतिहास' तथा डॉ० कॉञ्जकृत 'बुद्धिस्ट थाट इन इण्डिया' उल्लेख्य हैं।

(२) विज्ञप्तिमात्रता दर्शन का विकास-क्रम

तिब्बती तथा चीनी बौद्ध-परम्पराओं में आचार्य असङ्ग को योगाचार अथवा विज्ञानवाद का प्रवर्तक माना गया है। परन्तु आधुनिक गवेषणाओं[८७] से ज्ञात होता है कि असङ्ग के वास्तविक गुरु मैत्रेयनाथ एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे, वस्तुत मैत्रेयनाथ को ही विज्ञानवाद-योगाचार का प्रथम आचार्य माना जाना चाहिये। उनका समय दूसरी-तीसरी शताब्दियों का सन्धिकाल माना गया है। मैत्रेयनाथ ने महायानसूत्रालङ्कारकारिका, मध्यान्तविभङ्ग, धर्मधर्मताविभङ्ग, महायानोत्तरतन्त्रशास्त्र तथा अभिसमयालङ्कारकारिका नामक ग्रन्थों की रचना की थी। योगाचारभूमिशास्त्र की मूल कारिकाओं की रचना भी सम्भवत. उन्होंने ने ही की, असङ्ग ने मैत्रेय के ग्रन्थों पर विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखकर योगाचार-दर्शन के सिद्धान्तों का विस्तृत प्रतिपादन किया और अपने उपाध्याय के स्थान पर स्वय यशस्वी बन गये।

आचार्य असङ्ग पेशावर के ब्राह्मण थे। उनका समय चौथी शताब्दी जान पड़ता है। वह आचार्य वसुबन्धु के ज्येष्ठ भ्राता और योगाचार के प्रकाड पडित थे। उन्होंने मैत्रेय के शास्त्रों में भाष्य लिखने के अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की थी--महायानसम्परिग्रह, प्रकरण-आर्यवाचा, महायान अभिधर्मसगीति (सम्भवत अभिधर्मसमुच्चय) तथा त्रिशतिकाया प्रज्ञापारमितायाः कारिकासप्तति (वज्रच्छेदिका पर टीका)।

असङ्ग के भाई वसुबन्धु (४००-४८० ई०) विज्ञानवाद के सर्वश्रेष्ठ विचारक और महायान बौद्धधर्म के एक प्रमुख आचार्य थे। तिब्बती तथा चीनी परम्पराओं में उन्हें 'एक सहस्र ग्रन्थों का लेखक' कहा गया है जो अक्षरश सत्य न होते हुए भी वसुबन्धु की साहित्यक सृष्टि का बहुमुखी और बहु-सख्यक होने का सकेत है। यद्यपि सन्धिनिर्मोचनसूत्र, लकावतारसूत्र तथा मैत्रेय-असङ्ग के ग्रन्थों द्वारा विज्ञप्तिमात्रतादर्शन का पर्याप्त विकास और प्रसार हुआ, परन्तु इसका चरम उत्कर्ष वसुबन्धु के समय में ही हुआ। वह वसुबन्धु अभिधर्मकोश के लेखक वसुबन्धु से भिन्न थे, इस प्रश्न पर और वसुबन्धु की तिथि पर प्रोफेसर फ्राउ वाल्नर के गवेषणापूर्ण निष्कर्ष उचित जान पडते हैं।[८८]

वसुबन्धु ने विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिशास्त्र की दो पुस्तकें 'विंशतिका' तथा 'त्रिंशिका' लिखकर विज्ञप्तिमात्रता दर्शन का उत्कृष्ट साराश प्रस्तुत किया। उन्होंने वादविधि, वादविधान, वादहृदय, व्याख्यायुक्ति, कर्मसिद्धिप्रकरण, पञ्चस्कन्धप्रकरण, तथा अपरिमितायुसूत्रोपदेश नामक अन्य ग्रन्थ लिखे। इनके अतिरिक्त वज्रच्छेदिका, महापरिनिर्वाणसूत्र, सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र, महायानसूत्रालकार, प्रतीत्यसमुत्पाद-सूत्र तथा मध्यान्तविभङ्ग पर टीकायें भी लिखी। विज्ञानवाद दर्शन में बाह्य पदार्थों की पारमार्थिक सत्ता का निषेध और निर्गुण, निराकार, स्वयसिद्ध, स्वयप्रकाश 'चित्तमात्र' (विज्ञान, विज्ञप्ति, मन, चित्त) की सत्ता प्रतिपादित की गयी है।

वसुबन्धु के पश्चात् विज्ञप्तिमात्रता दर्शन की परम्परा को आगे बढ़ानेवालों में गुणप्रभ, गुणमति, स्थिरमति, धर्मपाल, जयसेन, नन्द, बोधिरुचि, शीलभद्र, शीलेन्द्रबोधि, जिनमित्र तथा हरिभद्र

---

[८७] देखिये--प्रोफेसर एच० उई, स्टडीज इन इण्डियन फिलॉसफी, भाग १, पृष्ठ ३५६; प्रोफेसर जी० टुची, ऑन सम एस्पेक्टस ऑफ दि डॉक्ट्रिन्स ऑफ मैत्रेय (नाथ) एण्ड असङ्ग, अध्याय १; प्रोफेसर एम० विन्तर्नित्ज, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृष्ठ ३५४; पंडित हरप्रसाद शास्त्री, इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, १९२५, पृष्ठ ४६५।

[८८] देखिये--सेरी ओरियन्टल रोमा, भाग ३, रोम १९५१।

के नाम प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। धर्मपाल तथा स्थिरमति ने विज्ञप्तिमात्रता के सैद्धान्तिक विवेचन में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण अपनाये। इनके महत्त्वपूर्ण विचारों व विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिशास्त्र पर लिखी गयी अन्य आठ भारतीय टीकाओं में उपलब्ध प्रतिवादों का सग्रह करके युवान-च्वाङ ने चीनी भाषा में अनूदित किया था।

(३) तर्कशास्त्रीय बौद्ध तत्त्वदर्शन का विकास-क्रम

आधुनिक काल में इस विषय पर अत्यन्त उत्कृष्ट, प्रामाणिक एवं विस्तृत कार्य रूसी अकादमीशियन प्रोफेसर स्चेर्बात्स्की तथा भारतीय मनीषी महामति राहुल सांकृत्यायन ने किया है। बौद्ध-दर्शन में न्यायानुसार तत्त्वचिन्तन की आलोचनात्मक पद्धति के प्रवर्तक आचार्य दिङ्नाग थे जिनका समय पाँचवीं शती का उत्तरार्ध और छठी शती का पूर्वार्ध था। दिङ्नाग ने अभिधर्मकोश, मर्मप्रदीप, प्रज्ञापारमितापिण्डार्थ, आलम्बनपरीक्षा, त्रिकालपरीक्षा, हेतुचक्रहमरू, न्यायमुख, प्रमाणसमुच्चय एवं प्रमाणसमुच्चय-वृत्ति आदि ग्रन्थों की रचना की। वे दर्शन में विज्ञानवादी और न्याय में सौत्रान्तिक थे।

बौद्ध-न्याय में 'प्रत्यक्ष' तथा 'अनुमान' नाम के दो ही प्रमाण सम्यक् ज्ञानप्राप्ति के साधन माने गये हैं। दिङ्नाग की दार्शनिक परम्परा में न्याय (तर्कशास्त्र), सौत्रान्तिकदर्शन एवं विज्ञानवाद का सम्मिश्रण पाया जाता है। दिङ्नाग के शिष्यों में शंकरस्वामी और ईश्वरसेन के नाम प्रसिद्ध हैं। शंकरस्वामी ने 'न्यायप्रवेश' नामक ग्रन्थ लिखा। ईश्वरसेन के मतों का उल्लेख धर्मकीर्ति ने किया है। तर्कशास्त्रीय बौद्धधर्म के इतिहास में उज्ज्वलतम रत्न आचार्य धर्मकीर्ति हैं। उनका समय ७वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। तिब्बती परम्परा के अनुसार वह तिब्बत के सम्राट् स्रोग-स्तन गपो के समकालीन थे और प्रसिद्ध मीमांसाचार्य कुमारिलभट्ट के भान्जे और आलोचक थे। उन्होंने शास्त्रार्थ में कुमारिल को पराजित कर बौद्ध-दर्शन की उत्तुंग पताका सम्पूर्ण देश में फहराई। धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक, प्रमाणविनिश्चय, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु, वादन्याय, सम्बन्धपरीक्षा तथा सन्तानान्तरसिद्धि नामक उत्कृष्ट ग्रन्थ न्याय पर लिखे और बौद्ध न्यायशास्त्र का विकास पराकाष्ठा पर पहुँचाया। धर्मकीर्ति के पश्चात् आठवीं शताब्दी में आचार्य शान्तरक्षित सर्वाधिक प्रतिभाशाली बौद्ध दार्शनिक थे। वे भारतीय दार्शनिक पद्धतियों के असाधारण विद्वान् और अकाट्य आलोचक थे। तत्त्व-सग्रह उनका महान् ग्रन्थ है जो भारतीय दर्शन के इतिहास में कई दृष्टियों से अद्वितीय स्थान रखता है। शान्तरक्षित ने तत्त्व-सग्रह के अतिरिक्त वादन्याय-वृत्ति, मध्यमकालकारकारिका आदि अन्य ग्रन्थ भी लिखे। बौद्ध धर्म-दर्शन का नेपाल व तिब्बत में प्रचार करने का श्रेय मुख्य रूप से शान्तरक्षित व उनके सहयोगियों—कमलशील तथा पद्मसम्भव को है। कमलशील शान्तरक्षित के शिष्य तथा नालन्दा विश्वविद्यालय के प्रोफेसर थे। उन्होंने तत्त्व-सग्रह-पञ्जिका, माध्यमिकालोक तथा तीन छोटे-छोटे ग्रन्थ भावना-क्रम पर लिखे हैं।

तत्त्व-संग्रह तथा उसकी पञ्जिका के लेखकों के बाद बौद्ध-धर्म दर्शन का भारत में ह्रास प्रारम्भ हो जाता है। परन्तु बौद्ध न्याय-परम्परा कुछ समय तक बनी रही। इस काल के बौद्ध-विचारकों में न्यायबिन्दुटीका, अपोहप्रकरण, परलोकसिद्धि, क्षणभङ्गसिद्धि, प्रमाणपरीक्षा तथा प्रमाणविनिश्चय टीका के लेखक धर्मोत्तर, ईश्वरभङ्गकारिका, सर्वज्ञसिद्धिकारिका, श्रुतिपरीक्षाकारिका, बाह्यार्थसिद्धिकारिका तथा अन्यापोहसिद्धि के लेखक कल्याणरक्षित के नाम उल्लेख्य हैं।

वैदिक देवता अग्नि

चन्द्रचूड़ मणि

अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिं । अप न. शोशुचदघम् ॥ (ऋ० १.९७.१)

अग्नि की व्यापकता, उसकी व्यावहारिकता और पवित्रता से प्रेरित होकर मनुष्य ने अपने हृदय में जिस धार्मिक भावना को प्रश्रय दिया था, उसका उल्लेख प्राय समस्त जातियों के आरम्भिक इतिहास में मिलता है । प्राचीन यूनानियो के मत से अग्नि पहले पृथ्वी पर न थी । मनुष्य के हित के लिए प्रोमेथियस ((Prometheus) या प्रमन्थ नामक देवता स्वर्ग से अग्नि को चुरा लाये जब से यूनान में अग्नि के साथ साथ प्रमन्थ की भी पूजा होने लगी । प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक हेरेक्लिटस (Heraclitus) के अनुसार सारा जगत् ही अग्निमय है । अग्नि में ही विश्व का निर्माण हुआ है और अग्नि में ही उसका समाहार ।[१] ससार की अन्य प्राचीन जाति रोमन, अग्नि की 'वलकन' (> Vulcan) या 'उल्का' नाम से उपासना करती है । लैटिन में अग्नि को 'इग्निस' (> Ignis) और स्लाव में 'ओग्नि' (> Ogni) कहते हैं । इसी प्रकार ईरानी या पारसीक 'अतर' नाम से अग्नि की उपासना करते आये हैं और उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अवेस्ता' में अग्नि के प्रति बहुत-से मन्त्र दिये हुए हैं । पारसीको के यहाँ अग्नि को साक्षात् ईश्वर का प्रतिरूप मानते हैं और उनके यहाँ दिन-रात अग्नि जलती हुई रखी रहती है । कुटुम्ब का प्रत्येक व्यक्ति भक्तिपूर्वक अग्निदेव की उपासना करता है । जब पारसीकों ने पहली बार भारत में प्रवेश किया था, उनके एक हाथ मे उनका धार्मिक ग्रथ अवेस्ता और दूसरे में अग्नि थी । चीनियो के 'शुकिंग' नामक धार्मिक ग्रन्थ में भी अग्नि की उपासना पर काफी जोर दिया गया है । पर ससार की जितनी अग्निपूजक जातियाँ हैं उन सबमें आर्य सबसे प्राचीन और बुद्धिमान् हैं ।

ऐतिहासिक अन्वेषणो से पता चलता है कि ससार की समस्त जातियो ने, यहाँ तक कि जो आर्य नहीं हैं—मंगोल, सेमेटिक या हेमेटिक हैं, अग्नि की उपासना प्राचीन आर्यों से ही सीखी थी । आर्य ही अग्नि-पूजा के प्रथम प्रचारक थे । 'वेद' इसके प्रमाण हैं । सम्पूर्ण वैदिक वाङमय अग्नि-पूजा से भरा पड़ा है । ऋग्वेद में जितने मन्त्र या ऋचाये अग्नि-सम्बन्धिनी हैं उतनी इन्द्र को छोडकर किसी भी देवता के सम्बन्ध की नहीं । ऋग्वेद का प्रथम सूक्त ही 'आग्नेय सूक्त' है और उसकी पहली ही ऋचा अग्नि-पूजा से आरम्भ होती है—

'ॐ अग्निमीळे पुरोहित यज्ञस्य देवमृत्विजं । होतार रत्नधातमम् ।'

[१] Heraclitus declared the world to be an ever-living fire, and fire, therefore, to be the essence of all things, he understood by this a '*pxn*' not a material or substance which survived all its transformations, but just the transforming process itself in its ever-darting, vibrating activity (züngelnde), the soaring up and vanishing which correspond to the Becoming and passing away.—'A History of Philosophy,' Chap. 1, § 4, by Dr. W. Windelband.

अर्थात् यज्ञ के पुरोहित, दीप्तिमान, देवों को बुलानेवाले, ऋत्विक् और रत्नधारी अग्नि की मैं स्तुति करता हूँ। इस मन्त्र के आरंभिक प्रणव (ॐ) में अग्नि की भावना का यथोचित प्रतिपादन हुआ है, क्योंकि ॐ (= अ + उ + म्) में—'अ' से तात्पर्य विराट्, अग्नि और विश्व से ही है, 'उ' से हिरण्यगर्भ, वायु, तैजस् तथा 'म्' से ईश्वर, आदित्य और प्रज्ञा समझना चाहिए।[२] किञ्चित् इसी तरह की प्रतीकात्मक व्याख्या वैदिक देवताओं के सम्बन्ध में योगी अरविन्द ने की है। अरविन्द ने वैदिक धर्म को रहस्य-पूर्ण बतलाते हुए सूर्य से 'प्रज्ञा', अग्नि से 'इच्छा' और सोम से 'अनुभूति' का अर्थ-निर्देश कर ऐतिहासिक इल्यूसीनियन (Eleusinian) एवं ऑर्फिक (Orphic) रहस्यों को वैदिक विचारधारा का अवशेष बतलाया है।[३]

वैदिक साहित्य में अग्नि की भौतिक कल्पना का भी परिचय जहाँ तहाँ मिलता है। किन्तु उसके आधार पर आर्यों को जडोपासक, असभ्य और बर्बर मान लेना पाश्चात्य विद्वानों की मिथ्या धारणा है। आर्यों की जडोपासना के भीतर अधिष्ठातृ-रूप से एक एक चेतन अग्नि, वायु आदि चैतन्यदेव की दार्शनिक भावना भी छिपी हुई है। पाश्चात्य सभ्यता के आलोक में वैदिक-साहित्य का अध्ययन करते हुए पाश्चात्य विद्वान् प्रायः इस वैज्ञानिक तत्त्व को भूल जाते हैं। 'शुक्ल यजुर्वेद' के माध्यन्दिन—वाजसनेयी शाखा के आधार पर 'रुद्रकल्प' में अग्नि की इस तरह की कल्पना मिलती है—

[२] गफ (Gough) 'Upanishads'; पृ० ६६–६३

[३] The hypothesis I propose is that Ṛg-veda is itself the one considerable document that remains to us from the early period of human thought of which the historical Eleusinian and Orphic mysteries were the failing remnants, when the spiritual and psychological knowledge of the race was concealed for reasons now difficult to determine, in a veil of concrete and material figures and symbols which protected the sense from the profane and revealed it to the initiated. One of the leading principles of the mystics was the sacredness and secrecy of self-knowledge and the true knowledge of the gods. This wisdom, was, they thought, unfit for, perhaps even dangerous, to the ordinary human mind, or in any case liable to perversion and misuse and loss of virtue if revealed to vulgar and unpurified spirits. Hence they favoured the existence of an outer worship effective but imperfect for the profane, and an inner discipline for the initiate, and clothed their language in words and images which had equally a spiritual sense for the elect and a concrete sense for the mass of ordinary worshippers. The Vedic hymns were conceived and constructed on these principles.
— Ārya, Vol. i., p. 60.

'रुद्रतेज समुद्भूत द्विमूर्धान द्विनासिकम् । षण्नेत्र च चतु श्रोत्र त्रिपाद सप्तहस्तकम् ।।
वाम्यभागे चतुर्हस्त सव्यभागे त्रिहस्तकम् । स्रुव स्रुच च शक्ति च अक्षमाला च दक्षिणे ।।
तोमर व्यजन चैव घृतपात्र तु वामके । बिभ्रत सप्तभिर्हस्तैर्द्विमुख सप्तजिह्वकम् ।।
दक्षिणे च चतुर्जिह्व त्रिजिह्वमुत्तरे मुखम् । द्वादशकोटिमूर्त्याढ्य द्विपञ्चाशत् कलायुतम् ।।
स्वाहास्वधावषट्कारैरङ्कित मेषवाहनम् । रक्तमाल्याम्बरधर रक्तपद्मासनस्थितम् ।।
रौद्र तु वह्निनामान वह्निमावाहयाम्यहम् ।।' ('अग्नेर्ध्येयरूपम्' रुद्रकल्पे)

जिसके सम्बन्ध में विद्वान् वाचस्पति ने सप्त जिह्वाओं और नवशक्तियों की गणना की है। अग्नि की सप्त जिह्वाओं[४] में—(१) कराली, (२) धूमिनी, (३) श्वेता, (४) लोहिता, (५) नीललोहिता, (६) सुवर्णा, (७) पद्मरागा और नवशक्तियों मे (१) पीता, (२) श्वेता, (३) अरुणा, (४) कृष्णा, (५) धूम्रा, (६) तीक्ष्णा (७) स्फुलिङ्गिनी, (८) ज्वलिनी, (९) ज्वालिनी ये नाम आते हैं। ऋग्वेद के त्रयोदश सूक्त की, जिसका नाम 'आप्री' (विशेष प्रीतिकर) सूक्त भी है, बारह ऋचाओं में इन बारह नामों से अग्नि की उपासना की गई है[५]—

(१) सुसमिद्ध। (२) तनूनपात्। (३) नराशस। (४) इला। (५) बर्हि। (६) देवीद्वार। (७) नक्त और उषा। (८) देवीद्वय। (९) इला, सरस्वती, मही। (१०) त्वष्टा। (११) वनस्पति। (१२) स्वाहा।

और अग्निहोत्र के समय की विशेष अग्नि के पाँच नाम हलायुध ने इस प्रकार दिये हैं

'आवसथ्याहवनीयौ दक्षिणाग्निस्तथैव च ।
अन्वाहार्यो गार्हपत्य इत्येते पञ्च वह्नय ।।'

उपनिषद् के एकेश्वरवाद (Monotheism) मे यद्यपि अग्नि को एक ब्रह्म के अन्तर्गत मानकर वायु आदि देवताओं की तरह अपना कर्त्तव्य-मात्र पालन करने का सकेत मिलता है,[६] अथर्वण् के

---

[४] तु० मुण्डकोपनिषद् १।२।४ ।

[५] सुसमिद्धो न आवह देवाँ अग्ने हविष्मते । होतः पावक यक्षि च ।।
मधुमन्त तनूनपाद् यज्ञ देवेषु नः कवे । अद्या कृणुहि वीतये ।।
नराशंसमिह प्रियमस्मिन् यज्ञ उपह्वये । मधुजिह्वं हविष्कृतम् ।।
अग्ने सुखतमे रथे देवाँ ईडित आवह । असि होता मनुर्हितः ।।
स्तृणीत बर्हिरानुषग्घृतपृष्ठं मनीषिणः । यत्रामृतस्य चक्षणम् ।।
विश्रयन्तामृतावृधो द्वारो देवीरसश्चतः । अद्या नूनं च यष्टवे ।।
नक्तोषासा सुपेशसास्मिन् यज्ञ उपह्वये । इदं नो बर्हिरासदे ।।
ता सुजिह्वाउपह्वये होतारा दैव्या कवी । यज्ञं नो यक्षतामिमम् ।।
इड़ा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्म्मयोभुवः । बर्हिः सीदन्त्वस्त्रिधः ।।
इह त्वष्टारमग्रियं विश्वरूपमुपह्वये । अस्माकमस्तु केवलः ।।
अव सृजा वनस्पते देव देवेभ्यो हविः । प्रदातुरस्तु चेतनम् ।।
स्वाहा यज्ञं कृणोतनेन्द्राय यज्वनो गृहे । तत्र देवां उपह्वये ।।

[६] तैत्तिरीय उपनिषद्, २।८ ।

'मुण्डकोपनिषद्' में अग्नि को ब्रह्म का मस्तक कहा गया है।[७] और कहीं-कहीं जैसे 'प्राणाग्निहोत्र' उपनिषद् में अग्नि को ब्रह्म का ही प्रतिरूप मान लिया है।[८] वैदिक देवताओं की इस जटिल धारणा ने अनेक दार्शनिकों को आश्चर्य में डाल रक्खा है और ब्लूमफील्ड (Bloomfield) की तरह वे सब केवल इसी निष्कर्ष तक पहुँच सके हैं कि अनेकेश्वरवाद (Polytheism) की सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि प्रत्येक देवता को शासन-भार सौंपा जाता है और सभी उस भार को वहन करने में अपने को असमर्थ पाते हैं।[९] ऐसी अवस्था में ऋग्वेद का एकमात्र 'एकम् सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' का सिद्धान्त ही सर्वमान्य हो सकता है।[१०]

वैदिक वाङ्मय में अग्नि की उत्पत्ति के विषय में भी विस्तृत विवरण मिलता है। अग्नि की उत्पत्ति आकाश और जल में हुई। 'कठोपनिषद्' में अग्नि की दो माताओं का उल्लेख है, अर्थात् दो लकड़ियों के सघर्षण से उनकी उत्पत्ति बतलाई गई है--

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभि ।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्नि एतद्वै तत् ।।
(कठोपनिषद् २।४।८)

अग्नि का एक नाम 'तनूनपात्' है जिससे पता चलता है कि अग्नि की स्वय उत्पत्ति हुई। पर अन्यत्र अथर्वण का उल्लेख मिलता है। अथर्वण पहले ऋषि थे जिन्होंने 'अरणी' से अग्नि उत्पन्न की। भृगु ने अग्नि को मनुष्यों में स्थिर किया और मनु ने उन्हें 'पुरोहित' की सज्ञा दी। 'भारतीय दर्शन' नामक स्वरचित ग्रन्थ में डॉ० एस० राधाकृष्णन् ने अग्नि के यज्ञ-सम्पादन-विधान की तुलना प्राचीन यूनान के देवाह्वानकारी यज्ञ-विधान से की है जिसमें लोक-हित के लिए अग्नि देवों को हविर्वत करते थे।[११] ऋग्वेद के ७७वें सूक्त में अग्नि की इसी रूप में आराधना भी मिलती है

कथा दाशेमाग्नये कास्मै देवजुष्टोच्यते भामिने गी ।
यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा होता यजिष्ठ इत् कृणोति देवान् ।।१।।
यो अध्वरेषु शन्तम ऋतावा होता तमू नमोभिरा कृणुध्वम् ।
अग्निर्यद्वेर्मर्ताय देवान् सचा बोधाति मनसा यजाति ।।२।।
स हि क्रतु समर्य ससाधुर्मित्रो न भूतद्भुतस्य रथी. ।
त मेधेषु प्रथम देवयन्तीर्विश उपब्रुवते दस्ममारी. ।।३।।
(ऋ० १।७७।१--३)

---

[७] अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ।। (मुण्डकोपनिषद् २।१।४)

[८] विश्वोऽसि वैश्वानरो विश्वरूपं त्वयाधार्यते जायमानम् ।
विश्वं त्वाहुतयः सर्वा यत्र ब्रह्मामृतोऽसि ।। (प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्)

[९] दि रेलिजन ऑव दि वेद, पृ० १९९।

[१०] ऋ० २।१६४।४६ ।

[११] डॉ० एस० राधाकृष्णन् : इंडियन फिलॉसफी, खंड १, पृ० १०७ पाद टि०।

आर्यों के आरम्भिक औपनिवेशिक विस्तार (Colonisation) के समय इन्हीं अग्निदेव की स्वीकृति वाञ्छनीय समझी जाती थी। क्योंकि एक स्वरूप से यह यज्ञ में सहायक होते थे और दूसरे से सौ नेत्रों द्वारा जंगलों को भस्म कर मनुष्यों के निवास योग्य 'जनपद' स्थापित करते थे। 'शतपथ ब्राह्मण' में प्राचीन विदेघ (विदेह) की कुछ सम्स्मृतियाँ पाई जाती हैं जब उस प्रान्त को आर्यों ने अपना उपनिवेश नहीं माना था। उक्त ग्रन्थ में आर्यों के पूर्वीय विस्तार-क्रम में तीन प्रधान सीढ़ियों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। पहले विदेह के राजा माठव केवल सारस्वत प्रदेश के अधिपति समझे जाते थे। ब्राह्मण-सभ्यता के आदि प्रतिनिधियों में से अग्नि वैश्वानर के नेतृत्व में वे अपने पुरोहित गौतम राहूगण के साथ सदानीर (वर्तमान गण्डक) के तट तक पहुँचे। इसके पहले ब्राह्मणों ने यह समझकर कि सदानीर का पूर्वी भाग अग्नि-द्वारा परिष्कृत नहीं हुआ है इस नदी को कभी पार करने का विचार तक नहीं किया था। वास्तव में सदानीर का पूर्वी प्रदेश उस समय घने जंगलों और ऊँची नीची भूमियों से भरा हुआ था। माठव के पूछने पर कि 'हमारा आवास कहाँ हो?' अग्नि ने नदी का पूर्वी भाग बसाने का आदेश दिया।'[१२]

इसी तरह आर्य-सभ्यता की प्रसार-भूमिका में जहाँ कहीं आर्यों के बसने-बसाने का क्रम पाया जाता है, शोभनीय क्षेत्र, मार्ग और धन के लिए अग्नि की अभ्यर्चना अनिवार्य हो जाती है।

'सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे। अप न शोशुचदघम्॥' (ऋ० १।९७।२)

क्योंकि अग्नि धन एवं आवास के मूल तथा उपासक की कामना पूरी करनेवाले हैं—

रायो बुध्नः सङ्गमनो वसूनां यज्ञस्य केतुर्मन्मसाधनो वेः।
अमृतत्वं रक्षमाणास एनं देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्॥
नू च पुरा च सदनं रयीणां जातस्य च जायमानस्य च क्षाम्।
सतश्च गोपां भवतश्च भूरेर्देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्॥
द्रविणोदा द्रविणसस्तुरस्य द्रविणोदाः सनरस्य प्रयंसत्।
द्रविणोदा वीरवतीमिषं नो द्रविणोदा रासते दीर्घमायुः॥ (ऋ० १।९६।६–८)

उपनिषत्काल में सर्वत्र याज्ञिक अग्नि जला करती थी और सबके यहाँ दैनिक हवन का विधान था। दैनिक पञ्च महायज्ञ में (१) देव पूजन, (२) पितृ पूजन, (३) अतिथि पूजन, (४) ससार पूजन और (५) गृह्यदेव पूजन होता था। वेदों में अग्निहोत्र की विशाल महिमा का वर्णन हुआ है। और उससे प्रातःकालीन वायु का परिष्कार एवं शारीरिक तथा बौद्धिक स्वास्थ्य का सम्वर्धित होना बतलाया गया है।[१३] सम्पूर्ण वेद में जिन सोलह होत्रियों या ऋत्विकों का प्रसङ्ग-वश उल्लेख मिलता है उनके नाम ये हैं—

ऋग्वेद के—(१) होता, (२) मैत्रावरुण, (३) अच्छावाक्, (४) ग्रावस्तुत।
यजुर्वेद के—(५) प्रतिप्रस्थिता, (६) नेष्टा, (७) उन्नेता। (८) अध्वर्यु।

---

[१२] शतपथ ब्राह्मण की यह कहानी प्रोफ़ेसर मैकडॉनेल के संस्कृत-साहित्य के इतिहास में भी उद्धृत हुई है।
दे० 'ए० हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर' (१९२६), अ० ८, पृ० २१४-१५।

[१३] सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता॥१॥
प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनसस्य दाता॥२॥
(अथ०, कां० १९। अनु० ७। मं० ३।४)

सामवेद के—(९) उद्गाता, (१०) प्रस्तोता, (११) सुब्रह्मण्य, (१२) प्रतिहर्त्ता।

अथर्ववेद के[१४]—(१३) ब्रह्मा, (१४) ब्राह्मणाच्छसी, (१५) पोता, (१६) अग्नीध्र।

वेदों में अग्निहोत्र की महिमा इससे और प्रकट होती है कि सबसे बड़े ऋत्विक् अग्नि स्वयं हैं

तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं त्वमग्निदृतायतः।

तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे ।। (ऋ० २।१।१-२)

और जो लोग अग्निहोत्र करते हैं, वे सब द्युलोक में आदित्य और अग्नि के साथ एक ही जगह निवास करते हैं।[१५] अग्नि अमर हैं ही, मरणशील मनुष्य भी अग्नि की उपासना से अमर हो जाते हैं। इसीसे वैदिक कवि को कहना पड़ा कि 'अग्निदेव! आओ, हम परस्पर प्रशंसा करें।'

'अथा न उभयेषाममृत मर्त्यानाम्। मिथः सन्तु प्रशस्तयः ।।' (ऋ० १।२६।९)

तथा 'हे अग्नि! तुम ज्योति स्वरूप हो। मनु ने मनुष्यों में तुम्हें स्थापित किया था और यज्ञ के लिए उत्पन्न होकर हव्य-द्वारा तृप्त हो, तुम्हीं कण्व के प्रति प्रकाशित हुए थे। मनुष्य तुम्हें नमस्कार करते हैं।'—

नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते।

दीदेथ कण्व ऋतजात उक्षितो यं नमस्यन्ति कृष्टयः ।। (ऋ० १।३६।१९)

ऋग्वेद के २४वें सूक्त में कवि ने आरम्भ में ही देवार्चन के सम्बन्ध में एक अत्यन्त सुन्दर जिज्ञासा प्रकट की है कि देवों में किस श्रेणी के देवता का सुन्दर नाम उच्चारण करूँ जो हमें दीर्घायु तथा माता-पिता में अक्षय भक्ति से पुरस्कृत करे। और दूसरे ही मन्त्र में देवों में पहले अग्नि का सुन्दर नाम लेकर अपनी उस उदयोन्मुखी जिज्ञासा का 'उत्तर' ढूँढ़ निकाला है—

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।

को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ।।

अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम ।।

स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ।। (ऋ० १।२४।१-२)

वैदिक कवि के इसी 'उत्तर' में अग्नि की उपासना का सांग 'रहस्य' छिपा हुआ है। इसीलिए वेदों में ऋग्वेद और सामवेद दोनों अग्नि-गायन से आरम्भ किये गये थे। और यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के आरम्भ में यद्यपि 'अग्नि' का नाम न लेकर 'इत' एवं 'एतृशप्त' शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनकी अनेक ऋचाओं में अग्नि की आराधना मिलती है। ईशावास्योपनिषद् के निम्नलिखित अवतरण में भी यशस्वी और पुण्यमय जीवन व्यतीत करने के लिए ही इसी अग्नि-उपासना की ओर इङ्गित किया गया है, जो वैदिक धर्म का एक विशिष्ट अङ्ग है—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्

विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो

भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ।। (ईशावास्योपनिषद् १।१८)

अथर्ववेद में (१) सदस्य, (२) पत्नी दीक्षिता, (३) शमिता, (४) गृहपति, (५) अङ्गिरा, (६) वैकर्ता और (७) चमसाध्वर्यु भी ऋत्विक् माने गये हैं।

शतपथ ब्राह्मण ११।६।२-५।

भारतीय कला का दार्शनिक आधार

डॉ० बलराम श्रीवास्तव

भारतीय कला को दर्शन का व्यापक आधार मिला है। सौन्दर्य-शास्त्र के अनुसार कला की उद्भावना सौन्दर्यानुभूति की अतिरेकता से होती है। कला के क्षेत्र मे यह धारणा काफी हद तक सही भी उतरती है, किन्तु भारतीय कला का आधार केवल सौन्दर्यवाद ही नही है, भारतीय कलाकारों ने सौन्दर्यवाद को उसी सीमा तक मान्यता दी है जिस हद तक भारतीय दर्शन, धर्म तथा नैतिकता उसका समर्थन कर सकने मे समर्थ है। कला की दृष्टि से भारत मे अनेक ऐसी सुन्दर कृतियाँ बनी हैं जिनके मूल मे ऐन्द्रिक सौन्दर्य की भावना सिद्ध हो सकती है, किन्तु कला की इस धारा को न तो व्यापकत्व मिला और न समर्थन तथा सहानुभूति। इसके विपरीत भारतीय कला की उसी धारा को प्रश्रय और सहयोग प्राप्त हुआ जो कि यहाँ के दर्शन और धर्म की मान्यताओ के अनुकूल पडे। आनन्द का स्रोत सौन्दर्य है, किन्तु भारतीय कला-चिन्तन मे आनन्द और सौन्दर्य दोनो ही अध्यात्ममूलक हैं। और दूर तक विचार करें तो यह भी अनुभव होता है कि कला-रचना का जितना सम्बन्ध आनन्द से है, उतना सौन्दर्य से नही। सौन्दर्यहीन वस्तु भी कलात्मक हो सकती है यदि उसके द्वारा आनन्द का उद्रेक सम्भव हो। यही कारण है कि रूपयोजना की दृष्टि से बनी भद्दी प्रतिमा भी भक्त के लिए आनन्द का अपार सागर उडेल देती है, यदि वह भक्त की धारणा के अनुकूल बनी हो। मूर्ति-शास्त्र का आकृतिविज्ञान, मुद्राविज्ञान, अलकरणविज्ञान तथा आयुध-विज्ञान अपने निश्चित मान्यताओ के आधार पर जो प्रतिमा सुन्दर सिद्ध करते हैं वही प्रतिमा भक्त की भी उपास्य हो पाती है। यही कारण है कि धर्मसूत्रो और कर्मकाण्ड मे उस प्रतिमा की उपासना का विरोध किया गया है जो आयुधादि से सम्पन्न न हो और भग हो गयी हो। टूटी प्रतिमाएँ सग्रहालयो की निधि भले ही हो, किन्तु मन्दिरों में उनके लिए स्थान नही है। यहाँ स्पष्ट है कि भक्त के मन पर कला की उसी कृति की छाप पड़ती है, वही कला आनन्द का स्रोत हो पाती है जो कि आध्यात्मिक सौन्दर्य के अनुकूल हो।

अध्यात्ममूलक आनन्दवाद का कला के क्षेत्र मे एक दूसरा भी प्रभाव पडा। वह यह कि जहाँ देश और काल के प्रभाव से सौन्दर्य का मानदण्ड बदलता रहता है और बदलता जाएगा, वहाँ आनन्द की आध्यात्मिक अनुभूति कभी पुरानी नही पड़ती। विश्वनाथ जी की प्रतिमा देशकाल भेद से अनेक रूप धारण कर सकती है, किन्तु आनन्द की अनुभूति भक्त के लिए सदैव एक सी है। वह नित नूतन नही है। इन्हीं दो कारणो से भारतीय कलाकारो ने कोरे सौन्दर्य और आनन्दवाद का सहारा छोड़ अध्यात्ममूलक दर्शन का छोर पकडा और यह उसके लिए अच्छा ही हुआ। यह कहना सर्वथा गलत है कि दर्शन और धर्म के कारण भारतीय कला का स्वतन्त्र उन्मेष न हुआ और कला दर्शन और धर्म का साधनमात्र बन गयी। भारतीय दर्शन की व्याप्ति अनन्त है। षड्दर्शन या इसी प्रकार के अन्य भेदों-प्रभेदो के बाँधो को तोड-फोडकर भारतीय मनीषी की चिन्तन-परम्परा

अबाध रूप से चलती रही, जिसके कारण जिस प्रकार भारतीय मस्तिष्क को दार्शनिक उद्भावना के लिए विशाल क्षेत्र मिलता गया, उसी प्रकार कलाकार को भी धर्म, अध्यात्म और दर्शन के मनोरम वसन में नैसर्गिक सौन्दर्य की झांकी देने का सुअवसर मिलता रहा। इसके विपरीत यदि हम पाश्चात्य कला, मुख्यतया ग्रीस और रोम की मूर्तिकला को देखें, जिसे सौन्दर्यवाद का आधार तो मिला, किन्तु अध्यात्म का सहारा नहीं मिला है, तो लगेगा कि वह जितनी रूढ़िग्रस्त और निष्प्राण है उसमें सौन्दर्य की, मुख्यतया मानवीय सौन्दर्य की, अनन्यतम उद्भावना हुई है, किन्तु उसमें वह सजीवता, सप्राणता नहीं है जो भारतीय मूर्तिकला में है। गान्धार कला, जो भारत की आंचलिक कला होते हुए ग्रीसदेशीय सौन्दर्यवाद से प्रभावित थी, इसी कारण तत्कालीन मथुरा या परवर्ती मध्यदेशीय (गुप्तकला) की तुलना में आध्यात्मिक सौन्दर्य की दृष्टि से हीन सिद्ध होती है। हिन्दू, बौद्ध तथा जैन दैववाद, जो वस्तुत भारतीय दर्शन का मूर्तरूप ही है, इतना व्यापक और सम्पन्न है कि भारतीय कलाकार आज तक उस व्याप्ति को पहुंच ही नहीं पाया है। अतएव यही सिद्ध होता है कि धर्म और दर्शन के प्रभाव से भारतीय कला को बहुत ही व्यापक क्षेत्र मिला है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण में देवप्रतिमा को साक्षात् देवता उस रूप में माना गया है जैसे यज्ञ को पुरुष (यज्ञो वै पुरुष)। वहाँ यह भी कहा गया है कि मूर्ति धर्म की पत्नी है। मूर्ति के बिना विश्व के कण-कण में व्याप्त रहने वाला पूर्ण ब्रह्म निराधार हो जाएगा।[१] विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अनुसार दर्शन और धर्म ने कला को आवश्यकता से विवश होकर सहचरी बनाया। धारणा है कि कलियुग में देवता के दर्शन का यही मात्र माध्यम है। कृत, त्रेता और द्वापर युग में लोग देवता का साक्षात् दर्शन करते थे—

विशेषेण कलौ काले कर्तव्य देवतागृहम्।
कृतत्रेताद्वापरेषु नरा पश्यन्ति देवताम्॥

—विष्णुधर्मोत्तरपुराण, काड ३, अध्याय १, श्लोक ५।

मौलिक उपादानों से बनी प्रतिमा या चित्र में देवत्व का आरोप भावनापूर्वक ही सम्भव है। मूर्ति-प्रतिष्ठा के समय चलनेवाले कर्मकाण्ड और विधि-विधानों से मूर्ति के प्रति ऐसी आस्था मनोवैज्ञानिक रीति से जगायी जाती है या भक्ति-भावना के सहज उद्रेक से जग भी जाती है।

'दिव्यावदान' में इस सम्बन्ध में एक मनोरम कथा है। बुद्ध के शिष्य एक बार मथुरा आये। वहाँ यक्ष-पूजा का बाहुल्य था। मार नामक यक्ष ने उपगुप्त को विवश किया कि वे यक्ष की पूजा करें, किन्तु यह उपगुप्त के अनुकूल न था। वे केवल बुद्ध के प्रति आस्था रखते थे। अतएव छलपूर्वक मार यक्ष ने बुद्ध का स्वरूप धारण कर लिया। इस पर उपगुप्त नतमस्तक हुए। किन्तु मार ने तुरन्त उपगुप्त से कहा कि जब मैं बुद्ध नहीं, यक्ष हूँ, तो तुम क्यों नतमस्तक होते हो? तो उपगुप्त ने कहा कि जिस प्रकार मूर्तिपूजक पूजा करते समय उस मिट्टी की पूजा नहीं करते जिसकी प्रतिमा बनी है, बल्कि उस देवता या शक्ति की पूजा करते हैं जिसकी कि प्रतिमा है। उसी प्रकार मैं तुम्हारी पूजा नहीं करता; क्योंकि तुम बुद्ध के रूप के माध्यम मात्र हो.

मृण्मयेषु प्रतिकृतितिष्यमाणा यथा जन.।
मृतसज्ञामनाहत्य नमत्यमरसज्ञया॥

---

[१] आर. एन. मुखर्जी : 'सोशल फंक्शन ऑव आर्ट', पृष्ठ ४ में उद्धृत।

तथाह् त्वामिहोद्वीय्य लोकनाथवपुर्धरम् ।
मारमज्ञामनाहत्य नत सुगतसञ्ज्ञया ।।[१]

उपगुप्त के इस कथन से यह साफ प्रकट है कि मूर्ति के पीछे जो मूल दर्शन था वह बहिरंग न होकर अन्तरंग था। भक्त के मन मे मूर्ति या प्रतिमा भगवान् की एक अवस्था है जो आगे चलकर साधना के बल पर अमूर्त, सरूप या परम रूप धारण कर लेता है। वेदान्त-दर्शन की व्यावहारिक दृष्टि मे मूर्ति को महत्व मिला है। मूर्तिसाधना मे सिद्ध हो जाने के बाद ही ईश्वर के प्रति पारमार्थिक दृष्टि की उपलब्धि होती है। शाक्त और वज्रयान (बौद्धतंत्र) की धारणा के अनुसार साधना के अनेक क्रम है जो स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाते है। साधनमाला मे स्थविर अनुपमरक्षितरचित तारा के साक्षात्कार की एक साधना वर्णित है जिसके कुछ स्तर ये होगे—पहले साधक चन्द्रमा का ध्यान करे, फिर कमल का, इसके बाद असंख्य बुद्ध और बोधिसत्वो का, फिर सुगत, प्रत्येक श्रावक, जिन बोधिसत्व सुतो का, त्रिरत्न का, इसके बाद मैत्री, मुदिता, दया और उपेक्षा नामक चारो ब्रह्माओ का फिर आर्यतारा और उसके बाद ध्यानी बुद्ध अमोघसिद्धि का और फिर अन्त मे देवी तारा का।[२]

विकास-क्रम की दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो सिद्ध होगा कि दर्शन ने भारतीय कला को प्रागैतिहासिक युग से ही प्रभावित किया है।

दर्शन का आधार भौतिक जीवन की अनुभूतियाँ है। अतएव प्रागैतिहासिक युग मे प्रकृति के प्रति मानव का जो दृष्टिकोण रहा उसका प्रभाव उस समय की कला पर पडा। पहले मनुष्य ने सोचा कि वह प्रकृति को जीत लेगा। किन्तु अपनी सीमाओ के कारण जब वह ऐसा न कर सका, उसने किसी असीम की कल्पना की। किन्तु असीम दृश्य नही था, अतएव दृश्य-जगत् के प्राकृतिक अभिधान ही उसके आस्था के आधार बने। वर्षा, जल, अग्नि, वायु आदि की उपासना करके उसने प्राकृतिक शक्ति से त्राण पाने और उनका उपभोग कर जीवन को सुखी करने की चेष्टा की। अब प्रश्न होता है कि उस असीम को वह क्या रूप दे। भारतीय ताम्रयुग की कुछ ऐसी ताम्र-मूर्त्तियाँ मिलती है जो मानवाकृति की सरलतम अभिव्यक्ति कही जा सकती है। इसमे देह के प्रमुख अवयव, सिर, धड, हाथ और पैर समवाय रूप मे एक पत्तर पर काट दिये गये है। गगा की घाटी मे ऐसी कई मूर्त्तियाँ मिली है, जिनमे से एक भारत-कला-भवन मे सुरक्षित है। हडप्पा और मोहेंजोदड़ो की मुहरो तथा अन्य चित्रो की अनुकृतियो से भी यही पता चलता है। प्रारम्भ से ही मनुष्य ने देवता की शरीर-कल्पना करते समय मनुष्य-शरीर का ही ध्यान रखा। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है कि जभी से मनुष्य ने दार्शनिको के इस महान् तथ्य को समझ लिया कि ईश्वर और जीव के मूल मे एक ही सत्ता है। बाद को पल्लवित होनेवाले सभी दर्शनो ने (चारवाक्, जैन को छोडकर) यही माना है कि परमात्मा अव्यक्त है और जगत् उसकी छाया है। परमात्मा कर्ता होते हुए भी अपनी कृति (जीव) से भिन्न नही है। अद्वैतवादियो ने जीव और ब्रह्म के बीच के आवरण को माया कहा है। माया का नाश ज्ञान या कर्म से होता है। माया का नाश जीव और ब्रह्म की विभिन्नता का नाश है। कबीर ने इस तथ्य को अत्यन्त सीधे ढग से समझाया है—

---

[१] दिव्यावदान (नालन्दा) पृष्ठ २२८।

[२] साधनमाला, साधना ६८।

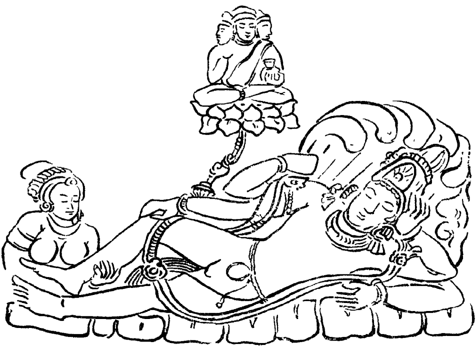
'जल में कुंभ है कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी ।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यह तत कह्यो गयानी ।।'

इस महातथ्य का ज्ञान ग्रीस देश के कलाकारों को भी हुआ, किन्तु उनको सत्य का एकांगी साक्षात्कार हुआ। भारतीय कलाकार जहाँ यह जानते थे कि ईश्वर मनुष्य की तरह ही रूपधारी है, वहाँ यह भी जान गये कि परमात्मा के शरीर और मनुष्य के शरीर में असीम और ससीम का अन्तर है। अतएव देवता की शरीर-कल्पना में उसने परमात्मा की असीम शक्तियों की उद्भावना देने के लिए देवता के अनेक मुख, अनेक हाथ, अनेक पैर और नेत्रादि की कल्पना की। पूरी सम्भावना इसकी है कि भारतीय कलाकार के मन में वैदिक दार्शनिकों की धारणा 'सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात्' (ऋग्वेद १०-९०-१) घर की गयी हो। किन्तु ग्रीस देश के मूर्तिकार सम्भवत इस रहस्य से अवगत नहीं थे, अतएव उन्होंने मानव की सुन्दरतम रूप-कल्पना को ही देवत्व माना। उनके पास भारतीय कलाकारों का मूर्तिविधानीय कौशल नहीं था।

वैदिक ऋषियों का दार्शनिक चिन्तन भारतीय कला के अभिप्रायों और प्रतीकों (Art motifs) को अधिकतम मात्रा में प्रभावित किये हुए हैं। यह भी कहा जा सकता है कि भारतीय कला और प्रतीकों का आधार वैदिक दर्शन ही है। 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' का सत्य और क्षेत्रों में चाहे कुछ भी हो, किन्तु भारतीय कला के क्षेत्र में सर्वथा सत्य है। सच यह लगता है कि जैसे पुराणों ने वैदिक दार्शनिक तथ्यों का कथात्मक उपबृंहण किया, उसी प्रकार भारतीय कलाकारों ने भी वैदिक चिन्तनप्रसूत मान्यताओं का प्रतीकात्मक उपबृंहण किया। वैदिक ही नहीं, वैदिकोत्तर दर्शनों के साथ भी भारतीय कलाकार का ऐसा ही तादात्म्य बना रहा। इस प्रकार भारतीय मस्तिष्क का जो कुछ चिन्तन-मनन साररूप में था, वही कला के क्षेत्र में दृश्यगत हुआ। वैदिकों की सृष्टि-विद्या या हिरण्यगर्भ–विद्या का मर्म भारतीय कलाकारों ने समझ लिया था और उन्होंने अमूर्त भावनाओं और दार्शनिक तथ्यों को जो रूप दिया तथा बाना पहनाया वह इतना सटीक बैठा कि दर्शन के दुरूहतम तथ्य भी कला के माध्यम से मुखर हो पड़े।

प्रजापति या स्वयभू ने सृष्टि की रचना की। उन्होंने सृष्टि की जब इच्छा की, सर्वप्रथम अपने शरीर से जल उत्पन्न किया और फिर विविध प्राणी और वनस्पति की उत्पत्ति के लिए अपने शक्ति-रूपी बीज को जल में डाल दिया—'अपएव ससर्जादौ तासु बीजमवसृजत्' (मनु० १–८)। यह अप्स ही सृष्टि का मूल उपादान है, अतएव सृष्टि-विद्या और दर्शन को मूर्त रूप देते समय भारतीय कलाकारों ने इसी जल को अपना प्रतीक माना। जल का स्वरूप सूक्ष्म है, अतएव सृष्टिमूलक जल की कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए जलीय जीवों और वनस्पतियों को जल का प्रतिनिधि मानकर सृष्टि के दुर्गम रहस्य को सुगम बनाया गया। मकर, कमलनाल, शंख, मत्स्य आदि कला के प्रसिद्ध और बहुमान्य प्रतीक सिद्ध हुए। हिरण्यगर्भ भारतीय सृष्टि-विद्या का मर्म और भारतीय दार्शनिक चिन्तन की अलौकिक देन है। सांख्यदर्शन का मूलाधार भी बहुत कुछ अंशों में हिरण्यगर्भ विद्या से प्रभावित है। हिरण्यगर्भ की कलात्मक व्यंजना बड़ी ही सरल रीति से 'पद्ममूल' के द्वारा सम्पन्न हुई। जिस प्रकार हिरण्यपिण्ड या अण्ड में सम्पूर्ण जीव और वनस्पति जगत् की नहीं, अपितु सप्तद्वीपा मेदिनी सन्निहित है, उसी प्रकार पद्ममूल में भी सम्पूर्ण सृष्टि का मूलतत्व वर्तमान है। भारतीय प्रतीक विद्या का 'पद्ममूल' की कल्पना एक अनुपम देन है। सृष्टि की इच्छा होते ही प्रजापति से 'पद्म' उत्पन्न होता है। यह पद्म सहस्रदल है और उसकी आभा स्वर्णवर्ण की है।

कमल सृष्टि का प्रथम उत्पादन है। अतएव यह ब्रह्मा आदि देवताओं का आधार है। विष्णु की नाभि से निकला कमल महाभारत में 'सनातनकमल' के नाम से अभिहित हुआ है।



'पद्म' को सृजन के प्रतीकत्व के लिए सार्वभौम स्वीकृति मिली। हिन्दू मूर्तिविधान के अनुसार 'पद्म' प्रायः सभी देवताओं का आसन बनाया गया। बौद्धों की दार्शनिक परम्परा में भी 'पद्म' को यही मान्यता मिली। बुद्ध जब कभी बैठे दिखाये जाते हैं, उन्हें एक या दो कमल-दलों की पंक्तियों पर स्थित किया जाता है। 'ललित-विस्तर' के अनुसार बोधिसत्व की उत्पत्ति के पूर्व माता के गर्भ से एक कमल उद्भूत हुआ (६४-११)। श्रावस्ती का चमत्कार (जिसका सर्वोत्तम मूर्तिकाल सारनाथ में हुआ) दर्शाते हुए कमल का सृजनत्व प्रमाणित किया गया है। महाभिनिष्क्रमण के पूर्व सिद्धार्थ ने सात स्वप्न देखे थे जिनमें दूसरा स्वप्न कमल था।[४] यह कमल सम्बोधि का पूर्वाभास प्रस्तुत करता है। इस स्वप्न में बुद्ध ने नाभि से कमल निकलता हुआ देखा था। नेपाली अनुश्रुति के अनुसार आदि बुद्ध की उत्पत्ति कमल से हुई है।[५]

अतः जो सृजन का मूल तत्व है, दो स्वरूप धारण करता है—एक अग्नि और दूसरा सोम। (अग्निसोमात्मक जगत्)। अग्नि का स्वरूप घोर है और सोम का उदात्त या शीतल। दोनों ही सृजनमूलक हैं। एक शक्ति है, दूसरा शक्तिमान, एक पुरुष है दूसरा प्रकृति, एक रुद्र है दूसरा

४ जिमर : मिथ्स् ऐंड सिम्बल्स इन एंश्यंट इण्डिया, पृष्ठ ६२।

५ गोल्डेन जर्म, पृष्ठ ५६-५७।

रुद्राणी। एक लिंग है दूसरा योनि। इस दार्शनिक तथ्य की कलात्मक व्यजना प्रागैतिहासिक युग से आज तक चली आ रही है जैसे पुरुष (अग्नि) की लिंग रूप में और प्रकृति (योनि) की योनि रूप में। कालान्तर में रुद्र और रुद्राणी को जब मानवाकृति दी गयी, पुरुष और स्त्री रूप मे शकर-पार्वती, राम-सीता, राधाकृष्ण आदि की प्रतिमाएँ इसी दार्शनिक आधार पर बनने लगी। इन दोनों में भेद नही है। 'ललिता सहस्रनाम' के अनुसार दोनो मे उसी प्रकार एकत्व है जैसे चन्द्रमा और चन्द्रिका मे। (चन्द्रस्य चन्द्रिकेवाय शिवस्य सहजा शिवा, पृष्ठ ६५)। दोनो ही की अद्वैत सत्ता प्रदर्शित करने के लिए कलाकारो ने अर्द्धनारीश्वर की प्रतिमा का निर्माण किया।



रुचि और उपासना के भेद से कोई पुरुष-शक्ति की उपासना करता है, कोई पुरुष और स्त्री शक्तियों की, और कोई केवल स्त्री-शक्ति की। स्त्री-शक्ति की अपेक्षा मातृशक्ति कहना अधिक समीचीन होगा। मातृशक्ति की कल्पना भी प्रागैतिहासिक है। अदिति के रूप मे हड़प्पा-सस्कृति में प्रतिमाएँ बनती थी। मातृ-कल्पना मे परोक्ष रूप में आदि और सृजनमूलक सत्ता की ही पूजा की जाती है। शाक्त-दर्शन मे, बज्रयानीय बौद्धदर्शन मे मातृशक्ति की महत्ता पुरुष-सत्ता से कही अधिक है। इन दर्शनों मे मातृशक्ति ही जगन्नियता और अधिष्ठात्री तथा ब्रह्मस्वरूपा है। दुर्गासप्तशती मे देवी को स्वाहा, स्वधा, तथा वषट्कार कहा गया है ('त्वं स्वाहा त्व स्वधा त्व हि वषट्कार स्वरात्मिका'। १-४७)। यह देवी ही सृष्टि, पालन और महार करती हैं।

अमृतरूपा प्रागैतिहासिक और वैदिक अदिति ही सांख्यदर्शन का महत् या बुद्धि तथा बौद्ध-

तन्त्रो की प्रज्ञापारमिता का आधार प्रतीत होती है। यही बुद्धिस्वरूपा सरस्वती भी है। मूर्तिशास्त्र की दृष्टि से सरस्वती और प्रज्ञापारमिता मे सम्भवत इसी कारण साम्य है।

यही परमशक्ति अनेक शक्तियो मे प्रस्फुटित होकर सृष्टि का पालन और सहार करती रहती है। शाक्तो मे इन्ही शक्तियो के आधार पर दशमहाविद्याओ की परिकल्पना की गयी, जिसका परिणाम मूर्तिविधान पर भी पडा। शाक्तो की देवी और उपदेवी सम्बन्धी कल्पना वज्रयानियो और गुह्यसमाजियो को भी ग्राह्य हुई, क्योकि उनकी मान्यताएँ बहुदेववाद के अनुरूप थी। 'अदव्य-वज्रसङग्रह' के अनुसार शून्यवादी मानते है कि आदि मे यद्यपि शून्य ही है जो स्वरूपहीन है, किन्तु शून्यता के विस्फोट होने पर उससे रूप, आकृति तथा विविध देवी-देवता उत्पन्न होते है।



साख्यदर्शन का त्रिगुणवाद, जिसके वैषम्य और सक्षोभ से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है, कला मे बहुत प्रचलित हुआ। त्रिमूर्त्ति प्रतिमा का निर्माण इसी आधार पर हुआ। बौद्धो को भी यही त्रिगुणवाद ग्राह्य हुआ। उनके देववाद मे मैत्रेय, नामसंगीति, मजुश्री, मजुकुमार, हयग्रीव, हलाहल, ध्वजाग्रकेयूर आदि मूर्तियों की परिकल्पना का मूल भारतीय दर्शन का त्रिगुणवाद ही है।

किन्तु जब इस त्रिगुणात्मक सत्ता को पृथक्-पृथक् रूप से दिखाना अभीष्ट हुआ बडे ही सहज रीति से तीनो गुणो को पृथक्-पृथक् नाम और रूप दार्शनिकों तथा कलाकारो द्वारा दिया गया।

यह मूल भावना थी कि मूल शक्ति एक ही है और वही शक्ति समय-समय पर नाना रूप और नाम धारण करती है

'एकात्मा च त्रिधा भूत्वा संमोहयति य. प्रजा ।' —(वायु० पु० ६६–११६)

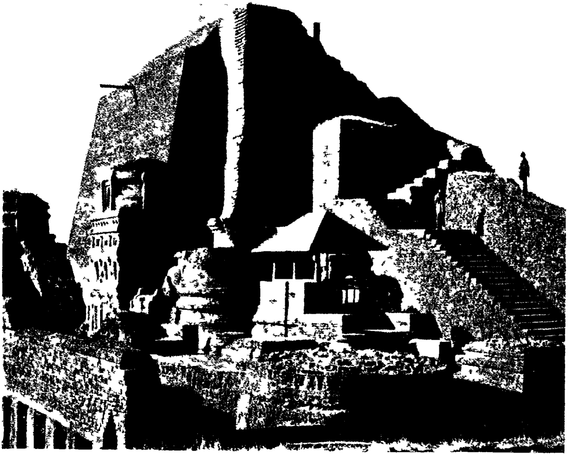
भारत के प्राचीन विश्वविद्यालय और स्त्री-शिक्षा

चन्द्रबली त्रिपाठी

समाज का सुनियोजित सघटन सभ्यता का प्रधान विषय है। वैदिक जीवन मे वर्णों के कर्तव्य-भेद स्थापित हो जाने से शिक्षा के प्रक्रम मे भी कतिपय विभेद किये गये और कदाचित् इसीलिए यद्यपि शूद्र विद्या के अधिकारी माने गये, उनके लिए वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य आश्रम आवश्यक कर्तव्य नही हुआ और द्विजाति मात्र तक सीमित रहा, जैसा कि मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतियो से प्रकट है। शिक्षा मे यद्यपि दूसरे विषयो का स्थान था, पर वेदाध्ययन उसका मुख्य और अनिवार्य अग था जिसमे ब्रह्मचर्य-पालन पर अत्यधिक आग्रह था। इसीलिए इस शिक्षा को ब्रह्मचर्य प्रणाली भी कहते हैं और यह शिक्षा ज्यादा करके गुरुकुलो मे ही दी जाती थी जिससे इसे 'गुरुकुल प्रणाली' की भी सज्ञा दी जाती है।

प्राचीन काल में ऋषियो के बड़े-बड़े आश्रम वनो मे, परन्तु गाँवों अथवा नगरो से बहुत दूर नही, होते थे जो न केवल तपस् और आध्यात्मिक चिन्तन के केन्द्र होते, वरन् विश्वविद्यालयो के समान विविध विद्याओ की शिक्षा देते थे। इन गुरुकुलो मे गुरु अथवा आचार्य बहुधा गृहाश्रमी होते थे और ब्रह्मचारी उनके परिवार वर्ग का सदस्य-सा होकर गुरु और गुरुपत्नी के प्रति निष्ठा-वान रहता था। इस परिवार मे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए जहाँ उसे सच्चा मानव बनने का अवसर मिलता गुरु और गुरुपत्नी से माता पिता के स्नेह और शुभाकाक्षा की सुधाधार प्राप्त होती रहती। किसी-किसी आश्रम मे अनेक आचार्य और उपाध्याय होते थे और कोई इतने बड़े होते कि उनके विद्यार्थियो की सख्या दस हजार तक पहुँच जाती थी और उनके प्रधान अधिष्ठाता को 'कुलपति' कहते थे। महर्षि कण्व जिनके आश्रम में शकुन्तला की उत्पत्ति और शिक्षा हुई ऐसे ही एक प्रख्यात कुलपति थे। महर्षि कश्यप उन्ही के समकालीन थे जिनके आश्रम मे भारत वश के प्रवर्तक दौष्यति भरत का सवर्धन हुआ था जो आगे चलकर भारत के प्रसिद्ध सम्राट् हुए।

रामायण काल में महर्षि विश्वामित्र, वसिष्ठ, वाल्मीकि और अगस्त्य इत्यादि के लोकविश्रुत नाम मिलते हैं जिनके गुरुकुलो मे विविध विद्याएँ पढायी जाती थी। महाभारत काल के कुछ आश्रम और महर्षि वेदव्यास, भरद्वाज, शौनक इत्यादि के प्रसिद्ध गुरुकुल थे। शौनक एक अत्यन्त विख्यात कुलपति थे जिनका आश्रम नैमिषारण्य के निमिष क्षेत्र में ऋषियो के आवास के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध था। यहाँ पर कुलपति शौनक ने, जो असाधारण दीर्घजीवी महात्मा थे, एक बारह वर्षों तक समाप्त होनेवाला यज्ञ किया जिसमे उग्रश्रवा ने ऋषियो को 'महाभारत' की कथा सुनायी थी। हरद्वार में महर्षि भरद्वाज का गुरुकुल था जहाँ वेदो की शिक्षा के साथ क्षात्र-विद्या, जिसमे धनुर्वेद की प्रधानता थी, विशेष रूप से बतलायी जाती थी। महर्षि भरद्वाज से धनुर्वेद मे आचार्यत्व प्राप्त कर ऋषि अग्निवेश ने यह विद्या इसी गुरुकुल में द्रोणाचार्य तथा द्रुपद को पढ़ायी थी। अवती (वर्तमान उज्जैन) में ऋषि सादीपनि का गुरुकुल भी विख्यात था जहाँ अकिंचन सुदामा के साथ श्रीकृष्ण ने वेदो की शिक्षा प्राप्त की। ऋषियो के आश्रमो मे, जहाँ एक ओर अनेक ऋषि ब्रह्मचिन्तन करते और योग्य शिष्यो को 'ब्रह्म-विद्या' बतलाते थे जिससे आरण्यकों और उपनिषदो का निर्माण हुआ, दूसरे अनेक ऋषि अनेक शास्त्रो के प्रणयन एवं शोध के अमूल्य कार्य करते थे। इसी परम्परा के अनुसार व्यास



नालन्दा विश्वविद्यालय

ने अपने आश्रम में चारों वेदों का सम्पादन करके वैशंपायन, जैमिनि, सुमंतु और पैल इत्यादि प्रधान शिष्यों को वेद-प्रचार का कार्य-भार दिया था।

महाभारत काल में वनों के गुरुकुलों के अतिरिक्त हस्तिनापुर जैसे बड़े नगरों में भी बड़े विद्यापीठों का होना पाया जाता है। कौरव-पांडवों की शिक्षा आरम्भ में हस्तिनापुर में ही आचार्य कृप के विद्यालय में हुई थी और यहीं पर भीष्म के अनुरोध पर द्रोणाचार्य ने उन बालकों को क्षात्र विद्या की विशेष शिक्षा के लिए एक बहुत बड़ी पाठशाला स्थापित की जिसने अपनी ख्याति के कारण दूर-दूर के नवयुवकों को आकर्षित किया।

इस विद्यापीठ की एक विशेषता यह देख पड़ती है कि द्रोणाचार्य ने अपने शिष्यों की परीक्षा स्वयं लेने के उपरान्त उसका सार्वजनिक रूप से एक महान् प्रदर्शन भी किया जिसके प्रेक्षण में सभ्रांत पुरुषों के साथ महिलाओं ने भी पूरी अभिरुचि दिखायी।

प्राचीन विश्वविद्यालय : तक्षशिला, नालंदा और विक्रमशिला

जान पड़ता है कि महाभारत-काल में तक्षशिला के महान् विश्वविद्यालय की जड़ जम चुकी थी जैसा कि महाभारत में उसके आचार्यों में प्रमुख धौम्य का पता चलता है जिनके शिष्य उपमन्यु, आरुणि और वेद की गुरुभक्ति के उदाहरण आज भी दिये जाते हैं।

रावलपिंडी से लगभग बीस मील पश्चिम तक्षशिला रेलवे स्टेशन के समीप उस विश्वविद्यालय के खंडहर आज भी उसकी मूक गाथा सुना रहे हैं। संभवतः तक्षशिला की स्थापना भरत ने की थी जिसके पुत्र तक्ष उसके शासक थे और उन्हीं के नाम पर उसका यह नाम पड़ा। रघुवंशियों का विद्या-प्रेम बहुत बढ़ा-चढ़ा था जिसके प्रमाण में रघु का इतना ही कहना पर्याप्त है कि 'लोगों में इस प्रवाद का नया अवतार न सुनायी पड़े कि गुरु-दक्षिणा की याचना रघु से करके एक भग्नमनोरथ वेद-पारगत-स्नातक किसी दूसरे के पास चला गया।'[१] यहीं पर आगे चलकर जनमेजय का नागयज्ञ सम्पन्न हुआ जिसमें वैशंपायन ने प्रथम बार सामूहिक रूप से महाभारत की कथा सुनायी थी।

तक्षशिला विश्वविद्यालय की ख्याति ईसवी पूर्व सातवीं शताब्दि में भारतव्यापी हो चुकी थी और उसमें देश के विभिन्न भागों से विविध विद्याएँ सीखने के लिए विद्यार्थी आते थे, यहाँ तक कि कतिपय विषयों में विशेष योग्यता के लिए वह काशी, उज्जयिनी और मिथिला जैसे प्रसिद्ध विद्या-केन्द्रों से भी विद्यार्थियों को आकर्षित करता था। भगवान् बुद्ध (ई० पू० ६ठी शती) के समकालीन कोशल के राजकुमार प्रसेनजित ने तक्षशिला में शिक्षा पायी और यहीं पर संसार के सर्वश्रेष्ठ व्याकरण-रचयिता पाणिनि ने शिक्षा प्राप्त की और संभवतः यहीं 'अष्टाध्यायी' की रचना भी की। अर्थशास्त्र के रचयिता चाणक्य इसी विश्वविद्यालय के स्नातक थे और यहीं पर बिम्बिसार का दासी-पुत्र जीवक आयुर्वेद और सर्जरी में पारंगत हुआ।

यूनानी लेखों से पता लगता है कि अलेक्जेंडर के भारत-आक्रमण के समय (३२७ ई० पू०) तक्षशिला एक महान् विद्या-केन्द्र था, विशेषतः समस्त भारतीय दर्शनों का। विद्या के शत्रु बर्बर हूणों के लगातार आक्रमणों ने तक्षशिला को ध्वस्त कर डाला जिससे ईसवी पाँचवीं शताब्दि में जब प्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान ने उसे देखा, तो उसे वहाँ विद्या-विषयक कोई महत्त्व की बात नहीं मिली। बर्बर हूणों के द्वारा उसका ज्ञान-दीप बुझ चुका था।

---

[१] रघुवंश ५-२४।

तक्षशिला की भारी क्षति की कुछ पूर्ति पाँचवी शताब्दी मे पाटलिपुत्र के दक्षिण लगभग चालीस मील की दूरी पर नालन्दा मे एक विश्वविद्यालय की स्थापना से हो गयी। बुद्ध के प्रधान शिष्य सारिपुत्त के जन्म तथा निधन का स्थान होने से यह स्थान बौद्ध ससार मे आकर्षण का हेतु था ही विद्या का केन्द्र हो जाने से बौद्ध-धर्म और साहित्य के अनुष्ठान तथा परिशीलन का शीघ्र केन्द्रबिन्दु भी बन गया। गुप्तसम्राट् यद्यपि सनातन धर्मावलबी एव वैदिक धर्म और साहित्य के पुनरुद्धारक थे, फिर भी उन्होने बडी सहिष्णुता तथा उदारता के साथ इस विश्वविद्यालय के विकास, सवर्धन और सरक्षण मे पूरी शक्ति लगा दी।

भारतीय पुरातत्व के उत्खनन से पता लगा है कि उसके केन्द्रीय विद्यालय मे सात-आठ विशाल हाल थे, एव छोटे-छोटे तीन सौ व्याख्यान-कक्ष थे। भवनो पर कई अट्टालिकाएँ थी जो आकाश को चूमती थी जिनकी प्रशसा मे कवि का कथन है कि 'उनके शिखर बादलो को छूते थे और ऐसे मनोहर थे मानो ब्रह्मा ने उन्हे अपने हाथो से बनाया हो।'[१] बौद्ध विहार अलग ही थे जिनमे बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियाँ अध्ययनशील थी। सातवी शती मे जब इत्सिग ने नालन्दा को देखा इन विहारो की सख्या सात सौ तक पहुँच गयी थी। भारत के विभिन्न भागो एव विदेशो से साधारण जिज्ञासु ही नही धुरधर विद्वान् भी नालन्दा मे आकर अपनी शकाएँ मिटाते और अपने ज्ञान का कोश बढ़ाते थे। चीनी यात्री फाहियान, युवान् च्वाङ और इत्सिग के सिवाय चीन के कई अन्य यात्री एव कोरिया, तिब्बत इत्यादि से बहुत-से जिज्ञासुओ ने आकर नालन्दा की ज्ञान-गगा मे स्नान किया।

विश्वविद्यालय का पुस्तकालय बहुत विशाल था जो तीन बडे भवनो मे, जिन्हे 'रत्नसागर', 'रत्नोदधि' और 'रत्न-रजक' कहते थे, सजाया गया था। जिस कक्ष मे यह पुस्तकालय अवस्थित थे उसका पूरा नाम 'धर्म-गर्भ' था। तक्षशिला की तरह नालन्दा का मूलोच्छेद करनेवाले भी विदेशी आक्रमणकारी ही थे। बारहवी शती के अन्तिम दिनो मे धर्मान्ध बख्तियार खलजी ने बौद्ध विहारो के साथ ही विश्वविद्यालय को भी तलवार के बल पर नष्ट कर दिया, भिक्षुओ को मौत के घाट उतार दिया और अमूल्य पुस्तकालय को अग्नि मे भस्मसात् कर दिया। पुस्तके कई दिनो तक धुआँ और अग्नि के रूप मे आँसू बहाती रही। इस धर्मान्ध बर्बरता के कारण कितनी कलाएँ और विद्याएँ अतीत के गर्भ मे विलीन हो गयी।

नालन्दा की ख्याति जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच रही थी तब आठवी शताब्दी मे बगाल मे राजा धर्मपाल ने विहारो की स्थापना के साथ ही विक्रमशिला नामक विश्वविद्यालय की नीव डाली। चार सौ वर्ष तक वह फलता-फूलता रहा। किन्तु १२०३ ई० मे उसी बख्तियार खलजी ने विश्वविद्यालय, उसके विशाल पुस्तकालयों और बौद्ध विहारो को एक साथ ही जलाकर राख कर दिया और सैकडो भिक्षुओ के रक्त से अपनी धर्मान्धता को तृप्त किया। नालन्दा के महत्त्व से मिलता-जुलता काठियावाड़ का बल्लभी विश्वविद्यालय था जिसमे देश के कोने-कोने से विद्यार्थी प्रविष्ट होते थे। पाँचवी शती के मध्य से बारहवी शताब्दी तक यह शिक्षा का महान् केन्द्र बना रहा। ७७७ ई० मे अरबो के आक्रमण के कारण एक बार उसकी नीव हिल भी गयी: किन्तु इस धक्के को सहन कर कई सौ

[१] यस्याम्बुधरावलेहि शिखर श्रेणी विहारावली।
मालेवोर्ध्व विराजिनी विरचिता धात्रा मनोज्ञा भुवि॥

ए० एस० अलतेकर : एजुकेशन इन एंश्येंट इंडिया।

वर्ष तक उसका अस्तित्व बना रहा। परन्तु इसके बाद जब से भारत मे मुसलमान शासन की प्रधानता हुई, लगभग एक सहस्र वर्ष तक बडे विश्वविद्यालय के अनुरूप किसी सस्था का निर्माण नही हुआ।

औपनिषदिक काल मे मिथिला भारत-विख्यात विद्या-केन्द्र थी जिसकी स्पर्धा काशी का विशाल विद्या-केन्द्र करता था जो बृहदारण्यक उपनिषद् मे वर्णित दृप्त बालाकि के प्रति काशिराज अजातशत्रु की इस उक्ति से ज्ञात होता है कि 'जिसे देखो वही जनक जनक कहता उनके पास दौडा चला जाता है।'[३] इसी तरह पचाल मे भी विद्या और ब्रह्मचर्य की कम धूम नही थी। वस्तुत उस समय विद्या का प्रसार देशव्यापी था और जान पडता है कि कुछ जनपदो मे एक भी व्यक्ति अशिक्षित नहीं था जिससे केकयनरेश अश्वपति ने बडे गर्व के साथ यह कथन किया कि 'मेरे जनपद मे न कोई चोर है न कोई कजूस, न कोई मद्यपी और न अनाहिताग्नि, न कोई अविद्वान् और न दुराचारी, फिर दुराचारिणी कहाँ।'[४] कालातर मे यद्यपि विशाल गुरुकुल अथवा विश्वविद्यालयो की व्यवस्था न रह गई, पर यह कम गर्व की बात नही कि इस सुदीर्घ काल मे काशी और मिथिला ने विद्या के प्रदीप को कभी बुझने नही दिया एव अयोध्या, नदिया, पाटलिपुत्र, काची, धारा, उज्जैन, मालखेड, तजोर और कल्याणी इत्यादि विद्यापीठो मे भी बिना किसी राज्याश्रय के विद्यादानियो ने अपने त्यागमय जीवन से ज्ञान के प्रकाश को जगमगाता रखा। .

देश के प्रत्येक भाग मे, मुख्यत दक्षिण भारत मे, अनेक मठो और मदिरो से सलग्न पाठशालाएँ विद्यादान के कार्य करती आयी और ऐसे निर्लोभी अध्यापकों की कभी कमी न हुई जो कर्तव्य-बुद्धि मे विद्यार्थियो का अध्यापन अवैतनिक करते आए। बहुतेरे अध्यापकों ने विद्यार्थियो के आवास तथा भोजन-वस्त्र का भी स्वय प्रबन्ध कर सस्कृत विद्या और भारतीय सस्कृति की रक्षा का प्रशसनीय कार्य किया एव साधारण जनता ने इसे एक पुण्य कार्य समझकर उनकी यथाशक्ति सहायता की।

वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्याश्रम के नियम

वेदो के अध्यापन का कार्य ब्राह्मणो का प्रधान कर्तव्य था और गुरुकुल-प्रणाली मे विद्या-केन्द्रो के अध्यापक ब्राह्मण ही होते थे। वे अध्यापन के बदले कोई वेतन नही लेते थे, बल्कि इसका ग्रहण वे वेद का बेचना तथा पाप कर्म समझते थे। ब्रह्मचारी चाहे वह निर्धन ब्राह्मणकुमार हो, राजा का पुत्र हो अथवा किसी बडे सेठ का बालक हो, आश्रम के समीपवर्ती ग्रामो से भिक्षा माँग लाता, गुरु को अर्पित करता और उसीसे उसका तथा गुरुकुल का जीवन-निर्वाह बडी सादगी के साथ होता रहता। विद्यार्थी ही वन से यज्ञ के निमित्त तथा पाकशाला के लिए ईधन भी लाता था। इस जीवन से ब्रह्मचारियो मे धनवान् और अकिचन का वैषम्य भाव उत्पन्न नही होने पाता था एव उनका स्वावलम्बन का स्वभाव निरन्तर बनता जाता था।

जो ब्राह्मण बालक विशेष रूप से तेजस्वी होना चाहता उसका यज्ञोपवीत सस्कार पाँचवे वर्ष में, क्षात्र बल मे विशेषता चाहनेवाले क्षत्रिय का छठवे वर्ष मे और विशेष अर्थ के इच्छुक वैश्य का आठवें वर्ष में, करके उसे गुरुकुल मे भेज देने का विशेष नियम था।[५] ऐसे सामान्य रूप से ब्रह्मचर्य-आश्रम मे प्रवेश के लिए गर्भ से आठवें वर्ष मे ब्राह्मण का, ग्यारहवे मे क्षत्रिय का और बारहवें मे

[३] बृहदारण्यक उपनिषद् २.१।

[४] छांदोग्य उपनिषद् ५.११.५।

[५] मनुस्मृति २-३७।

वैश्य बालक का यज्ञोपवीत कर देने का विधान था।[६] यह अवस्था-भेद क्यों किया गया इसका कारण स्पष्ट रूप से नहीं पाया जाता। किन्तु यह अनुमान करना अयुक्त नहीं होगा कि ब्राह्मण को ब्रह्मचर्य-आश्रम में प्रविष्ट कर देने की कुछ त्वरा इसलिए आवश्यक समझी गयी कि उसमें 'स्वधर्म, शम, दम, तप, शुचिता, क्षान्ति, ऋजुता, ज्ञान विज्ञान और आस्तिक्य'[७] की वृद्धि हो तथा क्षत्रिय और वैश्य बालक को तो अपने-अपने वर्ण की कुछ प्रारम्भिक शिक्षा पितृकुल में मिल जाती थी।

ब्रह्मचर्य-आश्रम में ब्रह्मचर्य का पालन विधिपूर्वक तथा कड़ाई के साथ अनिवार्य था। इस श्रुति से कि 'ब्रह्मचर्य के तप से देवताओं ने मृत्यु को जीत लिया'[८] तथा गीता के इस कथन से कि 'जिस ब्रह्म को पाने की इच्छा से ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं'[९] ब्रह्मचर्य का मुख्य उद्देश्य अमृतत्व अथवा ब्रह्म की प्राप्ति मालूम पड़ता है। ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन की अवधि प्रायः बारह वर्ष होती थी जैसा कि 'छान्दोग्य उपनिषद्' में अपने पुत्र श्वेतकेतु आरुणेय को दिये गए ऋषि उद्दालक आरुणि के उपदेश से मालूम पड़ता है। श्वेतकेतु आरुणेय आरम्भ में वेदारम्भ की ओर प्रवृत्त नहीं हुआ जिस पर क्षोभ करके उद्दालक ने कहा कि 'हमारे कुल में आज तक कोई ब्रह्मबन्धु अर्थात् नामधारी ब्राह्मण नहीं हुआ जिसने वेदों का अध्ययन न किया हो'। इससे प्रभावित होकर श्वेतकेतु ने ब्रह्मचर्य-पूर्वक बारह वर्षों में सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन समाप्त करके गुरुकुल से लौटकर उसके पश्चात् अपने पिता से 'वेदान्त' का ज्ञान प्राप्त किया।[१०] कहीं-कहीं ४८ वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचर्य पालन का उल्लेख मिलता है, किन्तु यह अवधि अव्यवहार्य समझी गयी जिससे मनु ने यह नियम बनाया कि गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ ३६ वर्षों तक तीनों वेदों को पढ़ना चाहिए, अथवा १८ या १९ वर्ष तक। किन्तु कितने दिन तक वेदाध्ययन करे इसका कोई कठोर नियम नहीं है, साधारण नियम यही है कि वेदों का बोध हो जाना चाहिए।[११]

यह ध्यान देने की बात है कि उस समय आधुनिक शिक्षा-प्रणाली की तरह अध्यापन का कार्य कक्षावार नहीं होता था, अपितु गुरु का वैयक्तिक ध्यान प्रत्येक छात्र पर रहता था जो अपने बौद्धिक विकास के अनुरूप अधिक अथवा न्यून समय में वेदाध्ययन समाप्त कर लेने में स्वतन्त्र था। यहाँ पर यह भी कह देना चाहिए कि वेद-संहिताओं अथवा ब्राह्मण-ग्रन्थों में ब्रह्मचर्य-आश्रम का नामोल्लेख नहीं हुआ है जिससे उस समय इस आश्रम के अस्तित्व का अभाव कदापि नहीं समझना चाहिए। 'ब्रह्मचारी' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद और अथर्ववेद में एवं 'ब्रह्मचर्य' शब्द का 'तैत्तरीय संहिता' और 'शतपथ ब्राह्मण' में हुआ है।

वेदाध्ययन और स्त्री

सैकड़ों वर्षों से हमारे समाज में यह धारणा मूलबद्ध हो गयी है कि स्त्रियों को वेदाधिकार नहीं है और इस धारणा पर हिन्दू-समाज बहुत समय से चलता भी आ रहा है। व्यास ने यह देखकर कि नामधारी ब्राह्मणों, शूद्रों और स्त्रियों के कान में वेद-ध्वनि नहीं पड़ती तो उनके

---

[६] मनुस्मृति २-३६।
[७] गीता १८.४२।
[८] ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
[९] गीता ८.११।
[१०] छांदोग्य उपनिषद् ६.१.२।
[११] मनुस्मृति।

उपकार के लिए पुराण की रचना की ।[१२] भागवत के इस कथन से इस धारणा की प्राचीनता पर प्रकाश पडता है । किन्तु यह इस बात का प्रमाण नही है कि आरम्भ मे स्त्री का ब्रह्मचर्य-आश्रम अथवा वेदाध्ययन मे अधिकार था ही नही । वस्तुत सस्कृति के लिए यह बडे गौरव की बात है कि स्त्रिया न केवल वेदो का अध्ययन करती थी, बल्कि उनमे कई इतनी मेधाविनी तथा सत्वनिष्ठ थी कि उन्होने वेदमन्त्रो की रचना की अथवा ऋषियो की तरह मन्त्रद्रष्टा हुई । इन ऋषिकाओ मे ऋषि अभृण की कन्या वाक् ऋग्वेद के देवी सूक्त की ऋषिका थी । इसी तरह घोषा, अपाला, लोपामुद्रा, विश्ववारा, सिकता, सूर्या, इन्द्राणी, सर्पराज्ञी, ममता, यमी, रोमाशा, जुहू, निकावारी, उर्वशी, श्रद्धा इत्यादि ऋषिकाओ के नाम हमारी सस्कृति के इतिहास मे स्त्री के महत्त्व की घोषणा कर रहे हैं । अत्यन्त प्राचीन काल मे स्त्रियाँ ब्रह्मचर्य रखती थी एव वेदो का अध्ययन करती थी । अथर्ववेद के उस मत्र मे कि 'ब्रह्मचर्य की तपस्या मे राजा राष्ट्र की भली-भाँति रक्षा करता है, आचार्य ब्रह्मचर्य से ब्रह्मचारी को चाहता और ब्रह्मचर्य से कन्या युवा पति प्राप्त करती है ।[१३] यह स्पष्ट है कि वैदिक काल मे स्त्रियो का ब्रह्मचर्य जीवन प्रशस्त माना जाता था ।

'हारीत धर्म सूत्र' में भी स्त्रियो का उपनयन एव वेदाध्ययन मान्य बतलाया गया है । उसमे ब्रह्मविद्या की दृष्टि से स्त्रियो के दो वर्ग करके कहा गया है कि जो स्त्रियाँ ब्रह्मचारिणी होना चाहे वे उपनयन धारण कर सकती है, अग्नि होम कर सकती हैं और अपने घर पर वेदाध्ययन तथा भिक्षाचर्या कर सकती हैं और जो शीघ्र विवाह कर लेना चाहती हैं वे उपनयन मात्र करके ऐसा कर सकती हैं ।[१४]

गृह्यसूत्रों की प्राचीनता का सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं जिनकी रचना स्मृतिशास्त्रो के पहले तथा वेद-सहिताओ और ब्राह्मणो के अनतर हुई । इन गृह्यसूत्रो में प्रसिद्ध गोभिल गृह्यसूत्र तथा आश्वलायन गृह्यसूत्र से स्त्रियो का उपनयन सस्कार और ब्रह्मचर्याश्रम पालन सिद्ध होता है । गोभिल गृह्यसूत्र मे विवाह के प्रसग मे यह विधान मिलता है कि विवाहाग्नि के सम्मुख वधू को, जो यज्ञोपवीतधारिणी है, ले जाता हुआ वर ऋग्वेद के मत्र 'सोमोऽददद्गन्धर्वाय' (१० ८५) को जपता है ।[१५] इसी प्रकार आश्वलायन गृह्यसूत्र मे वेदाध्ययन अथवा ब्रह्मचर्य की समाप्ति पर समावर्तन सस्कार के प्रसग मे ब्रह्मचारी के अनुलेपन की विधि में यह कथन मिलता है कि 'दोनो हाथो में अनुलेप करने के पश्चात् पहले ब्राह्मण ब्रह्मचारी अपने मुख पर अनुलेप करे, क्षत्रिय दोनो भुजाओ को, वैश्य अपने पेट और स्त्री अपने गुह्याग तथा दौडने की क्रिया से जीवन-वृत्ति चलानेवाले अपने जघो को ।'[१६] अस्तु, स्त्री के ब्रह्मचर्य-आश्रम, वेदाध्ययन तथा समावर्तन सस्कार का औचित्य आश्वलायन के मतानुसार सिद्ध होता है ।

वैदिक साहित्य के इन उद्धरणो के पश्चात् जब दूसरे आर्ष एव सस्कृत साहित्य के अमूल्य वचनो को देखते हैं, उनसे भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैदिक युग मे स्त्रियाँ वेदाध्ययन से वचित न थी । श्री रामचन्द्र को यौवराज्य देने की अपनी इच्छा पर जनमत की मुहर लग जाने पर जब

---

[१२] श्रीमद्भागवत ।

[१३] ब्रह्मचर्येण कन्या युवान विन्दते पतिम् (अथर्ववेद १२.३।१७-१८)

[१४] हारीत-धर्मसूत्र ।

[१५] पी० वी० काणे : हिस्ट्री ऑव हिन्दू धर्मशास्त्र, पुस्तक २, भाग १ पृष्ठ २९४ ।

[१६] आश्वलायन गृह्यसूत्र ३.८.११ ।

दशरथ उसकी तैयारी में लग गए, कौसल्या उसकी निर्विघ्न समाप्ति के निमित्त ईश्वरीय वर प्राप्त करने में प्रवृत्त हो गयी। इसके वर्णन मे वाल्मीकि ने कहा है कि सदैव व्रत-परायणा कौसल्या ने कौशेय वस्त्र धारण करके प्रसन्न चित्त से मांगलिक कृत्य किया और मंत्रपूर्वक अग्नि मे हवन किया।'[१७] वाल्मीकीय रामायण से हम यह भी जानते हैं कि राम और लक्ष्मण की तरह सीता सध्या कर्म में कभी प्रमाद नही करती थी। उनके वनवास के दिनो का एक वर्णन यह आता है कि 'उसके पश्चात् शेष बचे जल को ग्रहण करके लक्ष्मण ने भी उपवास किया और तीनो (राम, लक्ष्मण और सीता) ने मौन और सावधान होकर सध्योपासना की।'[१८] सीता के हरी जाने पर उनकी खोज में व्याकुल रामचन्द्र ने नदी पर उनके मिल जाने की आशा का जो कारण दिया वह अत्यन्त सार-सूचक है। उनके इस कथन मे कि 'सध्या का समय हो गया ऐसा समझ कर श्याम वर्ण सुन्दरी श्रेष्ठ जानकी सध्या के लिए इस निर्मल जलवाली नदी पर अवश्य आएँगी'—'[१९] सीता के सायकाल की सध्योपासना को भी न भूलना पाया जाता है। यह कहना अनावश्यक-सा है कि सध्योपासना मे वैदिक मत्रो का उच्चारण तथा जप उसकी अनिवार्य विधि है।

कालिदास ने भी स्त्रियो का वेदाध्ययन तथा अग्निहोत्र करना माना है। महादेव को पति रूप मे पाने के लिए तपस्या मे लीन पार्वती के वर्णन मे कालिदास के इस कथन मे कि 'जब पार्वती स्नान करके वल्कल धारण कर, हवनपूर्वक वेदमत्र पढ रही थी उस समय उनके दर्शन की इच्छा से ऋषियो ने उनका अभिवादन किया, क्योकि धर्म मे जो बढ़ जाते हैं उनके वयस् पर ध्यान नही दिया जाता'[२०] स्त्रियो के उक्त अधिकार का समर्थन पाया जाता है।

उपनिषत्काल की स्थिति

यह निश्चयपूर्वक नही कह सकते कि ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा के पूर्व वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य था, यद्यपि मुडकोपनिषद् के इस मत्र मे कि 'यह ब्रह्मविद्या उन्ही को बतलानी चाहिए जो क्रियानिष्ठ श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ हो और श्रद्धापूर्वक एकर्षि नामक अग्नि मे हवन करते हो तथा जिन्होने विधिपूर्वक शिरोव्रत का अनुष्ठान किया है'[२१] यह मानने के लिए अवकाश है कि ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति के लिए श्रोत्रिय अथवा वेदाध्यायी होना आवश्यक माना जाता था। यदि यह धारणा सदेहरहित हो तो उन ब्रह्मवादिनियो के सम्बन्ध मे, जिनके वेदाध्ययन के विषय मे हमे स्पष्ट उल्लेख नही मिलते, यह कहने मे कोई बाधा नही कि उन्होने ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदो का अध्ययन किया था। बृहदारण्यक उपनिषद् ने ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी का नाम अध्यात्म विद्या के इतिहास मे अमर कर दिया है जिसने अपने महातत्त्वज्ञानी पति याज्ञवल्क्य के इस प्रस्ताव को कि 'मेरे पास जो कुछ सम्पत्ति है उसे तुम मे और तुम्हारी सवत कात्यायनी मे विभाजित कर सन्यास लेना चाहता हूँ' इन अविस्मरणीय शब्दो में अस्वीकार कर दिया कि 'जिससे मैं अमर नही हो सकती उसे लेकर क्या करूँगी। आपको जो ज्ञान प्राप्त है मुझे वही बतलाइए।'[२२] तत्त्वज्ञान की भूखी मैत्रेयी को

---

[१७] वा० रामायण (अयोध्या काण्ड) २०.१५।
[१८] वही (अयोध्या काण्ड) ८७.१६।
[१९] वही (सुन्दर काण्ड) १४.४६।
[२०] कुमारसंभव ५.१६।
[२१] मुंडकोपनिषद् ३,२,१०।
[२२] बृहदारण्यक उपनिषद् २,३,४ ः

याज्ञवल्क्य ने उस ब्रह्मविद्या का उपदेश देकर उसे ब्रह्मज्ञानियो के समकक्ष कर दिया जिसका उद्देश्य उनके शब्दो मे 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो। मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेद सर्वं विदितम्'[२३]—अरे मैत्रेयि! आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और समाधि मे साक्षात्कार करना चाहिए, आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और ध्यान में उसे जान लेने के उपरान्त कुछ भी जानने को शेष नही रहता, आत्मज्ञान की उपलब्धि है। याज्ञवल्क्य को भी चकित करनेवाली गार्गी वाचक्नवी भी ब्रह्मवादिनी थी।

दीर्घ काल तक मिथिला ज्ञान की केन्द्र थी और जनको के सरक्षकत्व मे वहाँ बडे-बडे दार्शनिक सम्मेलन हुआ करते थे जिनमे दूर-दूर से तत्त्वज्ञानी सम्मिलित होकर ब्रह्म विषयक विचार-विमर्श किया करते थे। ऐसे ही एक सम्मेलन मे जब याज्ञवल्क्य के तेजस्वी तत्वज्ञान की मीमासा के सम्मुख अनेक ज्ञानी सिर झुका चुके, गार्गी वाचक्नवी ने उनके सामने प्रश्नो की झडी लगा दी और अन्त में याज्ञवल्क्य को उसे यह कहकर चुप कराना पडा कि 'तू अब जो प्रश्न कर रही है वह रहस्यमय है और इस प्रकार के प्रश्न सार्वजनिक सभाओ मे नही उठाए जाते।'[२४]

स्त्रियो में वेदान्त ज्ञान की कितनी उग्र पिपासा होती थी इसका एक सुन्दर वर्णन हमे भवभूति के 'उत्तररामचरित' में मिलता है। महर्षि वाल्मीकि के आश्रम मे जिस समय लव और कुश वेदाध्ययन कर रहे थे और महर्षि वाल्मीकि रामायण की रचना मे लग गए थे वही पर एक स्त्री आत्रेयी भी अध्ययन कर रही थी। उस आश्रम को छोडकर वह पर्यटन करती हुई बहुत दूर दडकारण्य मे अगस्त्य के आश्रम मे पहुँची। आने का कारण पूछने पर उसने जो उत्तर दिया वह बडा ही अर्थसूचक है। उसने स्वीकार किया कि वह पढ़ने में लव और कुश की प्रखर बुद्धि के कारण उनकी बराबरी नही कर पाती थी, दूसरे कुलपति रामायण की रचना मे व्यस्त रहने के कारण उतना ध्यान नही दे पाते थे। आत्रेयी की इस उक्ति मे कि 'गुरु जिस तरह बुद्धिमान् छात्र को उसी प्रकार मद बुद्धि को भी पढाता है, किन्तु दोनो की ग्राहिका शक्ति को वह न बढाता है न मद ही करता है। परिणाम मे बहुत-सा अतर होना ही है, उसी तरह जैसे प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की शक्ति मणि मे होती है न कि मिट्टी इत्यादि मे।'[२५] गुरु मे किसी दोष को न देखकर अपने आपमे न्यूनता का अनुभव करना शिष्य का कर्तव्य सूचित किया गया है एव उसके इस उत्तर में कि 'इस भूभाग मे जहाँ बहुत-से ब्रह्मवेत्ता जिनमे अगस्त्य प्रमुख हे बास करते हे उनसे वेदान्त-विद्या प्राप्त करने के लिए में वाल्मीकि के पास से पर्यटन करके यहाँ आयी हूँ।'[२६]

समावर्तन संस्कार में सहशिक्षा का मूल

स्त्रियाँ बिना पर्दे के पुरुषो के बीच रहकर ज्ञान की प्राप्ति कर सकती थी। वाल्मीकि के आश्रम मे लव और कुश के साथ आत्रेयी का अध्ययन उस युग मे सहशिक्षा प्रणाली के अस्तित्व का भी द्योतक हो सकता है। ब्रह्मचर्य-प्रणाली के आरम्भ काल मे गुरुकुलो मे सहशिक्षा का प्रचार था इस धारणा का समर्थन आश्वलायन गृह्यसूत्र में वर्णित समावर्तन सस्कार की विधि से भी मिलता है। इस विधि मे स्नातक के अनुलेपन-क्रिया के वर्णन में जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है बालक और बालिका का समावर्तन सस्कार साथ-साथ सम्पादन होना पाया जाता है। सहशिक्षा

[२३] वही ३.६.१।
[२४] उत्तर रामचरित २-४।
[२५] वही २—३।

किन्ही कारणो से बन्द हो गयी और उत्तर वैदिक काल मे स्त्रियो को घर पर वेदाभ्यास कराने की प्रथा चल पडी।

यद्यपि वैदिक धर्म मे उपासना और ज्ञान का पर्याप्त स्थान है तथापि वह मूलत यज्ञप्रधान अथवा कर्मकाडात्मक है। वेदो मे यज्ञ की अपार महिमा बतलायी गयी है और विभिन्न यज्ञो की विधियाँ शतपथ तथा दूसरे ब्राह्मण-ग्रन्थो मे निर्दिष्ट हुई हैं। वेदो का पाठ तथा यज्ञीय विधिया क्रमश अत्यन्त जटिल और दुरूह होती गयी और मनुष्य की मेधा-शक्ति मे ह्रास आ गया जिससे यथाविधि वेदमत्रो का पाठ एक अत्यन्त विषम समस्या हो गयी। यह अनुभव किया जाने लगा कि मत्रो के पाठ मे जरा-से स्वर भेद से अर्थ का अनर्थ अर्थात् इष्टसिद्धि के स्थान मे अनिष्ट हो जाता है जिसका एक प्रसिद्ध उदाहरण महर्षि पाणिनि[१७] ने दिया है। पाणिनि का कथन है कि 'जो मत्र स्वर या वर्ण से हीन होता है अथवा जिसका प्रयोग ठीक-ठीक न किया जाय वह उद्देश्य की सिद्धि नही करता। वह वाग्वज्र बनकर यजमान का ही मार डालता है जैसे स्वरदोष के कारण वृत्रासुर मारा गया।'[१८]

पाणिनि के इस कथन का आधार एक ऐतिहासिक घटना बतलायी जाती है। इन्द्र का मारने के लिए वृत्रासुर ने एक यज्ञ किया जिसमे मत्र के शब्दो मे 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' शब्द आए जिनका उद्देश्य था कि इन्द्र के शत्रु अर्थात् वृत्रासुर की वृद्धि हो। परन्तु स्वर का अशुद्ध उच्चारण हो जाने के कारण मत्र का अर्थ हो गया इन्द्र की, जो शत्रु है, वृद्धि हो। इस अशुद्ध उच्चारण की परिणति इन्द्र के स्थान मे वृत्रासुर यजमान के वध मे हुई। सभवत इस तरह के अनेक दृष्टान्त सामने आए जिससे समाज मे एक प्रकार का भय उत्पन्न हो गया और परिणामस्वरूप वेदाध्ययन मे शैथिल्य आ ही गया और स्त्रियो के लिए तो एकदम वर्जित ही कर दिया गया।

मनुस्मृति मे जहाँ ब्रह्मचर्य के सविस्तार नियम दिये गए हैं, एक भी वचन ऐसा नही मिलता जिससे उपनयन अथवा वेदो के अध्ययन मे कन्या के अधिकार की सूचना मिले। प्रत्युत उसके लिए ये सब अनावश्यक ठहरा दिये गए। जिस समय वर्तमान रूप मे मनुस्मृति का सपादन हुआ उसमें यह प्रतिपादित किया गया कि विवाह की विधि ही स्त्री के लिए वैदिक सरकार है, पति की सेवा उसके लिए गुरुकुल अथवा ब्रह्मचर्याश्रम है और घर-गृहस्थी अग्नि-परिचर्या है।'[१९] कन्या के ब्रह्मचर्य की पाबन्दी हटने के कारण उसका विवाह-काल भी नीचे खिसकना आरम्भ हो गया। उसकी बुद्धि और मेधा मे ह्रास आने लगा और उसकी वैदिककालीन स्वातत्र्य भावना का स्थान पराश्रयत्व लेने लगा।

वैदिक सभ्यता की प्रौढावस्था मे स्त्रियो को वेदाध्ययन की स्वतन्त्रता थी ही, वह तत्कालीन सार्वजनीन सस्थाओ मे भी भाग लेती थी। सभा और समितियाँ जहाँ राजनीतिक सस्थाएँ थी एक प्रसिद्ध सस्था 'विदथ' थी जो प्राय यज्ञो के साथ सम्पन्न होती थी और जिसे एक प्रकार का धार्मिक सम्मेलन कह सकते हैं। उनमे स्त्रियाँ सम्मिलित हो सकती थी और उनका उनमे भाषण करना एक सम्मानित गुण माना जाता था। विवाह के अवसर पर प्रयोग मे आनेवाले ऋग्वेद के इस मत्र मे

[१७] गोल्ड स्टूकर और रामकृष्ण भडारकर पाणिनि का समय बुद्ध के पहले सातवीं शती बतलाते हैं जब कि आधुनिकतम मत डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार वह ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी ठहरता है। देखिए 'पाणिनिकालीन भारत', पृष्ठ ४७६।

[१८] मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। सवाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्र-शत्रुः स्वरतोऽपराधात्। पाणिनि शिक्षा–५२।

[१९] मनुस्मृति २–६७।

वधू से वर का यह कहना कि 'प्रभावशालिनी तुम विदथ मे भाषण करोगी'[30] सूचित करता है कि इन धार्मिक सभाओ मे स्त्रियाँ वक्तृताएँ देकर उन्हे प्रभावित करती थी और इसका उनके पतियो को गर्व होता था। कालांतर मे जब गुरुकुलो मे स्त्रियो को भेजना बन्द हो गया कदाचित् उसी समय उनका सभाओं मे सम्मिलित होना भी रुक गया जिसका संकेत मैत्रायणी सहिता के इस वचन मे मिलता है कि 'इसलिए स्त्रियाँ सभा मे नही जाती पुरुष ही जाते है'[31] संभवत यह प्रतिबन्ध रघुवंशी दशरथ के पहले लग गया था, क्योकि वाल्मीकीय रामायण मे जहाँ हम यह देखते है कि उन्होने राम को युवराज बनाने के प्रस्ताव पर विचार करने के लिए चारो वर्णो के लोगो की सभा बुलायी, किसी स्त्री के आमंत्रित किये जाने का पता नही लगता। महाभारत के समय तक सभाओ मे स्त्रियो का खुले रूप से सम्मिलित होना नि सदिग्ध रूप से असाम्य हो गया था यह हस्तिनापुर के विनाशकारी द्यूत-क्रीडा के वर्णन से प्रकट होता है। पासे पर द्रौपदी को युधिष्ठिर के हार जाने पर जब दु शासन उसे राजप्रासाद से घसीटता हुआ द्यूत-सभा मे ले गया तो द्रौपदी ने जिन शब्दो-मे इस कुकर्म की भर्त्सना की उनसे इस कथन की पुष्टि होती है। द्रौपदी का यह आरोप कि 'मैने सुना है कि पहले के लोग धर्म से रहनेवाली स्त्री को सभा मे नही ले जाते थे, सो वह पुरातन सनातन धर्म कौरवो मे नष्ट हो गया'[32] बतलाता है कि महाभारत के पहले स्त्रियो के सभाओं मे सम्मिलित होने की प्रथा बन्द हो गयी थी।

यह बतलाना अत्यन्त कठिन है कि साधारण जनता मे पुरुषो की तुलना मे शिक्षित स्त्रियो का क्या अनुपात था, किन्तु इतना निश्चयपूर्वक कह सकते है कि कम से कम श्रीमन्तो के घरानो मे कन्याओं को शिक्षा देने का समुचित प्रबन्ध था और उनके पढाने का काम प्राय अनुभवी तथा विद्वान् वृद्ध जनो को सौपा जाता था। दमयन्ती के स्वयवर के समय इन्द्र, वरुण, यम और अग्नि देवो ने उसे पाने के लिए नल का छद्म वेष बनाकर प्रत्याशियो के बीच मे स्थान ग्रहण कर रखा था। एक रूप के पाँच नलो मे से असली नल को वरण करना दमयन्ती के लिए साधारण समस्या न थी। इस समय दमयन्ती को जो शिक्षा दी गयी थी उसका उपयोग करके उसने उन देवताओ को भी छका दिया। उसने मन ही मन तर्क किया कि मैने वृद्धो से सुना है कि देवताओं मे कुछ ऐसे चिह्न होते है जिनसे वे पहचान लिये जाते है।[33] उन चिह्नो का स्मरण करके दमयन्ती ने इन्द्रादिको को पहचान लिया और असली नल के गले मे जयमाल डाल दी। दमयन्ती के वृद्धो द्वारा अनशिष्ट होने का प्रमाण उसके इस कथन मे भी मिलता है कि 'वृद्धो से यह शिक्षा सुनी है कि काल के आये बिना कोई नही मरता।'[34] इसी प्रकार अनुभवी और पुराणो मे प्रवीण शिक्षक राजकन्याओं को शिक्षित किया करते थे इसकी पुष्टि कुती के कई प्रसगो मे कहे गये वचनो से होती है। दौत्य-कार्य मे विफल श्रीकृष्ण को हस्तिनापुर से विदा करने के अवसर पर कुती ने युधिष्ठिर के पास जो सदेश भेजा उस प्रसग में वह कहती है 'और एक उदाहरण सुनो जिसे मैने वृद्धो से सुन रखा है।'[35] इस

---

[30] वशिनी त्वं विदथमावदासि। ऋ० १०।८५. २६ ।

[31] तस्मात्पुमांसः सभां यांति न स्त्रियः। मैत्राणी संहिता ४.७.१ ।

[32] म० भा० सभापर्व ६६-६ ।

[33] म० भा० वनपर्व ५७-१४ ।

[34] म० भा० वनपर्व ६५-३६ ।

[35] म० भा० उद्योग १३।२.८ ।

बात का समर्थन द्रौपदी के वचनो से भी होता है। द्रौपदी कहती है कि 'भार्या की रक्षा होने से संतान की रक्षा होती है, सतान की रक्षा से आत्मा की रक्षा होती है। भार्या मे आत्मा सतान के रूप में जन्म लेती है, इसी से भार्या को जाया कहते हैं। भार्या को यह चिन्ता होती है कि उसके उदर मे भर्ता किस प्रकार कुशलपूर्वक उत्पन्न हो। इस विचार से भार्या भर्ता की रक्षक होती है। इस वर्णधर्म को मैने ब्राह्मणो के मुख से सुना है।'[२६] मनुस्मृति तथा दूसरे धर्मशास्त्रो मे पुरुष पत्नी का रक्षक बतलाया गया है। इस विचारधारा मे द्रौपदी का यह एक नया विचार जोड देने से कि 'गर्भ की रक्षा करने के कारण स्त्री पति की रक्षक होती है स्त्रियो की स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति का आभास पाया जाता है। एक अन्य प्रसग मे द्रौपदी के अपनी धीरता तथा श्रुत ज्ञान का जो परिचय दिया है वह भी इसी प्रकार की शिक्षा का फल है। उसके यह विचार कि 'मनुष्य की सफलता और हार-जीत अनित्य है, यह समझकर मै अपने पतियो के भाग्योदय की प्रतीक्षा कर रही हूँ। सम्पद्-विपद् गाडी के चक्को की तरह बदलते रहते हैं। इसे मन मे रखकर मै उस दिन की राह देख रही हूँ जब मेरे पतियो के दिन लौटेगे।'[२७] उदारतम शिक्षा के ही परिणाम हो सकते हैं।

गृह अथवा कुटीर-उद्योग की शिक्षा भी स्त्रियो को वैदिक काल मे दी जाती थी और कदाचित् ही कोई समय आया जब इस क्रम में व्यवधान पडा। गृहस्थी का सारा भार प्राय गृहस्वामिनी ही के ऊपर था। अत गृह-कार्य की शिक्षा तथा गृहस्थी का हिसाब-किताब रखने की व्यवस्था नारी-शिक्षा का एक विशेष अग था। इस कार्य मे बड़ी-से-बडी स्त्रियो को लघुता का अनुभव नही होता था जैसा कि सत्यभामा के साथ एक भेट मे द्रौपदी ने बडे गर्व के साथ कहा था कि उसे ग्वालो और गड़ेरियो तक की पूरी जानकारी थी। लडकियो की शिक्षा मे नृत्य, वादित्र, गान और चित्रकला का समावेश भी बहुत प्राचीन है।

शिक्षा के विषय

मनुस्मृति के इस कथन से कि 'ब्रह्मचारी गुरुकुल मे ३६ वर्ष तक, १८ वर्ष तक या ९ वर्ष तक अथवा जब तक समाप्त न कर ले तीनो वेदो का अध्ययन करे।'[२८] पाठ्य विषय का एक अधूरा ही परिचय मिलता है। इसका कुछ अधिक ज्ञान हमे ब्राह्मण-ग्रन्थो से होता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वेदाध्ययन का एक आवश्यक अग 'अनुशासन'[२९] है जिसका तात्पर्य भाष्यकार सायण ने शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छद और ज्योतिष किया है, जिससे इन विषयों का अध्ययन गुरुकुल-प्रणाली का अनिवार्य अग समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त औपनिषदिक काल मे ही दूसरी विद्याओ का ज्ञान हो चुका था और उनका अध्ययन-अध्यापन साधारण बात हो गयी थी। वेद-वेदागों की शिक्षा के साथ उन दिनों किन विद्याओ की शिक्षा दी जाती थी इसका एक अति प्राचीन उल्लेख छादोग्य उपनिषद् में नारद-सनत्कुमार-सवाद मे उपलब्ध है। नारद ने सनत्कुमार के पास जाकर ब्रह्म-विद्या बतलाने की प्रार्थना की जिस पर उनकी योग्यता जानने के लिए सनत्कुमार ने नारद से उन विद्याओ के नाम पूछे जिनका उन्हें ज्ञान हो चुका था। इस पर नारद ने उत्तर दिया कि 'मैने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, पितृविद्या, राशि-

[२६] म० भा० विराट २१।४०.४२।
[२७] म० भा० विराट २०।३.४।
[२८] मनुस्मृति ३-१।
[२९] शतपथ ब्राह्मण ११-५-६८।

विद्या, दैवविद्या, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, देवजन विद्या पढी है ।'[५०] छांदोग्य उपनिषद् के इस उद्धरण से हमे ज्ञात होता है कि गुरु-कुलो में यद्यपि षडग वेदाध्ययन अनिवार्य विषय था तथापि शिक्षा मे अनेक शस्त्र और शास्त्रो के सिवाय नृत्य, वादित्र और चित्र इत्यादि कलाओ का भी समावेश था। यद्यपि इन समस्त विद्याओ का अपने-अपने स्थान मे महत्त्व था, फिर भी सर्वोपरि महत्त्व ब्रह्म-विद्या का ही था जिसे उक्त सवाद मे श्रेष्ठता दी गयी और उसे ही मुडक उपनिषद् मे 'परा' विद्या घोषित करके इतर समस्त ज्ञान-विज्ञान को 'अपरा' विद्या का अभिधान दिया गया।[५१] फलस्वरूप वैशेषिक, साख्य, योग, न्याय, मीमासा और वेदान्त अध्यापन के विषय हुए और बाद को सवृद्ध होकर दर्शनशास्त्रो के रूप मे अस्तित्व मे आये। अत्यन्त प्राचीन काल में न्याय, योग और साख्य मे कुछ स्त्रियाँ कितनी योग्य हो चली थी इसका एक उदाहरण महाभारत मे असाधारण विदुषी सुलभा का मिलता है जिसने विवाह न करके जीवनपर्यंत ब्रह्मचारिणी रहने का व्रत लिया और अनेक आश्रमो मे ज्ञानार्जन करती हुई उस समय के प्रसिद्ध ज्ञानी जनक को अपनी विलक्षण वाग्मिता और असाधारण योग-क्रिया के प्रदर्शन से अत्यन्त विस्मित कर दिया।

जटिल एव दुरूह वैदिक यज्ञविधियो और विधानो की एकवाक्यता करने और उनके सिद्धातों के प्रतिपादन के लिए मीमासा जैसे कठिन दर्शन की रचना हुई जिसके अध्ययन मे स्त्रियाँ भी निपुण हुई। इस शास्त्र मे काशकृत्स्नानी ने मौलिक तथ्यो मे वृद्धि की जिससे उसके नाम से उसमे एक नयी परम्परा चल निकली। मीमासाशास्त्र पर उसने एक मौलिक ग्रन्थ 'काशकृत्स्नी' की रचना की जिसे स्त्री-छात्राएँ विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिए पढ़ती थी। स्त्रियाँ अध्यापन का कार्य भी करती थी यह उपाध्याया शब्द की नयी रचना से स्पष्ट है। जहाँ उपाध्यायिनी शब्द से उपाध्याय की स्त्री का बोध होता आया वहाँ अध्यापन करनेवाली स्त्री के लिए उपाध्याया शब्द का गढना आवश्यक हो गया। वस्तुत: स्त्रियो मे न केवल उपाध्याया, बल्कि आचार्या भी होती थी जिन्हे साग रहस्य वेदो के अध्यापन एव माणवको को उपनयन देने का अधिकार था। यह बात असदिग्ध है कि पाणिनि और पतजलि के समयो में स्त्रियाँ वैदिक चरणो मे अध्ययन ही नही, अध्यापन भी करती थी।[५२] पाणिनि के सूत्र 'छात्यादय शालायाम्'[५३] 'शाला मे छात्रा' आदि से मालूम होता है कि पाणिनि के पहले से कन्या-विद्यार्थिनियो के लिए छात्रावास होते थे जो अनुमानत बालक छात्रो के आवासो से अलग बने होते।

चिकित्सा के क्षेत्र में स्त्रियाँ कुशल हुई हैं और चिकित्सा-विज्ञान पर उनके ग्रन्थो का पता लगा है। अरबी भाषा मे किसी रूसा का नाम मिलता है जो एक भारतीय महिला थी। धातु-कर्म पर उसने एक ग्रन्थ सस्कृत मे लिखा था जिसका भाषान्तर अरबी मे आठवी शती मे हुआ। प्राचीन काल में स्त्रियो को गणित का ज्ञान कराया जाता था यह पहले कहा ही जा चुका है। बाद को भी उसकी शिक्षा लडकियो को दी जाती रही इसका सुन्दर उदाहरण गणित-शास्त्र की प्रसिद्ध पुस्तक लीलावती है जिसकी रचना बारहवी शती मे प्रसिद्ध गणितज्ञ भास्कर द्वितीय ने अपनी कन्या लीलावती को गणित पढ़ाने के लिए की। शकराचार्य और मडन मिश्र के शास्त्रार्थ मे मडन मिश्र की धर्मपत्नी उभय भारती

---

[५०] छांदोग्य उपनिषद् ७–१.२ ।

[५१] मुंडक उपनिषद् १.१–४.५ ।

[५२] डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल पाणिनिकालीन भारत पृ० २८१ ।

[५३] अष्टाध्यायी ६.२–८५ : पाणिनि ।

की मध्यस्थता जहाँ उसकी प्रकाण्ड विद्वत्ता का परिचायक है उसका अपने पति के विरुद्ध निर्णय देना, जिसका निश्चित परिणाम शंकराचार्य के मत को स्वीकार कर सन्यास ग्रहण था, उसकी निष्पक्षता और न्याय-निष्ठा का अनुपम उदाहरण है।

भारतीय नारी की शिक्षा मे कला पक्ष को प्राचीन काल से विशेष स्थान मिलता आया है। वैदिक युग मे ही नृत्य नारी का भूषण माना जाने लगा था, जब कला पक्ष के विकास के अभाव मे शिक्षा अपूर्ण मानी जाती थी। यह कथन निराधार नही है कि 'महाकाव्यों के काल तक गान तथा नृत्य की स्त्रियों को स्वतन्त्रता प्राप्त थी।' वेदो में स्त्रियो के नृत्य तथा गान का सकेत मिलता है जहाँ देवी उषा के विषय मे कहा गया है कि 'नृत्य करनेवाली बालिका की तरह वह अपने ऊपर भड़कीले वस्त्र डालती है।' महाभारत से ज्ञात होता है कि विराट् ने अपनी राजधानी मे अपनी राजपुत्री उत्तरा को नृत्य सिखाने के लिए नृत्य-शाला स्थापित की थी जिसमे नगर की कन्याए भी शिक्षा पाती थी। उनके शिक्षक पुरुष भी हो सकते थे, परन्तु उनका नपुसक होना आवश्यक था, जैसा उत्तरा का शिक्षक नियुक्त करते समय विराट् ने परीक्षा कराकर विश्वास कर लिया था कि बृहन्नला (अर्जुन) नपुसक था। शुग काल मे नाट्य-कला की वृद्धि विशेष रूप से हुई। अग्निमित्र (द्वितीय शती ई० पू०) के प्रासाद मे एक सगीतशाला थी जहाँ नाट्यकला की शिक्षा मे नियुक्त गणदास और हरदत्त नाम के दो अध्यापको मे कला-विषयक खासी होड रहती थी। यह उल्लेखनीय है कि मालविका के नाट्य-शिक्षा की परीक्षा की मध्यस्थता सम्राट् अग्निमित्र के आग्रह से एक स्त्री ने की जो विदर्भ के राजा माधवसेन के मत्री सुमति की बहन थी और अग्निमित्र के यहाँ परिव्राजिका के वेश मे छिपकर रहती थी।

काव्य के क्षेत्र मे भी स्त्रियो का कम योगदान नही रहा है। दक्षिण भारत की कई नारिया—रेवा, रोहा, माधवी, अनुलक्ष्मी, पाहायी, बद्धवाही, शशिप्रभा—इत्यादि उल्लेखनीय हैं जिन्होने प्राकृत मे उत्तम कोटि की कविताएं रची। सस्कृत काव्य मे कई स्त्रियो ने कमाल किये हैं। शीलो भट्टारिका का नाम इस क्षेत्र मे आदर के साथ लिया जाता है। गुजरात की देवी मुग्धकारी की सस्कृत काव्य-रचना यथा नाम तथा गुण मुग्धकारी होती थी जिसकी प्रशसा मे यह सूक्ति प्रसिद्ध है कि 'वह इस ससार मे न रहते हुए भी रसिक जनो के हृदयो मे विराजमान है, क्योंकि लाटी शैली मे शृगार रस की कलापूर्ण कविता करने मे वह सिद्धहस्त थी।' सस्कृत के काव्य-मर्मज्ञो ने कर्णाटक की विजयाका की भूरिश प्रशसा की है और यह सम्मति दी है कि विजयाका कर्णाटक की सरस्वती की तरह विजयिनी है, जिसका कालिदास के बाद वैदर्भी वाणी पर एकाधिकार था। उसके महत्व का अनुमान राजशेखर की इस आलोचना मे लगाया जा सकता है कि 'दडी ने यह व्यर्थ ही कहा है कि सरस्वती सर्व-शुक्ला है, क्योंकि वह विजयाका से परिचित नही था जो नीले कमल के समान श्याम थी।' डॉक्टर अलतेकर को एक सस्कृत नाटक का, जिसकी रचयिता कोई स्त्री विद्या या विज्जका थी, पता लगा था। उसका नाम कौमुदी-महोत्सव है जिसका कथानक पाटलिपुत्र की एक राजनीतिक क्रान्ति है जिससे स्त्रियों की राजनीतिक अभिरुचि का परिचय मिलता है। सुभद्रा, सीना, मारुला, इन्दुलेखा, भवदेवी, विकटानितम्बा आदि जिनकी काव्य-रचनाएँ लुप्त हो गयी हैं, अच्छी कवयित्रियाँ हो गयी हैं। स्वयं महाकवि राजशेखर की स्त्री भी एक निपुण कवयित्री हो गयी है।

मौर्यों का अवसान एवं पुष्यमित्र शुंग का अभ्युदय

रामलखन शर्मा

भारतीय इतिहास के गगन में प्रथम सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने यदि सूर्य की भाँति दिग्-दिगन्त को आलोकित किया था, उसने यदि अपनी भुजबल रूपी प्रखर आभा से स्वदेश को ही नहीं, विदेश को भी आतप्त किया था तो उसके पौत्र रूपी चाँद ने अपनी शीतल और सुखद चाँदनी से जगत् को परम आह्लाद प्रदान किया था। अशोक ने भेरीघोष के स्थान पर अपने धर्म-घोष का निनाद किया। उसने अपनी मानवता से जगत् को मानव बनाना चाहा। उसने अपने सुकृतों से अपने लिए ही नहीं, बल्कि समस्त भारत के लिए अक्षुण्ण यश अर्जित किया। आज भी हम उसके ऋणी है। पर एक दिन आया जब चन्द्रगुप्तरूपी वह सूर्य ढल गया और उसके पीछे वह चाँद भी अस्ताचल को चला गया। इसके अनन्तर उसके उत्तराधिकारी भी नक्षत्रो की भाँति कुछ समय तक झिलमिला कर रह गये। वस्तुत यह समय मौर्ययुग का ही अवसान न था, वरन् उस महान् वृक्ष की छाया मे पलनेवाले बौद्धधर्म का भी मानो विराम काल था।

उस युग का स्मरण करे जब मौर्यो का बल क्षीण हो चुका था, बौद्धधर्म के प्रबल प्रचार से वैदिक सस्कृति दब चुकी थी और जिन सम्राटो और आचार्यो ने जनता को वैदिक कर्म-काण्ड से मुक्ति देकर एक सरल और सुखमय मार्ग दिखाना चाहा था, वे स्वय मिट चुके थे। जिन दिनो बौद्धधर्म की अहिसा से क्षीण भारत को विदेशी आक्रान्त करने लगे थे, भारत मे एकछत्र सम्राट् न रह गये थे। उनके स्थान पर लघुकाय राज्यो को प्रश्रय मिलने लगा था। यह समय ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी का आरम्भ था। इन दिनो जन-जीवन दु खमय हो गया था, इस समय जन-जन आकुल था, वह येन-केन प्रकारेण किसी शक्तिशाली रक्षक की दुर्बल आशा मे अपने प्राण-पखेरू सम्हाले था। इसी समय वैदिक सस्कृति का प्रतीक पुष्यमित्र शुग एक नव प्रभात लेकर भारतीय इतिहास मे अवतरित हुआ। पुष्यमित्र का उदय हमारे इतिहास मे वैदिक सस्कृति के जयघोष का उदय है। यह वह बल है जिसने वैदेशिक शक्ति से पराभूत भारत को मुक्ति दी, यह वह सम्बल है जिसके सहारे आर्त भारत ने एक बार पुन सजग हो श्वास ली और अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया। आज हमे जिस सस्कृति पर गर्व है, यदि पुष्यमित्र जैसा सम्राट् हमारे इतिहास मे न आता, विदित नही, इस वाङमय की क्या दशा होती ? पुष्यमित्र के शासन काल मे सस्कृत साहित्य का सृजन, सरक्षण और सवर्द्धन सभी कुछ हुआ। उसने एक बार पुन वैदिक मत्रो के जयघोष से भारत-भू को गौरवान्वित किया।

पुष्यमित्र की राजत्व प्राप्ति

पुष्यमित्र अन्तिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ का सेनापति था। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने उसके राज्यारोहण के विषय मे आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व लिखा था कि[1] पुष्यमित्र उत्तर-पश्चिम

[1] महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री—जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसायटी बंगाल १९१०, पृष्ठ २६१।

में ग्रीको से युद्ध करने गया था। ये ग्रीक उन दिनो भारत को प्रतिवर्ष आक्रान्त कर रहे थे। पुष्यमित्र उन्हें पराजित कर पाटलिपुत्र लौटा। उसने लौटकर अपने स्वामी को उस सेना के निरीक्षण के लिए बुलाया जिसकी बदौलत वह विजयी हुआ था। बृहद्रथ भी बड़े हर्ष के साथ अपने विजयी सेनापति को बधाई देने के निमित्त आगे बढा। नगर के बाहर एक शिविर का निर्माण किया गया। इसी शिविर मे सेना का निरीक्षण किया गया, आनन्द मनाया गया। इसी बीच एकाएक एक तीर बृहद्रथ के मस्तक पर लगा और सम्राट् बृहद्रथ स्वर्गधाम सिधार गया। आश्चर्य की बात है कि सेना ने कान तक न हिलाया। शास्त्रीजी ने इस घटना को किस आधार पर लिखा है यह नही कहा जा सकता, पर हर्षचरित से इसके उत्तरी अश की पुष्टि होती है।[२] उसमे लिखा है 'प्रज्ञादुर्बलं च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेष्यसैन्य सेनानीरनार्यो मौर्यं बृहद्रथ पिपेष पुष्यमित्र स्वामिनम्।'

इस घटना के पीछे क्या रहस्य था यह आज तक अज्ञात है। दो बाते सम्भव हैं, या तो वह मौर्य नृपति दुर्बल था जैसा बाणभट्ट लिखते हैं, या वह सेनापति इतना शक्तिशाली और आतकवादी था कि जिसके भय से किसी का उस समय साहस न हुआ कि उसके विरुद्ध आवाज उठायें। जो हो पुष्यमित्र इस प्रकार राज्य हस्तगत कर लेता है, और उस विशाल साम्राज्य का अन्त कर देता है जो साम्राज्य भारत के इतिहास मे अपने वैभव और अपनी सुव्यवस्था के लिए प्रसिद्ध रह चुका था। इसी साम्राज्य ने ही सर्वप्रथम हमारी व्यवस्था मे बल का सचार किया था, पर इसके अन्तिम सम्राट् इसकी महती प्रतिष्ठा की रक्षा न कर सके और इसका अन्त आ ही गया। इसके पतन के लिए वस्तुत कोई एक कारण उत्तरदायी न था, यह अनेक तत्त्वो का मिला-जुला फल था। इस स्थल पर पुष्यमित्र के विषय मे कुछ कहने से पूर्व उसके समय की पृष्ठभूमि पर विचार करना स्वाभाविक है जिसने पुष्यमित्र के उत्थान और मौर्यों के पतन मे योगदान किया था।

मौर्य शासन का दायित्व

मौर्यों का शासन इस रीति से सचालित किया गया था जिसमे केन्द्र शक्तिशाली रहता था।[३] इतने विशाल साम्राज्य का शासन विकेन्द्रीकरण पर आधारित था।[४] कौटिल्य ने इसके सचालन के निमित्त विशाल नौकरशाही का प्रबन्ध किया था। रेल-तार हीन उस युग मे भी इस नौकरशाही को साम्राज्य के कण-कण का ज्ञान रहता था। कौटिल्य ने अपने कर्मचारियो को ऐसा बाँध रखा था कि वे जन-धन की हानि न होने दें। वे सभी के सुख का समुचित ध्यान रखें। कौटिल्य द्वारा शासित केन्द्र अपनी इकाइयो पर हावी रहता था। वे कभी विशृखलित न हो सकती थी। पर अशोक के पश्चात् मौर्य सम्राट् इतने शक्तिशाली शासक के स्थानापन्न होकर उसकी पूर्ति न कर सके। चन्द्रगुप्त में भुजबल था, अशोक मे आत्मबल पर उनके उत्तराधिकारियो मे एक भी नही।[५] इसी का फल था कि कुणाल व्यक्तिगत वैमनस्य का शिकार हुआ, वह धृतराष्ट्र की भाँति नाममात्र को शासक रहा।

[२] बाणभट्ट : हर्षचरित, पृष्ठ ३४५।
[३] डा० मजूमदार, आर० सी०, दि एज ऑव इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ ६२-७६।
[४] डा० मुकर्जी, राधामुकुद, चन्द्रगुप्त मौर्य ऐंड हिज टाइम्स, पृष्ठ ७६।
[५] कौटिल्य अर्थशास्त्र, भाग-२, परिच्छेद ५-१६।

दशरथ ने अपने पितामह का मार्ग अपनाया, पर कितने दिन ?[६] सम्प्रति ने जैनियों को सहारा दिया पर उससे लाभ क्या ? आखिर शालिशूक के युग मे विदेशी आक्रमण प्रारम्भ हो गये।[७] इस सब का एक भयकर परिणाम निकला। इससे शासन की बागडोर ढीली पड गयी। सरकारी कर्मचारी विचलित होने लगे। उनका भी क्या अपराध था, आये दिन एक राजा बनता और मिटता, वे किसके स्वामिभक्त होते, किसके बल पर उछलते ? किसके प्रति वे निष्ठा रखे यही निश्चय न कर पाते थे।

कुछ इतिहासकारो का कथन है कि इस समय मौर्य साम्राज्य दो भागो मे विभक्त हो चुका था। इनमे पूर्वी भाग दशरथ के अधीन था, तथा पश्चिमी कुणाल को मिला था। इन्ही तत्त्वो के साथ अन्य अनेक बाते और पैदा हो गयी थी, यथा जलौक ने एक अलग सत्ता बना ली थी, सुभगसेन अलग हो गया था। मौर्य सचिव तथा सेनापति मे भारी मनमुटाव था।[८] इस मनमुटाव ने धीरे-धीरे ऐसा उग्र रूप धारण किया कि सचिव के सहयोगी को विदर्भ और सेनापति के पुत्र को विदिशा का राज्य मिला था। इस प्रकार साम्राज्य की चूले हिल गयी थी। जो अश नया बना था उनमे अभी शक्ति न आ पायी थी। उसे सभी साधन नये सिरे से जुटाने थे, यह टेढी खीर थी। ऐसी स्थिति मे धन की कमी आ पडी थी, मानो दुर्बलता को भी दुर्बलता सता रही थी। अत मौर्यो का अवसान अवश्यम्भावी था।

अशोक की धार्मिक नीति का दायित्व

कुछ इतिहासकारो का विचार है कि साम्राज्य के पतन का सारा दायित्व अशोक की धार्मिक नीति पर था। इस मत के समर्थकों का कहना है कि पुष्यमित्र का विद्रोह कोई एकाएक उत्पन्न घटना न थी, बल्कि यह अशोक की बौद्ध नीति के विरुद्ध ब्राह्मणो का विद्रोह था। इस विद्रोह की आग ५० वर्ष पूर्व से सुलग रही थी। जब तक केन्द्र सबल रहा यह आग प्रज्ज्वलित न हो सकी, पर केन्द्र के क्षीण होते ही वह धधक उठी। इस विचारधारा के सबसे बडे समर्थक महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्रीजी रहे। शास्त्रीजी का कथन है कि अशोक एक कट्टर बौद्ध था। उसने यद्यपि अपने शिलालेखो मे दूसरे धर्मो के प्रति आदर की भावना प्रदर्शित की है, एव उसने अपने धर्म की बडाई और दूसरे की बुराई करना हेय समझा है, तथापि उसके अभिलेखो मे अनेक अन्य भावनाएँ छिपी हैं।[९] जैसे उसने वैदिक धर्म में विहित बलि को सर्वथा बन्द कर दिया था।[१०] यह केवल

---

[६] आयंगर, दि बिगनिंग ऑव साउथ इण्डियन हिस्ट्री, पृष्ठ १०० ।

[७] रोमिला थापर, अशोक ऐंड दि डिक्लाइन ऑव दि मौर्याज, पृष्ठ १९ ।
और दे०—दशरथ का नागार्जुन पर्वतीय गुहाभिलेख ।
और दे०—जिनप्रभसूरि, पाटलिपुत्रकल्प, परिशिष्ट, ११,६५ ।
और दे०—कार्म्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया, भाग २, पृष्ठ ४५ ।

[८] कालिदास, मालविकाग्निमित्र, पृष्ठ २३ ।
मौर्यसचिवविमुञ्चति यदि पूज्यः संयतं मम श्यालकम् । मोक्ता माधवसेनस्ततोमयाबन्धनात्सद्यः ।

[९] शास्त्री हर प्रसाद, कॉज़ेज ऑव डिस्मेम्बरमेण्ट ऑव दि मौर्यन एम्पायर,
जे० बी० ओ० आर० एस० १९१०, पृष्ठ २५९ ।

[१०] प्रियदर्शी अभिलेख, सम्पादित शर्मा रामावतार, पृष्ठ १—'हिद न किछिजिवे आलभितु पजोहितविये ।'
और देखिए वही—शिलालेख ४—'अनालम्भोपानानं अविहिंसाभूतानां'

बलि का निषेध न था, बल्कि ब्राह्मणों के परम्परागत अधिकार को छीनना था। उनके स्वत्व पर कुठाराघात था। शास्त्रीजी के अनुसार यह आज्ञा विशेषकर इसलिए कठोर थी कि एक शूद्र के द्वारा दी गयी थी। शास्त्रीजी के विचार में अशोक ने एक स्थल पर यहाँ तक कह डाला है कि अभी तक जो भूलोक के देवता थे उन्हें मैंने झूठा सिद्ध कर दिया।[११] आपका आगे कहना है कि ब्राह्मणों का ही वह वर्ग था जो समाज में सर्वोच्च था, वही हर काम में आगे रहता था, वही सबको यज्ञ और अनुष्ठान कराता था, वही औरों को सामाजिक बन्धन तोड़ने पर दण्ड दे सकता था, उन्हें क्षमा कर सकता था। ऐसी स्थिति में अशोक का 'धर्ममहामात्रों' का नियुक्त करना और भी गलत था। ब्राह्मण इस अधिकार का अपहरण सहन न कर सकते थे। अन्त में शास्त्रीजी का कहना इतना और है कि अशोक ने ब्राह्मणों पर एक वज्राघात किया। उसने ब्राह्मणों को भी न्याय और दण्ड आदि विषयों में अन्य वर्गों के समान समझा, उसने सभी को एक लाठी से हाँक दिया। ब्राह्मण मनु के अनुसार अदण्ड्य थे। उनका बड़े-से-बड़े अपराध पर भी वध न किया जा सकता था।[१२] अशोक की समान न्याय-व्यवस्था में सम्भव है कि उन्हें हर प्रकार के दण्ड भोगने पड़े हों। अतः शास्त्रीजी के अनुसार अशोक का एक प्रतिष्ठित वर्ग को शूद्र के साथ खड़ा करना सर्वथा अनुचित था और यही ब्राह्मणों के विद्रोह का मूल कारण था।

पर यदि इन तर्कों को ध्यान में परखा जाय, शास्त्रीजी के कथन में भी सत्यता न मिलेगी। शास्त्रीजी ने अपने दृष्टिकोण को दूसरे के मुँह में बिठाना चाहा है। उन्होंने अनेक बातों की अवहेलना करके तत्त्वों को तोड़ा मरोड़ा है। इसके विपरीत डॉ० रायचौधरी का कथन है कि क्या वैदिक धर्म में अहिंसा को पहले से स्थान नहीं था? क्या वैदिक धर्म केवल बलि पर ही आश्रित था? रायचौधरी ने 'मुण्डकोपनिषद्' से प्रमाण देते हुए कहा है कि जो लोग यज्ञादि में ही पड़े रहते हैं वे जरा-मरण के भय से मुक्त नहीं होते।[१३]

हमारे पूज्य ग्रन्थ गीता में जहाँ युद्ध की प्रेरणा दी गयी है, किसी भी गृहस्थ के लिए अहिंसा कम महत्त्वपूर्ण नहीं समझी गयी।[१४] सबसे बड़ी बात जो शास्त्रीजी के तर्कों के विरुद्ध पड़ती है वह यह है कि अशोक ने ब्राह्मणों को पूज्य माना है।[१५] दूसरे अब मौर्य वंश को शूद्र कहना न्यायसंगत नहीं है। मौर्यों के विषय में आज से ५० वर्ष पूर्व इतना ज्ञान न था, पर अब पुष्ट प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध हो गया है कि वे क्षत्रिय वंश के थे।[१६] 'दिव्यावदान' और 'महावंश'

[११] अशोक अभिलेख, लघुशिलालेख, सहसराम।

[१२] मौण्ड्यं प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते। इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत्।
न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपिस्थितम्। राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात् समग्रधनमक्षतम्॥
मनु, अध्याय, ८, ३७९-८०।

[१३] मुण्डकोपनिषद्, पृष्ठ १५, (आनन्दाश्रम प्रेस, चतुर्थ संस्करण, १९१८)।
प्लवाह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दति मूढा जरामृत्युं ते पुनरपि यान्ति॥

[१४] श्रीमद्भगवगीता, अध्याय १६, श्लोक २।

[१५] प्रियदर्शी शिलालेख, ३.४।

[१६] महापरिनिब्बान सुत्तम्, पृष्ठ १९६ (ज्ञानमण्डल, वाराणसी)
(भगवाऽपिखत्तियो मयम्पि खत्तिय)।

के आधार पर भी ये क्षत्रिय थे।"[१७],[१८] शास्त्रीजी का यह कथन भी निराधार है कि अशोक ब्राह्मणो की महत्ता छीनना चाहता था। जिस पंक्ति पर शास्त्रीजी का मत आधारित है उसका अर्थ ही कुछ और है। वह पंक्ति इस प्रकार है—'इमाय कालाय जम्बुदिपसि अमिसा देवा हुसु ते दानी मिसा कटा'। सर्वप्रथम यहाँ उल्लेखनीय यह है कि यह पंक्ति भिन्न-भिन्न स्थलो मे भिन्न-भिन्न रूपों मे मिलती है।[१९] हुल्स तक के अनुवादको ने इसे देवो से मिलन का अर्थ दिया है। यह मिलन किस प्रकार का था यह निश्चित नही है। इस मिलन का तात्पर्य देवो के प्रति आसक्ति हो सकती है, धार्मिक वृत्ति मे वृद्धि हो सकती है, अधार्मिक से धार्मिक भावना की उत्पत्ति हो सकती है। डॉ० टामस ने भी इसी प्रकार का भाव दर्शाया है।[२०] उनका मन्तव्य है कि जो लोग (अधिकाशत मूल निवासी) देवताओ से परिचित न थे, उन्हे एक वर्ष के भीतर उनसे परिचित करा दिया। डॉ० मुकर्जी ने इस पंक्ति को बड़े ध्यान से परखा है और दूसरो के अनुवाद का सतुलन करते हुए अपना अनुवाद दिया है। उनका कथन है कि इस समय के बीच जम्बूद्वीप मे जो लोग देवताओ से दूर थे, जिन्हे किसी धार्मिक भावना का ज्ञान न था, अशोक ने उन्हे भी धार्मिक बना दिया।[२१] उन्होने एक अर्थ की और कल्पना की वे लोग जिनके उपास्य देव पृथक्-पृथक् थे, सब एक हो गये, उनमे कोई भेदभाव न रहा।' अशोक ने निस्सदेह धार्मिक कटुता को कम करने की चेष्टा की थी और अपने आत्मबल के आधार पर वह अपने मनोरथ मे बहुत अशो तक सफल भी हुआ था। इन दोनो अर्थों मे पहला रूपनाथ और मास्की मे उपयुक्त नही पड़ता, क्योकि उसमे केवल देवताओ की चर्चा है मनुष्यो की नही। ब्रह्मगिरि मे दोनो की चर्चा है। अत डा० मुकर्जी अपने दूसरे अर्थ को ही प्रधानता देते है। इस बात की पुष्टि सेनार्ट[२२] के कथन से भी होती है—बौद्धधर्म मे सच्चे और झूठे देवताओ की चर्चा करना ही व्यर्थ है, जब देवता गौतम को जन्म से मृत्यु तक देखते रहे, गौतम स्वय उनसे उत्पन्न थे, वह राजा जो अपने को देवप्रिय कहे कैसे उनकी निन्दा कर सकता है। सेनार्ट का सकेत भी ब्राह्मणो की ओर था जिसे शास्त्रीजी ने अङ्गीकार किया है। पर यह सब सम्भव नही है। हम मिसा को मिश्रीभूत अर्थ मे युक्त नही कर सकते। इसी तरह अमिसा का अर्थ अमृष सम्भव नही है।[२३] अत इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार ही होगा कि इस बीच जो लोग देवताओ से दूर रहे वे अब उनके सम्पर्क मे आ गये।

जहाँ तक धर्ममहामात्रों की नियुक्ति का प्रश्न है वे केवल धर्म के लिए ही उत्तरदायी नही

---

[१७] दिव्यावदान—कॉवेल एवं नील का संस्करण, पृष्ठ ३६९-७०।
'त्वं नापित्नी अहं राजा क्षत्रियो मूर्धाभिषिक्तः, कथं मया सार्धं समागमो भविष्यति'।

[१८] महावंश, अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ २७।

[१९] रूपनाथ—'या इमाय कालाय जम्बुदिपसि अमिसा देवा हुसु ते दानीं मिसा कटा'।
सहसराम—'एतेन च अन्तलेन जम्बुदिपसि अम्मिस देवा सन्ता मुनिसा मिस देवा कटा'।
मास्की—'पुरे जम्बुदिपसि ये अमिसा देवा हुसु तेदानीं मिसीभूता'।

[२०] डॉ० टॉमस, एफ. डब्ल्यू : केम्ब्रिज हिस्ट्री, भाग १, पृष्ठ ५०५।

[२१] डॉ० मुकर्जी, राधाकुमुद : अशोक, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ११०।

[२२] सेनार्ट : इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, भाग २०, पृष्ठ १५८।

[२३] डॉ० बासक, राधागोविन्द : अशोकन इन्सक्रिप्शंस, पृष्ठ १३४-१३५ एवं १३९।

थे। उनके कर्तव्यों के अन्तर्गत धर्म-प्रचार था, पर ब्राह्मणों का सम्मान करना भी था। उन्हें यवन, कम्बोज, भृत्य, स्वामी, ब्राह्मण, धनी, निर्धन, असहाय, बन्दी आदि अनेक लोगों के सुख की व्यवस्था करनी थी। फिर यह कहाँ लिखा है कि ये धर्माधिकारी स्वयं ब्राह्मण न थे। सम्भव है कि किन्हीं अधिकारियों ने अशोक को जानते हुए किसी स्थल पर अपनी शक्ति का दुरुपयोग किया हो, पर यह भी बहुत अंशों में सत्य नहीं प्रतीत होता, अतः शास्त्रीजी का यह तर्क भी न्यायपूर्ण नहीं प्रतीत होता। शास्त्रीजी का अन्तिम तर्क व्यवहार और दण्ड की समता का है। इसके लिए सबसे पहले यह कहना ही भ्रमपूर्ण है कि ब्राह्मण सदा अदण्ड्य थे क्योंकि 'पंचविंश ब्राह्मण' में अपने स्वामी को धोखा देने के अपराध में प्राणदण्ड की व्यवस्था की गयी है।[२४] कौटिल्य ने देशद्रोह में ब्राह्मण को डुबा देने को बताया है।[२५] महाभारत में दिखाया गया है कि ब्राह्मण-साधुओं का वध सम्भव है।[२६] शास्त्रीजी ने अशोक की इस आज्ञा में भी एक भ्रामक स्वरूप अपनाया है। वस्तुतः अशोक चाहता था कि उसके साम्राज्य में सर्वत्र न्याय एक-सा हो। उसमें किसी स्थान-भेद से कोई अन्तर न पड़े। उसने आज्ञा निकाली थी कि मेरे साम्राज्य में न्याय की समता होगी, जो लोग बन्दी हैं, उनके लिए मैं तीन की छूट प्रदान करता हूँ। इस आज्ञा में ब्राह्मणों के लिए किसी प्रकार का कोई बन्धन नहीं है। अतः शास्त्रीजी का यह निष्कर्ष कि ये तत्त्व ही ब्राह्मणों के विद्रोह के कारण बने न्यायसंगत नहीं है। इसके विपरीत कुछ अन्तिम मौर्य सम्राट् ब्राह्मणों के विशेष भक्त थे। कल्हण ने अपनी 'राजतरंगिणी' में जलौक का ब्राह्मणों से आत्मीयता का सम्बन्ध बताया है।[२७] महाकवि बाण स्वयं ब्राह्मण था, पर उसने पुष्यमित्र को उसके कृत्य के लिए अनार्य कहा है।[२८] पर शुंग ब्राह्मण थे, उनके युग में भरहुत जैसे बौद्ध-स्तूप का निर्माण यह संकेत करता है कि यह बौद्धों के विरुद्ध ब्राह्मणों का विद्रोह न था। साथ ही यह भी सत्य है कि उस समय व्याकुलता थी, दुःख था, एक विप्लव था पर क्यों? और इस विप्लव का नायक पुष्यमित्र क्यों?

अशोक की शान्ति-नीति का दायित्व

डॉ० रायचौधरी का इस सम्बन्ध में कथन है कि पुष्यमित्र के उत्थान और विद्रोह से पूर्व ही मौर्य साम्राज्य जीर्ण हो चुका था। यदि यह मान भी लिया जाय कि यह सब अशोक की धार्मिक नीति का परिणाम था, फिर भी पुष्यमित्र उसके ५० वर्ष पीछे आता है। यदि ऐसा था तो पुष्यमित्र के पहले ही यह आग धधक सकती थी। डॉ० रायचौधरी का यह भी कथन है कि इस पतन के लिए बहुत अंशों में मन्त्रिमण्डल उत्तरदायी था। इसका प्रमाण हमें दिव्यावदान से प्राप्त होता है। उसमें लिखा है—'अथ राज्ञो बिन्दुसारस्य तक्षशिला नाम नगरं विरुद्धम्। तत्र राज्ञा बिन्दुसारेणाशोको विसर्जितः, यावत् कुमारश्चतुरंगेन बलकायेन तक्षशिला गतः, श्रुत्वा तक्षशिला-

[२४] **पंचविंश ब्राह्मण, पृष्ठ १४, ६८।**

[२५] **कौटिल्य अर्थशास्त्र, अंश २२६, अंग्रेजी अनुवाद (शामशास्त्री) पृष्ठ २५७।**

[२६] **महाभारत आदिपर्व, अध्याय १०६, १०७, शान्तिपर्व, २३, ३६।**

[२७] **कल्हण—राजतरंगिणी, १, १०१-१०६।**

[२८] **बाण—हर्षचरित, निर्णयसागर प्रेस, १९८, १९९।**
कॉबेल का अनुवाद, पृष्ठ १९३।

निर्वासित पौरा प्रत्युद्गम्य च कथयन्ति, न वय कुमारस्य विरुद्धा, नापि राज्ञो बिन्दुसारस्य, अपितु दुष्टामात्या अस्माक परिभव कुर्वन्ति ।।'[१९] पर डॉ० रायचौधरी का यह भी कहना है कि अशोक ने एक ही अनर्थ किया कि अपने उत्तराधिकारियो को शान्ति का पाठ पढाया । उन्होने जब यह पाठ पढ लिया तो युद्ध, वीरता, भीषण व्यापार, त्याग और बलिदान मानो उठ गये ।[२०] पर यह तर्क भी न्यायसगत नही प्रतीत होता, क्योकि अशोक ने शान्ति के साथ कभी कायरता नही सिखायी । उसने मृत्युदण्ड को बन्द नही किया था । उसके युद्ध न करने का मन्तव्य यह भी रहा होगा कि जहा तक उसके साम्राज्य की सीमाए थी उससे आगे बढना अनर्थ का सूचक था। किसी सुख-समृद्धि का नही । अशोक किसी अनजाने देश मे अपनी शक्ति का अपव्यय क्यो करता, विशेषकर जब कि उसके पड़ोसी तथा दूरस्थ देश भी उसे मान्यता दे रहे थे । उसके धर्म का प्रचार विदेशो मे सहज ही हो रहा था । उसके उत्तराधिकारी भी इसी नीति का पालन कर सकते थे पर उनमे बल न था, उनमे एकता न थी । डॉ० बरुआ ने एक स्थल पर लिखा है, 'अशोक को ईडेन उद्यान के अदम की भाति अपने उत्तराधिकारियो की भूलो, प्रयोगो एव उनके पतन का, बल्कि उनके ही नही, सारी आगामी पीढी के पतन का उत्तरदायी ठहराया गया है, केवल इसलिए कि उसने चाणक्य के द्वारा सुनिश्चित राजनीतिक नीति का पालन न करने की भूल की थी, सिर्फ इसलिए कि वह मगध की परम्परागत नीति पर न चल सका. पर चाणक्य का अर्थशास्त्र चन्द्रगुप्त मौर्य के काल मे अपने परिमार्जित रूप मे विद्यमान था और यह पुस्तक अपने समय के राजनीतिक विचारो का सर्वोत्कृष्ट रूप उपस्थित करती है, यह विचार करना ही डॉ० रायचौधरी की विचारधारा के पीछे निहित है, यही भ्रामक है ।'[२१]

डॉ० बरुआ का कहना है कि डॉ० रायचौधरी और डॉ० जायसवाल का यह मत भी न्यायसगत नही है कि अशोक ने धार्मिक भवनो तथा प्रचार पर धन बहाया । आपका मत है कि युद्ध करना न करना व्यक्तिगत रुचि की बात होती है । बौद्धधर्म पूर्वी द्वीपसमूहो मे भी फैला, पर इनमे से कौन-सा द्वीप युद्ध नही करता । अत इसका न किसी धर्म से सम्बन्ध है न व्यवस्था से ।

मौर्यों की आर्थिक नीति का दायित्व

कुछ विद्वानो का मत है कि मौर्य साम्राज्य का पतन उनकी आर्थिक नीति के कारण हुआ ।[२२] इन लोगो की धारणा है कि मौर्य युग मे मूर्तियो पर तक कर लगा दिया गया था । सिक्को के निर्माण मे भार की कमी हो गयी थी । हर वस्तु कर से बोझिल थी । इसके साक्ष्य मे वे कौटिल्य का अर्थशास्त्र उपस्थित करते है ।[२३] उसमे वेश्याओ और अन्य कलाकारो पर भी कर की व्यवस्था की गयी है, पर यह धारणा भी निर्मूल-सी है । यह ऐसे चुने हुए तथ्यो पर ही आधारित है जिनसे सामान्य नियम नही निकाला जा सकता । लेखक यह भूल जाते है कि कौटिल्य ने कर से मुक्त वस्तुएँ भी गिनायी है । इसमे सन्देह नही कि इस युग मे कर की व्यवस्था का मूल्य समझा गया, इसके पहले शायद इसकी आवश्यकता ही न पड़ी हो । पर उनमे भी बहुत से कर कौटिल्य ने किसी

[१९] दिव्यावदान, पृष्ठ, ३७१, ७२ ।
[२०] डॉ० रायचौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृष्ठ ३६५ ।
[२१] डॉ० बरुआ बेनीमाधव : अशोक और उसके अभिलेख, १९५५, पृष्ठ ३४६ ।
[२२] कोशाम्बी, दामोदर धर्मानन्द : ऐन इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑव इण्डियन हिस्ट्री, १९५६ । पृष्ठ २११-१२
[२३] कौटिल्य अर्थशास्त्र, अध्याय ५,२, (पण्डित पुस्तकालय संस्करण पृष्ठ ३८७) ।

आपत् काल की स्थिति के लिए ही गिनाये हैं, सामान्य के लिए नहीं। जहाँ तक सिक्कों के भार में कमी का प्रश्न है, हो सकता है कि समय की अशान्त गतिविधि देखकर जनता ने घरों में चाँदी एकत्र कर ली हो जिसके फलस्वरूप सिक्के आदि के लिए शासक के पास चाँदी की कमी स्वाभाविक रूप से हो गयी। फिर कोशाम्बी महोदय ने जो सिक्के लिये हैं वे निश्चित ही मौर्यों के अन्तिम समय के द्योतक हैं, उनकी पहले से सुनिश्चित आर्थिक नीति की कठोरता के नहीं।

अन्य सामान्य कारण :

उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे कारण उपस्थित थे जिनका मौर्यों के पतन में कम योग न था जैसे—उस समय भारतवासियों में राष्ट्रीयता की भावना न जगी थी। मौर्य साम्राज्य सौ वर्ष से अधिक टिक चुका था। सुदूरस्थ प्रान्तों से यातायात और सञ्चार के साधन आज की भाँति सुलभ न थे। मौर्यों ने किसी एक नीति को सदा नहीं अपनाया। उत्तराधिकार का विधान निश्चित नहीं था। राजकर्मचारियों की नियुक्ति किसी विशेष आयोग द्वारा योग्यता के आधार पर न होती थी। कभी-कभी तो ऐसा हुआ कि किसी विदेशी आक्रमण के समय एक पक्ष ने विदेशी का साथ दिया और अपने ही बन्धु को पराजित कराने में गौरव समझा। हमारे राष्ट्र में बहुत समय तक भाषा एक रही, देश के बहुत बड़े अंश में इसका प्रयोग हुआ। धर्म भी मूलत एक रहा। पर उसके ऊपरी तत्त्व सदा समाज को पृथकता की ओर घसीटते रहे। यही कारण था कि हम 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की दुहाई देते रहे, पर अपने भाई के साथी न रहे। यही कारण है कि कोई सम्राट् तीन पीढ़ियों के आगे न टिक सका। इस प्रकार मौर्यों का पतन हुआ, उसके जो भी कारण रहे हों। वे गद्दी को न सम्हाल सके और उन्हें पुष्यमित्र के लिए स्थान छोड़ना पड़ा।

सत्ता हाथ में आते ही पुष्यमित्र ने सबसे पहले मौर्य-सचिव को बन्दीगृह में डाल दिया। इसके कई कारण थे। मौर्य-मन्त्री से उसका पहले से ही मनमुटाव चल रहा था। फिर मन्त्री ही उस समय से कुशासन के लिए उत्तरदायी था। वही स्वाभाविक रूप से उसका भविष्य में काँटा बन सकता था। इसका प्रमाण हमें कालिदासकृत मालविकाग्निमित्र में मिलता है।[१४] मंत्री का बहनोई यज्ञसेन विदर्भ में राज्य कर रहा था। उसने अपने भाई माधवसेन को केवल इसलिए बन्दी बना लिया था कि वह पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र से अपनी बहिन मालविका का विवाह करना चाहता था। अन्तत इसका फल यह हुआ कि विदर्भराज को अग्निमित्र द्वारा हराया गया और उसे अपने आधे राज्य से भी हाथ धोना पड़ा। इस घटना से ऐसा विदित होता है कि पुष्यमित्र ने जनहित में ही ऐसा किया था। वह लौहपुरुष था, किसी प्रकार की अशान्ति न चाहता था। उसकी जनहित भावना का दूसरा प्रमाण यह भी है कि उसने क्रॉमवेल (इंग्लैण्ड का शासक १६४९-१६६०) की भाँति कभी राजमुकुट न पहना। वह सदा सेनापति के नाम से ही विख्यात रहा। सैनिक कुशलता उसमें पूर्व से ही विद्यमान थी। जैसा कि संकेत किया जा चुका है कि वह ग्रीकों को हरा चुका था। निश्चय ही उसने अपने भुजबल का विस्तार स्यालकोट तक किया। सम्भव है कि बौद्धों ने उस समय उसका साथ न देकर विदेशियों का साथ दिया हो। वे अपने

[१४] **मौर्य-सचिवं विमुञ्चति यदि पूज्यः संयतं मम श्यालम् ।**
मोक्ता माधवसेनस्ततो मया बन्धनात्सद्यः ।।
कालिदास—मालविकाग्निमित्र, अंक २, पृष्ठ २३

धर्म के विरुद्ध किसी को शायद न देख सकते थे। यही कारण है कि पुष्यमित्र के लिए कहा गया है कि उसने बौद्धों को कुचल डाला, उसने आज्ञा निकाली कि एक बौद्ध-श्रमण के सर के लिए १०० दीनार दूंगा। पर इससे यह अनुमान लगाना कि वह बौद्ध-धर्म को मिटाना चाहता था, गलत होगा। यदि ऐसा होता तो वह भरहुत जैसे स्तूप का अपने राज्य में न बनने देता। वस्तुत वह उन बौद्धों से क्षुब्ध था जो देशद्रोही थे, जिन्होंने विदेशियों को अपना रक्षक समझकर बुलाना चाहा था। उन्ही के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया रूप साम्राज्य का गठन पुष्यमित्र ने किया था। वह देश की संस्कृति का रक्षक था। उसने इसीलिए दो बार अश्वमेध यज्ञ किया जिसका प्रमाण हमें अयोध्या अभिलेख में मिलता है।[35] वही नहीं, उसका पुत्र अग्निमित्र भी एक योद्धा था और ये घटनाएँ उस समय की प्रतीत होती हैं जब कि पुष्यमित्र लगभग ६० वर्ष का हो गया होगा, क्योंकि उसका पौत्र अर्थात् अग्निमित्र का पुत्र वसुमित्र भी सिन्धु के किनारे ग्रीकों को मुँहकी खिलाता है। वही अश्वमेध में छोड़े गये अश्व की रक्षा करता है। इससे वसुमित्र के पितामह की अवस्था का ज्ञान अनायास हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि पुष्यमित्र अपने सारे जीवनभर युद्धरत रहा। उसने मौर्यों के समय भारत की रक्षा की। मौर्यों के पश्चात् भी उसने रक्षा की। उसने वैदिक संस्कृति को पुन संस्थापित किया। उसके सम्भवत दूसरे अश्वमेध यज्ञ में पतंजलि जैसा महान् वैयाकरण पुरोहित का कार्य कर रहा था।[36] पतंजलि ने अपने व्याकरण में पदे-पदे कहा है कि व्याकरण का अध्ययन वेदों के रक्षार्थ करना चाहिए।[37] 'रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्' इससे भी यही ध्वनि निकलती है कि इस युग में वैदिक संस्कृति डाँवाडोल थी।[38]

---

[35] धनदेव का अयोध्या अभिलेख, जे० बी० ओ० आर० एस०, भाग १०, पृष्ठ २०२ 'द्विरश्वमेधयाजिनः'।

[36] पतंजलि महाभाष्य, 'इह पुष्यमित्रं याजयामः॥' भाग ३, पृष्ठ १६५।

[37] वही, महाभाष्य, आह्निक १, पृष्ठ २।

[38] वही, आह्निक १, पृष्ठ ३, 'ब्राह्मणोनावश्यं शब्दा ज्ञेया'।
और वे०—असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्। याज्ञिकाः पठन्ति स्थूलपृषतीमनड्वाहो मा लभेत। तस्यां सन्देहः, स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती, स्थूलानि पृषन्ति यस्याः या स्थूलपृषतीति। तान्नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति।'

नाथ सिद्धां और बौद्ध सिद्धों के सम्बन्ध पर पुनर्विचार

डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

नाथ सिद्ध बौद्ध सिद्धो से भिन्न हैं, किन्तु बहुत से विद्वानो ने जो निष्कर्ष निकाले हैं वे इससे भी भिन्न हैं। हिन्दी साहित्य के वर्तमान इतिहासो का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार की सामाजिक और साप्रदायिक दृष्टि ज्ञानाश्रयी निर्गुणमार्गी सतो तथा नाथ सिद्धो की थी, प्राय उसी प्रकार की दृष्टि बौद्ध सिद्धो या दूसरे शब्दो मे तात्रिक बौद्ध सिद्धो की थी। भक्तिकाल की निर्गुण धारा का विवेचन करते समय प्राय इतिहासकारो ने बौद्ध सिद्ध साहित्य का विवेचन किया है और यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि बौद्ध सिद्धो की समाज, धर्म, साधना और दर्शन सम्बन्धी दृष्टियो का विकास नाथ सिद्धो मे हुआ तथा उनके माध्यम से वह सपत्ति निर्गुणमार्गी ज्ञानाश्रयी सतो को मिली। वही शब्दावली भी ग्रहण की गई। नाथ सिद्धो और बौद्ध सिद्धो के सम्बन्ध पर विद्वानो ने पर्याप्त विचार किया है और यहाँ तक कह दिया है कि नाथ सिद्ध मत बौद्ध सिद्ध मत का विकसित शैव रूप है। नाथ सिद्ध लोग पहले बौद्ध थे, बाद मे शैव हो गये। इसके अतिरिक्त एक मत यह भी है कि नाथ मत अतिम तात्रिक बौद्धयान का एक उपयान है। उनके सम्बन्धो पर विद्वानो ने सम्प्रदाय, साधना और दर्शन की दृष्टियो मे विचार किया है।

सप्रदाय की दृष्टि से विचार करते हुए राहुल साकृत्यायन ने जालन्धरपाद को आदिनाथ माना है। उनकी इस मान्यता का आधार भोटिया 'विमुक्तिमजरी' नामक वज्रयानी ग्रन्थ है। इस साप्रदायिक रचना की प्रामाणिकता अभी तक सिद्ध नही हो सकी है। डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने नाथो मे प्रथम स्थान, दूसरे शब्दो मे, सप्रदाय की दृष्टि से आदि स्थान, मत्स्येन्द्रनाथ को दिया। चौरासी सिद्धो की तिब्बती सूची मे प्रथम स्थान लुयीपाद को दिया गया है। और भी प्रमाण देकर उन्होंने यह सिद्ध किया है कि बौद्ध सिद्ध लुयीपाद और नाथ सिद्ध मत्स्येन्द्रनाथ एक ही व्यक्ति थे। मैने इन दोनो सप्रदायगत स्थापनाओ पर पर्याप्त विस्तार और प्रमाण के साथ विचार 'तात्रिक बौद्ध-साधना और साहित्य' नामक अपने ग्रन्थ के 'सिद्धियाँ और चौरासी सिद्ध' शीर्षक परिच्छेद मे किया है और यह उपस्थित करने की चेष्टा की है कि तिब्बती बौद्ध सूची (सस्क्य विहार की सूची), वर्णरत्नाकर की सूची, हठयोग प्रदीपिका आदि मे सिद्धो की सूची को देखने से यह सिद्ध नही होता कि जालधरपाद ही आदिनाथ थे तथा लुयीपाद ही मत्स्येन्द्रनाथ थे। सिद्धो की तिब्बती चित्रावली को देखने से यह स्पष्ट होता है कि लुयीपाद और मीनपाद के दो अलग-अलग चित्र हैं तथा लुयीपाद के चित्र का मत्स्यान्त्र के भक्षण से अथवा मत्स्योदर से उदित होने से कोई सम्बन्ध नही है। सप्रदायगत विचार के लिए उपर्युक्त ग्रन्थ देखा जा सकता है। यहाँ हम बौद्ध सिद्धो और नाथ सिद्धो के साधनागत और दर्शनगत सम्बन्ध पर विचार करेंगे। इस विचार मे आद्यत यह ध्यान मे रखा गया है कि बौद्धसिद्धों मे आद्यत अनीश्वरवादिता दिखाई पडती है। दूसरे, उनके दर्शन के परवर्ती विकासो में प्राचीन महायान दर्शन की धारा का प्रवाह दिखाई पडता है। अब यह सिद्ध हो गया है कि नाथ

सिद्ध लोग शैव तात्रिक थे। महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज ने उन्हे काश्मीरी शैवागमवादी आचार्यो की परम्परा मे माना है। इस स्थापना पर पुनर्विचार चर्वितचर्वण ही होगा। नाथो की सेश्वरवादिता स्पष्ट है यद्यपि वे साख्ययोगियो की तरह सेश्वरवादी नही थे।

ऊपर नाथो और बौद्धो के सम्बन्ध मे सम्बन्धित जिन स्थापनाओ का उल्लेख किया गया है, उन पर पुनर्विचार करने के पूर्व बौद्ध सिद्ध साहित्य के मूल आधारो और प्रवृत्तियो पर थोडा विचार कर लेना चाहिए। बौद्धसिद्धो के अपभ्रश साहित्य के आधार पर यदि उनकी विशेषताओ का विवेचन किया जाय तो कुछ मुख्य बाते इस रूप मे उपस्थित की जा सकती है—तत्रो का शक्तिवाद, अधिकारभेदवाद, मत्र, सिद्धि, पच मकार, विशिष्ट आचार, राजयोग, हठयोग आदि तत्त्व सहजयान के पूर्वरूप वज्रयान मे ही प्रचलित थे। इन तत्त्वो के साथ ही वज्रयान ने माध्यमिक मत के प्रज्ञा और शून्यता तत्त्व को लिया तथा विज्ञानवाद से विज्ञान या चित्त के साथ ही योग और आचार को लिया। अद्वयभाव, समरसता, महासुख, युगनद्ध आदि की विचारधाराएँ भी तात्त्विक और मूल रूप मे वज्रयान के भी पूर्व के तत्प्रभावापन्न रूपो मे वर्तमान थी। इन सबका प्रमाण गुह्यसमाजतत्र, ज्ञानसिद्धि, प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि आदि ग्रन्थो मे मिलता है। ये सभी ग्रन्थ ७वी ई० शताब्दी से १०वी० ई० शताब्दी के बीच लिखे गये। बाद मे इन शास्त्रीय आधारो के पुष्ट हो जाने पर, जिनका स्पष्टीकरण और व्याख्यान सस्कृत ग्रन्थो मे किया गया था, लोकभाषा (तत्कालीन अपभ्रश) तथा साहित्यिक अपभ्रश के माध्यम से उन विचारो, आचारो को कुछ भिन्न परिस्थितियो और आवश्यकताओ के कारण भिन्न रूप मे उपस्थित किया गया। भगवती लक्ष्मीकरा ने 'अद्वयसिद्धि' से सहज-साधना को स्पष्ट किया जिसे बाद मे सहजिया साधना का आधार-ग्रन्थ माना गया। ६ठी ई० शताब्दी तक तात्रिक बौद्ध-साधना मे राजयोग, धारणी, मत्र आदि को साधन के रूप मे मुख्यरूप से स्वीकार किया गया था। तात्रिक प्रभाव के अधिक परिपक्व होने पर हठयोग, नाडीसाधना, चक्रसाधना, कमलकुलिश-साधना को भी स्वीकार कर लिया गया। किन्तु इन सभी तत्त्वो को बौद्ध-परम्परा के अनुकूल ही ग्रहण किया गया और साथ ही वज्रयान ने उन पर अपनी वज्र की मुद्रा अकित कर दी। वज्रयोग, वज्रध्यान, वज्रयान, वज्रासन आदि शब्द इसकी ओर सकेत करते है। इस प्रकार की साधना के मूलाधार शक्तिवाद और पिण्डब्रह्माण्डवाद थे। इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी वज्रयान मत, मुद्रा मैथुन तथा अन्य मकारो, मडलो आदि की साधना मे सदैव तथा सर्वथा लीन रहा। मडलादि कर्मो मे स्थूलता तथा बाह्य कर्मो की अधिकता होने पर उस स्थूल के प्रति विरोध प्रकट किया जाने लगा। फलत बौद्ध तत्रयान मे प्रविष्ट पश्वाचार और वीराचार मे अपेक्षाकृत अधिक प्रकृष्ट और सूक्ष्म साधन दिव्याचार को प्रश्रय दिया गया। वज्र जैसे कठोर और बाह्याचारप्रधान साधनात्मक जीवन के आदर्श के प्रतीक के स्थान पर सहज यौन-यौगिक, साधनात्मक और आध्यात्मिक जीवन के आदर्श के प्रतीक सहज (भावना और तत्त्व) को उपजीव्य माना गया।[१] इन सहजिया सिद्धो के अपभ्रश साहित्य पर विचार करने पर उनकी गुरुशिष्यवाद, पिण्डब्रह्माण्डवाद, बाह्याडबरविरोध, अन्तस्साधनावाद, कमलकुलिशसाधना या प्रज्ञोपायसाधना, युगनद्ध और महासुखवाद, ध्यान, वाम-दक्षिण-साधना आदि विभिन्न साधनाओ पर प्रकाश पडता है।

---

१ **विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य—तांत्रिक बौद्ध-साधना और साहित्य का ६वां तथा ११वां परिच्छेद।**

बौद्ध सिद्धों ने शून्यतातत्त्व या प्रज्ञातत्त्व को शून्यवाद या माध्यमिक मत से तथा चित्त-तत्त्व या विज्ञानतत्त्व को विज्ञानवाद या योगाचार मत से ग्रहण किया। बौद्ध सिद्धों ने अपने तात्विक दर्शन के आधार के लिए प्रज्ञा को शक्ति के रूप में ग्रहण किया। सहजयानियों ने इसे अवधूती या नैरात्म्ययोगिनी या नैरामणि-दारिका या आध्यात्मिक शक्ति माना। तान्त्रिक मत अपने पिण्ड-ब्रह्माण्डवाद के अनुसार ब्रह्माण्ड के सभी तत्त्वों, पदार्थों को पिण्डस्थ मानता है जिनका दर्शन साधक स्वयं अपने शरीर के भीतर कर सकता है। इस विचार से जीव की अपनी शक्ति की महत्ता बढ़ गई। विज्ञानवाद के चित्ततत्त्व को स्वीकार करने के कारण उन्हें यह भी स्वीकार करना पड़ा कि यह विश्व इस चित्त की सृष्टि है। चित्त ही मोक्ष-बन्धन का कारण है। इसी मत के अनुसार उन लोगों ने यह माना कि संसार और निर्वाण में कुछ भेद नहीं है। भेददृष्टि से ही इन दोनों में भेद दिखाई पड़ता है। योग में चित्त की महत्ता स्वतःसिद्ध है। उस पातंजल योग का भी प्रभाव बौद्धों के ऊपर पड़ा था जिसमें चित्तवृत्तियों के निरोध को ही योग कहा गया है। तात्पर्य यह है कि दर्शन और साधना की दृष्टि से बौद्ध सिद्धों के मूलाधार शून्यवाद या माध्यमिक मत, विज्ञानवाद या योगाचार मत और भारत की तान्त्रिक धारा थी।

इन दार्शनिक और साधनात्मक आधारों को लेकर तान्त्रिक बौद्धों का विकास हुआ। इस विकास को ध्यान में न देखने के कारण बहुत से लेखकों को भ्रम हो गया। वस्तुतः वज्रयान और सहजयान दो यान हैं। वज्रयान के संस्कृत में लिखे विभिन्न शास्त्रीय ग्रन्थों तथा बौद्ध सहजिया सिद्धों की लोकभाषा की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह बात निर्भ्रान्त हो जाती है। वज्र के स्थान पर सहज की प्रतिष्ठा, बाह्य साधना के स्थान पर अन्तस्साधना पर जोर, महायान के तंत्र, मंत्र, समाधि, आसन आदि का खंडन—ये सभी बातें सहजयान को वज्रयान से अलग सिद्ध करती हैं। कुछ तत्त्व जैसे गुह्यतत्त्व, पिंडब्रह्माण्डवाद, चक्र, शक्तितत्त्व, नाडीतत्त्व, महासुखवाद आदि शब्दान्तर और मतान्तर से ही स्वीकार कर लिये गये। गुह्यसमाजतंत्र तथा उसके बाद के अन्य ग्रन्थों में विविध देवताओं की कल्पना अत्यधिक तीव्रता से हो रही थी। सहजयान की रचनाओं में बहुदेववाद की भर्त्सना की गई है, उसे निरर्थक बताया गया है। केवल चित्तमार्ग को ही सर्वोत्तम मार्ग बताया गया है। कालविजय को साधना का आवश्यक अंग स्वीकार कर उसके मार्ग को मध्यम-मार्ग या अवधूतीमार्ग बताया गया है। सहजसुख में अद्वैतस्थिति को प्राप्त करना ही उनका उद्देश्य था। यह माना गया कि परमार्थतः प्रत्येक प्राणी शुद्ध है। प्रत्येक में धर्ममहासुख या सहजसुख या सहजामृत रस या सहज रस या महारस सदैव स्थित रहता है। इसी तत्त्व को परमार्थ कहा गया है। संसार और निर्वाण में, जन्म और मृत्यु में कोई भेद, समदर्शिता के कारण, नहीं माना गया। उस रस या तत्त्व को प्राप्त कर लेनेवाला व्यक्ति इन दोनों में कोई भेद नहीं करता। कल्पना से मुक्तचित्त या निर्विकल्प चित्त इन द्वन्द्वों से परे होता है। अतः इस चित्त के मार्ग को ही साधन-मार्ग कहा गया। परमार्थ चित्त सर्वथा मुक्त रहता है, इसीलिए चित्तमार्ग ही मुक्तिमार्ग है। यह संसार चित्त की ही सृष्टि है। शुद्ध चित्त संसार में व्याप्त अमृततत्व का पान करता है। विकल्प-ग्रस्त चित्त विष का भक्षण करता है। संसार में ही रहकर उसके अमृततत्त्व या निर्वाणतत्त्व को ग्रहण करना ही महासुख की प्राप्ति है। यह जगत् चन्द्र और जल में पड़नेवाले उसके प्रतिबिम्ब के समान ही सत्-असत् की कोटियों से परे है। महासुख रस सहज तत्त्व है। चित्त की विमुक्तावस्था

ही मुक्ति है। मुक्ति की अवस्था मे वह परमज्ञान या शून्यता को प्राप्त कर लेता है।[१]

इस प्रकार की विचारधारा और साधन-पद्धति का अनुसरण करनेवाले बौद्ध सिद्धों और नाथसिद्धो को एक ही परम्परा का, एक ही सप्रदाय का अनुवर्तन करनेवाला माना जाता है। बौद्ध सिद्ध और नाथ सिद्ध साहित्य का अध्ययन करने से यह बात ठीक नही मालूम पडती। इस सम्बन्ध मे तीन विवेचकों के मत का विचार किया जा सकता है—प० रामचन्द्र शुक्ल, महापंडित राहुल सांकृत्यायन और डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची। शुक्लजी राहुल जी के विवेचन और निष्कर्ष को प्रमाण मानकर चले है। अत नीचे राहुलजी और डा० बागची की स्थापनाओं की परीक्षा की जा रही है।

शुक्लजी के अनुसार नाथसप्रदाय बौद्ध वज्रयान की एक शाखा मात्र है, जिसने कालक्रम मे अपने को वज्रयानी साधना और सम्प्रदाय से पूर्णतया अलग कर लिया था। राहुलजी के अनुसार जालधरपाद को आदिनाथ (शिव) माना गया और यह निश्चय किया गया कि जालधर पहले बौद्ध थे, बाद मे पश्चिमी प्रदेशों में आकर उन्होने नाथसप्रदाय का प्रचार किया। इस मत के अनुसार 'रत्नाकर जोपम कथा' नामक वज्रयानी रचना प्रामाणिक रचना है। लेकिन इस रचना की शुद्ध ऐतिहासिक प्रामाणिकता का कोई प्रमाण नही मिलता। यदि राहुलजी की दृष्टि मे नाथसप्रदाय बौद्ध उत्थान है या वज्रयान का विकसित रूप है तो, उसमे वज्रयान की कुछ विशेषताएँ भी होनी चाहिए। राहुलजी ने वज्रयान की चार चीजे मुख्य मानी है—मद्य, मत्र, हठयोग और स्त्री, किन्तु उन्होंने इन तत्त्वों को नाथपथ मे कही भी नही दिखलाया है। उन्होने तो यह भी नहीं लिखा कि नाथमत ने कुछ अशों मे अपने को वज्रयान से अलग रखा। वे बौद्धसिद्धों को निरीश्वरवादी और नाथसिद्धो को ईश्वरवादी मानते है।[२] नाथपथ की साधनपद्धति और दर्शन में कौन-कौन से ऐसे तत्त्व है जो उसे बौद्ध स्रोत से नि सृत सिद्ध करते है, इसका कही भी सकेत नही मिलता। नाथपथियों की साधना मे मद्य और स्त्री निषिद्ध है। हिन्दी-रचनाओ से यह बात सिद्ध होती है। हठयोग और मत्र विचारणीय हैं। राहुलजी ने वज्रयान और सहजयान मे भेद नही किया है। बौद्ध सिद्धो की अपभ्रश रचनाओ मे उपलब्ध साधनपद्धति और दर्शन मे तथा बौद्ध सिद्धो की कुछ सस्कृत रचनाओ मे वर्णित साधनपद्धति और दर्शन मे पर्याप्त अन्तर है। वज्रयानियो के सस्कृत ग्रन्थ 'गुह्यसमाजतत्र' मे अवश्य हठयोग का विधान है, किन्तु 'बौद्ध गान ओ दोहा' की रचनाओ मे हठयोग का विरोध मिलता है।[३]

नाथ सिद्धो और बौद्ध सिद्धो के सम्बन्ध को स्थिर करने के लिए विद्वानो ने कृष्णपाद और जालधरपाद के सम्बन्ध पर भी विचार किया है। बताया गया है कि कृष्णपाद जालधरपाद के शिष्य है। कृष्णपाद सहजिया सिद्ध है जिनकी अपभ्रश रचनाओ मे मत्र, तत्र, हठयोग, कृच्छ्राचार का विरोध मिलता है। अर्थात् यदि राहुल जी की दृष्टि से जालधरपाद से नाथमत का उद्भव माना जाय तो कृष्णपाद को भी लगभग उसी प्रकार का साधन मिलना चाहिए था। जालधरपाद की कोई भी

---

१ विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य—तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, पृष्ठ १७१-१८३। ६७-७०, ७८-८५ १६३-१७१, १७५, १८३, १६५-१६७ आदि।

२ पुरातत्त्व निबंधावली, राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ १४३, १६१।

३ तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य—पृष्ठ ११७, १२७, १५३, १६४।

अपभ्रंश रचना उपलब्ध नही है। कृष्णपाद की रचनाओं के आधार पर गुरु जालधरपाद हठयोगी नही थे। इस प्रकार वे कृच्छ्राचार और काया-कष्ट-साधना के विरोधी थे। अब यह प्रमाणित हो चुका है कि गोरक्ष द्वारा प्रचारित नाथमत मे हठयोग-साधना का महत्त्वपूर्ण स्थान था, जबकि उसका लक्ष्य राजयोग था। एक अन्य शब्द मुद्रा है। वज्रयानियो मे 'मुद्रा' शब्द किस अर्थ मे ग्रहीत था, यह राहुलजी ने नही बताया। तात्रिको मे देवार्पण के लिए निर्मित पक्वान्न, उँगलियो से बनाये गये विभिन्न प्रकार के आकार, शरीर के हाथ-पैर आदि की विभिन्न स्थितियो, बधो, इनसे युक्त श्वास-नियत्रणादि की क्रियाओ को मुद्रा कहा गया है। राहुल जी द्वारा विवेचित वज्रयान मे इनमे से कौन सा अर्थ गृहीत है? तात्रिक बौद्ध-ग्रन्थो के अध्ययन से 'उँगलियो के आकार' तथा 'साधिका' शक्ति या विद्या का अर्थ ग्राह्य मालूम पडता है। इनमे से कोई भी नाथयोगियो को ग्राह्य नही है। नाथपथियो मे मुद्रा शब्द कान मे पहने जानेवाले एक प्रकार के कुण्डल के अर्थ मे व्यवहृत होता है। यह कुण्डल दीक्षा देते समय पहनाया जाता है। हठयोगी क्रिया के अर्थ मे भी यह ग्राह्य है। इसमे स्पष्ट है कि साधना की दृष्टि से भी नाथ लोग बौद्ध नही थे। उनमे जो अन्य तत्त्व दूसरे विद्वानो के अनुसार पाये जाते हैं, उनकी ओर राहुल जी ने कोई सकेत नही किया। मत्र तत्त्व तो सामान्य तात्रिक साधना का तत्त्व है।

इसी प्रकार और भी भेदक बाते हैं। नाथो का चमत्कार, सिद्धि, गूढता आदि पर विशेष आग्रह उन्हे अन्य सहजिया सप्रदायो से अलग कर देता है। ये सहजिया सप्रदाय हैं—बौद्ध सहजिया, वैष्णव सहजिया, बाउल आदि। इन सहजिया सप्रदायो मे गूढ क्रियाओ, जादूगरी, चमत्कारप्रदर्शन, कठोर कष्टमय साधन, बाह्य प्रदर्शन आदि के प्रति तीव्र विरोधभाव था। किन्तु नाथमत की उपर्युक्त विशेषताएँ केवल बाह्य हैं, आन्तरिक नही। यद्यपि बौद्ध सहजिया लोगो ने नाथ सिद्धो के समान ही कायसाधन को स्वीकार किया था तथापि उनका लक्ष्य था—आत्म और अनात्म का पूर्ण सुखात्मक ज्ञान। इससे भिन्न नाथ सिद्धो की साधना का लक्ष्य था अमरत्वप्राप्ति तथा उसमे महेश्वरत्व की प्राप्ति। इस प्रकार नाथो का लक्ष्य अमरता तथा उससे प्राप्त शिवत्व है और बौद्ध सहजिया लोगो का लक्ष्य था महासुख। नाथ सिद्ध जन्म और मृत्यु की सत्यता मे विश्वास करते थे तथा परिवर्तनशील भौतिक शरीर को सूक्ष्म वायव्य शरीर मे द्रव्यान्तरित कर तथा उसे भी पुनः दिव्य देह मे रूपातरित कर उस जन्म-मृत्यु-चक्र का निवारण करते थे। किन्तु बौद्ध सहजिया लोग अपनी बौद्ध परम्परा के विचारवाद (प्रत्ययवाद) के अनुसार जन्म-मृत्यु-चक्र को आत्म-अनात्म के शून्यज्ञान का साक्षात्कार कर निवारित करना चाहते थे। इस शून्यज्ञान को केवल महासुख से साध्य माना गया। नाथो मे जरामृत्युशील इस भौतिक शरीर के द्रव्यातर की यौगिक प्रक्रिया का आग्रह विशेष है। किन्तु बौद्ध सहजिया लोगो मे उस यौनयौगिक साधना का आग्रह विशेष है जिससे सामान्य यौन सुख उच्चतर और गभीरतर आनन्द मे परिणत हो जाता है। निश्चय ही, नाथो का कायासाधन, बौद्ध सहजिया लोगो मे मिलता है तथा दोहो और चर्यापदो मे अमृतक्षरण तथा उसके पान के सन्दर्भ भी मिलते हैं तथा इस पान से स्कन्धो की दृढता तथा अजरामरता की प्राप्ति भी स्वीकार की गई है, किन्तु पद्धति मे पर्याप्त भेद है।[१]

इन भेदो के कारण ही नाथ सिद्धो ने साधना मे किसी भी प्रकार के नारी-सपर्क का विरोध

---

[१] **आब्सक्योर रेलिजस कल्ट्स—डॉ० शशिभूषण दास गुप्त, पृष्ठ २४८-२४६, २६२-२६३, २८४-२८५।**

किया है और उसे बाघिन आदि शब्दों से सबोधित किया है। इसके विरुद्ध बौद्ध सहजिया लोगों ने स्पष्ट रूप से, सभी प्रकार से, नारी को प्रज्ञा या शून्यता का अवतार घोषित कर साधना के क्षेत्र मे उसे सर्वथा ग्राह्य माना और साथ ही बिना उसके अपने प्राप्य महासुखात्मक शून्यज्ञान को असभव माना। बिना उसके आध्यात्मिक जीवन मे सिद्धि असम्भव है। निश्चय ही, यह ध्यान रखने योग्य है कि प्रज्ञा या योगिनी या मुद्रा बौद्ध सहजिया लोगो मे सदैव भौतिक शरीर की नारी के अर्थ मे गृहीत नही रही है। वह नैरात्मा, शून्यता या सहजसुन्दरी भी है। यह भी स्पष्ट है कि बौद्ध सहजयानियों का महासुख शुद्ध शारीरिक अनुभव नही है, उसमे एक मनोवैज्ञानिक तत्व भी सन्निहित है। नाथ-साधना मे यह दृष्टिकोण (कामावेग और कामानन्द) अभाव के कारण पूर्णतया स्पष्ट है।[१] ऐसी स्थिति मे कुछ लोग वज्रोली, सहजोली, अमरोली आदि साधन-क्रियाओ की ओर सकेत करते हैं कि नाथ-साधना मे ये तत्त्व बौद्ध-साधना के अवशिष्ट चिह्न हैं। इन साधनाओ मे नारी-सपर्क अनिवार्य है। किन्तु ये सब शुद्ध रूप मे यौगिक क्रियाएँ ही हैं। इनमे नारी को दार्शनिक अर्थ नही दिया गया है और न उसे विचारात्मक तत्त्व ही माना गया है। ये साधनाएँ यह सिद्ध करने के स्थान पर कि नाथ लोग पहले बौद्धसिद्ध थे बाद मे शैव हो गए, अपेक्षाकृत यह सरलता से सकेत करती है कि समकालीन साधना होने के कारण किसी प्रकार ये साधनाएं नाथ-साधन मे प्रवेश कर गई हैं। इस प्रकार इन्हें प्रक्षिप्त भी कहा जा सकता है। यदि पारमार्थिक अर्थ मे लिया जाय तो कोई बाधा भी नही है और न नाथमत की मूल प्रकृति के विपरीत ही प्रतीत होता है। सिद्ध-सिद्धान्तसग्रह मे कहा गया है कि वज्रोली के केवल ज्ञानमात्र से सिद्धमार्ग प्रकाशित होता है।[२] अर्थात् यह साधना पारमार्थिक रूप मे ग्राह्य थी। स्त्रीनिस्सगता को नाथसाधना का वैशिष्टच स्वीकार करते हुए भी यह अनुमान किया जा सकता है कि ये साधनाएँ यदि बाद मे प्रक्षिप्त हुई तो भी ये केवल गृहस्थ नाथयोगियो द्वारा साध्य रही होगी। ऐसा स्वीकार कर लेने पर नाथमत के साधन-ग्रन्थों मे उनकी उपस्थिति से विचिकित्सा करने की कोई आवश्यकता न होगी। इस विवेचन से यही स्पष्ट होता है कि नाथ और बौद्ध दोनो साधनो मे तात्त्विक तत्त्व मिलते हैं, फिर भी भेद यह है कि दोनो ने अपने मत की मूल प्रकृति के अनुसार ही इन तत्त्वो को ग्रहण किया है।

इस साधनात्मक भेद का मूल उनके दर्शनो मे भी दिखाई पडता है। विद्वानो ने साख्य मत की पुरुष-प्रकृति की विचारधारा, बौद्धो की उपाय-प्रज्ञा की विचारधारा तथा शैवो और शाक्तो की शिव-शक्ति की विचारधारा मे स्पष्ट अन्तर कर लिया है। शैवो ने और नाथयोगियो ने भी, साख्य मत के २५ तत्त्वो को भी स्वीकार कर लिया है, किन्तु उनकी व्याख्या अपने ढग से की है। यह तत्त्व-ज्ञान बौद्धो मे नही मिलता। बौद्ध सहजिया लोगो की दार्शनिक परम्परा मे प्रज्ञा शून्यता नारी-शक्ति-निष्क्रियता आदि विशेषणो से व्यक्त की गई है। उनके यहाँ नरतत्त्व उपाय सक्रिय है। दूसरे प्रज्ञा निर्वाणतत्त्व और पारमार्थिक सत्य का प्रतिनिधित्व करती है तथा उपाय ससार तत्त्व, सावृतिक और सासारिक तत्व का प्रतिनिधित्व करता है। नाथो मे शैव-परम्परा के अनुकूल शिव निष्क्रियता स्थिरता, अचचलता, अमरता और परमार्थ के प्रतीक हैं तथा शक्ति सक्रियता, चचलता, परिवर्तन, ससार आदि का प्रतीक है। ऐसी अवस्था मे नाथयोगियो ने अपनी प्रकृति के अनुकूल अमरता,

---

१ आ० रे० क०—पृष्ठ २८६-२८७।

२ नाथ-संप्रदाय—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ७१-७२, १२५-१२६।

विराग आदि के प्रतीक को ग्रहण किया तथा शक्ति को बलात् आक्रांत कर अपनी साधना के अनुकूल नियंत्रित करना उचित माना। यह भेद नाथ सिद्धों और बौद्ध सिद्धों में महान् अन्तर उपस्थित करता है।

कौलज्ञान-निर्णय आदि रचनाओं के आधार पर तो यह निष्कर्ष निकलता ही है कि मत्स्येन्द्र बौद्ध नहीं थे और न उनका योगिनीकौल मत ही बौद्ध था। साथ ही नाथयोगियों की यदि मत्स्येन्द्रेतर रचनाओं की मीमांसा कर साधनपद्धति और दर्शन को उपस्थित किया जाय तो यह सप्रमाण सिद्ध हो जाएगा कि नाथमत न तो बौद्ध सिद्धों से प्रवर्तित है और न उसके मूल सिद्धान्त ही बौद्ध हैं। इस प्रकार नाथ सिद्ध और बौद्ध सिद्ध भिन्न-भिन्न हैं तथा उनके द्वारा प्रवर्तित, प्रचारित सम्प्रदाय और धर्ममत समकालीन भिन्न-भिन्न धर्ममत हैं। जो समानताएँ मिलती हैं, वे भारतीय तांत्रिक धर्म साधना की विशेषताएँ हैं जो एक साथ ही जैनों, बौद्धों, शैवों, शाक्तों, वैष्णवों—सबमें मिलती हैं। मत्स्येन्द्र और गोरक्ष के प्रचारित मतों में जो अन्तर है, उसका भी यदि भलीभाँति विचार किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि गोरक्ष मत्स्येन्द्र की शुद्ध नाथयोगी-साधना के शिष्य थे। मत्स्येन्द्र की योगिनीकौल-साधना अधिकांशतः शाक्त और वीराचारी प्रतीत होती है तथा वह बाद में मत्स्येन्द्र द्वारा प्रचारित की गई थी। शाक्तों और तांत्रिकों की वीराचारी साधना से प्रभावित होने के कारण उसमें प्रायः वैसी कुछ विशेषताएँ प्रकट हुई हैं जैसी बौद्ध सिद्धों की विभिन्न रचनाओं में मिलती हैं। इस साम्य के कारण ही बौद्धों में मत्स्येन्द्र का सम्मान उपयुक्त प्रतीत होता है, साथ ही यही लोगों में भ्रम भी उत्पन्न करता है।[८] इस प्रकार सम्प्रदाय, साधना और दर्शन की आधारभूत प्रवृत्तियों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाथ सिद्धों की परम्परा बौद्ध सिद्धों से मूलतः भिन्न है।

---

[८] विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य—तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य—पृष्ठ २२७-२३१।

हिन्दी-साहित्य : उद्भव-काल और विस्तार-क्षेत्र

डॉ० शम्भुनाथ सिंह

हिन्दी-भाषा का उद्भव काल भाषाविदों के साक्ष्य के आधार पर अधिकतर विद्वानों द्वारा १००० ई० के आस-पास माना जाता रहा है। पर इस मान्यता का खण्डन करके हिन्दी-भाषा का विकास-काल ५०० ई० से ७०० ई० तक के काल को माना गया है और यह सिद्ध किया गया है कि ७०० ई० के बाद पूर्ववर्ती भाषा में ऐसा गुणात्मक परिवर्तन हो गया कि उसने नवीन भाषा का रूप धारण कर लिया। इस गुणात्मक परिवर्तन का साक्षी वह साहित्य है जो सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक तत्कालीन मध्यदेशीया बोलियों अर्थात् हिन्दी की उपभाषाओं में लिखा गया था। इस मान्यता के आधार पर हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों द्वारा निर्धारित हिन्दी-साहित्य के उद्भव-काल के औचित्य पर विचार कर लेना आवश्यक है।

हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भ-काल के सम्बन्ध में विद्वानों और साहित्य के इतिहासकारों में मतभेद है। उनके दो वर्ग हैं। एक वर्ग हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ-काल सातवीं-आठवीं शताब्दी मानता है, तो दूसरा वर्ग ग्यारहवीं शताब्दी। पहले वर्ग में ग्रियर्सन, मिश्रबन्धु, राहुल सांकृत्यायन, काशीप्रसाद जायसवाल और डॉ० रामकुमार वर्मा हैं और दूसरे वर्ग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० श्यामसुन्दरदास, सूर्यकान्त शास्त्री, हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि। दोनों वर्गों में हिन्दी-साहित्य के आरम्भ-काल के सम्बन्ध में जो मतभेद है उसका आधार हिन्दी-भाषा के उद्भव-काल से सम्बन्धित मतभेद है। जो लोग हिन्दी और अपभ्रंश में भेद नहीं मानते, बल्कि दोनों को एक ही भाषा मानते हैं, वे हिन्दी-भाषा का प्रारम्भ काल ५०० ई० और हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ-काल ७वीं-८वीं शती मानते हैं। जो अपभ्रंश को हिन्दी से भिन्न भाषा मानते हैं, वे भयंकर मतिभ्रम के शिकार हो गये हैं। ऐसे विद्वान् और साहित्य के इतिहासकार यह मानते आये हैं कि हिन्दी-भाषा का अपभ्रंश भाषा से १००० ई० के आसपास उद्भव हुआ। साथ ही इस वर्ग के लोगों ने हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ-काल भी १००० ई० के आसपास ही माना है। यह परस्पर विरोधी बातें हैं, क्योंकि किसी भाषा के उद्भव के कुछ सौ वर्षों के बाद ही उसमें साहित्य की रचना हो सकती है। प्रारम्भ में परम्परा-क्रम से साहित्यकार पूर्ववर्ती भाषा में ही साहित्य-रचना किया करते हैं। इसलिए यदि हिन्दी भाषा का उद्भव १००० ई० के आसपास माना जाय तो उसके साहित्य के इतिहास का आदिकाल १३वीं-१४वीं शताब्दी से मानना होगा। इस अन्तर्विरोध के कारण हिन्दी-साहित्य के उपर्युक्त द्वितीय वर्गवाले इतिहासकारों ने एक ओर तो अपभ्रंश भाषा को एक स्वतन्त्र भाषा माना है, उसे हिन्दी-भाषा की जननी कहा है और दूसरी ओर अपने इतिहास-ग्रन्थों में, संक्षेप में ही सही, अपभ्रंश साहित्य का इतिहास भी लिखा है। इस सम्बन्ध में उन्होंने अजीब-अजीब तर्क दिये हैं।

सर्वप्रथम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत विचारणीय है। वे अपभ्रंश को प्राकृत की अन्तिम अवस्था मानकर उसे 'प्राकृताभास हिन्दी' नाम देते हैं। इस तरह शुक्ल जी के मत से अपभ्रंश भाषा प्राकृत भी है और हिन्दी भी है। यह प्रत्यक्षतः अन्तर्विरोधमूलक कथन है। प्राकृत और हिन्दी भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भारतीय आर्यभाषा के विकासेतिहास की दो भिन्न अवस्थाओं

की भिन्न-भिन्न भाषाएँ हैं। अतः अपभ्रंश या तो प्राकृत ही हो सकती है या हिन्दी ही, उसे एक साथ दोनों नहीं माना जा सकता। किन्तु शुक्लजी की बात इस अर्थ में सही है कि अपभ्रंश का परिनिष्ठित रूप वस्तुतः परवर्ती प्राकृत ही है। किन्तु उस समय की बोलचाल की भाषाएँ प्राकृत नहीं, आधुनिक आर्य भाषाएँ थीं। इन्हीं प्रारम्भिक आधुनिक आर्यभाषाओं को शुक्ल जी ने प्राकृताभास हिन्दी और गुलेरीजी ने पुरानी हिन्दी कहा है। शुक्ल जी ने लिखा है, "प्राकृत से बिगड़कर जो रूप बोलचाल की भाषा ने ग्रहण किया वह भी आगे चलकर कुछ पुराना पड़ गया है और काव्य-रचना के लिए रूढ़ हो गया। अपभ्रंश नाम उसी समय से चला। जब तक भाषा बोलचाल में थी, तब तक वह भाषा या देशभाषा ही कहलाती रही, पर जब वह साहित्य की भाषा हो गयी तब उसके लिए अपभ्रंश शब्द का व्यवहार होने लगा। (हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृष्ठ १०)। शुक्लजी के इतिहास लिखने के समय तक स्वयंभू के 'पउमचरिउ', पुष्पदन्त के महापुराण, जसहर चरिउ और णायकुमार चरिउ, मुनिकनकामर के करकण्डु-चरिउ, आदि परिनिष्ठित अपभ्रंश के काव्य-ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आये थे। अथवा उन्होंने जान-बूझकर इन ग्रन्थों की भाषा को साहित्यिक प्राकृत के अधिक निकट देखकर अपने इतिहास में अपभ्रंश काव्य के अन्तर्गत उनके सम्बन्ध में विचार नहीं किया है। फिर भी उन्होंने लिखा है कि "अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी में रचना होने का पता हमें विक्रम की ७वीं शताब्दी में मिलता है। उस काल की रचना के नमूने बौद्धों की वज्रयान शाखा की कृतियों के बीच मिले हैं।" (हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृष्ठ १०)। शुक्लजी ने इन सिद्ध कवियों तथा कई जैन कवियों, गोरखनाथ और प्राकृत पैंगलम् में सकलित कवियों के काव्यों के सम्बन्ध में विचार किया है। इन सभी काव्यों की भाषा पुरानी हिन्दी है, परिनिष्ठित अपभ्रंश नहीं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि शुक्लजी अपभ्रंश की उन्हीं रचनाओं को हिन्दी के अन्तर्गत मानते थे जिनकी भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश से भिन्न और तत्कालीन लोकभाषाओं के निकट थी। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि यदि शुक्ल जी इन रचनाओं को पुरानी हिन्दी का काव्य मानते थे तो उन्होंने हिन्दी-साहित्य के इतिहास का प्रारम्भ सातवीं शताब्दी से क्यों नहीं माना? संभवतः इसका कारण यह था कि पूर्ववर्ती भाषाविदों ने हिन्दी-भाषा के इतिहास के प्रारम्भ-काल के सम्बन्ध में जो मत प्रवर्तित कर दिया था उसकी परम्परा को शुक्लजी भी नहीं तोड़ सके। यद्यपि शुक्लजी के पूर्व ही चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में सकलित दोहों को पुरानी हिन्दी का काव्य माना था और राहुल सांकृत्यायन ने वज्रयानी सिद्धों की कविता को हिन्दी काव्य मानकर उन पर प्रकाश डाला था, पर शुक्ल जी ने अपने इतिहास में उपर्युक्त दोनों विद्वानों की खोजों से लाभ उठाते हुए भी हिन्दी-साहित्य के इतिहास का प्रारम्भ-काल ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध ही माना, सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध या आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध नहीं। यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका शुक्लजी के इतिहास में कोई उत्तर नहीं मिलता।

इस दिशा में सर्वप्रथम क्रान्तिकारी कदम डॉ० रामकुमार वर्मा ने उठाया। उन्होंने अपने इतिहास में हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ ७०० ई० के आसपास माना और संवत् ७५० से १२०० तक की अवधि को हिन्दी-साहित्य का आदिकाल मानकर उसका नामकरण 'सन्धिकाल' किया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है, "अपभ्रंश जब अपनी साहित्यिक शैली में रूढ़ होने जा रही थी तब उसमें जनता की मनोवृत्ति से नवीन प्रयोग हुए जो सिद्धों और जैन-कवियों की रचनाओं में पाये जाते हैं। अर्धमागधी और नागर अपभ्रंश से निकलनेवाली सिद्ध और जैन कवियों की भाषा हिन्दी का प्रारम्भिक

रूप की छाप लिये हुए है। इस प्रकार इसे हिन्दी-साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत स्थान मिलना चाहिए।" (हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ ६८)। इस वक्तव्य में उन्होंने यद्यपि पूर्ववर्ती भाषाविदों की यह भ्रमपूर्ण धारणा यथावत् स्वीकार कर ली है कि हिन्दी की विभिन्न बोलियों की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न अपभ्रंशों से हुई है, फिर भी उनका यह कथन बिलकुल सत्य है कि अपभ्रंश के नाम पर प्रचलित अनेक रचनाएँ वस्तुतः प्राचीन हिन्दी की रचनाएँ हैं, इसलिए हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उनकी भी विवेचना होनी चाहिए।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रामचन्द्र शुक्ल की तरह ही अपने इतिहास-ग्रन्थ 'हिन्दी-साहित्य' में अपभ्रंश को हिन्दी से भिन्न भाषा मानते हुए भी अपभ्रंश काव्यों का विस्तार से विवेचन किया है। इसके लिए उन्होंने यह तर्क दिया है कि 'व्यवहार में पंजाब से लेकर बिहार तक बोली जाने वाली सभी उन भाषाओं को हिन्दी कहते हैं। इसका मुख्य कारण इस विस्तृत भू-भाग के निवासियों की साहित्यिक-भाषा की केन्द्राभिमुखी प्रवृत्ति है। गुलेरी जी इस व्यावहारिक अर्थ पर जोर देते हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है, कि "यदि यह भाषा (साहित्यिक अपभ्रंश) हिन्दी नहीं है, तो ब्रजभाषा भी हिन्दी नहीं है और तुलसीदास की उक्तियाँ भी हिन्दी नहीं है। जहाँ तक नाम का प्रश्न है, गुलेरी जी का सुझाव पण्डितों को मान्य नहीं हुआ है। अपभ्रंश को अब कोई भी पुरानी हिन्दी नहीं कहता। परन्तु जहाँ तक परम्परा का प्रश्न है, निःसन्देह हिन्दी का परवर्ती साहित्य अपभ्रंश-साहित्य से क्रमशः विकसित हुआ है।" (हिन्दी-साहित्य, पृष्ठ, १६-१७)।

यह एक विचित्र तर्क है। एक ओर तो द्विवेदी जी ने हिन्दी को अपभ्रंश से निकली हुई, उससे भिन्न भाषा माना है, दूसरी ओर परम्परा के नाम पर अपभ्रंश-साहित्य को हिन्दी-साहित्य के इतिहास में स्थान भी दिया है। यदि अपभ्रंश-साहित्य की परम्परा को हिन्दी-साहित्य में अपना लिये जाने के कारण ही अपभ्रंश-साहित्य को हिन्दी-साहित्य के इतिहास में ग्राह्य माना जायगा तो इसी तर्क के अनुसार संस्कृत और प्राकृत का साहित्य भी हिन्दी-साहित्य के इतिहास में विवेच्य सिद्ध होगा, क्योंकि हिन्दी और प्राकृत की परम्परा भी प्राचीन हिन्दी-साहित्य में बहुत अधिक अपनायी गयी है। यही नहीं, आधुनिक काल में तो पाश्चात्य साहित्यिक परम्पराएँ भी हिन्दी-साहित्य में बहुत दूर तक स्वीकार की गयी हैं। क्या इसी कारण से हिन्दी-साहित्य के इतिहास में पाश्चात्य साहित्य की भी परिगणना होगी? द्विवेदी जी ने उसी पुस्तक में तथा 'हिन्दी साहित्य के आदिकाल नामक' ग्रन्थ में यह भी कहा है कि 'हिन्दी-भाषा साहित्यिक अपभ्रंश से सीधे विकसित नहीं हुई, बल्कि उस ग्राम्यभाषा से विकसित हुई है जिसे हेमचन्द्र ने ग्राम्यापभ्रंश कहा है—"यह भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई (एडवान्स्ड) बतायी जाती है। इसी में बौद्धों के पद और दोहे, प्राकृत पैंगलम् के उदाहृत अधिकांश पद्य, 'सन्देश रासक' आदि रचनाएँ लिखी गयी हैं। वस्तुतः यही भाषा आगे चलकर आधुनिक देशी भाषाओं के रूप में विकसित हुई है।" (वही—पृष्ठ १७)। यह कथन स्पष्ट ही द्विवेदी जी के पूर्ववर्ती कथन का विरोधी है। इस कथन में वे स्वीकार करते हैं कि साहित्यिक अपभ्रंश के साथ-साथ पाँचवीं से दसवीं शताब्दी तक के बीच कुछ देशी भाषाएँ भी प्रचलित थीं जो अपभ्रंश से (जो मेरे विचार से प्राकृत ही थी) आगे बढ़ी हुई भाषाएँ थीं और उन्हीं से हिन्दी तथा अन्य भाषाओं का विकास हुआ है। वस्तुतः द्विवेदी जी की अन्तिम बात ही सत्य है। ऐसी स्थिति में उन्हें अपने इतिहास में अपभ्रंश काव्य मानी जानेवाली ऐसी ही रचनाओं की परिगणना करना उचित था जो परिनिष्ठित अपभ्रंश की नहीं, तत्कालीन ग्राम्यभाषाओं की रचनाएँ थीं और जिन्हें हम केवल

परम्परा की दृष्टि से नही, बल्कि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी हिन्दी-भाषा का काव्य मान सकते है। ऐसे काव्यो मे से कुछ का उल्लेख द्विवेदी जी ने किया भी है।

इस तरह रामचन्द्र शुक्ल से लेकर हजारी प्रसाद द्विवेदी तक, प्राय सभी इतिहासकारो ने अपभ्रश साहित्य का विचार अपने इतिहास-ग्रन्थो मे किया है, किन्तु उनमे से कुछ ने यह मानकर ऐसा किया है कि यद्यपि अपभ्रश हिन्दी से भिन्न भाषा है, पर परम्परा से उसके काव्य को भाषा-काव्य अर्थात् हिन्दी का काव्य माना जाता रहा है। दूसरी ओर गुलेरी जी, राहुल साकृत्यायन और रामकुमार वर्मा अपभ्रश भाषा को हिन्दी का प्राचीन रूप मानकर ही उसे हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे परिगणना के योग्य मानते है। वस्तुत ये दोनो ही विचार भ्रामक है। 'अपभ्रश' एक भ्रामक शब्द है, क्योकि उससे एक ओर तो ऐसी भाषा का बोध होता है जो परवर्ती प्राकृत थी, दूसरी ओर ऐसी भाषाओ का जो पूर्ववर्ती आधुनिक आर्यभाषाएँ अथवा तत्कालीन लोकप्राकृते थी। अत हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे पहले प्रकार की रचनाएँ तो उसी प्रकार परिगणनीय नही है जिस प्रकार प्राकृत और सस्कृत की। किन्तु दूसरे प्रकार की तथाकथित अपभ्रश रचनाए वस्तुत प्राचीन हिन्दी-भाषा की रचनाएँ है और न्यायत उनको हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे सम्मिलित करना चाहिए। हिन्दी-साहित्य के किसी भी इतिहासकार ने इस तथ्य की ओर ध्यान नही दिया है। वे इस तथाकथित अपभ्रश भाषा के समस्त साहित्य का हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे विवेचन करते है। भले ही उनमे से कुछ इस विश्वास के साथ ऐसा करते है कि समस्त अपभ्रश-साहित्य हिन्दी का ही साहित्य है और कुछ परम्परा के नाम पर ऐसा करते है।

एक बार यह मान लेने पर कि तथाकथित अपभ्रश भाषा के साहित्य का एक भाग ऐसा भी है जो प्राचीन हिन्दी का साहित्य है, यह आवश्यक हो जाता है कि हिन्दी के क्षेत्र का निर्णय कर लिया जाय ताकि हिन्दी की विभिन्न उपभाषाओ या बोलियो के प्राचीनतम साहित्य को तथाकथित अपभ्रश साहित्य से छाँट कर अलग किया जा सके। पहले कहा जा चुका है कि हिन्दी की समस्त बोलियो का उद्भव सीधे शौरसेनी प्राकृत से हुआ है। हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारो के सामने एक बहुत बडा धर्मसकट यह रहा है कि भाषाविदो के मतानुसार वे एक ओर तो शौरसेनी अपभ्रश से निकली हुई खडी बोली ब्रजभाषा और बुन्देलखण्डी को पश्चिमी हिन्दी तथा अर्धमागधी प्राकृत से निकली हुई एक कल्पित अर्धमागधी, अपभ्रश से उद्भूत अवधी, कन्नौजी, बघेली आदि को पूर्वी हिन्दी मानते है। दूसरी ओर अपने इतिहास-ग्रन्थो मे परम्परागत व्यवहार के आधार पर राजस्थान से लेकर पूर्वी और दक्षिणी बिहार तथा हिमालय प्रदेश से लेकर मेवाड-निमाड और छत्तीसगढ तक की बोलियो के प्राचीन साहित्य को हिन्दी साहित्य के इतिहास मे सम्मिलित करते है। इस अन्तर्विरोधमूलक मान्यता का उनके पास कोई सतोषजनक समाधान नही है। यदि परम्परा से इस विस्तृत भू-भाग की समस्त भाषाओ का सामूहिक नाम हिन्दी रहा है तो इसका कोई न कोई भाषावैज्ञानिक कारण भी अवश्य होना चाहिए।

पहले विस्तार से यह सिद्ध किया जा चुका है कि हिन्दी की समस्त बोलियो का उद्भव एक ही प्राकृत--शौरसेनी (मध्यदेशीया) प्राकृत--से हुआ है जिसकी मुख्यत दो शाखाएँ थी--पश्चिमी शौरसेनी और पूर्वी शौरसेनी। क्षेत्रीय या बोलचाल की भाषाओ का यह नियम है कि थोडी-थोडी दूरी के बाद उनमे उच्चारण तथा शब्दरूप सम्बन्धी सामान्य भेद होते जाते है। इन सामान्य भेदो के कारण एक ही बोली के अनेक रूप दिखाई पडते है। जैसे आज की भोजपुरी बोली के काशिका-

वल्लिका, मल्लिका और बज्जिका नामक उपभेद दिखाई पडते हैं। इसी आधार पर हम अनुमान कर सकते हैं कि पश्चिमी शौरसेनी प्राकृत के कई उपभेद रहे होगे जैसे हिमाचली, कौरवी, पाञ्चाली, मरुदेशीया, लाटी, आवन्ती, नैषधी आदि। ये नाम ऐतिहासिक भूभागो के नामो पर आधारित हैं। इन समस्त छोटे-छोटे भू-भागो की बोलियाँ एक ही मुख्य बोली—पश्चिमी शौरसेनी प्राकृत—के अन्तर्गत थी। इसी तरह एक पूर्वी शौरसेनी प्राकृत नाम की व्यापक शाखा भी थी जो पश्चिमी शौरसेनी से अधिक भिन्न नही थी। इसी प्राकृत से हिन्दी की समस्त पूर्वी बोलियो—अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, भोजपुरी, मगही और मैथिली—का विकास हुआ। उस पूर्वी शौरसेनी प्राकृत के कई उपभेद रहे होगे जैसे कोसली, कान्यकुब्जी, महाकोसली, काशिका, मल्लिका, बज्जिका, मगधी, अंगिका आदि। इस प्रकार पूर्वी-पजाब, राजस्थान और गुजरात से लेकर पूर्वी और उत्तरी बिहार तक तथा हिमालय से लेकर मध्यप्रदेश के दक्षिणी भाग तक की समस्त बोलियाँ एक ही प्राकृत—मध्यदेशीया प्राकृत—से निकली हुई हैं। इनमे से दशवी शताब्दी तक गुजरात प्रदेश की बोलचाल की भाषा शौरसेनी प्राकृत से निकली अन्य भाषाओ से, भौगोलिक दूरी के कारण पर्याप्त भिन्न हो गयी और इस तरह उसने अपना स्वतन्त्र रूप निर्मित कर लिया, किन्तु शौरसेनी प्राकृत से निकली अन्य उप-भाषाये एक-दूसरे से पूर्णत सपृक्त बनी रही, उन्हें बोलनेवाले परस्पर बात करते समय एक-दूसरे की भाषा अच्छी तरह समझ लेते थे और आज भी समझ लेते हैं। एक मारवाडी मिथिला मे अपनी भाषा से काम चला सकता है, किन्तु बगाल या दक्षिण भारत मे उसे वहाँ की भाषा सीखनी होगी। इससे यह सिद्ध होता है कि समस्त हिन्दी-प्रदेश वैदिक काल से ही निरन्तर एक भाषागत ईकाई रहा है और वैसा ही आज भी है।

ग्रियर्सन का मत

हिन्दी-साहित्य का प्रथम तथाकथित इतिहास जार्ज ग्रियर्सन ने लिखा था, किन्तु उसका नाम हिन्दी-साहित्य का इतिहास नही, "हिन्दुस्तान के आधुनिक देशीभाषा साहित्य का इतिहास" (दी मार्डन वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑव हिन्दुस्तान) था। इसका कारण यह था, कि ग्रियर्सन पजाब और बगाल के बीच के उत्तरी भारत को हिन्दुस्तान कहते थे और उस विस्तृत भूभाग मे प्रचलित विभिन्न बोलियो को एक भाषा—हिन्दी—नही मानते थे, बल्कि उन बोलियो को उन्होने राजस्थानी, पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी और बिहारी, इन चार वर्गों में विभाजित किया था। इन सभी का सामूहिक नाम उन्होने आधुनिक देशी भाषा रखा था। हिन्दी से उनका तात्पर्य केवल वर्तमान खड़ी बोली गद्य की भाषा से था। इस सम्बन्ध मे उन्होने लिखा है, "यह यूरोपीय लोगो को हिन्दी नाम से ज्ञात और उन्ही द्वारा आविष्कृत अद्भुत सकीर्ण भाषा के प्रादुर्भाव का भी युग था। .. नयी भाषा यूरोपीय लोगो के द्वारा हिन्दी कही गयी और सम्पूर्ण भारतवर्ष मे हिन्दुओ की राष्ट्रभाषा के रूप मे स्वीकार कर ली गयी, क्योंकि इसका अभाव था और इसने उसे पूरा कर दिया। यह सम्पूर्ण उत्तरी-भारत में गद्य की सर्व-स्वीकृत भाषा हो गयी, किन्तु यह कही की देशभाषा नही थी, अतः इसका काव्य के क्षेत्र में कही भी सफल प्रयोग नही हो सका है। बडे-बडे प्रतिभासपन्न लोगो ने प्रयोग किया, पर सभी असफल रहे। अतः इस समय उत्तरी हिन्दुस्तान मे साहित्य की निम्नलिखित ढग की विचित्र स्थिति है—इसका पद्य तो सर्वत्र स्थानीय भाषा में, विशेषकर ब्रज, बैसवाडी और बिहारी में है और इसका गद्य प्रायः सर्वत्र एकसी कृत्रिम बोली मे, जो किसी भी देशी भारतीय की मातृ-भाषा नही है" (हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास—अनुवादक डॉ० किशोरी लाल गुप्त, पृष्ठ २२६)।

इस कथन से स्पष्ट है कि ग्रियर्सन की दृष्टि साम्राज्यवादी, साम्प्रदायिक और भारतीय राष्ट्रीयता-विरोधी थी। वे इस बात से तो नही इन्कार कर पाये कि पूर्वी पंजाब से लेकर बिहार तक का देशी भाषाओं का साहित्य एक ही वर्ग का साहित्य है, इसलिए उसका इतिहास भी एक ही होना चाहिए; किन्तु भाषा की दृष्टि से वे उन सबको विभिन्न प्राकृतो से उत्पन्न अलग-अलग भाषाएँ मानते रहे। इसी कारण उन्होंने हिन्दी को आधुनिक युग की एक कृत्रिम-भाषा माना। किन्तु उनकी इस धारणा तथा उनकी भारतीय भाषा-सर्वेक्षण सम्बन्धी मान्यताओ के मूल मे उनकी यह साम्राज्यवादी मनोवृत्ति निहित थी कि भारतीय जनता और उसके सास्कृतिक इतिहास को विभिन्न टुकडो में बाँटकर छिन्न-भिन्न करने का प्रयत्न होना चाहिए।

ग्रियर्सन के बाद के भारतीय भाषाविदों तथा साहित्य के इतिहासकारो ने यद्यपि ग्रियर्सन की भारत-विरोधी नीति को नही अपनाया; किन्तु उनके भाषा-सर्वेक्षण तथा इतिहास सम्बन्धी निष्कर्षों को अविकल रूप मे अपना लिया। हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारो ने ग्रियर्सन की मान्यताओ मे इतना ही संशोधन किया कि उन्होने अपने इतिहास ग्रन्थो का नाम "हिन्दुस्तान की देशी भाषाओ के साहित्य का इतिहास" न रख कर हिन्दी-साहित्य का इतिहास रखा। किन्तु उनमें से अधिकतर इतिहासकारों ने ग्रियर्सन के दो निष्कर्षों को, जो सही निष्कर्ष थे, बिलकुल छोड दिया। उनमे से पहला निष्कर्ष यह था कि देशी भाषाओ के साहित्य का इतिहास ७०० ई० से प्रारम्भ होता है और दूसरा यह कि हिन्दी-भाषा का विकास सीधे प्राकृतो से हुआ है। वे अपभ्रंश को भी प्राकृत ही मानते थे और हिन्दी की वर्तमान उप-भाषाओं के साहित्य को गौडीय साहित्य कहते थे। उन्होने लिखा है, "अब मैं अपने पाठको से प्रार्थना करूँगा कि वे उस लघु अन्तर के ऊपर एक डग और धरें जो पिछली प्राकृत को प्रारम्भिक गौडीय साहित्य से विलग करता है जो कुछ सस्कृत और प्राकृत के सम्बन्ध में कहा जाता है उसके बावजूद उत्तरकालीन सस्कृत और प्राकृत कवितायें कृत्रिम रचनाएँ हैं जो कक्ष में बैठकर विद्वानों के द्वारा विद्वानो के लिए लिखी गयी। किन्तु नव गौड़ीय कवियों ने न छोडनेवाले आलोचको—जनता—के लिए लिखा" (हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास—अनुवादक किशोरीलाल गुप्त—पृष्ठ ४३,४४)। इससे स्पष्ट है कि ग्रियर्सन परिनिष्ठित अपभ्रंश की रचनाओं की भाषा को कृत्रिम साहित्यिक प्राकृत का परवर्ती रूप मानते थे और उनके अनुसार आ० भ० आ० भाषाओं का विकास तत्कालीन बोल-चाल की प्राकृतों से हुआ था। यदि हिन्दी-भाषा और साहित्य के इतिहासकारों ने ग्रियर्सन के इन दोनो निष्कर्षों का समुचित परीक्षण करके उन्हें स्वीकार किया होता तो वे इस भ्रान्ति के शिकार न हुए होते कि हिन्दी-भाषा और साहित्य का उद्भव १००० ई० के आसपास हुआ था। इसी भ्रान्ति के कारण उन्हे १००० ई० के पूर्व की पुरानी हिन्दी की रचनाओ को भी अपभ्रंश या अवहट्ट का काव्य कहना पडता है और परिनिष्ठित अपभ्रंश को साहित्यिक प्राकृत से भिन्न एक नयी भाषा मानकर माथा-पच्ची करनी पडती है तथा यह निराधार कल्पना भी करनी पडती है कि प्रत्येक आ० भा० आ० भाषा तथा हिन्दी की विभिन्न बोलियो का विकास भिन्न-भिन्न अपभ्रंश भाषाओ से हुआ।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने "हिन्दी-भाषा का इतिहास" लिखने के साथ-साथ हिन्दी-साहित्य नामक एक इतिहास-ग्रन्थ का संपादन भी किया है। "हिन्दी-भाषा का इतिहास" नामक ग्रन्थ में उन्होंने राजस्थानी और बिहारी को हिन्दी से भिन्न भाषाएँ माना है, किन्तु व्यवहार की दुहाई देते हुए वे ग्रियर्सन के उपर्युक्त साम्राज्यवादी और राष्ट्रीयता-विरोधी कथन को भी दुहराते हैं—"आजकल

वास्तव मे इसका (हिन्दी शब्द का) व्यवहार उत्तर भारत के मध्य भाग के हिन्दुओ की वर्तमान साहित्यिक भाषा के अर्थ मे मुख्यतया तथा इसी भूमि-भाग की बोलियो और उनसे सम्बन्ध रखने-वाले प्राचीन साहित्यिक रूपो के अर्थ में साधारणतया होता है । इस भूमि-भाग की सीमाएँ पश्चिम में जैसलमीर, उत्तर-पश्चिम मे अम्बाला, उत्तर मे शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश का दक्षिणी भाग, पूरब में भागलपुर, दक्षिण पूरब मे रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खडवा तक पहुँचती हैं । इस भूमिभाग मे हिन्दुओ के आधुनिक साहित्य, पत्र-पत्रिकाओ, शिष्ट बोल-चाल तथा स्कूली शिक्षा की भाषा एक मात्र हिन्दी ही है । साधारणतया 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग जनता में इसी भाषा के अर्थ मे किया जाता है, किन्तु साथ ही इस भूमिभाग की ग्रामीण बोलियो—जैसे मारवाडी, ब्रज, छत्तीसगढी, मैथिली आदि को तथा प्राचीन ब्रज, अवधी आदि साहित्यिक भाषाओ को भी हिन्दी भाषा के ही अन्तर्गत माना जाता है । हिन्दी भाषा का यह प्रचलित अर्थ है ।" (हिन्दी-भाषा का इतिहास पृष्ठ ३५, ३६) । इस उद्धरण से स्पष्ट है कि डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने ग्रियर्सन के उपर्युक्त मत को ही स्वीकार किया है । यदि राजस्थानी और बिहारी भाषाएँ पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी से भिन्न भाषाएँ हे तो खडी बोली हिन्दी उन क्षेत्रो में साहित्य की भाषा कैसे बन गयी ? साथ ही व्यवहार मे राजस्थानी और बिहारी भाषाओ के साहित्य को बहुत पहले से हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत क्यो माना जाता रहा है ? इन प्रश्नो पर ग्रियर्सन, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, उदयनारायण तिवारी आदि ने एकदम विचार नही किया है । सभवत वे जान-बूझ कर इन प्रश्नो का उत्तर देने से कतरा गये हैं ।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने हिन्दी-साहित्य नामक ग्रन्थ के प्रथम खण्ड की प्रस्तावना मे लिखा है, "हिन्दी-भाषा का क्षेत्र वर्तमान राजस्थान से बिहार तथा हिमाचल-प्रदेश और पूर्वी पजाब से मध्य-प्रदेश तक का विस्तृत भू-भाग है । प्राशासनिक आधार पर इसमे पजाब (पूर्वी भाग), हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, राजस्थान, उत्तर-प्रदेश, मध्यप्रदेश और बिहार—आठ अलग-अलग इकाइयाँ हैं, परन्तु भाषा की दृष्टि से यह सम्पूर्ण क्षेत्र एक अविभाज्य इकाई है जिसकी जनसख्या २२ करोड है । भाषा की इस इकाई को यदि हिन्दी-प्रदेश कहा जाय तो अनुचित न होगा ।" वर्मा का यह मत कोई नया नही है । उन्होने बहुत पहले इस समस्त हिन्दीभाषी प्रदेश को एक इकाई मानकर उसे सूबा हिन्द नाम देने की वकालत की थी । इससे यह पता चलता है कि वर्मा जी का व्यक्तित्व दुहरा है । उनका एक व्यक्तित्व तो भाषाविद का है और दूसरा राष्ट्रवादी भारतीय का । भाषाविद के रूप में वे अपने पूर्ववर्ती भाषाविदों का अनुसरण करते हुए केवल खडीबोली, ब्रजभाषा, बुन्देलखण्डी और अवधी को ही हिन्दी भाषा की बोलियाँ मानते हैं । किन्तु राष्ट्रवादी भारतीय के रूप मे वे उस समस्त भू-भाग को हिन्दी-प्रदेश कहते हैं जिसे ग्रियर्सन ने आधुनिक देशी भाषाओ का भूभाग अथवा 'हिन्दुस्तान' कहा था । आश्चर्य की बात यह है कि वर्मा जी जैसे मनीषी व्यक्ति ने भाषा-शास्त्र की दृष्टि से इस द्विधा भाव को मिटाने का प्रयत्न क्यों नही किया ?

प्रसन्नता की बात है कि विद्वानों का ध्यान अब हिन्दी की परम्परा को प्राचीनतर युगों तक ले जाने की ओर जा रहा है । डॉ० हरदेव बाहरी ने तो यहाँ तक कह दिया है कि "एक तरह से यह कहना ठीक होगा कि वैदिक भाषा ही प्राचीनतम हिन्दी है । इस भाषा के इतिहास का यह दुर्भाग्य है कि युग-युग मे इसका नाम परिवर्तित होता रहा है । सन् ई० पूर्व की तमिल और आज की तमिल में नाम-भेद नही किया जाता, भले ही आधुनिक तमिल के पण्डित के लिए प्राचीन

तमिल वैसे ही कठिन और दुर्बोध हो, जैसी हिन्दी जाननेवाले के लिए संस्कृत। समूल परिवर्तन हो जाने पर भी अंग्रेजी अंग्रेजी ही है और जर्मन जर्मन। काल-भेद से हम उनके विभिन्न रूपों को प्राचीन अंग्रेजी, प्राचीन जर्मन, मध्यकालीन अंग्रेजी, मध्यकालीन जर्मन, आधुनिक अंग्रेजी और आधुनिक जर्मन कह देते हैं। किन्तु हिन्दी के अति प्राचीन रूप को वैदिक, प्राचीन रूप को संस्कृत, पूर्व मध्यकालीन को पालि, मध्यकालीन को प्राकृत, उत्तर मध्यकालीन को अपभ्रंश एवं आधुनिक रूप को हिन्दी कहते हैं" (हिन्दी-साहित्य, प्रथम खण्ड—संपादक धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ १३३)। डॉ० बाहरी का उपर्युक्त तर्क अकाट्य है, किन्तु उन्होंने भारतीय आर्य-भाषा की अंग्रेजी और जर्मन भाषा से जो तुलना की है वह हेत्वाभास मात्र है। भारतीय आर्य-भाषा का इतिहास कम से कम ५००० वर्ष का है, किन्तु अंग्रेजी और जर्मन भाषाओं का इतिहास अधिक से अधिक २००० वर्ष पुराना है। उनका यह कथन बिलकुल सही है कि जिस तरह तमिल, अंग्रेजी और जर्मन के प्राचीनतम रूपों का नाम भी तमिल, अंग्रेजी या जर्मन ही है, उसी तरह हिन्दी के प्राचीनतम रूप का नाम भी हिन्दी ही होना चाहिए। किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत तथा मध्यकालीन आर्य-भाषाएँ भी प्राचीन हिन्दी ही है। वस्तुतः जिस तरह यूरोप में यूनानी और लातीणी भाषाएँ आधुनिक यूरोपीय भाषाओं के रूप में बदली उसी तरह प्राचीन भारतीय आर्य भाषा भी ५०० ई० के आसपास आ० भा० आ० भाषाओं के रूप में परिवर्तित हुई। यह परिवर्तन सीधे बोल-चाल की प्राकृतों से हुआ, साहित्यिक प्राकृत, या उसके परवर्ती रूप परिनिष्ठित अपभ्रंश से नहीं। ऐसा मान लेने पर आर्य-भाषा की माध्यमिकावस्था के केवल दो ही रूप मान्य होंगे—पालि और प्राकृत। अपभ्रंश नामक एक और भाषा की कल्पना करके उस माध्यमिकावस्था के काल को १००० ई० तक ले आने की कोई आवश्यकता नहीं है। हमारे इस मत का समर्थन प्राकृत के प्रसिद्ध विद्वान्, डॉ० बनारसीदास जैन के इस कथन से भी होता है, "वस्तुतः अपभ्रंश प्राकृत की अन्तिम दशा का नाम है। अतः हम हिन्दी को प्राकृत की सन्तान कह सकते हैं। प्रारम्भिक काल की हिन्दी-भाषा और साहित्य पर प्राकृत का गहरा प्रभाव है।" (डॉ० बनारसीदास जैन—'प्राकृत साहित्य' शीर्षक निबन्ध—धीरेन्द्र वर्मा और ब्रजेश्वर वर्मा द्वारा सम्पादित—हिन्दी-साहित्य, प्रथम खण्ड—पृष्ठ ३५५)।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पूर्वी पंजाब और राजस्थान से लेकर पूर्वी बिहार तक तथा हिमाचल प्रदेश, उत्तर-प्रदेश के उत्तरी पहाड़ी भाग और नेपाल के दक्षिणी भाग से लेकर मध्यप्रदेश के दक्षिणी छोर तक के उस विस्तृत भू-भाग में प्रचलित समस्त आधुनिक आर्य-परिवारी उपभाषाओं का सामूहिक नाम हिन्दी है जिसकी कोई न कोई उपभाषा वैदिक काल से ही समस्त आर्य-भारत के सांस्कृतिक और राष्ट्रीय उपयोग की भाषा रहती आयी है। इन वर्तमानकालीन उप-भाषाओं का मूल रूप वे प्राकृत बोलियाँ थीं जो एक ही भाषा-वर्ग—मध्यदेशीया प्राकृत—की उपभाषायें थीं और जिनका साहित्यिक रूप, शौरसेनी प्राकृत थी जिसके पाँच अन्य रूपान्तर—महाराष्ट्री, अर्धमागधी, मागधी, पैशाची और ब्राचड—भी थे। इन पाँचों प्राकृतों में से ब्राचड और पैशाची पर सम्भवतः मध्यदेश के बाहर की बोलियों की ध्वनियों का प्रभाव था, अन्यथा वे व्याकरण की दृष्टि से मूलतः शौरसेनी प्राकृत ही थीं। मध्यदेश के उत्तर, पश्चिम, दक्षिण और पूर्व की प्राकृतें भी बोलचाल में प्रयुक्त होती थीं, पर उनका कोई भी साहित्यिक रूप आज उपलब्ध नहीं है। उन्हीं

बहिरंग प्राकृतो से काश्मीरी, पंजाबी, लहदा, सिन्धी, महाराष्ट्री, उड़िया, बंगला और असमिया भाषाओं का उद्भव हुआ। गुजराती भाषा का उद्भव मध्यदेशीया प्राकृत की ही दक्षिणी पश्चिमी बोली से हुआ और मध्यदेश से दूर पड जाने के कारण वह हिन्दी-भाषा-वर्ग से अलग हो गयी। इस तरह समूचे मध्यदेश की सामूहिक भाषा एक ही प्राकृत से उद्भूत होने के कारण एक है और उसका एक नाम है—हिन्दी। इसी कारण हजारो वर्षों से इन सभी बोलियो या उपभाषाओ से जो भी साहित्य लिखा जाता रहा है उसे भाषा, देशी भाषा, हिन्दवी, हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी का साहित्य कहा जाता रहा है। हेमचन्द्राचार्य ने उसे ही ग्राम्यापभ्रंश कहा था, तथा विद्यापति ने 'देसिल बअन', तुलसीदास और केशव ने 'भाषा' कबीर और जायसी ने 'भाखा', खुसरो तथा दक्खिनी हिन्दी के शायरों ने हिन्दवी और अंग्रेजो ने 'हिन्दुस्तानी' कहा था।

हिन्दी-साहित्य का इतिहास—देशगत और कालगत सीमाएँ

अब तक हिन्दी-भाषा के क्षेत्र और काल-विस्तार के सम्बन्ध मे विचार किया गया है और हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि हिन्दी-भाषा की उद्भव-प्रक्रिया मध्यदेशीया (शौरसेनी) प्राकृत की विभिन्न बोलियो से पाँचवी शताब्दी के आस-पास प्रारम्भ हुई। किन्तु उसका स्पष्ट रूप कुछ शताब्दियो बाद निर्मित हुआ, जब कि उसमे थोडा-बहुत साहित्य भी लिखा जाने लगा। आठवी शताब्दी से पुरानी हिन्दी की विविध बोलियो मे कुछ न कुछ साहित्य मिलने लगता है। इस तरह हम हिन्दी-साहित्य के इतिहास का प्रारम्भिक काल ७०० ई० के आसपास मान सकते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा हिन्दी-साहित्य के अन्य इतिहासकारो ने सहजयानी सिद्धो की रचनाओ तथा अनेक जैन-कवियों की देशी भाषा की कविताओ को अपभ्रंश-साहित्य कहकर उन्हे हिन्दी-साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत विवेच्य नही माना, यद्यपि उन्होने हिन्दी-साहित्य की परम्परा की खोज के लिए भूमिका रूप मे उन रचनाओ का विवरण दिया है। किन्तु इसका परिणाम यह हुआ है कि उन्होने हिन्दी-साहित्य के इतिहास का प्रारम्भ १००० ई० के आसपास मान लिया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो पुरानी हिन्दी की उन रचनाओ को प्राकृताभास हिन्दी कहते भी हैं, पर इतना होने पर भी उन्होने हिन्दी-साहित्य के इतिहास का प्रारम्भ उक्त रचनाओ के काल से नही माना है। इसका मूल कारण शुक्ल जी का ही नही, अधिकाश इतिहासकारो का यह भ्रम रहा है कि उपर्युक्त रचनाओ की भाषा हिन्दी से भिन्न अपभ्रंश भाषा है। पहले हम बार-बार यह कह आये हैं कि अपभ्रंश एक भ्रामक शब्द है जो वैयाकरणो द्वारा भिन्न अर्थ मे प्रयुक्त हुआ था, किन्तु आधुनिक भाषाविदो ने उसे एक स्वतन्त्र भाषा मान लिया है। यह कितनी बडी धाधली है कि एक ही भाषा के प्राचीन और अर्वाचीन रूपो को ही भिन्न भाषाएँ मानकर हिन्दी-भाषा और साहित्य के इतिहासकारो ने उस इतिहास के प्रारम्भ- काल को कई सौ वर्ष परवर्ती सिद्ध किया है। इन विद्वानों ने यूरोपीय भाषाओं और उनके साहित्य के इतिहास की ओर दृष्टि डाल कर यह देखने की कोशिश नही की कि वहाँ आधुनिक भाषाओ तथा उनके साहित्य के इतिहास का काल-निर्धारण किस आधार पर करते हैं। इनके साहित्य का प्रारम्भ छठवी-सातवी शताब्दी से ही हो गया था। अंग्रेजी भाषा की स्थिति और भाषाओ से कुछ भिन्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने अंग्रेजी भाषा और साहित्य के इतिहास को ही नमूना मान कर उसी ढंग पर अपने इतिहास-ग्रन्थो की रचना की है। पर वहाँ भी अब नयी मान्यता स्थिर हो चुकी है और अंग्रेजी-साहित्य का आरम्भ सातवी शताब्दी से माना जाने लगा है।

अंग्रेजी भाषा और साहित्य के इतिहास पर एक तुलनात्मक दृष्टि

अग्रेजी भाषा और साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध मे भी इतिहासकारो मे पर्याप्त मतभेद है। हिन्दीवालों की तरह उनके भी दो वर्ग हैं। एक वर्ग अग्रेजी-साहित्य का प्रारम्भ सातवी शताब्दी और अंग्रेजी भाषा का प्रारम्भ उससे भी पहले मानता है और दूसरा वर्ग अग्रेजी साहित्य का प्रारभ ११वी शताब्दी और अग्रेजी भाषा का प्रारम्भ उससे कुछ शताब्दी पूर्व मानता है। इस पहले वर्ग के इतिहास के ढंग पर ही 'मिश्र-बन्धुओ' ने अपने इतिहास 'मिश्रबन्धु-विनोद' मे अग्रेजी साहित्य का उदाहरण देते हुए लिखा है कि यह सयोग की ही बात है कि हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ भी उसी समय (७वी शताब्दी) हुआ, जब कि अग्रेजी साहित्य का। मिश्रबन्धु-विनोद का काल-विभाजन भी अग्रेजी साहित्य के इतिहासकारो के प्रथम वर्ग के काल-विभाजन जैसा ही है। ग्रियर्सन ने भी उसी पद्धति का अनुकरण करके हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ काल ७०० ई० से माना है, किन्तु अग्रेजी-भाषा के सम्बन्ध मे भाषाविदा का यह स्पष्ट मत है कि उसका प्रारम्भ १०वी शताब्दी के आसपास इग्लैण्ड मे नार्मन जाति की विजय के उपरान्त हुआ। वे अग्रेजी की पूर्ववर्ती भाषा को 'ऐंग्लो-सैक्सन भाषा' नाम देते हैं और उसे अग्रेजी से भिन्न भाषा मानते हैं। उनके अनुसार नार्मन विजय के उपरान्त ११वी शताब्दी मे फ्रेंच भाषा ने इग्लैण्ड की तत्कालीन 'ऐंग्लो सैक्सन भाषा' को इतना अधिक प्रभावित किया कि एक नवीन भाषा उत्पन्न हो गयी। इस भाषा मे फ्रेंच, लैटिन और ग्रीक शब्दो का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा, भाषा अश्लिष्ट होने लगी, और उसमे जर्मन शब्द १० प्रतिशत ही रह गये। यही आधुनिक अग्रेजी भाषा का प्रारम्भिक रूप था। प्रथम वर्ग के इतिहासकारो का कथन है कि केवल विदेशी भाषा के शब्दो का आधिक्य हो जाने के कारण ही कोई भाषा अपना मूल रूप नही खो सकती और इस कारण परिवर्तित भाषा को मूल भाषा से भिन्न नही माना जा सकता। इस तरह वे आधुनिक अग्रेजी और उसके पूर्व की ऐंग्लो सैक्सन भाषा को एक ही भाषा मानते हैं, दो भिन्न भाषाएँ नही।

इस सम्बन्ध में अग्रेजी-साहित्य के प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ "ए हिस्ट्री ऑफ इग्लिश लिटरेचर" के दो लेखकों—'एमिली लिगोईस' और 'लुईकजामिया'—में से प्रथम ने अपने इतिहास-ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही लिखा है, कि "अभी हाल तक अग्रेज जाति के लोग चार्ल्स को अग्रेजी काव्य का पिता माना करते थे। वे अपने साहित्य का प्राचीनतम स्रोत १४वी शताब्दी मे खोजते थे, जबकि ब्रिटिश-भूमि पर 'ऐंग्लो-सैक्सन' और 'फ्रेंको नार्मन' साहित्य का सम्मिश्रण हो रहा था। किन्तु आज वे अपने साहित्य का मूल स्रोत और भी पीछे जाकर ७वी शताब्दी मे ढूंढ़ते हैं। यह विचारधारा विकसित हो रही है कि इंग्लैण्ड में नार्मन आक्रमण के पहले भी एक वास्तविक राष्ट्रीय साहित्य सम्यक् रूप से विकसित हो चुका था। प्रारम्भ मे तो वे लोग उस साहित्य को अग्रेजी-साहित्य से अभिन्न मानने का आग्रह नही करते थे और उस पूर्ववर्त्ती भाषा को एक भिन्न भाषा मानकर उसे 'सैक्सन' अथवा 'ऐंग्लो-सैक्सन' नाम देते थे; किन्तु पिछले ६० वर्षों के भीतर 'सैक्सन' और 'ऐंग्लो-सैक्सन' शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में ही मतभेद उत्पन्न हो गया है, और यह कहा जाने लगा है कि एक ही नैरन्तर्य-युक्त भाषा की अखण्ड इकाई को इन शब्दो ने दो खण्डों में विभक्त कर दिया है; इसी कारण आज के अनेक विद्वान उसे सैक्सन या 'ऐंग्लो-सैक्सन' साहित्य न कह कर प्राचीन या प्रारम्भिक अंग्रेजी-साहित्य कहते हैं।" भाषाविदो ने भी इस मत का समर्थन किया है। उन्होने यह सिद्ध कर दिया है कि अग्रेजी भाषा की प्रकृति मूलतः जर्मन भाषा की ही है। इंग्लैण्ड

की प्राचीनतम उपलब्ध पाण्डुलिपियो से भी यही सिद्ध होता है कि पुरानी जर्मन भाषा के व्याकरणिक ढाँचे में फ्रेंच, लैटिन आदि विदेशी शब्दों का उत्तरोत्तर अधिक प्रयोग होने लगा था, किन्तु इस प्रयोग के कारण इस ढाँचे मे जहाँ-तहाँ खिचाव या टूटन भले ही उत्पन्न हो गयी हो, उसका मूल रूप बहुत कुछ पूर्ववत् बना हुआ है। यद्यपि भाषा-वैज्ञानिक यह स्वीकार करते हैं कि अग्रेजी भाषा मे बराबर थोडा-बहुत परिवर्त्तन होता आया है किन्तु वे उन परिवर्त्तनो के बीच एक ही भाषा का अखण्ड रूप वर्तमान पाते हैं। इस तरह अग्रेजी के सम्बन्ध मे अब भाषाविद और साहित्य के इतिहास-कार एकमत हो गये हैं कि ऐंग्लो-सैक्सन और अग्रेजी भाषाओ तथा उनके साहित्य मे कोई भिन्नता नही है।

किन्तु उपर्युक्त मान्यता राष्ट्रीयतावादी अग्रेज भाषाविदो और इतिहासकारों की ही है। अग्रेजी-साहित्य के जिस इतिहास का उल्लेख पहले किया गया है उसके दोनों लेखक फ्रासीसी हैं और उनकी मूल पुस्तक फ्रेंच भाषा मे ही थी जिसका अग्रेजी मे अनुवाद किया गया है। उन दोनो मे से प्रथम 'एमिली लिगोई' ने इतिहास के पहले भाग के प्रथम अध्याय मे उपर्युक्त मान्यता का विरोध करते हुए लिखा है कि यह मान्यता ऐतिहासिक तथ्यो पर आधारित नही है और इसके मूल मे राजनीतिक कारण वर्तमान हैं। उसके मतानुसार जर्मनी की बढती हुई शक्ति को देखकर अग्रेज-लेखको ने अग्रेजी भाषा को जर्मन भाषा से निकट सिद्ध करने के लिए जर्मन भाषा से प्रभावित 'ऐंग्लो-सैक्सन' भाषा को प्राचीन अग्रेजी भाषा कहा है और उसी तरह जर्मन-लेखको ने अग्रेजी भाषा मे 'शेक्सपियर' और 'मिल्टन' की महत्ता को देखकर उससे अपनी भाषा की निकटता स्थापित करने के लिए 'ऐंग्लो-सैक्सन' भाषा को अग्रेजी भाषा के अन्तर्गत माना था। इस तरह १९वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के बाद जर्मन और अग्रेज-भाषाविदो ने 'ऐंग्लो-सैक्सन' शब्द के औचित्य मे सन्देह प्रगट करना शुरू किया और ग्रेट-ब्रिटेन में प्रथम जर्मन आक्रमण के बाद से अब तक बोली जानेवाली भाषा की विकासमान धारा को एक भाषा——अग्रेजी——और उसके समस्त साहित्य को अग्रेजी-साहित्य माना। 'एमीली लिगोई' के इस कथन का उद्देश्य स्पष्ट है कि उसने भाषा को वैज्ञानिक दृष्टि से नही, बल्कि राज-नीतिक दृष्टि से ऐंग्लो-सैक्सन और अग्रेजी को दो भिन्न भाषा में मानने का आग्रह किया है। फ्रासीसी होने के कारण उसके मन में जर्मनप्रभावित ऐंग्लो-सैक्सन भाषा के लिए विरोध की भावना और जर्मन-विजय के उपरान्त फ्रेंच भाषा से प्रभावित आधुनिक अग्रेजी भाषा के प्रति पक्षपात की भावना है। इसीलिए यह ऐंग्लो-सैक्सन को अग्रेजी से अलग रखना चाहता है।

इतना होने पर भी उक्त इतिहास में ऐंग्लो-सैक्सन साहित्य का विस्तार से विवेचन किया गया है। 'एमिली लिगोई' ने अग्रेजी-साहित्य-इतिहास का उद्भव-काल ६५० ई० से १३५० ई० माना है और उसके अन्तर्गत ६५० ई० से १०६६ ई० तक के काल को ऐंग्लो-सैक्सन साहित्य का काल कहा है। क्या यह आश्चर्य की बात नही है कि हिन्दी-साहित्य के अधिकांश इतिहासकारो ने भी ठीक यही रास्ता अपनाया है? वे भी हिन्दी और अपभ्रंश को दो भिन्न भाषाएँ मानते हैं और फिर भी अपभ्रंश साहित्य के इतिहास को हिन्दी-साहित्य के इतिहास में सम्मिलित करते हैं। किन्तु यदि उन्हें अग्रेजी साहित्य के उपर्युक्त इतिहास का अनुकरण ही करना था तो इस तथ्य का भी अनुकरण करना चाहिए था कि जिस तरह 'एमीली लिगोई' ने ऐंग्लो-सैक्सन भाषा के इतिहास को ध्यान में रखते हुए, ६५० ई० से अग्रेजी भाषा के साहित्य का प्रारम्भ माना है, उसी तरह वे भी हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ अपभ्रंश साहित्य को ध्यान में रखकर ६५० ई० या ७०० ई० से मानते।

अंग्रेजी साहित्य के इतिहासकारों ने तो ऐंग्लो-सैक्सन भाषा के साहित्य को अंग्रेजी भाषा का साहित्य मान लिया है, किन्तु हिन्दी के इतिहासकार १०वीं शताब्दी के ठीक पूर्व की मध्यदेशीया (शौरसेनी) बोलियों के उपलब्ध साहित्य को, जिसे अपभ्रंश और अवहट्ट साहित्य कहा जाता है, हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत नहीं मानते। अंग्रेज भाषाविदों और इतिहासकारों ने राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर इंग्लैण्ड की भाषा और साहित्य का अध्ययन और विश्लेषण किया, किन्तु हिन्दी के भाषाविद और साहित्य के इतिहासकार भाषाशास्त्र की दुहाई देकर राष्ट्रीय भावना के विपरीत निर्णय करते हैं और ७वीं शताब्दी से अब तक प्रवहमान हिन्दी की अखण्ड धारा को अपभ्रंश शब्द द्वारा दो भागों में विभाजित कर देते हैं।

भाषा और साहित्य के इतिहास के निर्माण में राष्ट्रीय भावना का कितना अधिक महत्व है, यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा। अंग्रेज जाति में अपनी भाषा की अखण्डता और एकता के सम्बन्ध में जो सचेत जागरूकता है वह भारतीयों, विशेष रूप से हिन्दी के भाषाविदों और इतिहासकारों, के लिए अनुकरण की वस्तु है। हमारे भाषाविदों ने अपभ्रंश की स्वतन्त्र स्थिति मानकर हिन्दी-भाषा का प्रारम्भ तो १००० ई० के आसपास माना है, साथ ही अनेक अपभ्रंशों की कल्पना करके हिन्दी की उप-भाषाओं को कई अपभ्रंशों से उद्भूत मानकर उसे चार स्वतन्त्र भाषा-वर्गों—राजस्थानी, पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी और बिहारी—में बाँट दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय भावना से रहित हिन्दी-विरोधियों को यह कहने का अवसर मिला कि केवल पश्चिमी हिन्दी ही हिन्दी है और उसमें भी आधुनिक युग की खड़ी बोली का रूप ही साहित्यिक हिन्दी है। इस तरह वे हिन्दी के क्षेत्र और कालावधि को बहुत सीमित कर भारतीय आर्य-भाषा और साहित्य की अखण्डता और व्यापकता पर आघात करते हैं।

अंग्रेजी भाषा का प्राचीन साहित्य भी उसकी विभिन्न बोलियों का ही साहित्य है। ११वीं शताब्दी से १४वीं शताब्दी के बीच इंग्लैण्ड में ४ जनपदीय बोलियों में साहित्य लिखा गया,—उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी मध्यदेशीया, पश्चिमी मध्यदेशीया। इंग्लैण्ड की इन चार प्रमुख उप-भाषाओं के अतिरिक्त उस काल में 'स्काटलैंड' और 'वेल्स' की जनपदीय भाषाओं में भी साहित्य लिखा जाता था। ये सभी भाषाएँ रूपगत भिन्नता रखते हुए भी मूलत. एक ही भाषा का रूपान्तर मात्र थीं। इन भाषाओं को भिन्नजातीय भाषाओं से उद्भूत सिद्ध करने का प्रयास वहाँ के भाषाविदों ने नहीं किया। यद्यपि यह सत्य है कि आधुनिक साहित्यिक अंग्रेजी भाषा पूर्वीमध्यदेशीया अंग्रेजी भाषा के व्याकरणिक ढाँचे पर ही निर्मित हुई है और उसका आधुनिकतम रूप तो १८वीं शताब्दी में निर्मित हुआ, किन्तु इसी कारण 'स्काटिश', 'आयरिश', 'वेल्स' आदि भाषाओं और उत्तरी इंग्लैण्ड, दक्षिणी इंग्लैण्ड और पश्चिमी इंग्लैण्ड की बोलियों के प्राचीन साहित्य को अंग्रेजी साहित्य से अलग नहीं किया जाता, उन सबको अंग्रेजी भाषा का ही साहित्य माना जाता है। वस्तुत उन सब भाषा और बोलियों का सामूहिक नाम अंग्रेजी भाषा है। जार्ज ग्रियर्सन खड़ीबोली हिन्दी की साहित्यिक भाषा को ऐसी कृत्रिम भाषा मानते हैं जिसे किसी क्षेत्र की जनता नहीं बोलती। यदि उनका यह कथन सत्य है तो यह बात आधुनिक अंग्रेजी भाषा पर भी लागू होती है। किन्तु सत्य यह है कि न तो साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी ही कृत्रिम भाषा है और न आधुनिक अंग्रेजी भाषा ही। दोनों साहित्यिक भाषाओं के व्याकरणिक ढाँचे की जड़ें क्षेत्र-विशेष की बोलियों में वर्तमान हैं। किन्तु क्षेत्र-विशेष की बोली पर आधारित होते हुए भी ये दोनों साहित्यिक भाषाएँ उस विस्तृत भू-भाग की समस्त बोलियों या

उप-भाषाओ का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिनका सामूहिक नाम हिन्दी अथवा अंग्रेजी है। अत जिस तरह ऐंग्लो-सैक्सन भाषा अर्थात् प्राचीन अंग्रेजी भाषा प्राचीन और अर्वाचीन 'आयरिश', 'स्काटिश' और 'वेल्स' भाषाओं तथा इग्लैण्ड की विभिन्न जनपदीय बोलियो मे लिखा गया समस्त साहित्य अंग्रेजी साहित्य है उसी तरह ७वी शताब्दी के बाद तथाकथित अपभ्रंश भाषा मे लिखा गया वह साहित्य, जो वस्तुत प्राचीन हिन्दी का ही साहित्य है, हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे ग्राह्य है। साथ ही राजस्थान से लेकर मगध और मिथिला तक की समस्त जनपदीय बोलियों का प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य भी हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे विवेचनीय है। राष्ट्र-प्रेम और राष्ट्रीय एकता की भावना को बद्धमूल और दृढ बनाने की दृष्टि से भी ऐसा करना आवश्यक है।

अब तक के समस्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारो ने हिन्दी-साहित्य का जो प्रारम्भ काल सन् १००० ई० के आसपास निर्धारित किया है वह किसी भी तर्क से उचित नही है। वस्तुत हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ ७०० ई० के आसपास से मानना चाहिए, क्योकि पुरानी हिन्दी का वह साहित्य, जिसे अपभ्रंश या अवहट्ट कहकर अलग कर दिया जाता रहा है, उसी समय से लिखा जाने लगा था। उसी तरह हिन्दी-भाषा की उपभाषाओ के अन्तर्गत राजस्थान और बिहार की बोलियों को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए जिन्हें भाषा-वैज्ञानिकों ने हिन्दी से भिन्न, राजस्थानी और बिहारी नामक स्वतन्त्र भाषाएँ सिद्ध किया था। फलत केवल परम्परागत मान्यता के आधार पर ही नही, भाषा-विज्ञान के साक्ष्य के आधार पर भी उन बोलियो के प्राचीन और आधुनिक साहित्य को हिन्दी-साहित्य के इतिहास में सम्मिलित करना चाहिए।

(पृष्ठ २०८ का शेष)

आलोच्य काल के कुछ अन्य कवि और उनकी कृतियाँ इस प्रकार हैं—

मुनि केसर कृत 'मलयगिरि चौपई' (१७७६), पुण्यविलास का 'मानतुग मानवती रास' (१७८०), ज्ञानविजय का 'मलयागिरिचरित्र' (हिन्दी गुजराती, १७८१), अमृतविजय के शिष्य रगविजय का 'सखेश्वर पार्श्वनाथ पच कल्याण गर्भित प्रतिष्ठा कल्प (१७७६), प्रीतिविजय के शिष्य श्री गजविजय रचित 'जयसेन कुमार चौपई' (हिन्दी), जितेन्द्रसागर कृत 'चिन्तामणि पार्श्वनाथ स्तुति एवं ऋषभ स्तवन' आदि, भीमसूरि के शिष्य तिलकसूरि कृत 'बुद्धिसेन चौपई' (१७८४), उदयसमुद्र रचित 'रसलहरी' (कुलध्वज-केवली चरित्र, स० १७८६, उदयपुर), श्री ज्ञानरत्न के शिष्य हसरत्न कृत 'चौबीसी' तथा 'शिक्षा शत दोधका', मुनि जयराजजी के शिष्य त्रिलोकसिह की 'धर्मदत्त धर्मवती चौपई' (खंभात, स० १७८८, हिन्दी), श्री अमर कवि रचित 'सुप्रतिष्ठा चौपई' (१७९४) तथा 'सुदर्शन चौपई' (१७९८, हिन्दी), सिद्धिवर्द्धन के शिष्य गुणविलास द्वारा रचित 'चौबीसी' (जेसलमेर, १९७९ हिन्दी), भावप्रभसूरि के शिष्य पुण्यरत्न का 'श्री न्यायसागर निर्वाण रास' (१७९७), कवि महिमावर्द्धन कृत 'धनदत्तरास' (१७९६) आदि।

रस की सुखदुःखात्मकता : करुण आदि रसों का आस्वाद

डॉ० सत्यदेव चौधरी

[१]

'सहृदय व्यक्ति शृंगार, हास्य आदि रसों द्वारा तो आस्वाद प्राप्त करता ही है, साथ ही उसे करुण, भयानक आदि रसो द्वारा भी आस्वाद की प्राप्ति होती है'—यह कथन अपने आपमे व्यावहारिक और तार्किक दृष्टि से विरोधात्मक और भ्रान्त प्रतीत होता है, अत संस्कृत के कतिपय काव्याचार्यों ने रस को 'सुख-दु खात्मक' कहा है। इनमें से नाट्यदर्पण के कर्ता रामचन्द्र-गुणचन्द्र का नाम विशेष रूप से लिया जाता है, क्योंकि उन्होने इस विषय पर सर्वाधिक सामग्री प्रस्तुत की है। इस सम्बन्ध में उनका सिद्धान्त-कथन है—सुखदु खात्मको रस (३।७)। इस कथन को स्पष्ट करते हुए इन दोनो ग्रन्थकारो का अभिमत है कि जहाँ शृगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त ये पाँच रस सुखात्मक हैं, वहाँ करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक ये चार रस दु खात्मक हैं।[१] प्रथम वर्ग के रस तो निर्विवाद रूप से सुखात्मक हैं ही, किन्तु द्वितीय वर्ग के रसो को भी यदि सुखात्मक मान लिया जाता है तो इसी पर रामचन्द्र-गुणचन्द्र को आपत्ति है। इस सम्बन्ध मे उन्होंने निम्नोक्त चार तर्क उपस्थित किये हैं—

१. उनका पहला तर्क यह है कि भयानक आदि रस सहृदयो को किसी अवर्णनीय क्लेश-दशा तक पहुँचा देते हैं। इनसे सामाजिक उद्वेग प्राप्त करते हैं। सुखास्वाद से भी भला कही कोई उद्विग्न होता है ?[२] सीता का हरण, द्रौपदी के वस्त्रो तथा केशो का कर्षण, हरिश्चन्द्र की चाण्डाल के यहाँ दासता, रोहिताश्व की मृत्यु, आदि घटनाओ के अभिनय को देखकर कौन ऐसा सहृदय है जो सुखास्वाद प्राप्त करता हो ?[३]

२. दूसरा तर्क यह है कि काव्य-नाटक मे लौकिक आचार-व्यवहार का चित्रण यथार्थ रूप मे ही किया जाता है। कविजन सासारिक सुखो का वर्णन सुख-रूप मे करते हैं और दु खो का वर्णन दु ख-रूप में। विरही राम-सीता आदि अनुकार्यों की करुण-दशाएँ निस्सन्देह दु खात्मक होती हैं, अत. यदि उनके काव्य-नाटकगत अनुकरण को सुखात्मक माना जाय तो वह अनुकरण वास्तविक न होगा, क्योंकि वह लौकिक वस्तुस्थिति से विपरीत ही रहेगा।[४]

[१] हिन्दी-नाट्यदर्पण, पृष्ठ ६०।

[२] भयानको बीभत्सः करुणो रौद्रो रसास्वादवताम् अनाख्येयां कामपि क्लेशदशामुपनयति। अतएव भयानकादिभिः उद्विजते समाजः। न नाम सुखाऽऽस्वादाद् उद्वेगो घटते।
—वही, पृष्ठ २६१।

[३] वही, पृष्ठ २६१–६२।

[४] (क) कवयस्तु सुखदुःखात्मकसंसाराऽऽनुरूप्येण रामादिचरितं निबध्नन्तः सुखदुःखात्मक-रसानुविद्धमेव ग्रथ्नन्ति।
(ख) तथाऽनुकार्यगताश्च करुणादयः परिदेवताऽनुकार्यत्वात् तावद्दुःखात्मका एव। यदि चाऽनुकरणे सुखात्मनः स्युः न सम्यग् अनुकरणं स्यात्। विपरीतत्वेन भासनाद् इति। —वही, पृष्ठ २६१-६२।

३. रस को सुखात्मक माननेवालो की ओर से यह कहा जा सकता है कि जैसे लोक में विरही एव शोकाकुल जनो के सम्मुख कारुणिक प्रसगो का वर्णन अथवा अभिनय करने से उन्हे सुख-सान्त्वना मिलती है, इसी प्रकार काव्य-नाटकगत करुण, भयानक आदि रस भी सुखात्मक ही है, दु खात्मक नही । किन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कथन है कि वस्तुत ऐसे प्रसगो में भी दु खी जनो को जो सुखास्वाद मिलता प्रतीत होता है, मूलत वह भी दु खास्वाद ही है, क्योंकि यदि वही व्यक्ति दु खपूर्ण वार्ताओ से सुख-सा अनुभव प्रतीत करता है, तो प्रमोदपूर्ण वार्ताओ से (इतर जनो के समान) सुख का अनुभव न कर विकलित ही होता है । अत वादियो का उक्त सहानुभूति-मूलक तर्क मनस्तोषक एव मान्य नही है । वस्तुत करुण आदि रस दु खात्मक की ही हे ।[5]

४ यद्यपि भयानक, करुण आदि रस दु खात्मक ही हे फिर भी यदि इनसे सहृदय परम आनन्द को प्राप्त करते हे, तो केवल-मात्र कवि एव नट की कुशलता से चमत्कृत होकर ही है ।[6]

इस अन्तिम कथन से ग्रन्थकारो का तात्पर्य यह है कि कवि के व्यवस्थित एव मार्मिक निरूपण को पढ़कर अथवा नट के सुन्दर एव मार्मिक हृदयहारी अभिनय को देखकर हमे जो आस्वाद प्राप्त होता है, उसकी लोलुपता ही सहृदय को करुण, भयानक आदि रसो से युक्त भी काव्य-नाटको से आनन्द प्राप्त कराती है, तथा उन्हे बारबार पढने-देखने की ओर प्रवृत्त कराती है, अन्यथा ये रस तो दु खात्मक ही होते हे । एक उदाहरण द्वारा अपने कथन की पुष्टि करते हुए ग्रन्थकार कहते हे कि जिस प्रकार लोक मे वीर पुरुष अपने उस प्राणघातक शत्रु को भी देखकर आश्चर्यचकित से रह जाते हे जो प्रहार करने मे अत्यन्त निपुण होता है,[7] उसी प्रकार प्रेक्षक भी कवि अथवा नट के कौशल द्वारा चमत्कृत हो जाते हे ।

[२]

उक्त तर्कों मे से प्रथम तर्क मन के उद्वेग को लक्ष्य में रखकर प्रस्तुत किया गया है, और द्वितीय तर्क लौकिक व्यवहार और काव्य-रचना की पारस्परिक अन्विति को । तृतीय तर्क लौकिक सहानुभूति एव सान्त्वना से सम्बद्ध है, और चतुर्थ तर्क काव्यत्व एव अभिनय-जन्य बाह्य चमत्कार से । यदि गम्भीरतापूर्वक विचार करे तो इन चारो तर्कों के मूल मे एक ही भ्रान्त धारणा सन्निहित है कि लौकिक व्यवहार और कवि-कृति मे कोई अन्तर नही है, यही कारण है कि पहले तर्क मे सहृदय को भी भयानक, करुण आदि रसो द्वारा वैसा ही उद्विग्न एवं विकलित समझ लिया गया है जैसा कि सामान्य व्यवहार में भयभीत अथवा करुणाग्रस्त व्यक्ति को । किन्तु वस्तुत लौकिक रति, शोक आदि भावो में तथा काव्यगत इन भावों में सदा अन्तर रहता है । लौकिक भाव एक देश, काल एव व्यक्ति तक सीमित रहते हे और काव्यगत भाव प्रत्येक प्रकार की सीमा से नितान्त विमुक्त होते हे ।

[5] येऽपीष्टादिविनाशदुःखवतां करुणे वर्ण्यमानेऽभिनीयमाने वा सुखास्वादः सोऽपि परमार्थतो दुःखास्वाद एव । दुःखी हि दुःखवार्त्तया सुखमभिमन्यते । प्रमोदवार्त्तया तु ताम्यति इति करुणादयो दुःखात्मन एव इति । —वही, पृष्ठ २९२ ।

[6] यत् पुनरेभिरपि चमत्कारो दृश्यते स रसास्वादविरामे सति यथाऽवस्थितवस्तुप्रदर्शकेन कविनटशक्तिकौशलेन । अनेनैव च सर्वांगाऽऽह्लादकेन कविनटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्दरूपतां दुःखात्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानते । —वही, पृष्ठ २९१ ।

[7] विस्मयन्ते हि शिरश्छेदकारिणापि प्रहारकुशलेन वैरिणा शौण्डीरमानिनः । —वही, पृष्ठ २९१ ।

इसी प्रकार दूसरे तर्क मे भी उक्त धारणा के बल पर लौकिक घटनाओ और काव्य-गत घटनाओ को एक-समान समझ लिया गया है । वस्तुत दोनो मे बहुविध एव बहुहेतुक अन्तर रहता है । इनमे से एक अन्तर तो यह है कि काव्य मे लौकिक घटनाओ के असमान केवल यथार्थ का चित्रण न होकर यथार्थ के साथ कल्पना-तत्त्व का सम्मिश्रण अनिवार्यत रहता है । अत. 'लोक और काव्य की पारस्परिक अनुकूलता' को आधार मानकर अनुकार्य के ही अनुरूप सहृदय के सुखदु ख का निर्णय करना मूलत. भ्रमपूर्ण है ।

अब तीसरे तर्क को ले । उधर लोक मे पुत्र-विच्छेद-विह्वला माता के शोक मे और इधर ऐसी माता को रगमच पर देखकर अथवा इसके चरित्र को काव्य मे पढकर शोक-विह्वल सहृदय के शोक मे निस्सन्देह अन्तर है । उधर सान्त्वना से दु ख का हल्का होना, इसका कुछ क्षणो के लिए लुप्त हो जाना अथवा इसका बढ जाना आदि सभी स्थितियाँ सम्भव हैं, किन्तु इधर शोक स्थायी-भाव से उद्विग्न अथवा आकुल (यदि इस स्थिति को यह नाम दे तो) सहृदय के लिए प्रथम तो सान्त्वना-प्रदान का प्रश्न की ही उपस्थित नही होता, क्योकि काव्य-नाटकगत घटनाओ से इतर घटनाओ के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही नही, और यदि उसके सम्मुख ऐसी घटनाएँ लायी भी जाती हैं, तो उस समय वह सहृदय न होकर सासारिक व्यक्ति-मात्र रह जाता है ।

चतुर्थ तर्क मे सत्यता अवश्य है, पर एकागी । कवि के रचना-कौशल से और विशेषत नट के अभिनय-कौशल मे, उत्पन्न चमत्कार निस्सन्देह सहृदय को अभिभूत कर देता है । इस कथन की पुष्टि मे एक प्रत्युदाहरण लीजिए कि किस प्रकार एक अत्यन्त करुणोत्पादक एव हृदयविदारक दृश्य भी एक अनाडी नट के असफल प्रदर्शन द्वारा 'करुण' के स्थान पर 'हास्य' का रूप धारण कर लेता है । अस्तु ! कवि और नट की कुशलता से उत्पन्न चमत्कार से तो किसी भी स्थिति मे इनकार नही किया जा सकता, किन्तु यह चमत्कार पूर्ववर्ती प्रभाव का उद्दीपक कारण होता है, उसका उत्पादक कारण नही होता । उदाहरणार्थ, शृगार रस में वह सहृदय के रतिभाव को उद्दीप्त करता है, और करुण रस मे उसके शोक भाव को । इसके अतिरिक्त उक्त कौशल-जन्य चमत्कार कवि अथवा नट की प्रतिभा के प्रति प्रेक्षक के हृदय मे आश्चर्य, आदर आदि भाव भी उत्पन्न करता है । किन्तु (जैसा कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र का मन्तव्य है) इन्ही आश्चर्य, आदर आदि भावों को करुण, भयानक आदि रसो मे सुख-प्राप्ति का कारण नही मानना चाहिए । यह भाव लौकिक होते हैं, अत इनसे लौकिक आह्लाद ही उत्पन्न हो सकता है, काव्यगत रस—सुखात्मक रस—उत्पन्न नही हो सकता।

[३]

रसों को सुखात्मक स्वीकार करनेवाले प्रथम आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र नही हे । इनसे पूर्व भी कुछ इस प्रकार के स्पष्ट कथन मिल जाते हे—

(क) येन त्वभ्यधायि सुखदुःखजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव सुखदुःखस्वभावो रसः ।
—(अज्ञात आचार्य), अभिनवभारती, भाग १, पृष्ठ २७८ ।

(ख) रसस्य सुखदुःखात्मकतया तदुभयलक्षणत्वेन उपपद्यते, अतएव तदुभयजनकत्वम् ।
—रसकलिका (रुद्रभट्ट) 'नम्बर ऑफ रसाज्', पृष्ठ १५५ ।

(ग) रसा हि सुखदुःखरूपाः । **—ना० प्र० द्वितीय भाग, पृष्ठ ३६६ ।**

किन्तु इन कथनों से यद्यपि यह स्पष्टतः प्रतीत नही होता कि उक्त आचार्य सभी रसों को सुखात्मक और दुःखात्मक स्वीकार करते थे अथवा कुछ को सुखात्मक और कुछ को दु खात्मक, किन्तु

फिर भी सम्भावना यही है कि वे भी रामचन्द्र-गुणचन्द्र के समान शृगार, हास्य आदि को सुखात्मक मानते होगे और भयानक, करुण आदि को दु खात्मक । उन कथनो के अतिरिक्त आचार्य वामन ने किसी आचार्य के नाम पर ऐसा कथन भी उद्धृत किया है जिससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह स्वय अथवा सम्भवत कुछ अन्य आचार्य भी करुण रस मे सुख और दु ख दोनो का सम्मिश्रण मानते होगे—

करुणप्रेक्षणीयेषु सम्प्लवः सुखदुःखयोः ।
यथाऽनुभवतः सिद्धस्तथैवोजःप्रसादयोः ॥ का० सू० वृ० ३।१।१६ ।

अर्थात् जिस प्रकार करुण रस के नाटको मे सुख और दुःख का मिश्रण सहृदय जनो के अनुभव द्वारा सिद्ध है, उसी प्रकार ओज और प्रसाद का मिश्रण भी उनके अनुभव द्वारा सिद्ध है । सुख पहले होता है अथवा दु ख पहले, इस ओर इस श्लोक मे कोई सकेत नही है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हे करुण रस में दु ख की स्थिति पूर्व मान्य होगी और सुख की बाद मे । कुछ इसी प्रकार की धारणा की व्याख्या मधुसूदन ने सम्भवत सर्वप्रथम मौलिक रूप से प्रस्तुत की है । उनके कथन का अभिप्राय यह है कि सभी रसो से निस्सन्देह सुख का अनुभव होता है, परन्तु यह अनुभव सब रसो मे तुल्य रूप से नही होता । इसका कारण यह है कि सत्त्वगुण की प्रधानता ही सुख का हेतु है, किन्तु ऐसा कभी नही होता कि किसी रस मे रजोगुण और तमोगुण किसी न किसी अश तक अवश्य विद्यमान नही रहते है ।[6] ये किस रस मे कितनी मात्रा मे विद्यमान रहते है, यद्यपि इसका निर्णय कर सकना कठिन है तथापि वे रहते अवश्य है । अत उनके मिश्रण के तारतम्य के अनुसार सब रसो मे सुख के साथ दु ख का मिश्रण भी समझना चाहिए । अस्तु ।

[४]

इस प्रकार हमारे सम्मुख निम्नोक्त चार विकल्प उपस्थित होते है —

(क) सभी रस सुखात्मक है,

(ख) सभी रस सुखदु खात्मक है,

(ग) शृगार, हास्य आदि रस सुखात्मक है, किन्तु करुण, भयानक आदि रस दु खात्मक है,

(घ) शृगार आदि रस तो सुखात्मक है, किन्तु करुण, भयानक आदि रस सुखदु खात्मक है ।

इन विकल्पों मे से रामचन्द्र-गुणचन्द्र यद्यपि स्पष्टत तीसरे विकल्प को स्वीकार करते हुए करुण आदि को दु खात्मक स्वीकार करते है, तथापि वे इन्हें अन्तत सुखात्मक भी स्वीकार करते होंगे । कुछ इस प्रकार का स्पष्ट सकेत उन्होने स्वय भी दिया है—

पानकमाधुर्यमिव च तीक्ष्णाऽऽस्वादेन दुःखाऽऽस्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते इव इति ।

—हि० ना० द०, पृष्ठ २६१ ।

अर्थात् जिस प्रकार पानक (खट्टे, मीठे, तीखे पेय) की मिठास दु खास्वादजनक तीक्ष्ण पदार्थ के मिश्रण से और भी अधिक सुखास्वाद प्रदान करती है, उसी प्रकार करुण आदि रसो मे भी दु ख का मिश्रण सुखास्वाद प्रदान करता है । वस्तुत देखा जाय तो पानक पदार्थ और करुण रस मे स्थापित यह उपमान-उपमेय-सम्बन्ध यथावत् एव सुघटित प्रतीत नही होता, क्योकि पानक मे माधुर्य और तीक्ष्णता के मिश्रण में भले ही पूर्वापर-सम्बन्ध हो, किन्तु उसके आस्वाद मे पूर्वापर-सम्बन्ध

---

[6] **सत्त्वगुणस्य सुखरूपत्वात् सर्वेषां भावानां सुखरूपत्वेऽपि रजस्तमोंशमिश्रणात् तारतम्यमवगन्तव्यम् । अतो न सर्वेषु रसेषु तुल्यसुखाऽनुभवः ।** —नम्बर आफ़ रसाज पृष्ठ १५६ ।

नही रहता, किन्तु करुण रस के शोक (लौकिक दु ख) और इस रस के आस्वाद (सुख) मे नि सन्देह पूर्वापर-सम्बन्ध बना रहता है। यद्यपि यह अलग बात है कि इनमे काल का अन्तर इतना त्वरित एव क्षिप्र होता है कि यह कहते नही बनता कि इस दु ख और सुख मे कोई काल-सम्बन्धी अन्तर है भी। अस्तु! जो हो, रामचन्द्र-गुणचन्द्र का यह उद्धरण यह मानने के लिए पर्याप्त है कि वह उक्त विकल्पों मे से तीसरे विकल्प को स्वीकार न कर चौथे विकल्प को स्वीकार करते होगे कि भयानक, करुण आदि रस केवल दुःखात्मक न होकर सुखदु खात्मक हें। यदि वे भयानक, करुण आदि को नितान्त दु खात्मक स्वीकार करते हं तो उनकी यह धारणा काव्यशास्त्र और मनोविज्ञान के तो प्रतिकूल है ही, व्यवहार के भी सर्वथा प्रतिकूल होने के कारण सर्वथा अमान्य है। इस दृष्टि से विश्वनाथ का केवल एक यही तर्क इसे अमान्य ठहराने के लिए पर्याप्त है कि करुण आदि रस इसलिए सुखात्मक हें कि सहृदय जन इसे देखने के लिए सदा उन्मुख अर्थात् लालायित रहते हे—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।
किं च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः॥ —सा० द० ३।४, ५।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कोई सुविज्ञ पाठक उनके सम्पूर्ण ग्रन्थ के अवलोकन के उपरान्त यह मानने को कदापि उद्यत न होगा कि उन जैसे तत्त्ववेत्ता और चिन्तक आचार्य करुण आदि को केवल दु खात्मक ही मानते होंगे। वे इसे दु खात्मक मानते अवश्य होगे; किन्तु पूर्व स्थिति में, और अन्तत वे इन्हे सुखात्मक ही मानते होगे।

[५]

उपर्युक्त मान्यता की व्याख्या कई रूपो मे तथा कई दृष्टियों से की जा सकती है :—

१ शृगार, करुण आदि सभी प्रकार के रसो मे रति, शोक आदि सभी स्थायीभाव जब तक विभावादि के सयोग द्वारा रसरूप में परिणत अथवा अभिव्यक्त नही होते, तब तक उनसे लौकिक सुख अथवा दु ख का ही अनुभव होता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी प्रेक्षक को शृगार रस के नाटक में अपनी प्रेयसी की, अथवा करुण रस के नाटक मे अपने मृत पुत्र की स्मृति हो जाती है तो उसका रति अथवा शोक भाव उसे लौकिक सुख तथा दु ख की अनुभूति कराएगा। वह प्रेक्षक नाट्य-गृह मे बैठा हुआ भी तत्क्षण के लिए सहृदय न होकर सासारिक व्यक्ति ही होता है। किन्तु जिस क्षण वही व्यक्ति निजत्व की भावना से ऊपर उठ जाता है, वही क्षण रस-दशा का है। उसी क्षण रति-जन्य सांसारिक सुख अथवा शोकजन्य सासारिक दु ख इस दशा की पूर्वस्थिति बन जाते हें और रस-दशा अन्तिम स्थिति बन जाती है।

२ काव्यशास्त्रीय आधार पर लौकिक कारण, कार्य एव सहकारिकारण काव्य मे इसीलिए क्रमश. विभाव, अनुभाव और सचारिभाव कहाते हें कि वे अब लौकिक क्षेत्र से ऊपर उठकर लोकोत्तरता के क्षेत्र में जा पहुँचते हे।[१] जब भय, शोक आदि भाव लौकिक कारण आदि से सम्पृक्त हे, चाहे वह घटना-स्थल नाट्यगृह भी क्यों न हो, तब तक वे भाव निस्सन्देह दुःखात्मक हें, किन्तु विभाव आदि से सम्पृक्त होने के कारण वे भाव भयानक, करुण आदि दुःखात्मक रसो के रूप में परिणत हो जाते हें।

[१] का० प्र० ४।२७, २८।

३ भयानक, करुण आदि को अपनी परिणति मे सुखात्मक स्वीकार करने के लिए काव्याचार्यों का 'साधारणीकरण' नामक सिद्धान्त एक प्रबल साधन है, जिसके बल पर सहृदय असाधारण (विशेष) से साधारण (सामान्य) भावभूमि पर उतर आता है।[१०] उसका भय अथवा शोक किसी देश अथवा काल-विशेष से मुक्त हो जाता है।[११] वह अपने समस्त मोह, सकट आदि से उत्पन्न अज्ञान से निवृत्त हो जाता है।[१२] परिणामत, काव्य-नाटकगत कोई पात्र अब उसके लिए अपना विशिष्ट व्यक्तित्व खोकर मानव-मात्र बन जाता है—राम नामक पुरुष-पात्र पुरुषमात्र बन जाता है, और सीता नामक स्त्री-पात्र स्त्रीमात्र बन जाती है।[१३] और इसका अगला परिणाम यह होता है कि सहृदय निजत्व और परत्व दोनो प्रकार के विश्वासो से विनिर्मुक्त हो जाता है। अत इस प्रकार की परिस्थिति में सहृदय के लिए न तो शृगार आदि रसों द्वारा लौकिक सुखानुभूति स्वीकार की जा सकती है, और न भयानक आदि रसों द्वारा लौकिक दु खानुभूति। यह अवस्था दोनों प्रकार के रसो मे अलौकिक (लोकोत्तर) रूप मे सुखात्मिका ही होती है।

इस प्रकार अन्त मे हम कह सकते हैं कि—

१ प्रत्येक स्थायीभाव अपरिपक्व अवस्था में लौकिक सुख अथवा दु ख का कारण बनता है, किन्तु परिपक्व अवस्था मे केवल अलौकिक लोकोत्तर सुख का ही।

२ भयानक, करुण आदि रसों मे निस्सन्देह प्रेक्षक भय, शोक आदि से उत्पन्न दु ख का अनुभव करता है, किन्तु वह दु ख लौकिक ही होता है—ठीक उसी प्रकार जैसे वह शृगार, हास्य आदि रसो मे रति, हास आदि से उत्पन्न लौकिक सुख का अनुभव करता है। किन्तु यह लौकिक सुख अथवा दु ख रस-दशा की पूर्ववर्ती अवस्था है और रस-दशा उसकी परवर्ती अवस्था है।

३ (क) किन्तु यह सदा आवश्यक नही कि प्रत्येक सहृदय को इस प्रकार के लौकिक सुख अथवा दु ख की अनुभूति हो ही, किन्ही सहृदयो को नही भी होती, यद्यपि ऐसे सहृदयो की सख्या बहुत कम होती है।

(ख) अत. भयानक आदि रसों को नित्य रूप से दु खात्मक नही मान सकते, और अधिकाशत. ऐसा मान लेने पर भी वह दु ख लौकिक ही होता है। किन्तु वह दु ख परवर्ती अलौकिक सुखानुभूति की प्राप्ति के लिए किसी भी रूप में न तो अनिवार्य साधन है और न ही सहायक साधन। हाँ, वह अत्यन्त भावुक सहृदयों की अलौकिक सुखानुभूति के लिए उद्दीपक कारण अवश्य सिद्ध हो सकता है।

४ (क) यह ठीक है कि लौकिक शोक, हर्ष आदि कारणों से लौकिक शोक, हर्ष आदि उत्पन्न होते हैं, किन्तु काव्य-नाटक मे तो विभावादि द्वारा दोनो स्थितियो में लोकोत्तर सुख ही मिलता है।[१४]

(ख) निष्कर्षत करुण, भयानक आदि रस दु खात्मक नही हैं, वे भी शृगार आदि रसों के समान सुखात्मक ही हैं।

---

[१०] 'असाधारणस्य साधारणकरणम्' इति साधारणीकरणम्।

[११] भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगितम्। —हिन्दी अभिनवभारती, पृष्ठ ४७०।

[१२] काव्ये नाट्ये च निबिडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना।
—वही, पृष्ठ ४६४, ४६५

[१३] तत्र सीतादिशब्दाः परित्यक्तजनकतनयादिविशेषाः स्त्रीमात्र वाचिनः।—दशरूपक ४।४० (वृत्ति)।

[१४] 'लौकिकशोकहर्षादिकारणेभ्यो लौकिकहर्षादयो जायन्ते इति लोक एव प्रतिनियमः। काव्ये पुनः 'सर्वेभ्योऽपि विभावादिभ्यः सुखमेव जायते' इति। —सा० द० ३।७ (वृत्ति)।

अपभ्रंश में राम-काव्य की परम्परा

सोमेश्वर सिंह

भारतीय साहित्य मे राम की कथा ने कवियो और लेखको को सर्वाधिक आकर्षित किया है। ब्राह्मण, बौद्ध, जैन आदि समस्त प्रमुख धर्मों ने इसे अपने-अपने ढग से धार्मिक आवरण में बाँधने का प्रयास किया है। इन धर्मों ने राम को विशिष्ट महापुरुष के रूप मे स्वीकार किया है । रामचरित की व्यापकता का अनुमान हम केवल इसी बात से कर सकते हैं कि इसे लेकर भारत की समस्त प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक आर्य-भाषाओ मे काव्यो का प्रणयन हुआ ही, दक्षिण भारत की द्रविड परिवार की भाषाओ और जावा-सुमात्रा आदि देशो की भाषाओ मे भी रामचरित को उपजीव्य मानकर अनेक काव्य लिखे गये। सस्कृत मे वाल्मीकि कृत 'रामायण', पाली मे दशरथ जातकम् की कथाएँ, प्राकृत मे विमलसूरि कृत 'पउमचरियो' अपभ्रश में स्वयभूदेव कृत 'पउमचरिउ' हिन्दी मे तुलसीदास कृत 'रामचरित मानस', तमिल मे कम्बर कृत रामायण, बगला में कृतिवास कृत 'रामायण' ऐसे ग्रन्थ है, जिनकी गणना ससार की उच्चकोटि की रचनाओ मे होती है।

अपभ्रश ७वी शती से १६वी शती तक काव्यभाषा बनी रही। पूर्वी भारत मे सिद्धो और नाथों ने दोहो और पदो के रूप मे मुक्तक रचनाओ से अपभ्रश साहित्य की कोश-वृद्धि की और पश्चिम तथा मध्य भारत मे जैनियो ने मुक्तक, प्रबन्ध-खण्डकाव्य, महाकाव्य आदि विविध काव्यरूपो से उसे उच्चकोटि की साहित्यिक भाषा होने का गौरव प्रदान किया। यो तो सिद्धो एव जैनो के अतिरिक्त अन्य विद्वानो की रचनाएँ भी अपभ्रश में उपलब्ध है, किन्तु रामकाव्य बहुधा जैन कवियो द्वारा ही लिखे गए।

जैन धर्म मे राम को ६३ महापुरुषो मे गिना जाता है। चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव, नौ वासुदेव और नौ प्रतिवासुदेव के रूप मे इन ६३ शलाका महापुरषो को लेकर जैन विद्वानो ने अनेक चरितकाव्य, महाकाव्य, पुराण, कथाकाव्य, द्विसधानक आदि की रचना की है। राम, लक्ष्मण और रावण, बलदेव, वासुदेव प्रतिवासुदेव की आठवी त्रयी के रूप मे माने जाते हैं।

अपभ्रश के राम-काव्यकार कवियो मे स्वयभू देव का नाम प्रमुख है। इनके पूर्ववर्त्ती कवियो में कीर्तिधर, अनुत्तर वाग्मिन और चतुर्मुख[1] के नाम लिये जाते है। कीर्तिधर और अनुत्तर वाग्मिन के सम्बन्ध में डा० मायाणी को सन्देह है कि वे अपभ्रश के कवि है अथवा प्राकृत के। स्वयभू ने अपने 'पउमचरिउ' में लिखा है कि रामकथा उन्हे रविषेण से मिली। रविषेण को अनुत्तर वाग्मिन से और उन्हें कीर्तिधर से इस कथा की प्राप्ति हुई।[2] रविषेण का सस्कृत 'पद्मपुराण' प्रसिद्ध है, जो प्राकृत के प्रसिद्ध कवि विमलसूरि के 'पउमचरिय' के आधार पर लिखा गया है। रविषेण को

[1] डॉ० मायाणी, पउमचरिउ, भाग १ की भूमिका, पृष्ठ १६-१७।

[2] पुणु पहवें संसारारायें। कित्तिहरेण अनुत्तरवाएँ।
पुणु रविषेणायरिय पसाएँ। बुद्धिएं अवगाहिय कइराएँ।
प० च० १–२-८ और ६, पृ० ४।

अनुत्तर वाग्मिन का ग्रन्थ देखने को मिल गया था।[३] किन्तु कीर्तिधर और अनुत्तर वाग्मिन दोनों के ग्रन्थ आजतक अनुपलब्ध हैं। अतः ये दोनों नामशेष मात्र हैं।

चतुर्मुख की चर्चा विद्वानों ने बहुत की है। प्रारम्भ में प्रो० मोदी ने चतुर्मुख और स्वयंभू को एक ही कवि समझ लिया था[४]। पं० नाथूराम प्रेमी ने अनेक प्रमाणों से यह स्पष्ट कर दिया है कि चतुर्मुख और स्वयंभू दो कवि हैं।[५] हरिषेण ने अपनी 'धर्मपरिक्खा' में, पुष्पदंत ने 'महापुराण' में, कनकामर ने 'करकंडुचरिउ' में और स्वयं स्वयंभू देव ने भी अपने ग्रन्थों में चतुर्मुख का स्वतंत्र रूप से स्मरण किया है और वह इतना स्पष्ट है कि किसी शंका का स्थान नहीं रहता।[६] डा० भायाणी ने स्वयंभू छंदस् में उद्धृत चतुर्मुख की कविताओं से स्वयंभू की पंक्तियों की तुलना करके यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि स्वयंभू ने विमलसूरि और रविषेण के काव्यों के अतिरिक्त चतुर्मुख के 'पउमचरिउ' से भी बहुत कुछ ग्रहण किया है।[७] इन प्रयत्नों के फलस्वरूप चतुर्मुख के अस्तित्व के सम्बन्ध में तो विश्वास किया जाने लगा है, किन्तु उनका 'पउमचरिउ' भी अद्यापि अनुपलब्ध है। अतः चतुर्मुख की भी केवल सूचना ही उपलब्ध है।

उपलब्ध ग्रन्थों में स्वयंभू देव का 'पउमचरिउ' अपभ्रंश का प्रथम महाकाव्य है। स्वयंभू के पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू ने पिता की कृति में ही कुछ अंश जोड़कर अपने कर्तृत्व का परिचय दिया है। स्वयंभू के 'पउमचरिउ' के अतिरिक्त पुष्पदंत के महापुराण[८] की राम-कथा और रइधू का 'बलहद्दचरिउ'[९] भी प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

स्वयंभू का रचना-काल सन् ८४० ई० से ६२० ई० के मध्य माना जाता है।[१०] उनका 'पउमचरिउ' ६० सन्धियों और १२ हजार श्लोक प्रमाण का महाकाव्य है। पूरी पुस्तक पाँच काण्डों—विद्याधरकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड और उत्तरकाण्ड—में विभक्त है। इसमें ८३ सन्धियाँ स्वयंभू की और शेष उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू की लिखी कही जाती हैं। स्वयंभू के पिता का नाम मारुतदेव और माता का नाम पद्मिनी था। मारुतदेव स्वयं कवि थे। स्वयंभू ने स्वयंभू छंदस् में उनके एक दोहे को उदाहृत किया है।[११] आदित्याम्बा और अमृताम्बा ये स्वयंभू की दो पत्नियाँ थीं। उनके अनेक पुत्रों में केवल त्रिभुवन ही ऐसे थे, जो बाण-पुत्र की भाँति पिता के कृतित्व को

३ प्रभव क्रमतः कीर्ति ततो नुत्तरवाग्मिनम्।
लिखितं तस्य संप्राप्य रवेर्यत्नो यमद्‌गतः। पद्मपुराण १–४२।

४ भारतीय विद्या, वर्ष १, अंक २–३।

५ भारतीय विद्या, वर्ष २, अंक १।

६ प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ १६६ टिप्पणी।

७ डॉ० भायाणी, पउमचरिउ भाग ३ भूमिका, पृष्ठ ४५–४६।

८ डॉ० पी० एल० वैद्य द्वारा सम्पादित और माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई द्वारा प्रकाशित।

९ आमेर शास्त्र-भण्डार में पाण्डुलिपि के रूप में सुरक्षित।

१० डॉ० भायाणी, पउमचरिउ भाग ३ की भूमिका, पृष्ठ ४०–४१।

११ लाउ मित्त भ्रमंतेण रअणाअर चंदेण।
सो सिज्जन्ते सिज्जइ वि तह भरइ भरंतेण॥ ४–६।

आगे बढाने के योग्य थे । स्वयभू शरीर से पतले, ऊंचे, चपटी नाक तथा बिरल दाँतवाले थे ।[12] पुष्पदत के 'महापुराण' के टिप्पणक में उन्हें 'आपुली सघीय'[13] बताया गया है । प्रेमी के अनुसार जैनो की 'यापनीय शाखा' या 'आपुलीसघ' के विद्वानो की एक विशाल परम्परा प्राप्त होती है । स्वयभू भी इसी शाखा के कवि थे ।"[14]

पुष्पदत १०वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हुए थे, उन्होने महामात्य भरत के आग्रह से 'तिशरिट महापुरिष गुणालकारु' या महापुराण की रचना की । यह दो भागो मे विभक्त है—आदि पुराण और उत्तरपुराण । उत्तरपुराण की ६९वी से ७९वी सधि तक रामकथा का वर्णन है । महापुराण मे पुष्पदत के लिए अभिमानमेर, अभिमान चिह्न, काव्य-रत्नाकर, कविकुलतिलक, सरस्वतीनिलय, कब्बपिसल्ल (काव्यपिशाच) आदि अनेक उपाधियों का प्रयोग किया गया है । उन्ही उपाधियो से उनके व्यक्तित्त्व का अनुमान किया जा सकता है । शिवसिह ने किसी अनुश्रुति के आधार पर राजा 'मान' के दरबारी कवि 'पुष्पभाट' का उल्लेख किया है । विद्वानो का 'अनुमान है कि यह पुष्प और कोई नही, सुप्रसिद्ध अपभ्रश कवि पुष्पदन ही थे ।[15]

रईधू[16] १५वी शताब्दी के अन्त और १६वी शताब्दी के प्रारम्भ मे हुए थे । इनका 'पद्मपुराण' या 'बलद्दउ चरिउ' ग्यारह सधियो और २६५ कडबको का राम-काव्य है । कवि ने हरिसिह साहु की प्रेरणा से उस ग्रन्थ की रचना की थी ।

कथानक और परम्परा—अपभ्रश काव्यो मे रामकथा के दो रूप दिखाई देते हैं । ये दोनो रूप जैन-साहित्य मे परम्परा के रूप मे ग्रहण कर लिये गए हैं । एक परम्परा का आधार विमलसूरि द्वारा लिखित 'पउमचरिय' की कथा है और दूसरी का आधार गुणभद्राचार्य के उत्तर पुराण की रामकथा । विमलसूरि की परम्परा ही अधिक लोकविश्रुत हुई और अधिकाश कवियों मे इस परम्परा को ही अधिक समादृत किया । विमलसूरि की परम्परा के अनुसार रामकथा का रूप निम्नलिखित है —

'अयोध्या के राजा दशरथ की कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी और सुप्रभा नामक चार रानियो से, राम, लक्ष्मण भरत और शत्रुघ्न नामक पुत्र उत्पन्न हुए । राजा जनक की विदेहा नामक रानी से सीता का जन्म हुआ । भामडल जनक का पुत्र था । रावण, कुम्भकर्ण, चन्द्रनखा और विभीषण रत्नश्रवा और केकसी की सन्तानें थी । इन्द्र, यम, वरुण, आदि देवता न होकर साधारण राजा थे । चद्रनखा का खरदूषण से विवाह हुआ था । उसकी पुत्री अनगकुसुमा हनुमान को व्याही गई थी ।

सीता स्वयवर और कैकेयी का वर माँगना आदि प्रसग वाल्मीकि के रामायण के अनुसार ही दिए गए हैं, किन्तु सीताहरण का प्रसग भिन्न है । चन्द्रनखा और खरदूषण का पुत्र शम्बूक सूर्यहास खड्ग की प्राप्ति के लिए तपस्या कर रहा था । लक्ष्मण ने भूल से उसका वध कर डाला । यह समाचार सुनकर रावण वहाँ पहुँचा । वह सीता के रूप को देखकर मुग्ध हो गया । उस समय लक्ष्मण जगल में गए हुए थे और राम सीता के पास थे । लक्ष्मण ने राम को बुलाने के लिए सिह-

[12] अइतणुएण पईहर गत्ते । छिब्बर णासें पविरल दते । पं० च० १–२–११ ।

[13] 'सयंभुः पद्धड़ीबद्धकर्त्ता आपलीसंघीय ।" महापुराण पृ० ९ ।

[14] प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास (द्वि० से०) पृ० ७२ ।

[15] हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य पृष्ठ ८ ।

[16] रइधू के 'बलद्दउचरिउ' और 'मेघेश्वर चरित' की पाण्डुलिपियाँ आमेर शास्त्र-भांडार में सुरक्षित है ।

नाद का संकेत निश्चित कर रक्खा था। रावण ने लक्ष्मण की ही भाँति सिंहनाद किया, जिसे लक्ष्मण का सिंहनाद समझकर राम अत्यन्त व्याकुल होकर लक्ष्मण की सहायता के लिए चल पड़े तो रावण को सीताहरण का अवसर मिल गया।

विमलसूरि के अनुसार समुद्र एक राजा का नाम था जिसे नील ने युद्ध मे पराजित किया था। लक्ष्मण को शक्ति लगने पर द्रोणमेघ की कन्या विशल्या ने अपनी चिकित्सा से उन्हे ठीक किया था। लक्ष्मण ने विशल्या से विवाह कर लिया। रावण का वध लक्ष्मण के ही हाथो से हुआ। अयोध्या मे लौटकर राम ने अपनी आठ हजार और लक्ष्मण ने तेरह हजार रानियो के साथ राज्य किया। लोकापवाद के कारण सीता का निर्वासन और उनकी अग्नि-परीक्षा के प्रसग वाल्मीकि के अनुसार ही हैं। अग्निपरीक्षा के पश्चात् सीता ने एक आर्यिका से जैन-धर्म की दीक्षा ले ली। एक दिन दो देवताओ ने राम-लक्ष्मण के पारस्परिक प्रेम की परीक्षा लेने के लिए लक्ष्मण से कहा कि राम का देहान्त हो गया। लक्ष्मण ने शोक से व्याकुल होकर प्राणो का परित्याग कर दिया और अन्त मे नरक मे गए। राम ने भी उदास होकर जैनधर्म मे दीक्षा ले ली और मोक्ष की प्राप्ति की।

गुणभद्राचार्य की परम्परा के अनुसार रामकथा अनेक प्रसगों मे भिन्न है। राजा दशरथ वाराणसी के राजा थे। उनकी रानी सुबाला से राम, कैकेयी से लक्ष्मण और बाद मे अयोध्या में किसी अन्य रानी से भरत और शत्रुघ्न पैदा हुए थे। इस परम्परा के अनुसार सीता रावण की पत्नी मदोदरी की पुत्री थी, जिसे अमगलकारिणी जानकर उसे एक मजूषा मे रखवाकर उसने मारीच द्वारा मिथिला में गडवा दिया था। हल की नोक से उत्पन्न इस कन्या का पालन-पोषण जनक ने पुत्री के रूप में किया। बहुत दिनो के पश्चात् राजा जनक ने अपने यज्ञ की रक्षा के लिए राम-लक्ष्मण को बुलवाया। यज्ञ की समाप्ति पर उन्होने सीता का विवाह राम से कर दिया। दशरथ की आज्ञा से राम-लक्ष्मण दोनो वाराणसी मे रहने लगे। इस परम्परा में कैकेयी के वरदान और राम के वनवास की कथा नही दी गई है। पचवटी, दडकवन, जटायु, शूर्पणखा, खरदूषण आदि के प्रसगों का भी अभाव है।

नारद ने रावण से सीता के सौन्दर्य की प्रशसा की। राजा जनक ने उसे अपने यज्ञ मे आमन्त्रित नही किया था, इससे वह पहले से ही क्रोधित था। अत मारीच को स्वर्णमृग बनाकर उसने सीता का अपहरण कर लिया। उस समय राम और सीता वाराणसी के निकट चित्रकूट वाटिका में विहार कर रहे थे। युद्धकाड मे हनुमान ने राम की सहायता की। रावण लक्ष्मण के द्वारा मारा गया। अयोध्या मे लौटने पर राम की आठ हजार और लक्ष्मण की सोलह हजार रानियाँ थी। सीता-निर्वासन की कथा इस परम्परा मे नही आती। लक्ष्मण किसी असाध्य रोग से ग्रस्त होकर मरे और रावण-वध के कारण नरक में गए। राम ने लक्ष्मण के पुत्र पृथ्वीसुन्दर को राज्य देकर जैन धर्म की दीक्षा ले ली। सीता ने भी अनेक रानियों के साथ जैन धर्म मे दीक्षित होकर अक्षय स्वर्ग की प्राप्ति की।

स्रोत—जैन-रामकाव्यो मे प्रचलित दोनो कथानक-परम्पराओ को देखकर यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि उनमें भिन्नता क्यों है? क्या ये कथाएं विभिन्न स्रोत-मूलो से अनुस्यूत हुई हैं?

विमलसूरि ने अपने 'पउमचरिय' में कहा है कि उस पद्मचरित को कह रहा हूँ जो आचार्यों की परम्परा से चला आ रहा है और नामावली से निबद्ध है।[१] इससे यह ज्ञात होता है कि 'रामचन्द्र

[१] णामावलियनिबद्धं आयरिय परंपरा गयं सब्बं।
वोच्छामि पउमचरियं अहाणु पुब्बिं समासेण ।। प० च० ८।

का चरित्र उस समय तक केवल नामावली के रूप में था। अर्थात् उसमें कथा के प्रधान-प्रधान पात्रों के, उनके माता-पिताओं, स्थानों और भवान्तरों आदि के नाम ही होंगे, वह पल्लवित कथा के रूप में न होगा और उसीकी विमलसूरि ने विस्तृत चरित के रूप में रचना की होगी।'[१८] गणितानुयोग के ग्रन्थ 'तिलोय पणत्ति' में त्रिशष्टि शलाका महापुरुषों की नामावली तो दी गयी है, पद्मचरित सम्बन्धी पात्रों की नामावली भी उसमें मिल जाती है। विमलसूरि को रामकथा से सम्बद्ध पात्रों की नामावली 'तिलोय पणत्ति' से मिली होगी और इन पात्रों की कथाएँ उन्हें आचार्य-परम्परा से मिली होगी। बहुत सम्भव है कि विमलसूरि ने जिस आचार्य-परम्परा की ओर संकेत किया है, उसने वाल्मीकिकृत रामायण की कथा को भी आत्मसात् कर लिया है।

गुणभद्राचार्य की परम्परा में सीता की उत्पत्ति आदि की जो कथाएँ मिलती हैं उनका पूर्व-रूप वसुदेव हिंडि के द्वितीय खण्ड में भी प्राप्त होता है। वसुदेव हिंडि के कर्त्ता धर्मसेन गणि ने भी गणितानुयोग के क्रम-निर्देश और आचार्य-परम्परा की ओर संकेत किया है।[१९] पुष्पदन्त ने उसी परम्परा को ग्रहण किया है। वाल्मीकि और व्यास पुष्पदन्त के निकट परिचित थे। रामायण के पात्रों के सम्बन्ध में गलत धारणाओं के प्रचार का दोष उनके सिर मढ़कर ही पुष्पदंत ने रामकथा का उद्धार करने का प्रयास किया। डॉ० पी० एल० वैद्य के अनुसार व्यास और वाल्मीकि समस्त रामकथाकार जैन कवियों के लिए परिचित थे। उन्होंने राम-लक्ष्मण के जीवन पर नवीन प्रकाश डालने के लिए ही रामचरित काव्यों की रचना की।[२०]

विमलसूरि, स्वयंभू और पुष्पदन्त आदि जैन-कवियों की रचनाओं पर वाल्मीकि कृत 'रामायण' का प्रभाव स्पष्ट है, यद्यपि इन कवियों ने सम्प्रदायगत सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए बहुत-कुछ परिवर्तन भी किया है। 'रामायण' को आदि काव्य के रूप में स्वीकार करते हुए हमें यह सोचने का अवसर मिल जाता है कि इस काव्य की रचना के पूर्व भी अवश्य ही कहीं नामावली का निबद्ध रूप रहा होगा और आदि कवि को आचार्य-परम्परा से न सही, लोक-परम्परा से ही राम की कथाएँ विभिन्न रूपों में बिखरी मिली होगी। विशाल वैदिक साहित्य में इतस्ततः बिखरे राम-कथा सम्बन्धी पात्रों के उल्लेख 'नामावली-निबद्धता' की ही सीमा में आते हैं। वाल्मीकि ने सम्भवतः उन्हीं नामों को आधार बनाकर सर्वप्रथम लोक-परम्परा-चरित इतिवृत्तों को परस्पर आबद्ध और काव्यबद्ध किया था।

डॉ० वेबर, डॉ० ग्रियर्सन और दिनेशचन्द्र सेन प्रभृति विद्वानों ने बौद्ध धम्मपद की टीका और सुत्त निपात की टीका में वर्णित शाक्यों और कोलियों की उत्पत्ति और विमाता के द्वेष आदि की कथाओं के आधार पर निर्मित 'जातकट्ठवण्णना' के दशरथ-जातक को ही रामकथा का मूल माना है। कुछ पश्चिमी विद्वानों ने तो रामायण की कथा को होमर आदि का अनुकृति कहने में भी संकोच नहीं किया है। डॉ० हरमन याकोबी और एम० विन्टरनित्ज आदि ने इन बातों का खण्डन किया है। उन तथ्यों पर विचार करते हुए डॉ० कामिल बुल्के ने यह निष्कर्ष निकाला है कि रामायण की रचना के पूर्व त्रिपिटक के रचना-काल में राम-कथा सम्बन्धी स्फुट आख्यान काव्य

---

[१८] प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ९५।

[१९] 'अरहंत चक्कि-वासुदेव-गणितानुयोग-क्रमणिद्दिट्ठ वसुदेवचरितं ति। तत्थ च किंचि सुयनिबन्धं किंचि आयरियपरंपरागएण आगतं ततो अवधारितं मे।' वही, पृष्ठ ९५ पाद-टिप्पणी से उद्धृत।

[२०] पुष्पदन्त का महापुराण, भाग २, पृष्ठ ५४६ टिप्पणी ३।

प्रचलित हो चुका था।[११] किन्तु रामायण पर परोक्ष प्रभाव के सम्बन्ध मे उतना निश्चयात्मक उत्तर नही दिया जा सकता। इस तरह हम देखते है कि 'रामायण' रामचरित का आदि काव्य है। यद्यपि जैन-रामकाव्यकार कवियो ने खीझकर वाल्मीकि और व्यास के प्रति रोष-भाव व्यक्त किया है,[१२] तथापि 'रामायण' के प्रभाव से उन्हे सर्वथा निलिप्त नही माना जा सकता। उन्होने जानबूझ कर धार्मिक पूर्वग्रह के कारण कथाओ मे परिवर्तन लाने का प्रयास किया है।

जैन विद्वान् अपने गुरुओं और आचार्यों के प्रति अधिक निष्ठावान् दिखाई देते है। आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट मार्गों पर चलना वे अपना कर्तव्य मानते है। जब जैन-धर्म श्वेताम्बर, दिगम्बर, यापनीय आदि अनेक खण्डो मे विभक्त हो गया, तो आचार्यों की विभिन्न परम्पराओ ने भी अपनी विशिष्टता ज्ञापित करने के लिए प्रत्येक बात मे भिन्नता उपस्थित करने का प्रयास किया। फलत परम्परागत रामकथाओं मे भी कुछ परिवर्तनो का होना आवश्यक ही था। उन्ही परिस्थितियो मे जैन-रामकाव्यो मे भी तो कथानक-परम्पराएँ चल पडी।

अपभ्रश रामकाव्यकार कवि स्वयभू देव और रइधू ने विमलसूरि की परम्परा को ग्रहण किया है और पुष्पदन्त ने गुणभद्राचार्य की परम्परा को।

कुछ दिनो पूर्व तक तुलसीदास के 'रामचरित' का अध्ययन करते हुए विद्वानो की दृष्टि सीधे वाल्मीकि के 'रामायण' पर ही जाकर टिकती थी। वाल्मीकि और तुलसीदास का सीधा सम्बन्ध स्थापित करते हुए, कुछ लोगो ने यह भी घोषणा कर दी थी कि तुलसीदास वाल्मीकि के ही अवतार थे।[१३] इधर बीसवी शती के द्वितीय दशक से ही खोज के फलस्वरूप प्राकृत और अपभ्रश के राम-काव्य मिलने लगे है। इन ग्रन्थो की उपलब्धि से साहित्य का इतिहास ही नही, आलोचना का मानदण्ड भी बदलता दिखाई दे रहा है।

'पउमचरिउ' का अवलोकन करने के बाद स्वर्गीय प० राहुल साकृत्यायन ने अत्यन्त उल्लसित होकर उसे हिन्दी का प्रथम महाकाव्य और स्वयभू को हिन्दी का सबसे बडा महाकवि घोषित कर दिया था।[१४] राहुल जी की इस घोषणा के फलस्वरूप विद्वानो को राम-साहित्य के अध्ययन की एक नयी दिशा मिल गई। विशेष रूप से हिन्दी-रामसाहित्य के अध्ययन मे अपभ्रश रामकाव्यो को उपयोगी और आवश्यक समझा जाने लगा। वाल्मीकि से लेकर बाबू मैथिलीशरण गुप्त तक भारतीय रामसाहित्य की एक विशाल परम्परा चली आ रही है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के मौलिक उपादानो के दर्शन रामकाव्यो मे सरलतापूर्वक हो जाते है। इस विशाल परम्परा मे भारतीय जन-मानस के सहस्राब्दियों का इतिहास भरा पडा है। ७वी शताब्दी से १६वी शताब्दी तक के जनमानस के श्वासोच्छ्वासो की गणना और उनकी सभ्यता और संस्कृति के विकास का अध्ययन अपभ्रश रामकाव्यो के माध्यम से ही किया जा सकता है। अत अपभ्रश रामकाव्यो के क्रमबद्ध अध्ययन की महान् आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा है। यह कार्य कुछ श्रमसाध्य अवश्य है, क्योकि इस काल का अधिकाश साहित्य अप्रकाशित पाण्डुलिपियो के रूप मे विभिन्न भाण्डारो मे पडा हुआ है। तथापि उनका अध्ययन आवश्यक है। इनसे इतिहास, साहित्य, कला और संस्कृति के अध्ययन को एक नयी दिशा मिलने की पूरी सम्भावना है।

---

[११] रामकथा, पृष्ठ ९९।

[१२] 'वम्मीय वासु वयणिहि णाणिउ, अण्णाणु, कुम्मग्गकूवि पडिउ।' पुष्पदन्त, महापुराण, भाग २, १०-९-३-११।

[१३] 'कलि कुटिल जीव निस्तार हित, वाल्मीकि तुलसीभयो।'

[१४] काव्यधारा, अवतरणिका, पृष्ठ ५०।

अठारहवीं शती का जैन गुर्जर काव्य

डॉ० श्यामसुन्दर शुक्ल

जैन-धर्म पुरुषार्थ एव निवृत्तिमार्गी साधनापथ है। भारतीय सस्कृति के मध्ययुग मे इस धर्म को प्राय सभी दिशाओ से आनेवाली आँधियो से यद्यपि सघर्ष करना पडा तथापि वैदिक एव बौद्ध मतो की अपेक्षा जैन मत अपनी आचार-शुद्धता तथा परम्परागत मूलभूत सिद्धान्तो की रक्षा मे अपेक्षाकृत अधिक सफल हुआ। परिस्थितिवश कालान्तर मे जैन मत केवल राजस्थान और गुजरात तक ही सीमित रह गया, फिर भी इसके श्वेताम्बर एव दिगम्बर मतानुयायी श्रावको ने लोक-भाषा मे प्रचुर साहित्य-रचना की। अब तक इस मत का जितना साहित्य ज्ञात है, वह परिमाण या सख्या की दृष्टि से हिन्दी भाषा मे रचित वैष्णव-साहित्य से कम नही है।

सहस्रो की सख्या मे जैन-ग्रन्थ देश के विविध जैन-ग्रथागारो एव भण्डारो मे अभी भी सुरक्षित पडे हुए हैं। इनमे से अधिकाश तक शोधकर्ताओ तथा ग्रथान्वेषको की अभी तक पहुँच भी सभव नही हो पाई है। विशेषत. ये ग्रन्थ पाटन, कैम्बे (खभात), जेसलमेर तथा अहमदाबाद के जैन उपाश्रयो, सामूहिक ग्रथागारो और व्यक्तिगत सग्रहालयो मे उपलब्ध हैं। अभी तक यह विशाल साहित्य-राशि गुप्त ही रह गई, जिसका एक मुख्य कारण इस बात का भय प्रतीत होता है कि विधर्मियो या जन-सामान्य के हाथो पडकर ये पवित्र धार्मिक ग्रन्थ कही दूषित न हो जायँ। इन ग्रन्थो की गोपनीयता का दूसरा कारण सभवत' यह भी हो सकता है कि व्यापारकुशल जैन-समाज का ध्यान इन ग्रथो के सग्रह, सकलन, सपादन तथा प्रकाशन की ओर २० वी शती के पूर्व आकर्पित ही नही हो सका था। अब इस दिशा मे अनेक विद्वानो एव सस्थाओ की ओर से उचित प्रयत्न हो रहे हैं।

जैन मुनि श्री शीलगुणसूरि द्वारा पालित बनराज चावडा के राज्य-काल मे जैन-समाज गुजरात का अत्यन्त सम्मानित एव समृद्ध वर्ग था। महाराज कुमारपाल के समय में यह समाज चरमोत्कर्ष पर था। इसी युग के बीच सर्वाधिक ग्रन्थ-रचना हुई। जैन श्रावको ने अपने सिद्धान्तो और उपदेशो के प्रचार और प्रसार के निमित्त जनवाणी में अनेक रास एव चौपई ग्रन्थो की रचना की। वि० स० १५०० से १८०० के बीच लगभग ४०० रास-ग्रन्थो के रचे जाने की सूचना मिलती है। इन रास-ग्रन्थो मे गुजरात की सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक परिस्थितियो का यथातथ्य चित्र मिलता है। ये फाग, प्रबन्ध, स्तुति, विवाहलो, प्रबन्ध रास और चौपई ग्रन्थ ज्ञानराशि से पूर्ण एव ऐतिहासिक तथ्यों के आगार हैं।

इतनी बडी सख्या मे काव्य-रचना का मुख्य श्रेय है जनसमाज में जैन-मुनियो को मिली विशिष्ट सुविधा को। मुनियो के पास साधनो और समय का अभाव बिलकुल नही था। वे पर्याप्त साधन-सम्पन्न एव व्यक्तिगत योग-क्षेम की चिन्ता से मुक्त थे। जैन-समाज की धर्म-निष्ठा, दानवृत्ति और धार्मिक साहित्य के संग्रह की वृत्ति भी प्रशंसनीय है। यही कारण है कि जैन साधु गुजराती,

हिन्दी, राजस्थानी, सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश एवं पच-मेल भाषा में प्रचुर साहित्य रचना करने की प्रेरणा पा सके। वे केवल पद्य-रचना तक ही सीमित नही थे। उन लोगो ने व्याकरण-उपाख्यान, साहित्यशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा अनेक अन्य विषयो की रचना गद्य, पद्य या मिश्रित शैली मे की।

यद्यपि इस लेख मे १८वी शती के जैन गुर्जर काव्य की एक सक्षिप्त परिचयात्मक सूची मात्र देने की चेष्टा की गई है तथापि साथ ही साथ यह बता देना भी आवश्यक है कि ये सभी रचनाएँ साहित्यिक महत्त्व की नही हे। हिन्दी की निर्गुण-काव्यधारा की भाँति इस परम्परा की भी अधिकाश कृतियाँ केवल साप्रदायिक महत्त्व रखती हे। अपनी गुरुपरम्परा का परिचय, सप्रदाय का इतिहास, तत्तद् साप्रदायिक सघो के सहायक व्यापारियो, दानियो अथवा जमीन्दारो जागीरदारो आदि की सस्तुति, सघो द्वारा आयोजित तीर्थयात्रा, दीक्षोत्सव, प्रवचनादि कार्यक्रमो का परिचय, मदिर, उपाश्रय एव सार्वजनिक हित की दृष्टि से किये गये निर्माण-कार्यों का लेखा-जोखा, कतिपय आदर्श राजाओ का चरित्र-गान, साप्रदायिक सिद्धान्तो से युक्त सज्जाओ (स्वाध्यायो) की रचना, उपदेश-मूलक कथाओ का सकलन आदि इन कवियो की रचनाओ के मुख्य विषय हे। केवल कोरा बुद्धिवाद ही उनका मुख्य प्रेरणा-स्रोत रहा हो यह भी बात नही है। अनेक जैन-मुनियो ने शृगारपरक रचनाएँ भी की हे।

प्रथम पचीसी (स० १७०० से १७२५) के कवि और उनकी कृतियाँ:—

आनन्दघन—इनके अन्य नाम लाभानन्द और लाभविजय भी है। इनका जीवनवृत्त बहुत ही कम ज्ञात है। श्री महावीर प्रभु के वे एक योगी शिष्य थे। तत्कालीन तथा परवर्ती कुछ जैनमुनियो ने उनका उल्लेख अपनी रचनाओ मे एक अनुभवी आगमज्ञाता और तत्त्वज्ञानी के रूप मे किया है। एक कवि के रूप मे उनकी वाणी गूढ़ाशयपूर्ण एव सुललित है। अन्य धार्मिक सुधारको की भाँति उनका भी दृष्टिकोण अत्यन्त उदार और व्यापक था। वे धार्मिक रूढिवादिता एव सकुचितता के विरोधी थे। उनके समकालीन श्री यशोविजय जी ने अपनी 'अष्टपदी' मे उनकी बडी प्रशसा की है। मुनि ज्ञानसागर जी ने उनके विषय मे कहा है—

आशय आणन्दघन तणो अति गभीर उदार।
बालक बाँह पसारिने कहे उदधि विस्तार।।

सभवत आनन्दघन का स्वर्गवास मेड़ता (राजस्थान) मे हुआ था, क्योकि वृद्धावस्था मे वे वही रहते थे। उनकी रचनाओ मे 'आनन्दघन चौबीसी' (बाईसी ?), 'अध्यात्मपद बहोतरी' और 'आनन्दघन बहोतरी' का उल्लेख मिलता है। ५० पदों का (व्याख्या सहित) एक ग्रन्थ 'आनन्दघन पद्य रत्नावली' का प्रकाशन जैन-धर्म-प्रसारक-मण्डल की ओर से हुआ है। इनका रचनाकाल स० १६८७ से १७२५ वि० तक माना जा सकता है।

विनयविजय—इनका जन्म एक वैश्य परिवार मे हुआ था। इनके पिता का नाम तेजपाल और माता का राजश्री था। बाल्यावस्था मे ही मुनि कीर्तिविजय जी से दीक्षित होकर वे विद्या-ध्ययन के हेतु काशी चले आये थे। इनकी रचनाओ में कल्पसूत्र की 'सुखबोधिका' टीका (स० १६६६) 'लोकप्रकाश' (स० १७०८), 'हैम लघु प्रक्रिया' से सबद्ध एक व्याकरण ग्रन्थ तथा अनेक सस्कृत एव गुजराती के ग्रन्थो का समावेश है। विनयविजय जी अद्भुत प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। इनकी 'नेमिनाथ-भ्रमर-गीता' की कुछ पक्तियाँ द्रष्टव्य है —

प्रणमिअ सरसती बरसती, वचन सुधारस सार ।
नेमि जिणेसर गाइअइ पाइअँ हरष अपार ।।
यान लेइ जब आविया, यादव तोरण बारि ।
गोषि चढी तब निरषई, हरषे राजुल नारि ।।

इनके लोकभाषारचित उपधान स्तवन, धर्मनाथ स्तवन, नेमिनाथ बारहमासा, पुण्यप्रकाश नु स्तवन, १४ गुण स्थानक वीर स्तवन, आदिनाथ बारहमासा, अध्यात्मगीता एव श्रीपाल राम आदि काव्य-ग्रन्थ भाव और भाषा की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। इनकी भाषा हिन्दी के पर्याप्त निकट है। तत्सम-युक्त होने से वह हिन्दीभाषियो के लिए भी सुबोध्य है।

यशोविजय—ये तार्किक शिरोमणि, प्रखर विद्वान् एव बडे ही प्रभावशाली महात्मा थे। कतिपय विद्वानो का मत है कि हेमचन्द्र आचार्य के पश्चात् सर्वशास्त्रपारगत, सूक्ष्मद्रष्टा और बुद्धि-निधान यशोविजय के सदृश जैन-मत मे कोई हुआ ही नही।[1] इनका आरभिक जीवन-वृत्त अज्ञात है। इनके गुरु श्री कल्याणविजय भी बडे प्रभावशाली व्यक्ति थे। इनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर स० १७१८ मे श्री विजयप्रभसूरि ने इन्हे 'वाचक-उपाध्याय' की उपाधि प्रदान की थी। काशी के पडितो से उन्हे 'न्यायविशारद' की उपाधि मिली थी। १०० ग्रन्थों की रचना कर लेने के बाद ये 'न्यायाचार्य' पद से विभूषित हुए। इनकी काशी मे रचित पुस्तके प्राप्त नही है। गुजरात मे आने के पश्चात् रचे गये ग्रन्थो मे भी केवल २५ के ही नाम उपलब्ध है, जो प्राय सभी सस्कृत मे है। इन्होने कई स्तवनों मे आनन्दघन के प्रति भी श्रद्धा व्यक्त की है। इनकी रचनाओ मे कुछ उल्लेखनीय ग्रन्थ इस प्रकार है—वीरस्तव टीका, सिद्धान्तमजरी टीका, अलकारचूडामणि टीका, काव्यप्रकाश टीका, अनेकान्तव्यवस्था, तत्त्वार्थ टीका, आध्यात्मोपदेश, स्याद्वादरहस्य आदि। लोकभाषा मे रचित 'आनन्दघन बावीसी बालावबोध टीका', समुद्र बहाण सवाद, द्रव्यगुण पर्यायनो रास, साधुवन्दना, प्रतिक्रमण हेतु गर्भित स्वाध्याय, ११ अग नी सज्जाय, समकित ना षटस्थान स्वरूप नी चौपई, महावीर स्तवन, श्री शान्तिजिन स्तवन आदि ग्रन्थो मे कवि ने सस्कृत और लोकप्रचलित प्राय सभी प्रकार के छन्दो का उपयोग किया है। कुछ ग्रन्थो की भाषा खडी बोली के निकट है। उदाहरण के लिए निम्न पक्तियाँ द्रष्टव्य है—

हम राज पाडे किये, बोल चौरासी फेर।
या विधि हम भाषा वचन, ताको मत किये जेर ।।
है दिग्पट के वचन मे, और दोष शत साज।
केते काले डारिये, भुजत दधि अरु माख।
सत्य वचन जो सद्दहै, गहै साधु को सग।
वाचक जस कह सो लहै, मगल रग अभग ।।

प्रकरण रत्नाकर भाग १, पृ. ४

ज्ञानसागर—इनका जीवन-परिचय ज्ञात नही हो सका है। इनकी भाषाओं मे अपभ्रश राज-स्थानी एव मराठी के शब्दो का प्रचुर मिश्रण है। ऐसा लगता है कि ये हिन्दी प्रदेश से सबद्ध रहे होगे, क्योकि इनकी भाषा हिन्दी के अत्यन्त निकट है। उदाहरणार्थ ये पक्तियाँ द्रष्टव्य है—

[1] **जैनगुर्जर कविओ—द्वितीय भाग (सं० मोहनलाल दलीचंद देशाई) पृ० २०**

ग्रन्थमान श्री शान्ति के रास को श्लोक बाइसवे अरु पाँच ।
ग्रन्थागार अक्षर गुनि कीनो इनमें नहिं खल पच रे । —शान्तिनाथ रास ।

इनकी रचनाओ मे शुकराज रास (स० १७०१), धम्मिल रास (स० १७१५), इलाची कुमार रास (स० १७१६), शान्तिनाथ रास (स० १७२०), चित्र सभूति चौपई (स० १७२१), रामचन्द्र लेप (स० १७२३), आषाढभूति रास (स० १७२४), परदेशी राजा नो रास (स० १७२४), नदिषेण रास (स० १७२५) और श्रीपाल रास (१७२६) आदि विशेष उल्लेखनीय है । इनकी काव्य-कृतियो की सख्या दो दर्जन से अधिक बताई जाती है ।

जिन हर्ष—इनका भी जीवन-वृत्त अज्ञात है । जिन हर्ष का रचना-काल स० १७०४ से १७६१ तक माना जा सकता है । इनकी भाषा मे जहाँ एक ओर खडी बोली के प्रयोग मिलते है, वहीं दूसरी ओर आवा, गवा, पावा आदि अवधी के शब्द भी घुले-मिले दिखाई देते है । मूलत इनकी भाषा गुजराती ही रही होगी, परन्तु राजस्थानी, खडी बोली, उर्दू, अवधी और भोजपुरी के शब्दप्रयोग इस बात के साक्षी है कि ये बहुश्रुत एव बडे ही भ्रमणशील रहे होगे । सवैया तथा कवित्त आदि मे छन्द-रचना करना इनकी साहित्यिक रुचि का परिचायक है । इनके राम और कृष्ण सम्बन्धी पद बहुधा हिन्दी मे है । अन्य जैन-कवियो की अपेक्षा इनकी साधना सम्बन्धी उदारता हम उस मान्यता की ओर भी प्रेरित करती है कि सभवत ये आरम्भ मे स्मार्त मतावलम्बी रहे होगे और बाद मे जैन मत मे दीक्षित हुए होगे । भाषा के लिए निम्न पक्तियाँ उदाहरण स्वरूप देखिए—

सुख सपति दायक नरसुरनायक परतिक पास निणदा है ।
जाकी छबि काति अनूपम ऊपम दीपति जाणि जिनन्दा है ।
—पार्श्वनाथ नीसाणी ।

सीता गुरु की सेव करूँ, जपूं तो लक्ष्मण राम ।
सीता हनुमत गावता, सफल सदा होय काम ।।
—सीतामुद्रडी ।

क्षौर सुसीस मुडावत हैं, केई लब जटा सिर केई रखावैं,
लुचन हाथ मूँ कोई करैं, रहैं मौन दिगबर कोई कहावै ।।
राख मूँ कोई लपेट रहै, कोई अग पँचागनि माहि तपावैं,
कष्ट करैं जमराज बहू तप, ज्ञान बिना शिवपथ न पावै ।। आदि
—जसराज बावनी ।

इनकी कृतियो की सख्या भी पर्याप्त है । वैसे तो सभी प्रचलित लोक-विधाओ मे इनकी रचनाएँ मिलती है, पर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है इनके रास-सम्बन्धी ग्रन्थ । इनमे विशेष उल्लेखनीय ग्रन्थ निम्न-लिखित है—

मत्स्योदर रास (स० १७१८), शुकराज रास (१७३८), श्रीपाल राजा नो रास (१७४०), रत्नसिंह राजर्षि रास (१७४१), उत्तम कुमार चरित रास (१७४२), कुमारपाल रास (१७४३), अमर दत्त मित्रानन्द रास (१७४४), चन्दन मलयागिरि रास (१७४४), हरिश्चन्द्र रास (१७४४), हरिबल लाछी नो रास (१७४६), वीशस्थानक रास (१७४८), मृगाकलेखा रास (१७४८), सुदर्शन शेठ रास (१७४६), अजित सेन कनकावति रास (१७५१), गुणकरड गुणावली रास (१७५१), महाबल मलय-सुन्दरी रास (१७५१), शत्रुजय माहात्म्य रास (१७५५), सत्यविजय निर्वाण रास (१७५६), रत्नचूड-

मुनि रास (१७५७), अभयकुमार रास (१७५८), अमरसेन-जयसेन रास (१७५६), रत्नसारनृप रास (१७५६), जबूस्वामी रास (१७६०), तथा आराम शोभा रास (१७६१) आदि ।

इनके अतिरिक्त चन्दनमलयागिरि चौपई (१७०४), विद्याविलास चौपई (१७११), मगल कलश चौपई (१७१४), कन्या नी चौपई आदि अनेक चौपई-ग्रन्थ और अनेक स्फुट स्तुति-ग्रन्थ भी श्री जिन हर्ष की उत्तम कृतियाँ बताई जाती हैं ।

अभयसोम—ये मुनि सोमसुन्दर के शिष्य थे । इनका रचना-काल स० १७१० और १७३० के बीच माना जाता है । इनकी भाषा हिन्दी के पर्याप्त निकट है । अन्य वृत्त अज्ञात है । सभवत इनका स्थायी निवास राजस्थान मे ही अधिक था । इनकी रचनाओ मे वैदर्भी चौपई (स० १७११, आगरा) विक्रम चरित्र षापरा चौपई (१७२३, सिरोही), विक्रम चरित्र (लीलावती) चौपई (१७२४, मानतुग मानवती चौपई (स० १७२७) आदि प्राप्त हैं ।

वृद्धिविजय—इनका जन्म बड़नगर के पास स्थित डामली ग्राम मे हुआ था । इनके पिता का नाम आनन्द शाह और माता का नाम उत्तमदे था । इनका बाल्यनाम बोधा था । स० १७३५ मे श्री सत्यविजय गणि ने इन्हे दीक्षित किया । शास्त्रादि अध्ययन के पश्चात् ये 'पण्डित' उपाधि से विभूषित किये गये । स० १७६६ मे पाटण मे चातुर्मास करते समय इनकी इहलोक लीला समाप्त हुई । जीवविचार स्तवन (स० १७१२), नवतत्त्व विचार स्तवन (१७१३) और नय प्रमोद आदि इनकी ज्ञात रचनाएँ हैं । इनकी बहुत-सी रचनाओ का पता नही चलता ।

विद्यारुचि—ये मुनि श्री उदयरुचि के शिष्य थे । इन्होने स० १७११–१७१७ के बीच सिरोही (राजस्थान) मे रहकर अपनी 'चदराजा रास' नामक कृति की रचना की थी । इस ग्रन्थ मे ३००० के लगभग पद्य हैं । इसकी भाषा खडी बोली से बहुत कुछ प्रभावित प्रतीत होती है । उदाहरण के लिए निम्न पक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> इणपरि चदतणा गुण गाया लाभ अनन्ता पाया रे ।
> धनि धनि जग मँहि ये ऋषिराया प्रणमैं सुरनर पाया रे ।।
> सब आनन्द फली मन केरी जिन मुख देखी तेरी ।
> इम चद तणा गुण गाया लाभ अनन्ता पाया रे ।।

मेघविजय—इनका भी पूर्व परिचय अज्ञात है । मुनि श्री कृपाविजय इनके दीक्षागुरु थे । इनकी रचनाओ से पता चलता है कि ये बहुमुखी रचनात्मक प्रतिभा के व्यक्ति थे एव बहुश्रुत थे । इनकी लोकभाषा तथा सस्कृतभाषा की रचनाएँ इनकी बहुमुखी प्रतिभा के प्रमाणस्वरूप हैं । इनका 'विजय देव निर्वाण रास' दीवबदर मे स० १७२१ के आस-पास पूर्ण हुआ । श्री 'पार्श्वनाथ नाम माला', 'दशमत स्तवन', 'शासन-दीपक सज्जाय' तथा चौबीसी आदि भाषा-ग्रन्थो के अतिरिक्त देवानन्दाभ्युदय काव्य, चन्द्रप्रभा व्याकरण, सप्तसधान महाकाव्य, शान्तिनाथ चरित्र, तत्त्वगीता, धर्म-मजूषा, युक्तिप्रबोध नाटक, मेघदूत समस्या लेख, हैमचन्द्रिका आदि सस्कृत के ग्रन्थ इनकी विद्वत्ता के परिचायक हैं । इनका रचना-काल स० १७१५ से १७६५ तक माना जा सकता है ।

१८वी शती की प्रथम पचीसी के अन्तर्गत शताधिक जैनमुनियो के ब्रजभाषा, राजस्थानी, गुजराती, अपभ्रंश प्राकृत और सस्कृत भाषाओं में रचित रास, चरित्र, प्रबन्ध, सज्जाय एव विनय-ग्रन्थ मिलते हैं । भाषा, छन्द, विषय एवं रचना-पद्धति आदि की दृष्टि से इनमें बडा वैविध्य है; तथापि इन सबका उद्देश्य उपदेश-मूलक है । प्राय सभी रचनाओं में अपने संप्रदाय-विशेष के सिद्धान्तो की

प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से चर्चा है। अधिकाश अपने गुरुओ या धर्म-प्रचारक राजाओ, धनियो या राजनीतिक क्षेत्र मे प्रभावशाली व्यक्तियो के चरित्र-वर्णनो से सबद्ध हे। इस परम्परा के आरम्भिक दो-तीन दशको के कुछ प्रमुख कवि एव उनकी कृतियो का परिचय सक्षेप मे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। इससे जैन-साहित्य के प्राचुर्य्य एव वैभव का पता चलता है।

लब्धिविजय—ये गुणहर्ष के शिष्य थे। रचनाकाल १८वी शती का प्रथम दशक है। इन्होने 'उत्तमकुमार रास', 'अजापुत्र रास' और कई स्तवन-ग्रन्थो की रचना की है।

जयसोम—ये जससोम के शिष्य थे। 'भावना बेलि' (जेसलमेर, स० १७०३) एव 'गुण-स्थानक स्वाध्याय' इनकी रचनाएँ हे। भावना बेलि की भाषा राजस्थानी है। इन्होने १७०० श्लोको से युक्त ६ कर्मग्रन्थो की गद्यमयी टीका भी लिखी है।

मानविजय—ये जयविजय जी के शिष्य थे। इन्होने स० १७०२ मे 'श्रीपाल रास' नामक काव्य-ग्रन्थ की रचना की थी।

तेजमुनि—ये मुनि श्री भीमजी के शिष्य थे। इन्होने चदराजा नो रास' और 'जितारि राजा रास' नामक दो रास-ग्रन्थो की रचना की थी। इनकी भाषा राजस्थानी गुजराती मिश्रित है।

लब्धोदयगणि—इनके गुरु श्री ज्ञानराज गणि थे। 'पद्मिनी चरित्र' (स० १७०१) इनकी उच्च कोटि की रचना है। इस काव्य की भाषा डिंगलमिश्रित राजस्थानी प्रतीत होती है।

सुमतिहंस—इनका परिचय पूर्णतया अज्ञात है। 'चदनमलयागिरि चौपई' नामक इनका एक प्रबन्ध ग्रन्थ प्राप्त है।

इन्द्रसौभाग्य—ये सत्यसौभाग्य सूरि के शिष्य थे। 'जीवविचारप्रकरण' नामक इनका एक ग्रन्थ प्राप्त है। ये सभवत स० १७५० तक जीवित थे।

अभयसोम—ये खरतरगच्छीय मुनि श्री सोमसुन्दर के शिष्य थे। इनका अन्य परिचय ज्ञात नही है। वैदर्भी चौपई (स० १७११), विक्रमचरित्र चौपई (स० १७२३), विक्रमचरित्र (लीलावती) चौपई (स० १७२४) और मानतुग मानवति चौपई (१७२५) इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हे। इन कृतियो की भाषा यद्यपि गुजराती है, परन्तु खडी बोली के क्रियापदो का बे-छूट प्रयोग किया गया है।

उत्तरसागर—ये तपागच्छ श्री कुशलसागर के शिष्य थे। 'त्रिभुवनकुमार रास' (स० १७१२) के रचयिता भी थे। अन्य परिचय अज्ञात है।

आणन्दवर्द्धन—इनकी 'चौबीसी' हिन्दी भाषा मे रचित है।

गजकुशलगणि—ये मुनि श्री गजकुशल के शिष्य थे। 'गुणावली गुणकरड रास' की रचना इन्होने स० १७१५ में की थी।

पद्मचन्द्र—ये पद्मरग के शिष्य तथा 'जबुस्वामी रास' के रचयिता थे। इस रास-ग्रन्थ की भाषा बड़ी ही सुबोध एव हिन्दी से मिलती-जुलती है।

पद्मविजय—इनकी एक कृति 'शीलप्रकाश रास' (स० १७१५) उपलब्ध है।

केशरकुशल—इनका परिचय सर्वथा अज्ञात है। 'जगडु प्रबन्ध रास' इनकी उत्तम काव्य कृति बताई जाती है।

वीरविजय—ये अहमदाबाद के ब्राह्मण कुल में पैदा हुए थे। इनका पूर्व नाम केशव था। पिता का नाम जद्रोसर और माता का विजया था। इनके दीक्षा-गुरु कनकविजय जी थे। 'विजय सिंह सूरि निर्वाण रास' इनकी प्रसिद्ध रचना है जो प्रकाशित भी हो गई है।

जयरंग (जेतसी)—इनके गुरु का नाम श्री पुण्यकलशशि था। इन्होंने 'अमरसेन वयरसेन चौपई' की रचना स० १७०० मे जेसलमेर मे की थी। 'कयवन्ना शाह नो रास' (बीकानेर, स० १७२१) के अतिरिक्त इनके भक्तिपरक कुछ स्फुट गीत भी प्राप्त हुए हे।

राजसार—ये मुनि विद्यासार के शिष्य एव 'कुलध्वज कुमार रास' के रचयिता बताये गए है।

मेरुलाभ—'चन्द्रलेखा सती रास' (स० १७०५) के रचयिता मेरुलाभ के दीक्षा-गुरु श्री विनयलाभ जी थे। इनकी भाषा सस्कृतबहुला एव दार्शनिक पदावली से बोझिल है।

ज्ञानकुशल गणि—ये मुनि श्री कीर्तिकुशल के शिष्य थे। इनका 'पार्श्वनाथ चरित' प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से बडी ही उच्च कोटि का ग्रन्थ माना गया हे। इसमे तत्कालीन जैनमत का साम्प्रदायिक इतिहास भी दिया गया है।

शुभविजय—श्री लक्ष्मीविजय जी इनके दीक्षा-गुरु थे। 'गजसिंह राजा नो रास (सपेटक-पुर, स० १७१३) इनकी राजस्थानी-गुजराती मिश्रित भाषा की उत्तम कृति है।

कांतिविजय—ये कीर्तिविजय जी के शिष्य तथा विनयविजय जी के गुरु भाई थे। सवेग रसायन बावनी' एव 'सुजसवेलि' इनकी काव्य-कृतियाँ हे।

इसी प्रकार श्रीतिलकसागर कृत 'राजसागर सूरि निर्वाण रास' (स० १७१६), माधविजय के शिष्य सौभाग्यविजय का 'विजयदेव सूरि निर्वाण सज्जाय' (स० १७१७ के लगभग), हस्तिरुचि कृत 'चित्रसेनपद्मावती रास' (स० १७१७, अहमदाबाद), उदयसूरि कृत 'सुरसुन्दरी अमरकुमार रास' (स० १७१६), जिनदास श्रावककृत 'व्यापारी रास' (१७१६) वीरविमल कृत 'भावी की कर्म रेख रास' (हिन्दी, स० १७२२) तथा 'जबूस्वामी रास' (गुजराती), सुमतिरग का 'प्रबोध चिन्तामणि' (मुलतान, स० १७२२), सूरजमुनि का 'लीलाधर रास' (स० १७२१) श्री लाभचन्द जी कृत 'विक्रम चउपई' (१७२३), 'लीलावती रास' (स० १७२८) तथा 'पाडव चरित्र चौपई' (स० १७६७), परमसागर कृत 'विक्रमादित्य रास' (१७२४) मुनि समयकीर्ति कृत 'गुरु-धर्मनिधान' तथा 'भुवनानन्द चौपई', प्रसिद्ध मुनि श्री यशोविजय जी के शिष्य श्री तत्त्वविजय द्वारा रचित 'अमरदत्त मित्रानन्द रास' (स० १७२४), मुनि श्री मेरुविजय (रगविजय गणि के शिष्य) कृत 'वस्तुपाल तेजपाल रास (बीजापुर, स० १७२१), 'नवपद रास' (हिन्दी भाषा, स० १७२३) एव 'नर्मदा सुन्दरी रास' और मानसागर रचित 'विक्रमादित्यसुत विक्रमसेन चोपई' एव 'कान्हड कठियारा नो रास' विशेष उल्लेखनीय कृतियाँ हे। महेश मुनि की 'अक्षर बत्तीसी (स० १७२५, उदयपुर) एव 'ककहरा' की भाषा तो विशुद्ध हिन्दी ही है। ककहरा की कुछ पक्तियाँ द्रष्टव्य है—

कका ते किरिया करी करम करउ ते चूर।
किरिया बिन ते जीवणा शिव नगरी हुइ दूर॥
षषा करम मे षय करउ षिमा करउ मन माहि।
षति करी सेवउ सदा जिणवर देव उछाहि॥

द्वितीय पचीसी—(सं० १७२५–१७५०)

१८वी शती की द्वितीय पच्चीसी के अन्तर्गत आनेवाले अधिकाश कवियो का जीवनवृत्त प्राय अज्ञात है। जिन दो-चार मुनियो एव कृतिकारो का यत्किंचित् परिचय मिलता है उसे सक्षेप मे यहाँ प्रस्तुत किया रहा है।

ज्ञानविमल सरि—ये वीशा ओसवाल वशी वासव सेठ के पुत्र थे। इनकी माता का नाम

कनकावती था। इनका जन्म भिन्नमाल नामक शहर मे स० १६६४ मे हुआ था। बचपन का नाम नाथूमल था। स० १७०२ मे इन्होंने धीरविमल गणि से दीक्षा ली। उस समय उनका नाम नयविमल रखा गया। स० १७२७ मे मारवाड के पास सादडी ग्राम मे तपागच्छ आचार्य विजय प्रभ सूरि ने इन्हे 'पडित' पद से विभूषित किया। स० १७४८ मे इन्हे 'आचार्य' पद दिया गया। ये विशेषतया गुजरात, सौराष्ट्र और मारवाड के जैन-तीर्थों मे भ्रमण करते रहे। स० १७८२ मे ८६ वर्ष की अवस्था मे इनकी इहलोक लीला समाप्त हुई। उस समय वे खभात मे चातुर्मास कर रहे थे। उनकी अधिकाश रचनाए प्रकाशित हो गई है। उनकी कुछ काव्य-कृतियाँ निम्नलिखित है—

साधुवदना (स० १७२८), जबुरास, बारह व्रत ग्रहण, श्री चदकेवली रास, राजसिह राजर्षि रास, अशोकचन्द तथा रोहिणी रास, आनन्दघन बत्तीसी (बालावबोध टीका) तथा अनेक वन्दन एव स्तवन ग्रन्थ।

धर्ममदिर—ये मुनि श्री दयाकुशल के शिष्य थे। इनकी प्राय सभी रचनाएँ हिन्दी-गुजराती मिश्रित भाषा मे है। सभवत इनकी मातृ-भाषा गुजराती थी और मुलतान मे इनका निवास था। इन दोनो क्षेत्रो का प्रभाव उनकी भाषा पर प्रत्यक्ष है। मुनिचरित्र (स०, १७२५), दयादीपिका चौपई (मुलतान, १७४०), मोह विवेक रास (मुलतान, १७४१), परमात्मप्रकाश चौपई (स० १७४२, मुलतान) आदि इनकी काव्य-कृतियाँ है।

लक्ष्मीवल्लभ—श्री सामहर्ष के शिष्य लक्ष्मीवल्लभ अनेक ग्रन्थो के रचयिता बताए जाते है। इनकी रचनाओ मे रतनहास चौपई, अमरकुमार चरित्ररास, विक्रमादित्य पचदण्डरास आदि विशेष उल्लेखनीय है। इनका मुख्य वास-स्थान बीकानेर ही था। यही कारण है कि इनकी भाषा हिन्दी के पर्याप्त निकट प्रतीत होती है।

हीराणद—इनका अपर नाम हीरमुनि भी मिलता है। इन्होंने राजस्थान को ही अपना भ्रमण-केन्द्र रखा था। इनकी दोनो रचनाओ—उपदेशरत्न कोश (मेडता, स० १७२७) और सागर-दत्त रास (जालोरगढ) की भाषा मारवाडी-गुजराती मिश्रित है।

उदयविजय—ये प्रसिद्ध मुनि विजयसिह सूरि के शिष्य थे। इनके 'श्रीपाल रास' (किशनगढ स० १७२७) और 'रोहिणी रास' की भाषा राजस्थानी है। 'पार्श्वनाथ जिन स्तवन' नामक ग्रन्थ की भाषा प्राकृत है।

कुशलधीर—इनका राजस्थानी भाषा मे रचित 'लीलावती रास', (सोजत, १७२८) और गुजराती रचना 'भोज चरित्र चौपई' (स० १७२९) उच्चकोटि की साहित्यिक कृतियाँ है।

धर्मवर्द्धन—ये सस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनके गुरु का नाम विजयहर्ष था। इन्होंने लोकभाषा के अतिरिक्त सस्कृत मे भी उच्चकोटि का काव्य सर्जन किया था। 'श्री भक्तामरस्तोत्र' तथा 'वीरस्तवन' इनकी सस्कृत की रचनाएँ है। 'अमरसेन वैरसेन चउपई', 'शनिश्चर विक्रम चौपई', 'अमरकुमार सुरसुन्दरी रास' तथा अन्य अनेक स्तवन-ग्रन्थो की भाषा मारवाडी गुजराती मिश्रित है। इनका एक अन्य नाम धर्मसिह भी मिलता है।

उपरोक्त कवियो और रचनाओ के अतिरिक्त इस कालसीमा के अन्तर्गत अन्य अनेक कृतियाँ उपलब्ध होती है जिनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

यशोनन्द कृत 'राजसिह कुमार रास' (स० १७२६), मानविजय गणि (२) कृत 'नर्मविचार रास', हंसराज पण्डित कृत 'नयचक्ररास' (स० १७२६) एव 'भक्तामर स्तोत्र माला' (दोनो हिन्दी मे), लक्ष्मीविजय कृत 'श्रीपाल मयणा सुन्दरी रास' (खभात, १७२७, राजस्थानी मे), मानविजय कृत

'पाण्डव चरित्र रास' (स० १७२८), श्रीवीरजी कृत 'जबूपृच्छा रास' (स० १७२८ पाटण), मुनिश्री चारुदत्त के शिष्य कनकनिधान कृत 'रत्नचूड व्यवहारी रास' (स० १७२८), श्री कमलहर्ष के शिष्य उदयसमुद्र का 'कुलध्वज कुमार रास' (स० १७२८), विवेकविजय का 'मृगाकलेखा रास' (गुज०–हिन्दी में, स० १७३०), तिलकहस के शिष्य तत्त्वहस कृत 'उत्तमकुमार चौपई' (स० १७३१), विबुध-विजय कृत 'मगल कलश रास' (स० १७३२), श्री नित्यसौभाग्य कृत 'पचाख्यान चौपाई', त्रिलोक-सिंह के शिष्य श्री आणन्दमुनि कृत 'गणितसार और 'हरिवश चरित्र' (स० १७३१, १७३८, हिन्दी भाषा में), षेतो कवि कृत 'धन्ना रास' (हिन्दी, स० १७३२, मेवाड मे), श्री सुखसागर कवि कृत 'इन्द्रभानु प्रिया रत्नसुन्दरी चौपई' (हिन्दी, स० १७३२) शान्तिदास श्रावक का 'गौतम स्वामीरास' (१७३२), जयसागर का 'अनिरुद्ध हरण' (स० १७३२), सिद्धिविजय के शिष्य श्री सुरविजय का 'रत्नपाल रास' (स० १७३२), मुनि श्री जिनविजय का 'विजयकुँअर प्रबन्ध' (स० १७३४), चन्द्र-विजय (१) कृत 'धन्ना शालिभद्र चौपई', चन्द्रविजय (२) का 'जबूकुमार रास' (१७३४), श्री इन्द्र-सौभाग्य के शिष्य हेमसौभाग्य का 'राजसागर सूरि निर्वाण रास', विनयलाभ कृत 'बछराज देवराज चौपई' (मुलतान, स० १७३४ हिन्दी मे), देवविजय का 'चपक रास' (स० १७३४), दयातिलक कृत 'धना नो रास' (१७३६), नयनशेखर कृत 'योगरत्नाकर चौपई' (१७३६), भोजविमल के शिष्य रुचिरविमल का 'मत्स्योदर रास' (स० १७३६), लावण्यरत्न के शिष्य केशवदास कृत 'केशवदास बावनी (हिन्दी, सवैया छद में) अजीतचद का 'चदनमलया गिरिरास' (स० १७३६), कनकविलास कृत 'देवराज बच्छराज चतुष्पदी', श्री लक्ष्मीरत्न कृत 'षेमा हडालिआ नो रास' (ऐतिहासिक काव्य), कुशलसागर का 'वीरभाण उदयभाण रास', दीपसौभाग्य कृत 'चित्रसेन पद्मावती चौपई' (स० १७३६) तथा 'वृद्धिसागर सूरि रास' (१७४७), मुनिचन्द के शिष्य अमरचंद का 'विद्या विलास चरित्र' (पवाडा मारवाडी भाषा, स० १७४५), शीलविजय की 'तीर्थमाला' (१७४७, हिन्दी मे छन्द.शास्त्र), यशोवर्द्धन का 'चन्दन मलयागिरि रास' (हिन्दी, १७४७) ऋषभसागर कृत 'विद्या विलास रास' एव 'गुणमजरी चौपई' (१७४८) और दीपतिविजय कृत 'मगल कलश रास' (स० १७४९) ।

लक्ष्मीरत्न सूरि, तिलकचन्द, प्रागजी, अमर विजय, जीवराज, कीर्तिसागर सूरि तथा ज्ञान-सागर (२) आदि अनेक जैनमुनियों की कृतियाँ अभी तक अनुपलब्ध हैं ।

तृतीय पचीसी (सं० १७५०–१७७५)

उदयरत्न—इस कालसीमा के बीच आनेवाले कवियो मे तपागच्छ श्री शिवरत्न मुनि के शिष्य श्री उदयरत्न सर्वप्रमुख हैं । रचनाओ के प्राचुर्य को देखते हुए उनके जीवन-वृत्त के अज्ञान पर क्षोभ होना आवश्यक है । उन्होने एक दर्जन से अधिक रास-ग्रन्थो एव उतने ही विनय और सलोक आदि ग्रन्थों की रचना की थी । कहते हैं उदयरत्न जी गुजरात के खेडा जिले के निवासी थे और उनकी मृत्यु मिआगाम में हुई थी । इनकी रचनाएँ इतनी शृगारपरक होती थी कि उन्हे आचार्य-सघ से निष्कासित कर दिया गया था । बाद मे उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर उन्हे पुन सघ में ले लिया गया । उनमे इन्द्रजाल की भी शक्ति थी । उन्होने अनेक वैष्णव-परिवारो को जैनमत मे दीक्षा दी थी । इनके कुछ प्रमुख ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

जंबूस्वामी रास, अष्टप्रकारी पूजा रास, स्थूलिभद्र रास (१७५९), मुनिपति रास (१७६१), राजसिंह रास (१७६२), मलयसुन्दरी महाबल रास, यशोधर रास (१७६७), लीलावती सुमति विलास रास (१७६७), धर्मबुद्धि मत्री अने पापबुद्धि राजा रास (१७६८), शत्रुंजय तीर्थमाला उद्धार

रास (१७६६), भुवनभानु केवली रास (१७६७) तथा भरत बाहुबल, विमल मेहता आदि से सबद्ध सलोक-ग्रन्थो के अतिरिक्त अनेक सज्जाय और प्रबन्ध काव्य ।

सौभाग्यविजय—ये तपागच्छ मुनि श्री लालविजय जी के शिष्य थे। सभवत ये उत्तर-प्रदेश के किसी स्थान के निवासी रहे होंगे। इनकी 'तीर्थमाला' मे भारत के पूर्वी छोर से काठिया-वाड तक के जैनतीर्थों का आंखो देखा वर्णन है। इससे पता चलता है कि इनके प्रवास का क्षेत्र बडा विस्तृत था। इस ग्रन्थ की भाषा राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा है।

विनयचन्द्र—ये ज्ञानतिलक के शिष्य थे। इनकी अधिकाश रचनाएँ अप्राप्त हे। ध्यानामृत रास, मयणरेहा रास, उत्तमकुमार चरित्र रास, ध्यानामृत रास आदि इनके प्रमुख काव्य-ग्रन्थ है।

मोहनविजय—ये मुनि श्री रूपविजय के शिष्य थे। नर्मदासुन्दरी नो रास (स० १७५४), हरिवाहन राजा ना रास (१७५५), रत्नपाल रास (१७५८), मानतुग मानवती रास (१७६०), पुण्यपाल गुणसुन्दरी रास (१७६३) और चन्द राजा नो रास आदि इनके सुप्रसिद्ध रास-ग्रन्थ हैं।

नेमविजय—मुनि तिलकविजय के शिष्य नेमविजय अपने सप्रदाय-विशेष के आचार्यों मे पर्याप्त सम्मानप्राप्त महात्मा थे। शीलवती (शीलरक्षा प्रकाश रास), नेमि बारह मास, बछराज चरित्र रास, धर्मबुद्धि मत्री पापबुद्धि नृप रास और तेजसार राजर्षि रास आदि इनकी उच्चकोटि की साहित्यिक कृतियाँ है।

देवचन्द्र—जन्म-काल स० १७४६। ये बीकानेर के पास के एक गाँव मे शाह तुलसीदास के घर मे पैदा हुए थे। इनकी माता का नाम धनबाई था। १० वर्ष की अवस्था मे ही ये दीक्षित हुए। परिश्रमपूर्वक अध्ययन करने के उपरान्त ये प्रकाण्ड पाण्डित्य से विभूषित हुए। धर्म-प्रचार के क्षेत्र में किये गये इनके कार्य अमूल्य हैं। स० १८१२ मे इनका स्वर्गवास हुआ। इनकी रचनाएँ हिन्दी, गुजराती और मिश्रित भाषा में है। कुछ गद्य मे है, कुछ पद्य में और कुछ गद्य-पद्य दोनो मे। तात्पर्य यह कि ये बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। ध्यान दीपिका चतुष्पदी (हिन्दी), द्रव्यप्रकाश भाषा (हिन्दी १७६७), आगमसागर (गुजराती गद्य), नयचक्रसार (गुजराती गद्य), अध्यात्म गीता, गज सुकुमाल सज्जाय, बीसी, चौबीसी आदि इनके अनेक ग्रन्थ प्राप्त हैं।

भावरत्न—इनका अपरनाम भावप्रभसूरि भी मिलता है। इनके दीक्षागुरु श्री महिमाप्रभ-सूरि जी थे। अन्य जैनकवियो की भाँति इनका जीवन-वृत्त भी अन्धकार के गर्त मे है। 'हरिबल-मच्छी नो रास' (स० १७६६), 'सुभद्रासती रास' (१७६७), बुद्धिविमला सती रास' (१७६७) और 'अबड रास' (१८००) आदि इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं।

कुछ अन्य उल्लेखनीय हिन्दी, गुजराती एव अन्य भाषाओ की कृतियाँ निम्नलिखित हैं—

गोडीदास श्रावक कृत 'नवकार रास' (राजसिंह राजवतीरास, स० १७५५, बडौदा), शान्ति-विमल के शिष्य केसर विमल की सूक्तिमाला, अभय माणिक्य के शिष्य लक्ष्मीविनय कृत 'अभय कुमार महामत्रीश्वर रास' तथा 'ढुढकमतोत्पत्ति रास', लब्धिविजय (२) कृत 'सुमगलाचार्य चौपई' (१७६१), लक्ष्मीचन्द के शिष्य गगमुनि का 'रत्नाकर तेजसार रास' (हिन्दी, १७६१), मुनि जिन-सुन्दर सूरि की 'प्रश्नोत्तर चौपई' (मारवाड़ी, १७६२), नेमिदास श्रावक कृत 'अध्यात्मसार माला' (१७६५ हिन्दी), कान्ति विमल रचित 'विक्रम कनकावति रास', गगासागर के शिष्य जीवसागर कृत 'अमरसेन वयरसेन चरित्र' (१७६८), किसन कवि रचित 'उपदेश बावनी' (ब्रजभाषा तथा कवित्तो में), कवि श्री लाधाशाह कृत 'जबू कुमार रास' (१७६४) तथा 'शिवचन्द नो रास', देवविजय का

'रूपसेन कुमार रास', श्रीरूपसागर कृत 'बुद्धिविजय गणि रास' (ऐतिहासिक, १७६६), जयनन्दन के शिष्य लब्धिसागर (२) की 'ध्वज भुजगकुमार चौपई' (स० १७७०), मुनि श्री भाऊजी के शिष्य चतुर कवि रचित 'चदन मलयागिरि चौपई' (ब्रजभाषा), गगविजय कृत 'गजसिह कुमार रास' (स० १७७२) तथा 'कुसुमश्री रास' (११७७), विमल विजय के शिष्य श्री रामविजय (१) का 'विजयरत्न सूरि रास' तथा 'गोड़ीदास स्तवन' और वल्लभकुशल कृत 'श्रेणिकरास' (१७७५) तथा 'हेमचन्द्र गणि रास' आदि ।

चतुर्थ पचीसी—(स० १७७५–१८००)

कांतिविजय—ये मुनि श्री प्रेमविजय जी के शिष्य थे । इनके 'महाबल मलयसुन्दरी ना रास' नामक ग्रन्थ की भाषा हिन्दी के पर्याप्त निकट है । चौबीस जिनस्तवन, हीराबेधबत्तीसी (राजस्थानी भाषा मे), सौभाग्य पचमी माहात्म्य आदि कुछ अन्य ग्रन्थो की भी रचना इन्होने की थी ।

नित्यलाभ—इनके पिता का नाम कर्मसिह और माता का कमला था । मुनि सहजसुन्दर इनके दीक्षागुरु थे । अन्य वृत अज्ञात हैं । ये सदेवन्त सावलिंगा रास (१७८२, सूरत), विद्यासागर सूरि रास (१७८२, अजमेर) तथा अनेक चौबीसी स्तवन गव सजाय आदि ग्रन्थो के रचयिता है ।

न्यायसागर—(स० १७२८–१७९७)—इनके पिता मोटे शाह मरुधर (मारवाड) के ओसवाल वैश्य थे । माता का नाम रूपा था । इनका बचपन का नाम नेमिदास था । मनि उत्तमसागर इनके दीक्षागुरु थे । स० १७९७ मे अहमदाबाद मे इन्होने देहत्याग किया । पिडदोष विचार सज्जाय (१७८१), महावीर रागमाला (१७८४), दो 'चौबीसी' ग्रन्थ और एक 'बीसी' ग्रन्थ इनकी रचनाएँ हं । इनके 'बीसी' ग्रन्थ की भाषा हिन्दी है ।

रामविजय—ये सुमतिविजय जी के शिष्य थे । इन्होने गरबा जैसे लोकगीत से लेकर सस्कृत के वर्णिक छन्दो तक की रचना लोकभाषा मे की है । मुनि रामविजय जी प्रखर प्रतिभा के कवि थे । तेजपाल रास (१७९०), धर्मदत्त ऋषि रास (१७६६), शान्तिजिन रास, लक्ष्मीसागर सूरि निर्वाण रास आदि ग्रन्थ इनकी कवित्व-शक्ति के परिचायक हैं । भाषा बडी ही सरस गव सुबोध्य है ।

जिनविजय (३)—इनके पिता-माता का नाम क्रमश धर्मदास और लाडकुँअरि बताया जाता है । ये राजनगर के श्रीमाली वणिक् कुल मे स० १७५२ मे पैदा हुए थे । मुनि श्री क्षमाविजय ने स० १७७० में इन्हे विधिवत् दीक्षा दी थी । श्रावणसुदी १० मगलवार स० १७९९ मे पादरा नामक स्थान मे इनकी इहलोक-लीला समाप्त हुई । इनका 'क्षमाविजय निर्वाण रास' साम्प्रदायिक इतिहास-ग्रन्थ की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कृति है । कर्पूर-विजय रास (१७७९) भी इसी कोटि की रचना है । इन्होने दो 'चौबीसी' और एक 'बीसी' ग्रन्थो की भी रचना की थी ।

जिनविजय (४)—विजयसिह सूरि की शिष्य-परम्परा मे आनेवाले मुनि भाणविजय जी इनके गुरु थे । इनका अन्य वृत्त अज्ञात है । श्रीपाल चरित्र रास (१७९१, नवलखी बन्दर), नेमिनाथ श्लोक (१७९९) और धनशालिभद्र रास (१७९६, सूरत) इनकी उच्चकोटि की कृतियाँ हैं ।

ज्ञानसागर—ये नवानगर (जामनगर) के शाह कल्याण जी और जयन्ती के पुत्र थे । स० १७६३ में इनका जन्म हुआ और स० १८२६ मे आश्विन शुक्ल द्वितीया को सूरत मे स्वर्गवास हुआ । इन्होने स० १७७७ में श्री विद्यासागर सूरि से दीक्षा ली और १७९७ में आचार्य पद से विभूषित हुए । ये सस्कृत और गुजराती दोनो के कवि थे । समकित नी सज्जाय, भावप्रकाश (१७८७), गुणवर्मा रास आदि इनके उल्लेखनीय काव्य-ग्रन्थ है । **(शेष अंश पृष्ट १८५ पर)**

नाटक के तत्त्व : भारतीय दृष्टि

डॉ० देवर्षि सनाढ्य

नाटकीय तत्त्वों के रूप में आधुनिक आचार्यों द्वारा हमें (१) कथावस्तु, (२) पात्र, (३) कथोपकथन, (३) शिल्प, (५) देशकाल और (६) उद्देश्य, इन छ अंगों का बोध कराया जाता है। प्रसिद्ध पाश्चात्य आचार्य अरस्तू ने 'त्रासदी' के विषय में विवेचन करते हुए तीन बाह्य और तीन आन्तरिक तत्त्वों—कुल छः तत्त्वों—का उल्लेख किया है। (१) रंगविधान, (२) प्रगीत और (३) पद-रचना बाह्य हैं तथा (४) कथानक, (५) चारित्र्य और (६) विचार आंतरिक।[१] इसी धारा में सुधार और विकास करते हुए पाश्चात्य अंग्रेज मनीषी बेन जॉन्सन और ड्रायडन ने नाटक के आधुनिक आचार्यों द्वारा अनुमोदित छः तत्त्वों का घोष किया है। योरोप का यह तत्त्व-विवेचन आज भारत में भी ग्राह्य है। आधुनिक भारतीय नाट्यशास्त्री बाह्य और आन्तरिक के भेद को भूलकर सामान्यतः इन्हीं को नाटकीय तत्त्व मानते हैं। हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी के आचार्यों ने भी इन्हीं नाट्य-तत्त्वों को स्वीकारा है और पश्चिम के छायालोक में गर्जन प्राप्त किये आधुनिक हिन्दी-नाटक के परीक्षण के लिए इसी शास्त्रीय कसौटी को मान्यता दी है। पश्चिम के कुछ आचार्य नाटकीय तत्त्वों की श्रेणी में पात्र और देशकाल को उतनी मान्यता नहीं देते। वे इनके स्थान में तीन तत्त्व और बताते हैं—कुतूहल, घात-प्रतिघात (द्वन्द्व) और अभिनयशीलता। कुछ मनीषी केवल तीन तत्त्व ही पर्याप्त मानते हैं—कथा, संवाद और रङ्गनिर्देश।

हिन्दी में शास्त्रीय विवेचन करनेवाले मनीषियों में डॉ० बाबू श्यामसुन्दरदास का नाम सर्वप्रथम आता है। शास्त्रीय मर्यादाओं के आदि संस्थापक के रूप में हिन्दी का पाठक और छात्र इन्हें आदर देता है। 'साहित्यालोचन' में बाबू जी ने आरम्भ में बताये गये छः नाटकीय तत्त्वों की ही मर्यादा स्थापित की है। भारतीय नाट्यशास्त्र का विवेचन करने के निमित्त बाबूजी ने 'रूपक-रहस्य' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है। इस ग्रन्थ का मूल आधार संस्कृत-आचार्य धनंजय का 'दश रूप' नामक ग्रन्थ है, जो 'दश रूपक' नाम से अधिक प्रसिद्ध है। धनंजय के अनुसार रस का आश्रय लेकर होनेवाले नाट्य के दस भेद हैं—'दशधैव रसाश्रयम्।'[२] नाट्य के भेद को लेकर एक प्रश्न उठता है कि जब सभी प्रकार के रूपकों में अभिनय और अनुकरण की प्रधानता होती है, तब इनका भेद किस आधार पर किया जाता है? 'दश रूप' में इसका उत्तर है—"वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः।[३] अर्थात् रूपकों के भेद के आधार कथावस्तु, नायक और रस हैं। उदाहरणार्थ, ख्यातवस्तु के आधार पर रूपक का एक भेद 'नाटक' कहलाता है, नायक की धीरशान्तता के आधार पर एक रूपक 'प्रकरण' कहलाता है, और करुण रस 'अङ्क' नामक रूपक की एक भेदक विशेषता है।

'रूपक-रहस्य' में भी लगभग ऐसा ही बताया गया है। बाबूजी का कथन है—"रूपकों के जो भेद किये गये हैं, वे तीन आधारों पर स्थित हैं, अर्थात् वस्तु, नायक और रस।" आगे चलकर बाबूजी ने इसी क्रम में लिखा है—"इन्हीं को रूपकों के तत्त्व भी कहते हैं।"[४] बाबूजी की इस

---

[१] अरस्तू का काव्यशास्त्र (सं० नगेन्द्र) पृष्ठ २।

[२] दशरूपक १—७।

[३] वही, १—११।

[४] रूपक-रहस्य (द्वि० सं०) पृष्ठ ५१।

मान्यता का अर्थ अब तक यही लिया गया है कि भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार 'वस्तु, नेता और रस रूपको के तत्त्व हैं।' विद्वानो ने ऐसा ही माना और अनेक विज्ञ मनीषियो ने पाश्चात्य नाटकीय तत्त्वो से इनकी तुलना करते हुए घोषणा की कि पूर्व और पश्चिम की विद्वन्मान्यता मे मूलत कही कोई अन्तर नही है। दोनो मे नायक है ही, कथावस्तु उपस्थित ही है, कथोपकथन, देशकाल, शैली और उद्देश्य का अन्तर्भाव 'रस' तत्त्व मे करने मे कोई असुविधा नही है।

पाश्चात्य और पूर्वीय नाट्य-तत्त्वो की मान्यता मे कही कोई भेद है या नही ? क्या भारतीय नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने 'वस्तु' 'नेता' और 'रस' को ही नाट्य-तत्त्व माना है ? ये प्रश्न अपने आधुनिक नाट्याचार्यों के निर्णय पर प्राचीन नाट्यशास्त्र का अध्ययन करते हुए उठ खडे होते हैं। प्रश्न तो पूर्वीय और पश्चिमी नाट्यशास्त्रो की तत्त्वसम्बन्धी मान्यता पर भी उठ सकता है, परन्तु वह एक पृथक् प्रश्न है। जहाँ तक भारतीय प्राचीन नाट्यशास्त्रो का सम्बन्ध है, वहा 'तत्त्व' शब्द का व्यवहार ही इस सन्दर्भ मे नही प्राप्त होता। धनजय के 'वस्तु नेता रस' कथन का जहाँ तक प्रश्न है, उसने इन तीनो को नाट्य-तत्त्व नही, रूपको का परस्पर भेदक तत्त्व माना है।

'तत्त्व' शब्द से आज सामान्यगृहीत एक अर्थ 'उपकरण' है, जो इस सन्दर्भ मे लिया जाता है। 'तत्त्व' अर्थात् वह सामग्री, जिससे नाट्य-निर्माण होता है। इसमे कोई सन्देह नही कि नाटक मे वस्तु, नेता और रस होते हैं, पर ये सब तो श्रव्य-काव्यो में—कथा, आख्यायिकाओं मे—भी होते हैं। यह तो वह सामान्य सामग्री है, जिससे काव्य रचा जाता है। केवल दृश्य या श्रव्य-काव्य नही, समूचा काव्य। अर्थात् ये कुछ दृश्य-काव्य के ही तत्त्व नही, यदि हैं तो सम्पूर्ण काव्य-विधा के तत्त्व हैं। जिस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण 'क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा'—इन पाँच महातत्त्वो से हुआ है, उसी प्रकार सम्पूर्ण काव्य के निर्माण में वस्तु, नेता तथा रस महातत्त्व हैं। जैसे मानवी सृष्टि की शल्य-क्रिया करने पर कुछ पृथक् मानवीय तत्त्व माने जाते हैं, इसी प्रकार कुछ नाटकीय तत्त्व भी वस्तु, नेता, रस के अतिरिक्त होने चाहिए।

नाट्यशास्त्र का सबसे प्राचीन और मान्य ग्रन्थ है भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र'। नाटक के निर्माण के सम्बन्ध मे वहाँ विवेचन हुआ है। एक बार महेन्द्रादि देवताओ ने पितामह ब्रह्मा से आग्रह किया कि वेद-व्यवहार शूद्र जातियो को सुनाना सम्भव नही है, इसलिए आप एक पचम वेद का सर्जन कीजिए जो 'सार्ववर्णिक' हो।

न वेदव्यवहारोऽय सश्राव्य शूद्रजातिषु।
तस्मात् सृजापर वेद पचम सार्ववर्णिकम् ॥[५]

ब्रह्माजी ने कहा—तथास्तु। इसके बाद तत्त्ववित् पितामह ने योगक्रिया करके चारो वेदो का स्मरण किया।

सस्मार चतुरो वेदान् योगमास्थाय तत्त्ववित्।[६]

और तत्त्ववित् (यहाँ 'तत्व' के प्रयोग पर ध्यान दीजिए) ने पचम वेद नाट्य की सर्जना कर दी। सब वेदो का स्मरण करके उन्होंने चारो वेदो से एक-एक 'तत्त्व' लेकर 'चतुर्वेदाङ्गसम्भव' नाट्यवेद की रचना की —

---

[५] नाट्यशास्त्र १–१२।

[६] वही, १–१३।

जग्राह पाठ्य ऋग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ।।[७]

ऋग्वेद से पाठ्य तत्त्व लिया, साम से गीत तत्त्व, यजुर्वेद से अभिनय तत्त्व और अथर्वण से रस तत्त्व ।

'नाट्यशास्त्र' के इस विवेचन के उपरान्त हम यह मानने को विवश हैं कि भारतीय दृष्टि के अनुसार नाटक के तत्त्व वस्तु, नेता, रस नही, पाठ्य, गीत, अभिनय और रस हैं । धनजय द्वारा निरूपित रूपक-भेदको से भ्रान्त बुद्धि की मान्यता का केवल एक-तिहाई अश ही सही है, दो-तिहाई गलत । भरत ने 'नाट्यशास्त्र' मे इन चारो तत्त्वो का विशद विवेचन किया है । इस विशद विवेचन की झाँकी मात्र करने के साथ-साथ यह उचित ही होगा कि इस पर भी थोडा विचार कर लिया जाय कि भरत ने नाट्यवेद के निर्माण मे जो वेदो की दुहाई दी है, वह दुहाईमात्र है या एक तथ्य-कथन भी ।

भरत मुनि ने 'नाट्यवेद' की रचना चारो वेदो से की या नही, इस पर विशेष विचार नही हुआ है । फिर भी जो कुछ अल्प विचार हुआ है उसकी तीन स्थितियाँ हैं । एक स्थिति के अनुसार पाठ्य और गीत की कुछ खोज की गई है, शेष पर कोई विशेष ध्यान नही दिया गया । दूसरी स्थिति के अनुसार यह वैदिक दुहाई केवल नाट्य को आदर देने की दृष्टि से की गई है । इस स्थिति के सस्थापक नाटक का जन्म वैदिक क्रियाकलाप मे सम्बद्ध नृत्य-गान से न मानकर आर्यों की आम जनता मे प्रवर्त्तमान नृत्य-गान से मानते हैं और यह घोषणा करते हैं कि "नाट्य को गौरवान्वित करने की दृष्टि से भरत ने उसके घटको को चारो वेदो से सग्रह करने की बात कही है ।"[८]

तीसरी स्थिति के अनुसार भरत की यह उक्ति पूर्णत ठीक है । पाश्चात्य मनीषी प्रो० मेक्समूलर, लेवी, हर्त्तेल और कीथ की यह धारणा है कि नाटक की उत्पत्ति के मूल मे यज्ञयागादि क्रिया है । तीसरी स्थिति के पोषक पाश्चात्य मनीषियो की इसी मान्यता से सहमत हैं । हमारे देश के अणु-कण मे जाने-अनजाने धार्मिक भावना इस प्रकार समाई रही है कि उससे अलग हटकर कुछ भी सोचना कठिन है । और कर्मकाण्ड तथा यज्ञयागादि के उस युग में नाटक इत्यादि मनोरञ्जन, जनरञ्जन उपकरणो के मूल मे यह विधान होना ही अधिक सङ्गत लगता है । जन-साधारण मे प्रवर्त्तमान नृत्य-गान भी कर्मकाण्ड क्रियाओं से पूरी तरह मुक्त यहाँ ही नही, विदेशो मे भी नही है । यूनान को सर्वप्रथम यूरोपियन नाटकों का प्रदेश कहा जाता है । वहाँ भी नाटकोत्सव का प्रादुर्भाव शोक और चिन्ता के विनाशक, आनन्द और स्फूर्ति के प्रदायक, शत्रुञ्जय देवता डायोनिसस के पूजन-समारोह के वासन्ती अवसर पर हुआ था । डायोनिसस की प्रतिष्ठा मे जो कोरस अथवा समूहगान होते थे, उनसे नाटक का जन्म हुआ ।[९] भारतीय नाट्याचार्य ने तो नाटक को धर्म, अर्थ, काम का साधक, दुर्विनीत जनो की बुद्धि को ठिकाने करनेवाला बताया है—

धर्मो धर्मप्रवृत्ताना काम कामोपसेविनाम् ।
निग्रहो दुर्विनीताना मत्ताना दमनक्रिया ।।[१०]

भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' मे पूजन-स्तवन आदि के कर्मकाण्ड का जितना प्रकाण्ड वर्णन नाट्यारम्भ-महोत्सव मे किया गया है, वह तो पूजन-भजन का एक महान् समारोह ही है । ऐसी

७ नाट्यशास्त्र । १–१७ ।
८ डॉ० सूर्यकान्त, सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ ६३३ ।
९ अमरनाथ जौहरी, पाश्चात्य नाटक-कला के सिद्धान्त, सेठ गोविन्द० अ० ग्रं०, पृ० ५३८ ।
१० नाट्यशास्त्र, १–१०९ ।

स्थिति मे यह मान्यता कि यज्ञयागादि कर्मकाण्डो की क्रियाविधि मे ही नाटक का मूल है और नाटयशास्त्र की भूमिका वैदिकी ही है, असङ्गत नही है।

भरत मुनि की वैदिकी मान्यता पर बहुत थोडा विचार हुआ है। पाठ्य के विषय मे ऋग्वेद को देन को लोगो ने स्वीकार लिया है, गीत की सामवेदी देन के विषय मे ज्ञात ही है। 'यजुर्वेदात् अभिनयान्' और 'रसान् आथर्वणादपि' पर भी कुछ-कुछ जाना गया है।

पाठ्य

'पाठ्य' का अर्थ है सवाद। इस शब्द की मूल धातु है 'पठ', जिसका अर्थ है विशिष्ट अर्थ को अभिव्यक्त करनेवाली वाणी। अभिनवगुप्त ने 'पाठ्य' की व्याख्या इस प्रकार की है--"इह पठ व्यक्तायां वाचीत्युक्त व्यक्तत्व विवक्षाविशिष्टस्वार्थापणक्षमत्वम्। तच्च काववध्यायवक्ष्यमाणस्वरालङ्कारादिसामग्री-प्रयोजनेन भवतीति तयोपस्कृत पाठ्यमुच्यते।"[११]

"पठ व्यक्तायां वाचि" मे कहा गया व्यक्तव्य--अर्थात् इष्ट अर्थ को अभिव्यक्त करने की शक्ति से जो काकु आदि के लिए अपेक्षित स्वर, अलङ्कारादि से प्राप्त होती है युक्त कथन 'पाठ्य' है। आधुनिक भाषा मे यही 'कथोपकथन' कहा जाता है। ऋग्वेद मे यह पाठ्य तत्त्व पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त होता है। ऋग्वेद मे अनेक सवाद-सूक्त हैं। जैसे इन्द्र-मरुत्-सवाद (१-१६५, १-१७०), विश्वमित्र-नान्दी-सवाद (३-३३), पुरूरवस्-उर्वशी-सवाद (१०-५६), यमयमी-सवाद (१०-१०) अत्यन्त प्रसिद्ध सवाद हैं। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के आरण्यक, उपनिषद् और ब्राह्मणो मे अगणित सम्वाद भरे पडे हैं। पाश्चात्य विद्वानो ने इन्ही के आधार पर नाटयशास्त्र की वैदिकी भूमिका को मान्यता दी है। इस प्रकार भरत की 'जग्राह पाठ्य ऋग्वेदात्' एक उचित स्वीकृति ही है, 'नाटयशास्त्र' को महत्त्व देने का 'गुरुडमी' कौशल नही। अभिनव गुप्त ने नाटक मे पाठ्य-तत्त्व की प्रधानता स्वीकारते हुए उसे ऋग्वेद से ग्रहण किया गया माना है। ऋग्वेद मे त्रैस्वर्य--उदात्त, अनुदात्त, स्वरित--की यागोपकारी होने के कारण प्रधानता है। पाठ्य भी त्रैस्वर्य होता है, क्योकि 'ऐकस्वर्य' होने से पाठ्य मे न तो काकु का प्रयोग ही सम्भव है और न गीतरूपता का ही।[१२]

'नाटयशास्त्र' मे भाषागत आधार पर पाठ्य दो प्रकार का बताया गया है--सस्कृत और प्राकृत--"द्विविध हि स्मृत पाठ्य सस्कृत प्राकृत तथा।"[१३]

सस्कृत पाठ्य व्यञ्जन, स्वर, सन्धि, विभक्ति, नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, तद्धितादि अङ्गो से तथा समास एव नाना धातुओ से सिद्ध होता है--

> व्यञ्जनानि स्वराश्चैव सन्धयोऽथ विभक्तय।
> नामाख्यातोपसर्गाश्च निपातास्तद्धितास्तथा॥
> एतैरङ्गैः समासैश्च नानाधातुसमेक्षितम्।
> विज्ञेय सस्कृत पाठ्यम्............ ......॥[१४]

'नाटयशास्त्र' के १४, १५ तथा १६ अध्यायो मे इन सबकी विशद व्याख्या की गई है और इसके अन्तर्गत छन्द, वृत्त, अलङ्कार, गुण आदि की विस्तृत चर्चा की गई है।

[११] नाटयशास्त्र, अभिनव भारती, १।१७ की व्याख्या।
[१२] वही।
[१३] नाटयशास्त्र, १४।५।
[१४] नाटयशास्त्र, १४।५, ६,७।

यही संस्कृत पाठ्य संस्कार गुण से वर्जित होकर प्राकृत पाठ्य हो जाता है। यद्यपि देश-विशेष की स्थिति के अनुसार इसकी नाना अवस्थायें हो जाती हैं (इन नानावस्थाओं का विचार उच्चारण की उपयुक्तता और आधार के साथ विश्वनाथकृत 'साहित्यदर्पण' के छठे परिच्छेद में स्पष्टता से किया गया है।), परन्तु नाट्य-प्रयोग में संक्षेपतः यह तीन प्रकार का होता है—(१) समानशब्द अर्थात् संस्कृत पाठ्य से समान शब्द तो लिये जायें, परन्तु विभक्ति, लिङ्ग आदि के प्रयोग में संस्कृत पाठ्य से भिन्नता रहे, (२) विभ्रष्ट अर्थात् अपभ्रंश और (३) देशीगत अर्थात् देशज। नाट्यशास्त्र के सत्रहवें अध्याय में प्राकृत पाठ्य का विशद विवेचन है और विभिन्न प्राकृत पाठ्यों का विवरण देते हुए जिन नानावस्थाओं का विचार किया गया है उसीका संक्षेप 'साहित्य-दर्पण' में है।

गीत

'गीत' तत्त्व के सामवेद से ग्रहण करने की घोषणा में दो मत नहीं हो सकते। 'पाठ्य' में स्वर का प्रयोग सामवेद की ही देन है। "साम से गाया जाता है" (साम्ना गायन्ति)—यह प्रसिद्धि है। "गीतिषु सामाख्या" यह जैमिनि (२-१-१६) का कथन है। समगान के प्राणभूत ताल, लय, स्वर आदि सामवेद की ही देन हैं। 'नाट्यशास्त्र' के चतुर्थ तथा पञ्चम अध्याय में गीति-तत्त्व की विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। छठे अध्याय में षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद इन सात स्वरों का उल्लेख करते हुए ध्रुवा—गीति का आधार, एक नियत पदसमूह—के योग से समन्वित गान को पाँच प्रकार का बताया गया है। (१) प्रवेश—जो पात्र के प्रवेश करते समय भाव, प्रकृति, अवस्थान आदि का सूचक होता है। (२) आक्षेप—जिसका प्रयोग रसान्तर के उपक्षेप के निमित्त किया जाता है। (३) निष्काम—जो पात्र के निष्क्रमण पर गाया जाता है। (४) प्रासादिक—जो पात्र की अन्तर्गत वृत्ति को सामाजिकों के प्रति प्रसादित करने के निमित्त गाया जाता है। (५) आन्तर—जो गति, परिक्रमण के निरूपण आदि के अवसर पर प्रयुक्त होता है। "अभिनव भारती" में 'गीत' को नाट्य-प्रयोग का प्राण ("गीतं प्राणाः प्रयोगस्य") माना गया है। नाट्यशास्त्र में इसकी विशद चर्चा है। यह तो आगे चलकर एक पृथक् शास्त्र ही बन गया है, जिसके अध्ययन-मनन के निमित्त सम्पूर्ण जीवन भी पर्याप्त नहीं है। अभिनव गुप्त ने गीत को ही रसास्वादन का आधार माना है।

अभिनय

"सामाजिकानामाभिमुख्येन साक्षात्कारेण नीयते प्राप्यतेऽर्थो अनेन इत्यभिनयः।" साक्षात्कार के द्वारा जिससे सामाजिकों को अर्थ-ग्रहण करा दिया जाय, वह अभिनय है। 'अभि' उपसर्गपूर्वक 'णीञ्' धातु में 'अच्' प्रत्यय करने पर 'अभिनय' शब्द निष्पन्न होता है

> अभिपूर्वस्तु णीञ् धातुराभिमुख्यार्थनिर्णये।
> यस्मात् प्रयोगं नयति तस्मादभिनयः स्मृतः॥
> विभावयति यस्माच्च नानार्थान् हि प्रयोगतः।
> शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्तस्मादभिनयः स्मृतः॥"[१५]

अभिनय मुख्य रूप से चार प्रकार होता है—(१) आङ्गिक, (२) वाचिक, (३) आहार्य और (४) सात्त्विक—

१५ नाट्यशास्त्र, ८।७–८।

आङ्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्यः सात्त्विकस्तथा ।
ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्राश्चतुर्धा परिकीर्त्तितः ॥[१६]

यजुर्वेद में अभिनय के चारों प्रकारों के मूल प्राप्त होते हैं । दर्शेष्टि-सम्बन्धी गो-दोहन प्रक्रिया,[१७] प्रथम अध्याय की ७वीं कण्डिका के 'उर्वन्तरिक्षमन्वेमि' में विस्तीर्ण अन्तरिक्ष को अनुसरण करने की प्रक्रिया तथा द्वितीय अध्याय की २५, २६, २७ कण्डिकाओं में विष्णुचरण (विष्णुक्रम अनुष्ठान प्रत्येक यज्ञ में होता है) की कल्पना से भूमि पर प्रक्षेप की क्रिया आङ्गिक अभिनय के अच्छे उदाहरण हैं । यजुर्वेद के हिरण्यकेशि श्रौतसूत्र के अनुसार यजुर्वेद में वाचिक क्रिया का स्पष्ट निर्देश है––

उच्चैः ऋचा क्रियते, उच्चैः साम्ना, उपांशु यजुषा ।[१८]

ऋचा का उच्चारण उच्च किया जाता है, साम का पाठ उच्च होता है, यजु का पाठ अस्पष्ट किया जाता है । आहार्य से यजुर्वेद परिपूर्ण है । यज्ञयागादि का सम्पूर्ण विधान, वेदी का निर्माण, क्षौम-वस्त्र-धारण[१९], अभ्यङ्ग (अङ्गरागादि योजना)[२०], अंजन लगाना[२१] तथा पगड़ी बांधना[२२] आदि के विधान आहार्य अभिनय के प्रेरक हों तो आश्चर्य नहीं । अनृत से सत्य को प्राप्त होने की भावना की मानसिक व्याप्ति,[२३] अग्निष्टोमदीक्षा में देवताओं की प्रसन्नता से प्राप्त हर्ष की अभिव्यक्ति सात्त्विक अभिनय की मूल मानी जानी चाहिए । यजुर्वेद के २३वें अध्याय के २२-३१ मन्त्रों में अश्वमेध से सम्बद्ध अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्‌गाता, होता आदि का कुमारी, महिषी, वावाता आदि से जो नाटकीय वार्त्तालाप होता है और गवामयन सत्र के महाव्रतप्रकरण में शूद्र, आर्य, ब्रह्मचारी, वेश्या आदि का जो कथोपकथन[२४] वर्णित है––उनमें सभी प्रकार के अभिनयों के मूल प्राप्त हैं ।

नाट्यशास्त्र में अङ्ग सम्बन्धी आङ्गिक अभिनय मुख्यतः तीन प्रकार का माना गया है–– (१) शारीर, (२) मुखज और (३) चेष्टाकृत । आगे चलकर इसकी अनेक शाखोपशाखाओं का वर्णन किया गया है, जिसमें हाथ, पैर, कमर, पार्श्व और दृष्टि के अभिनयों और विनियोगों सहित उनका प्रयोग सिखाया गया है । नन्दिकेश्वर के 'अभिनयदर्पण' में इन सबका बोधगम्य वर्णन प्राप्त है । नृत्य और नृत्त भी इसीके अन्तर्गत आ गए हैं । इससे सम्बद्ध विविध मुद्राओं का बड़ा सूक्ष्म विवेचन नाट्यशास्त्र में किया गया है ।

वाचिक अभिनय का महत्त्व आङ्गिक की अपेक्षा अधिक है । यह नाट्य का शरीर माना गया है । इस अभिनय में विशेष सावधानी अपेक्षित है : वाचि यत्नस्तु कर्त्तव्यो नाट्यस्यैषा तनुः स्मृता ।[२५] "नाट्यशास्त्र' के चतुर्दश अध्याय में वाचिक अभिनय की शिक्षा है । पाठ्य की समस्त

---

१६ नाट्यशास्त्र, ८।१० ।
१७ यजुर्वेद १।३,४ ।
१८ हिरण्यकेशि श्रौतसूत्र, १–१–१ ।
१९ यजुर्वेद, ४–२ ।
२० वही, ४–३ ।
२१ वही, ४–३ ।
२२ वही, ४–६ ।
२३ अनृतात् सत्यमुपैमि । यजुर्वेद, १–५ ।
२४ कात्यायन श्रौतसूत्र, अध्याय १३, कंडिका ८,९ ।
२५ नाट्यशास्त्र, १४।२ ।

उच्चारणविधि, छन्द, गद्य-पद्य का उचित ढग से पढ़ना, स्वर-व्यञ्जन आदि का शुद्ध उच्चारण, काकु, यति आदि का समुचित उपयोग वाचिक अभिनय के अङ्ग हैं ।

आहार्य (वस्त्रालङ्कारो की उपयुक्त सज्जा) के बिना अभिनय पूर्ण नही कहा जा सकता । चार प्रकार के आहार्य (१) पुस्त, (२) अलङ्कार, (३) अङ्गरचना और (४) सजीव अभिनय मे मुख्य माने गए हैं । अभिनय मे पर्वत, रथ, विमान आदि को वास्तविक रूप देने के निमित्त तीन प्रकार के पुस्त उपयोग मे आते थे—(१) सधिम, (२) व्याजिम और (३) चेष्टिम ।[१७] अर्थात् लकडी पर वस्त्र चढ़ाकर बनाना, मत्रो की सहायता से सूचित करना और अभिनेता की चेष्टाओ द्वारा प्रेक्षक को वास्तविकता का बोध कराना । नानाविध वेष और अलङ्कारो से सजाना 'अलङ्कार' कहाता था । अनुरूप मेकप 'अङ्ग-रचना' और प्राणियो का प्रवेश कराना 'सजीव' ।

सात्त्विक अभिनय मनोभावो का मूर्त्तीकरण है । यह अत्यन्त कठिन है । रसो और भावो का अभिनय बडी कुशल कलाकारी की अपेक्षा रखता है । क्रोध, स्नेह, रोमाञ्च, अश्रु आदि का यथास्थान और यथारम प्रयोग सात्त्विक अभिनय के अन्तर्गत है । भरत के अनुसार अभिनय मे विद्यमान सत्त्व का परिमाण ही नाटक को उत्तम, मध्यम और अधम बनाता है ।[२०] सात्त्विक अभिनय मे ही नाट्य प्रतिष्ठित है ।[१८]

भरत ने नाट्य को लोक-स्वभाव का अभिनय माना है —

योऽय स्वभावो लोकस्य सुखदु खसमन्वित ।
अङ्गाद्यभिनयोपेत नाट्यमित्यभिधीयते ॥[१९]

भावो और अवस्थाओ की अनुकृति ही नाट्य है । इस अनुकृति मे सौन्दर्य-व्यापार भी अभिप्रेत है । इस प्रकार नाट्य मे दो वस्तुएँ अपेक्षित हैं—(१) लोकवृत्त मे देखे जानेवाले भाव और अवस्थाये तथा (२) सौन्दर्य-व्यापार । सक्षेप मे लोक-स्वभाव सौन्दर्य-व्यापार द्वारा अभिव्यक्त होने पर ही नाट्य कहाता है । इसी आधार पर 'नाट्य-शास्त्र' मे अभिनय को (१) लोकधर्मी और (२) नाट्यधर्मी दो प्रकार का कहा गया है—

लोकधर्मी नाट्यधर्मी धर्मीति द्विविध स्मृत ।[१०]

लोकप्रवृत्तियो से सम्वादी अभिनय लोकधर्मी और अभिनय का सौन्दर्याधायक अश नाट्यधर्मी कहाता है । लोकधर्मी अभिनय होता है 'स्वभावोपगत' और नाट्यधर्मी होता है 'अतिवाक्यक्रियोपेत' । नाट्य का जितना अश लोकवार्त्ता क्रिया से युक्त होता है, वह लोकधर्मी है तथा कल्पित अश नाट्यधर्मी । दोनो के ६-६ भेद हैं ।[११] अभिनय के द्वारा भावो की अभिव्यक्ति—नट-व्यापार का लोक की वृत्ति-प्रवृत्तियो से सम्वादी अंश नटगत लोकधर्मी है, इससे अतिरिक्त केवल शोभाकारक अभिनयाश नाट्यधर्मी है । मूल वस्तु को विशेष आकर्षक और शोभाकारी बनाने के लिए रगमच पर जो कुछ

[१७] वही, २३।५–७ ।
[२०] नाट्यशास्त्र, २४।२ ।
[१८] वही, २४।१ ।
[१९] वही, १।११९ ।
[१०] वही, ६।२४ ।
[११] वही, १३।७०-७४ ।

दिखाया जाता है, वह नाटचधर्मी है। भरत ने नाटचधर्मी अभिनय का विशेष महत्त्व माना है। उनके अनुसार नाटचप्रयोग नित्य-नाटचधर्मी से युक्त होना चाहिए, क्योंकि गीतादि अङ्गों के अभिनय के अतिरिक्त रसिकों में राग का प्रवर्त्तन नहीं होता —

नाटचधर्मी प्रवृत्त हि सदा नाटच प्रयोजयेत्।
नह्यङ्गाभिनयात् किञ्चित् ऋते राग प्रवर्त्तते ॥[११]

रस

नाटच के सम्पूर्ण तत्त्वों में रस सर्वप्रधान तत्त्व है। "नहि रसादृते कश्चिदर्थ प्रवर्त्तते"[१३] रस के बिना कोई प्रयोजन नहीं होता। अथर्ववेद में इसका मूल कहा गया है। वास्तव में वेदकाल में रस मधु, सोम, दुग्ध आदि के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद में "रसा गोषु प्रविष्ट"[१४], "रसेन तप्तो न कुतश्चनो न"[१५], यो व शिवतमो रस[१६] आदि अनेक स्थलों में रस शब्द आया है। "तीव्रो रसो मधुपृचामरगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत्"[१७]—रस-जल की प्राण और वर्चस् के निमित्त कामना की गई है। वैसे भाव और रस की स्थिति अथर्ववेद की मारण, मोहन, वशीकरण आदि मन से सम्बद्ध क्रियाओं में निहित है। मनोऽभिमुखीकरण के प्रसङ्ग में कहा गया है कि जैसे भूमि पर के तृण को हवा मथती है, उसी प्रकार मैं तेरे मन को मथता हूँ यथेद भूम्या अधितृण वातो मथयति एव मथ्नामि ते मनो।[१८]

ऐसा प्रतीत होता है कि मधु, रस, दुग्ध आदि के मूलस्थित स्वाद की भावना एव अथर्ववेद में वर्णित चित्तद्रवीभाव क्रियाओं के आधार पर उपनिषद्-काल में रस मुख्यार्थबोधक माना गया और उसे 'प्राण' कहा गया है। बृहदारण्यक में "प्राणो वा अङ्गाना रस" कहा गया है। साहित्य के क्षेत्र में तैत्तिरीय से होती हुई रस की स्थिति हुई है—"रसो वै स।"

इस प्रकार एक ओर जहाँ जल और दुग्ध आदि रूप में रस ऐन्द्रियजन्य आस्वादन देता है, दूसरी ओर वह अतीन्द्रिय आनन्द का आस्वादन कराता है।

रस के विषय में प्राप्त विवेचन सबसे प्रथम 'नाटचशास्त्र' में ही हुआ है। 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' यह भरत की ही परिभाषा है। रस की निष्पत्ति नाना भावों के उपगम से मानी गई है। जैसे गुडादि द्रव्य, व्यञ्जन और औषधियों से षाडवादि रस—मधु, तिक्त, कषाय, कटु आदि षड्रसों से भिन्न स्वाद देनेवाला रस निष्पन्न होता है, वैसे ही नाना भावोपगत स्थायीभाव रस बन जाते हैं। जिस प्रकार नाना व्यञ्जनों से सस्कृत अन्न का भोगकर सुमनस पुरुष हर्ष पाते हैं, वैसे ही नानाभिनयों से व्यक्त स्थायीभावों का आस्वादन कर रसिक प्रेक्षक आनन्द पाते हैं।[१९] नाटचशास्त्र में शृगार, रौद्र, वीर और बीभत्स मूल रस माने गए हैं। शृगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति बताई गई है। 'नाटचशास्त्र' के छठवें अध्याय में रस-निष्पत्ति भली-भाँति बताई गई है। सातवें में भाव, विभाव और व्यभिचारि

[११] नाटचशास्त्र, १३।८४।
[१३] वही ६।३१ की वृत्ति।
[१४] अथर्ववेद १४।२।५८।
[१५] वही, १०।८।४४
[१६] वही, ११।५।२।
[१७] वही, ३।१४।५।
[१८] वही, ३।१५।५।
[१९] नाटचशास्त्र, ६।३२,३३।

भावों की चर्चा है । रस लक्ष्य तत्त्व है, साध्य है, शेष तीन पाठ्य, गीत और अभिनय साधक तत्त्व हैं । इन्हीं के द्वारा रस निष्पन्न होकर आनन्द का कारण बन जाता है । नाट्य की अन्तिम प्राप्ति यही है ।

भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार इन्हीं चार—पाठ्य, गीत, अभिनय और रस—को नाटकीय तत्त्व माना जाना चाहिए । वस्तु, नेता यदि तत्त्व हैं तो वे कविकर्म के तत्त्व हैं, मञ्चविधान के तत्त्व नहीं । इनका सम्बन्ध लेखन-प्रक्रिया से ही अधिक है । अरस्तु का बाह्य और आन्तरिक दो स्थितियों का तत्त्व-विवेचन सम्भवतः मञ्च और कवि-कर्म दोनों को ध्यान में रखकर ही किया गया है ।

पाठ्य, गीत, अभिनय और रस—ये चार नाट्य-तत्त्व चारों वेदों से ही विकसित हुए हैं । भरत ने ही नहीं, नन्दिकेश्वर ने भी ऐसा ही कहा है—

> ऋग्यजुः सामवेदेभ्यो वेदाच्चाथर्वणः क्रमात् ।
> पाठ्यञ्चाभिनयं गीतं रसान् संगृह्य पद्मजः ।
> व्यरीरचच्छास्त्रमिदं धर्मकर्मार्थमोक्षदम् ।।[४०]

ऐसा लगता है कि यह यज्ञयागादि क्रिया भी एक प्रकार के नाटक ही हैं । अभिनय के समान ही इनमें स्थिति, गति, विधि, विधान सभी का निर्देश है । फ्रान्सीसी मनीषी 'बर्गेन' तो आदिम जातियों में प्रचलित धार्मिक नाट्य—रिचुअल ड्रामा—के आधार पर वेदविहित यज्ञयागादि क्रियाओं को द्युलोक में निरन्तर होनेवाली प्रक्रियाओं का अनुकरण-अभिनय ही मानता है । आधुनिक ख्यातिप्राप्त नृतत्त्वपण्डिता मर्किया इलियड का मत भी यही है । यागादि सृष्टि के नाटकीय अनुकरण हैं ।[४१]

इस विषय में अभी और अनुसन्धान अपेक्षित है । चारों वेदों और उनके ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदों में ये चारों तत्त्व इतने घुले-मिले हैं कि उनका छाँट लेना समुद्र से मोती लाने के समान है । सभी तत्त्व प्रायः सभी में मिल जाते हैं । अभी तो ऋक् से पाठ्य, साम से गीत, यजु से अभिनय और अथर्वण से रस की मान्यता 'प्राधान्येन व्यपदेशः' ही है । जो तत्त्व प्रधानता से जिस वेद में है उसी वेद से उस तत्त्व को ग्रहण करने की घोषणा की गई है । देखिए, कौन 'मरजीवा' बनकर 'गहरे पानी पैठने का' का श्रेय लेता है ? बहुत दिनों पूर्व किसी अवकाश के दिन जपादि समाप्त कर अपने परिवार के साथ आराम से छुट्टी मनाते नाट्याचार्य भरत मुनि से इन्द्रियजयी, बुद्धि पर भी काबू रखनेवाले आत्रेयादि महामुनियों ने विनम्रतापूर्वक पूछा था—

> योऽयं भगवता सम्यग्ग्रथितो वेदसम्मितः ।
> नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्नुत्पन्नः कस्य वा कृते ।
> कत्यङ्गः किंप्रमाणश्च प्रयोगश्चास्य कीदृशः ?[४२]

यह वेद-सम्मत सम्यक् ग्रथित नाट्यवेद कैसे, किसके लिए उपजा है भगवन् ! कितने अङ्ग हैं इसके, इसका प्रमाण क्या है और कैसे इसका प्रयोग होता है ।

यह प्रश्न आज भी है । प्रतीक्षा है केवल नियतेन्द्रियबुद्धि अनुसंधित्सुओं की । उत्तरदाता भरत तो कह उठेंगे ही—

> भवद्भिः शुचिभिर्भूत्वा तथाऽवहितमानसैः ।
> श्रूयतां नाट्यवेदस्य सम्भवः ···············।।[४३]

पवित्र होकर, मन लगाकर नाट्यवेद की उत्पत्ति सुनो ।

---

४० अभिनयदर्पण ७।१० ।

४१ कास्मास ऐंड हिस्ट्री, पृष्ठ सं० १० (हार्पर टार्च बुक, टी० ५०) ।
तुलनीय आनन्दकुमार स्वामी, दी ऋग्वेद ऐज लैण्डनामा बुक, लण्डन, १६३५, पृष्ठ १६ ।

४२ नाट्यशास्त्र १।४-५ ।

४३ वही, १।७ ।

मध्यकालीन भारत में निर्गुण काव्य-साधना और उसकी व्यापकता

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी

प्रचलित परम्परानुसार निर्गुण काव्य-साधना के प्राय दो रूपों की चर्चा की जाती है जिनमे से हिन्दी-साहित्य के इतिहासो मे एक को 'ज्ञानाश्रयी धारा' वा 'सतकाव्य' एव दूसरे को 'प्रेमाश्रयीधारा' वा 'सूफी काव्य' कहा गया है। इनमे से प्रथम के आदर्शरूप का परिचय हमे सत कवि कबीर, नानक एव दादू आदि की रचनाओ मे प्राप्त होता है। इसी प्रकार, द्वितीय का पता, सूफी कवि जायसी एव मझन द्वारा रची गई प्रेम-गाथाओ से चल जाता है। इन दोनो प्रकार के काव्यो की रचना केवल आध्यात्मिक उद्देश्य से की गई कही जा सकती है। इस कारण इन दोनो के रचयिताओ को भी हम अधिकतर ऐसे साधको की ही श्रेणी मे रख सकते हे जिन्होने इनका निर्माण केवल परम-तत्त्व के वर्णन, स्वानुभूति की अभिव्यक्ति अथवा उपदेश-प्रदान के लिए किया होगा। तदनुसार इनमे प्राय भक्ति, प्रेम एव ज्ञानपरक अत.साधना का निरूपण रहा करता है। बाह्याचारो एव विविध रूढियो के प्रति सदा उपेक्षा का भाव प्रदर्शित किया गया भी मिलता है। ऐसी रचनाएँ मानो उद्‌गारपरक मुक्तकों के रूप मे पायी जाती हे अथवा आदर्श प्रेमियो की वे कहानियाँ रहा करती हे जिनका कथन प्रतीकात्मक शैली में किया गया मिलता है। इसके सिवाय इन दोनो प्रकार के कवियो का ध्यान अधिकतर किसी-न-किसी आदर्श जीवन-पद्धति की ओर भी आकृष्ट जान पडता है। ये दोनो प्राय किसी-न किसी जनभाषा एव लोक-प्रचलित काव्य रूपो का ही प्रयोग करना चाहते हे। इनकी ऐसी रचनाओ को 'निर्गुण काव्य' की सज्ञा देने का कारण कदाचित् इनके द्वारा व्यक्त किये गये परमतत्त्व के उस विलक्षण रूप मे निहित कहा जा सकता है जिसे यहाँ पर अगम, अगोचर अथवा अनिर्वचनीय कहा गया मिलता है। परन्तु इस प्रकार की रचना-शैली केवल उक्त सत एव सूफी कवियो की ही कृतियो की विशेषता नही कही जा सकती। उनमे इसके न्यूनाधिक मिलते-जुलते अनेक उदाहरण हमे भारत के मध्यकालीन साहित्य मे अन्यत्र भी उपलब्ध होते हे।

भक्ति-साधना के मूलस्रोत का पता हमे वस्तुत उत्तरी भारत के प्राचीन महापुरुष वासुदेव श्रीकृष्ण के ही समय से चलने लगता है। किन्तु इसमे सदेह नही कि इसके किसी निश्चित आन्दोलन का इतिहास दक्षिण मे ईसा की छठी शती से आरम्भ होता है। भारत का मध्यकालीन इतिहास इसके अनंतर ईसा की सातवी शती से चलता है जब तक उधर वाले आडवार वैष्णव भक्तो का युग प्राय आधे से अधिक व्यतीत हो चुका था और नायन्मार शैव-भक्तो के युग का भी आरम्भ हो गया था। सातवी शती के मध्यकाल तक इन दोनो प्रकार के भक्तो का प्रभाव अपनी चरम सीमा तक पहुँच रहा था। वह किसी-न-किसी रूप मे, नवी शती के मध्य तक वर्तमान रहा जब तक इनके भक्तिरस-पूर्ण गीतों का प्रचार उधर प्राय सर्वत्र हो गया। आडवारो मे सर्वाधिक प्रसिद्ध नम्मलवार (संभवत. छठी-सातवी शताब्दी) का कहना था—"किस प्रकार मैं उस परमोज्ज्वल रत्न (अपने इष्टदेव) का वर्णन करूँ, वह तो अखिल विश्वरूप है और वह मानवीय धर्मों का आधार-

स्वरूप भी है। उसे हम अपनी इन्द्रियो द्वारा नही प्राप्त कर सकते, वह ज्ञानातीत है। यदि हम आत्मा के अन्त स्थल मे, जो हमारे जीवन का मूल उत्स भी है, अपना ध्यान सभी ओर से हटा कर, केन्द्रित कर सकें वैसी दशा मे ही हम उस अपने स्वामी को पाने मे समर्थ हो सकते है।"[1] इसी प्रकार, एक प्रमुख नायन्मार अप्पर (सातवी शती का मध्य काल) का भी कथन है—"वह ज्योतिस्वरूप स्वामी काष्ठ मे छिपी आग एव दूध मे छिपे घी की भाँति हमारे भीतर अतर्हित है। प्रेम की मथानी मे विवेक की रस्सी लगा कर उसके द्वारा मथन करो, वह अवश्य मिलेगा।"[2] तथा "हे स्वामिन मै स्वय अपने को नही जानता, न मुझे कोई तेरा ही परिचय प्राप्त है। मुझे तो केवल इतना ही पता है कि मै तेरा दास हूँ।"[3] अतएव, इन भक्तो की चर्चा करते हुए एक लेखक ने हमे बतलाया है—"इन द्रविड सतो—दोनो वैष्णवो एव शैवो-के ज्ञान एव सहजबोध की अपूर्वता इस बात मे लक्षित होती है कि इनकी परमतत्त्व-विषयक दृष्टि उसे एक ही साथ सर्वातिशायी, निरपेक्ष, अतर्यामी और आत्मीय व्यक्ति भी मानते हुए काम करती है, ऐसे परमेश्वर को ये लोग 'भावभगति' और प्रेमाभक्ति के द्वारा उपलब्ध भी करना चाहते है।[4]

आडवार वैष्णवो तथा नायन्मार शैवो के आविर्भावकाल तक दक्षिण मे बौद्धधर्म एव जैन धर्म का बहुत प्रचार हो चुका था। उन्हे कही-कही राज्याश्रय तक मिलने लगा था जिस कारण इन दोनो प्रकार के भक्तो को उनके सघर्ष मे भी आना पडा। किन्तु उन धर्मों का इतिहास देखने तथा उनके अनुयायियो द्वारा रची गई तत्कालीन पुस्तको के अध्ययन से हमे ऐसा भी लगता है कि उनमे भी क्रमश कुछ-न-कुछ परिवर्तन होते जा रहे थे। वे तदनुसार अपने वातावरण के प्रभावो मे भी आने लगे थे। उस समय के लगभग, अपभ्रश मे लिखित सहजयानी बौद्ध सिद्धो के दोहो और चर्यापदो तथा सुधारवादी जैन मुनियो की भी वैसी उपलब्ध रचनाओ मे हमे कभी-कभी ऐसे उदाहरण मिल जाते है जिन्हे, इन भक्तो की कई पक्तियो के मेल मे रखने पर हमे विशेष अन्तर नही लक्षित होता। दोनो को प्राय एक ही कोटि मे स्थान देने की प्रवृत्ति होने लगती है। सहजयानी बौद्ध सिद्ध सरहपा (आठवी शती) का कहना है, "रे मूर्ख, सरह तुझे यह उपदेश देता है कि तू जहाँ तक सूर्य-चन्द्र एव पवन तथा मन की भी पहुँच नही है, वही पर अपने चित्त को विश्राम दे।"[5] तथा "वह परमेश्वर अविनश्वर एव परमगुणादि से रहित है, उसके विषय मे मुझसे कुछ भी नही कहा जा सकता, उसका बोध हमे किसी कुमारी के निजी सुरतानुभव के समान स्वय ही हो सकता है।[6] इसी प्रकार जोगीन्दु जैन मुनि (सभवत. छठी शती) का भी कथन है—"जिसके भीतर सारा ससार है और जो ससार के भीतर भी वर्तमान होकर 'ससार' नही कहा जा सकता वही परमात्मा है।"[7] तथा "जो परमात्मा है वही 'अह' है और जो "अह' है वही परमात्मा भी है। इस कारण

---

[1] नायन्मार—(नटेसन, मद्रास) पृष्ठ ४८।

[2] 'अप्पर' (नटेसन, मद्रास), पृष्ठ ४३।

[3] वही, पृ० ४६।

[4] ए० गोविन्दाचार्य—ए मेटाफिजिक ऑव मिस्टिसिज्म—मैसूर, १९२३, पृष्ठ ४२३।

[5] 'दोहाकोश' (कलकत्ता) दोहा—२५, पृष्ठ २७।

[6] वही, दोहा ५८, पृष्ठ २७।

[7] 'परमात्मप्रकाश' (बम्बई) पद्य ४१, पृष्ठ ४५।

योगी को बिना किसी तर्क-वितर्क के केवल इतना ही जान लेने की आवश्यकता है।"[८] इनके एक परवर्ती जैन मुनिरामसिंह ने तो यह भी कहा है "मेरा मन तो परमेश्वर में मिल गया है और परमेश्वर का रूप भी मेरा मन हो गया है, जब दोनो समरस मे आ गये तो अब मैं पूजा किसकी करूँ।"[९] जिसे पढकर हमें पिछले कबीरादि मतों तक का स्मरण हो आता है। वास्तव में यदि देखा जाय तो, उस युग वाले आडवार अथवा नायन्मार भक्तो तथा इन सिद्धो एव मुनियों की अनेक रचनाओं के अन्तर्गत हमें, वर्ण्य विषय तथा कभी-कभी वर्णन-शैली की दृष्टि से भी लगभग एक से ही उदाहरण मिल सकेंगे।

स्वामी शकराचार्य (सन् ७८८-८२० ई०) के लगभग उसी समय, बौद्धों एव जैनियो के अवैदिक धर्मों के विरुद्ध वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा पुन कायम करने के उद्देश्य से अपने दार्शनिक मत 'अद्वैतवाद' का प्रतिपादन किया। उन्होंने इसे इतना व्यापक रूप दे दिया कि इसके भीतर इनके क्रमश 'शून्यवाद' एव अनेकान्तवाद' के समाधान की भी गुजाइश हो सकती थी। तदनुसार, इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप, स्वामी रामानुजाचार्य (सन् १०१७-३८ ई०), मध्वाचार्य (सन् ११९९-१३०३) तथा निम्बार्काचार्य (१२वीं शती) ने भी क्रमश अपने 'विशिष्टाद्वैत', 'द्वैत' एव 'द्वैताद्वैत' मतो की प्रतिष्ठा की। इस प्रकार उन्होंने अपने-अपने दृष्टिकोणो के आधार पर, उस भक्ति-साधना को भी प्रश्रय प्रदान किया जो आडवारो के समय से विकास पाती आ रही थी। इन सभी आचार्यों ने उसे अपने अपने ढग से वैदादिसम्मत ठहराया तथा उसे अपना पूरा समर्थन भी प्रदान किया। इसका एक परिणाम यह हुआ कि इसके कारण उसके आन्दोलन को आगे अधिकाधिक सफलता मिलती चली गई और तदनुकूल वातावरण मे भक्ति-काव्य के निर्माण का कार्य भी अग्रसर होता गया। इसी प्रकार स्वामी शकराचार्य के कुछ ही अनन्तर गुरु गोरखनाथ का भी आविर्भाव हुआ जिन्होंने 'नाथ योगि सप्रदाय' के सिद्धान्तों का प्रचार किया। अपनी धार्मिक मान्यताओं के अनुसार ये शैव-मतावलम्बी कहे जा सकते थे और इनकी साधना योग प्रधान थी। इनके तात्रिक साधनाओ द्वारा भी बहुत कुछ प्रभावित होने के कारण, इनके मत को सर्वथा वैदिक भी नही ठहरा सकते थे। परन्तु इनके सगठन एव प्रचार-कार्य ने सर्वसाधारण को विशेष रूप से प्रभावित किया। इनके द्वारा प्रचलित साधना-पद्धति एव जीवन-दर्शन की न्यूनाधिक छाप सभी तत्कालीन साधकों एव भक्त-कवियों तक की कृतियो पर पड़ने लग गई। आचार्यों के प्रभाव मे जहाँ एक ओर भक्ति के साथ ज्ञान का गठबन्धन दृढ हुआ, वहाँ दूसरी ओर नाथ योगियो के कारण, उसे अत साधना का भी सहयोग प्राप्त हो गया। इन तीनो को एक साथ महत्त्व देने की प्रवृत्ति भी बढने लग गई। निर्गुण काव्य-साधना के लिए इस प्रकार का वातावरण सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुआ क्योंकि इसके कारण, वैसी भावनाएँ जो कभी पहले केवल छिट-पुट रूप में ही लक्षित हो पडती थी, उनके सम्यक् समावेश की प्रेरणा आपसे-आप स्फुरित हो चली। अपने रूप के क्रमश. निखरते जाने के कारण, इसे कभी-कभी एक सुनिश्चित पृथक् स्थान देने की परम्परा भी प्रतिष्ठित हो गई।

इस प्रकार की निर्गुण काव्य-साधना का एक प्रारम्भिक रूप हमे लिंगायत 'शिवशरण' भक्तो के उस विलक्षण 'वचन' साहित्य मे भी उपलब्ध होता है जिसकी रचनाएँ वस्तुत नियमानुसार छन्दो-

---

८ योगसार (बम्बई)—पद्य २२, पृष्ठ ३७५ ।

९ पाहुड दोहा (कारंजा)—दोहा ४९, पृष्ठ १६ ।

बद्ध न रहने के कारण, गद्यगीतों की कोटि मे आती है। इनमे इनके रचयिताओं की गहरी अनुभूति की अभिव्यक्ति पायी जाती है और ऐसा प्रत्येक 'वचन' अपने मे पूर्ण ही रहा करता है। लिंगायतों का वीर शैवो के मत का विशेष प्रचार कर्णाटक प्रदेश के अन्तर्गत, बसव, अल्लमप्रभुदेव तथा चेन्नबसव द्वारा किया गया जिनका आविर्भाव ईसा की बारहवी शती मे हुआ था और जिन्हे उक्त 'वचन'-कारो मे भी उच्च स्थान दिया जाता है। इनके द्वारा प्रचलित किया गया 'षट्स्थल' का भक्ति-सिद्धान्त बहुत कुछ उत्तरीभारत के सन्तो की भक्ति-साधना से मिलता है। इन्होंने परमतत्त्व के स्वरूप की व्याख्या करते समय उसे उनके ही समान 'शून्य' कहने की जगह 'बयलु' बतलाया है जो कन्नड भाषा मे वस्तुत उसी शब्द का समानार्थक है। तदनुसार 'शून्यलिगमूर्ति' का परिचय देते हुए अल्लम प्रभु ने कहा है—'शून्य-लिंग-मूर्ति' न साकार है, न निराकार है। उसका न आदि है, न अंत है। वह न यह है न पर है, न सुख है न दुख है, न पुण्य है न पाप है, न प्रभु है न दास है, न कार्य न कारण है, न धर्मी है न कर्मी है, न पूज्य है न पूजक है—वह इन दोनो से परे है।"[१०] इसी प्रकार कबीरादि सतो के पूर्ण आत्मनिवेदन की प्रवृत्ति भी हमे यहाँ, इन भक्तो के 'शिवशरण' कहे जाने की सार्थकता मे दीख पडती है। इस भाव को प्रकट करते हुए बसव ने कहा है—"जब तन तुम्हारा हो गया तब मेरा कोई पृथक् तन नही रह गया। जब मन तुम्हारा हो गया तब मेरा कोई पृथक मन नही रहा। जब धन तुम्हारा हो गया तब मेरा कोई पृथक् धन भी नही रहा। इस प्रकार ये तीनो ही साधन तुम्हारे हो गये, मेरा अपना कुछ भी नही रह गया और बसव की शून्य समाधि 'कूडलसगम' मे स्थापित हो गई।"[११] इन्होंने अन्यत्र यह भी कहा है—"हे कूडल सगम, धनी लोग शिव के लिए मदिरो का निर्माण किया करते है, किन्तु मुझ जैसे अकिंचन की दशा वैसी नही है। मेरे तो अपने पैर ही खभे है जिन पर मेरे शरीर का मन्दिर खडा है और मेरा सिर उसका 'कलश' बना हुआ है, मेरी दृष्टि मे जो कुछ भी दीख पडता है वह नाशवान् है और जो था वही नित्य बना रहेगा।"[१२] चेतना का सामाजिक पक्ष भी यहाँ द्रष्टव्य है।

कर्णाटक प्रान्त के ये शिवशरण लोग शैव समझे जाते है। इनके उपर्युक्त प्रमुख प्रचारक अल्लम प्रभुदेव की गणना कदाचित्, उन महासिद्धो मे भी की गई मिलती है जो नाथपथ की एक रचना के अनुसार हठयोग द्वारा अमरत्व पा चुके है।[१३] परन्तु निर्गुण काव्य-साधना की प्रवृत्ति के पीछे इसके पडोसी प्रदेश, महाराष्ट्र के वारकरी वैष्णवो मे भी दीख पडी। इस पथ का विशेष प्रचार-कार्य ईसा की तेरहवी शती से आरम्भ हुआ, इसके कवियो मे सन्त ज्ञानदेव (सन् १२७५-१२९६ ई०) जैसे प्रतिभाशाली पुरुष हुए जिन्होंने भी अपने मत के मूल स्रोत का सम्बन्ध गुरु गोरखनाथ से जोडने का यत्न किया। इन्होंने अपने एक मराठी अभग मे कहा है, 'हे गोविन्द, मेरी तो समझ मे नही आता कि मै तुझे सगुण कहूँ वा निर्गुण, तुझे स्थूल कहूँ वा सूक्ष्म, क्योकि तू इन दोनो मे व्याप्त है। तुझे दृश्य कहूँ वा अदृश्य क्योकि तू तो मुझे दोनो ही प्रतीत होता है?"[१४] ये अद्वैत भक्ति मे विश्वास रखते थे। इनका कहना था, "जैसे एक ही चट्टान मे गुफा मन्दिर, मूर्त्ति तथा भक्तो के आकार भी पाये जाते है वैसे ही अभेद भक्ति

१० डॉ० हिरण्मय : 'हिन्दी और कन्नड में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन' (आगरा) के पृष्ठ ३१८ पर उद्धृत।

११ आर० आर० दिवाकर : 'वचन-शास्त्र रहस्य', पृष्ठ ५२।

१२ कर्णाटक-दर्शन (बम्बई), पृष्ठ ११८ पर उद्धृत।

१३ हठयोगप्रदीपिका (बम्बई), श्लोक ५–९, पृष्ठ ८-९।

१४ भी० गो० देशपाण्डे : 'मराठी का भक्ति साहित्य' (वाराणसी), पृष्ठ १७ पर उद्धृत।

का भी व्यवहार होता है। इसी प्रकार जैसे आकाश और अवकाश, चीनी और मिठास, रत्न और कान्ति एव अग्नि और ज्वाला अभिन्न हैं वैसे ही विश्वात्मक देव को अभिन्न मानकर भक्ति करना अभेद भक्ति का स्पष्ट लक्षण है।"[१५] ज्ञानदेव के समकालीन भक्त नामदेव (सन् १२७०-१३५० ई०) ने तो अपनी अनेक रचनाएँ हिन्दी के माध्यम द्वारा भी प्रस्तुत की थी। इस प्रकार, उन्होंने उत्तरी भारत के सत कवि कबीर, नानक, दादू आदि के मार्ग को प्रशस्त कर इन्हे प्रेरणा प्रदान की थी। उन्हे निर्गुण परमतत्त्व की विश्वात्मक व्यापकता मे पूर्ण निष्ठा थी।[१६]

इन बारकरी वैष्णव कवियो की यह एक विशेषता थी कि इन्होने अपनी अभेद भक्ति के अन्तर्गत न केवल निर्गुण एव सगुण इन दोनो का समावेश किया, प्रत्युत उसके आधारस्वरूप इन्होने स्वानुभूति के साथ-साथ "श्रीमद्भगवद्गीता' एव 'श्रीमद्भागवत' जैसे ग्रन्थो को भी स्वीकार किया तथा विट्ठल की मूर्त्ति की उपासना तक के प्रति उपेक्षा नही प्रदर्शित की।

बारकरी वैष्णव कवियो मे इन दोनो के अतिरिक्त, एकनाथ, तुकाराम एव समर्थ रामदास भी अधिक प्रसिद्ध हुए। इनमे से अतिम दो का समय ईसा की सत्रहवी शती के प्राय अतिम चरण तक चला जाता है। इन लोगो के आविर्भाव-काल तक सुदूर उत्तर की ओर कश्मीर प्रदेश मे, शैव-धर्म का विशेष प्रचार हो चुका था। वहाँ पर प्रचलित 'कश्मीर शैव दर्शन' के प्रभाव मे आकर उसकी एक अपनी विलक्षण भक्ति-साधना का रूप भी निश्चित हो चुका था। तदनुसार वहाँ पर भी, चौदहवी शती के अन्तर्गत, सत लाल्लदेद (सन् १३३५-१४१५ ई०) ने अपनी निर्गुण काव्य साधना का आदर्श प्रस्तुत किया। यह लल्लेश्वरी श्रीनगर से लगभग तीन मील पर अवस्थित 'पाड्रेमन' नामक गाँव के एक सम्पन्न घराने की महिला थी, किन्तु अपने घर से विरक्त होकर वे चल पडी और अवन्तिपुर के बाबा श्रीकठ से दीक्षित होकर उन्होंने अपना आध्यात्मिक जीवन आरम्भ कर दिया। लल्लेश्वरी ने भावावेश मे आकर अनेक पद्यो की रचना कर डाली जो कश्मीरी भाषा मे 'लालवाख' नाम से सगृहीत है। इनके आधार पर उनके गम्भीर चिन्तन और उत्कट भगवत्प्रेम दोनो का ही सुन्दर परिचय मिलता है। इनका कहना है कि—"मैं लल्ली बडी चाव से तेरी खोज मे निकली और तेरी लगन में दिन-रात भटकती रही। अब मैंने देखा तो पाया कि वह पडित (भगवान्) तो मेरे घर मे ही विराजमान है। मेरा सौभाग्य है कि मैंने उसे पा लिया।"[१७] फिर अन्यत्र भी वे कहती हैं, "तू ही आकाश है, और तू ही भूतल भी है। तू ही दिन है रात है और पवन भी तू ही है। तू ही अर्घ्य, चदन, फूल और पानी भी है। इस प्रकार जब तू ही सब कुछ है और तेरे सिवाय कुछ भी नही है तो बता तुझे अर्पण क्या करूँ?"[१८] लल्लेश्वरी के द्वारा प्रभावित एक सूफी कवि शेख

---

[१५] वही, पृष्ठ १५।

[१६] "एक अनेक बियापक पूरक जत देखउ तत सोई।
माया चित्र बिचित्र बिमोहित बिरला बूझै कोई।
सभु गोबिन्द है, सभु गोबिन्द है, गोबिन्द बिनु नहि कोई।।
सूत एक मणि सतसहस जैसे ओत पोत प्रभु सोई।
जल तरंग अरु फेन बुदबुदा, जलते भिन्न न होई।।
कहत नामदेउ हरि की रचना देखहु रिदै बिचारि।
घट घट अंतरि सरब निरंतर केवल एक मुरारि।।"—गुरु ग्रन्थसाहब

[१७] राष्ट्र भारती पृष्ठ ३६४।

[१८] राष्ट्रभारती, पृष्ठ ३६५।

नूरुद्दीन का भी जन्म श्रीनगर से ही २८ मील पर बसे हुए 'बीज बिहार' नामक गाँव में हुआ था। उनका समय सन् १३७७-१४३८ दिया जाता है जिस काल तक सूफीमत का भी प्रचार यहाँ पर भलीभाँति हो चुका था। ये लल्लेश्वरी को अपनी माता के रूप में देखते थे और, अपने व्यापक सिद्धान्तों के कारण, ये 'नन्द ऋषि' कहला कर भी प्रसिद्ध थे। इनका कहना है, "उसके तीरों से अपने को बचाने की चेष्टा न करो, न उसकी तलवार की चोट से भागना चाहो। अपनी सारी विपत्तियों को चीनी जैसी मीठी समझते हुए उनका उपभोग करो, तुम्हारे लिए लोक तथा परलोक दोनों में, इसी के कारण, सम्मान प्राप्त होगा।"[१]

संत कवि कबीर का आविर्भाव, इन नन्द ऋषि के ही जीवन-काल में हुआ था। इस प्रकार उनके पहले तक निर्गुण काव्य साधना की अनेक प्रारम्भिक पद्धतियों के प्रयोग हो चुके थे। तमिल प्रान्त के आडवार वैष्णव भक्तों तथा नायन्मार शैव साधकों की फुटकर पंक्तियों के अन्तर्गत उसका रूप उतना स्पष्ट नहीं कहा जा सकता था। परन्तु स्वामी शंकराचार्य और गुरु गोरखनाथ के अनंतर जब भक्ति की दार्शनिक व्याख्या हो गई और उसे योगसाधना का पूरा सहयोग भी प्राप्त हो गया, उसने बहुत व्यापक रूप धारण कर लिया। सूफीमत का प्रचार हो जाने पर जब उसे प्रेमसाधना का भी पूर्ण समर्थन मिला वह और भी निखर आया। संत कबीर (मृत्यु सन् १४४८ ई०) ने एक साधारण से जुलाहे परिवार में, जन्मग्रहण किया था। ये शिक्षित न होकर केवल बहुश्रुत कहला सकते थे तथा इन्हें सत्संग एवं स्वानुभूति का ही बल मिल सका था। इन्होंने अपने समय के अनुकूल वातावरण से पूरा लाभ उठाया। तदनुसार, निर्गुण काव्य-साधना को एक ऐसा समन्वयात्मक रूप दे डाला जो इनके अनन्तर आने वाले साधकों के लिए आदर्श बन गया। इनकी रचनाओं में हमें इनके पूर्ववर्ती लिंगायतों एवं बारकरी भक्तों के प्रवृत्तिमार्गी दृष्टिकोण का भी पूरा समावेश दीख पड़ता है। ये अपने व्यावहारिक जीवनदर्शन एवं 'कथनी और करनी' के सामंजस्य पर विशेष बल देने के कारण, हमें और भी अधिक आकृष्ट करने लगते हैं। संत कबीर के अनंतर इनके आदर्शों पर अन्य अनेक संत कवि भी अपनी 'बानियाँ' प्रस्तुत करते आये और इस प्रकार न केवल एक विशाल निर्गुणी साहित्य का निर्माण हो गया, प्रत्युत इसके कारण, एक विलक्षण रचना-शैली भी अस्तित्व में आ गई। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से विचार करने पर ऐसी रचनाओं में उतना उल्लेखनीय अंतर नहीं लक्षित होता। केवल इतना ही जान पड़ता है कि साधनाओं के समन्वय की प्रवृत्ति जो पहले बहुत कुछ प्रच्छन्न रूप में काम करती आ रही थी वह संत बाबा लाल (मृत्यु संभवतः १५६० ई०) अथवा विशेषकर संत प्राणनाथ (१६१८-९० ई०) के समय तक और भी अधिक स्पष्ट हो गई।

निर्गुण काव्य-साधना वाले इन संत कबीर, नानक, दादू आदि हिन्दी-कवियों को कभी-कभी केवल 'निर्गुनिया' मात्र भी कह दिया जाता है। इसका कारण, इनके द्वारा केवल निर्गुणतत्त्व का वर्णन किया जाना नहीं कहला सकता। संत कबीर ने इस विषय में स्पष्ट कह दिया है, "उसे हमारा 'निर्गुण' वा 'सगुण' कह देना वास्तविक मार्ग को छोड़ कर धोखा खाना होगा। उसे लोग 'अजर', 'अमर', 'अलख' भी कह दिया करते हैं। किन्तु वह यह भी नहीं है और न उसे पिण्ड का ब्रह्माण्ड के रूप में ही ठहरा सकते हैं। उसका न तो कोई वर्ण है, न कोई स्वरूप ही है। वह आदि एवं अन्त की विशेषताओं से भी रहित है। अतएव, यदि पिण्ड तथा ब्रह्माड को छोड़ कर सभी कुछ के

---

[१] 'कश्मीर' (लाहौर) भाग १, पृष्ठ ४२३।

परे और इसके साथ ही इनमें अंतर्हित भी उसे मान लिया जाय तो उसके विषय में कुछ कहा जा सकता है। इसी को हम उस 'हरि' का कोई स्वरूप भी मान सकते हैं।"[२०] उन्होंने इस बात को अन्यत्र इन शब्दों में भी कहा है जैसे "जैसा कहा जाता है वैसा ही उसका अपने पूर्णरूप में होना सम्भव नहीं है। वह जैसा है वैसा ही है।"[२१] अथवा, "वह जैसा है वैसा केवल उसी को विदित है। वास्तव में, केवल वही मात्र है ही, अन्य कुछ है ही नहीं।"[२२] आदि। इस कारण, यदि देखा जाय तो यह कथन किसी भी प्रचलित मत के विपरीत जाता नहीं जान पड़ता, प्रत्युत इसके अंतर्गत किसी-न-किसी रूप में, शैव, वैष्णव, सूफी, दार्शनिक, योगी, बौद्ध, जैन यहूदी, ईसाई आदि सभी की मान्यताओं का समावेश किया जा सकता है।[२३] इसके सिवाय, ऐसी धारणा के केवल इन सन्तों की स्वानुभूति मात्र पर आश्रित रहने के कारण, इसके किसी धर्म-ग्रन्थ-विशेष से सर्वथा सम्मत होने वा किसी धार्मिक-वर्ग-विशेष के अनुकूल पड़ने वा प्रतिकूल जाने का प्रश्न भी नहीं उठ सकता। ऐसे 'सत मत' वालों को 'निर्गुनिया' कहने तथा इनकी रचनाओं के सम्बन्ध में 'निर्गुणकाव्य-साधना' जैसे शब्द का व्यवहार करने का तात्पर्य केवल यही हो सकता है कि इनकी अभिव्यक्ति की विलक्षण शैली यहाँ पर उन दिनों प्रचार में आ जाने वाली उस रचना-पद्धति से भिन्न प्रतीत होती थी जिसे यहाँ के सगुणोपासक सूर, तुलसी आदि भक्तों ने अपनाया।

निर्गुण काव्य-साधना के अन्य साधक, सूफी कवियों का मेल भी, इन सत कवियों के साथ, बहुत-कुछ बैठ जाता था। ये लोग भी परमतत्त्व को 'अबरन', 'अलेख' आदि कई विलक्षण विशेषणों द्वारा चित्रित करना अधिक पसन्द करते थे। इनके यहां भी शुद्ध हृदयता (सिदक) को विशेष महत्त्व प्रदान किया जाता था। इनकी सबसे बड़ी विशेषता इनके द्वारा उस प्रेमतत्त्व को सर्वाधिक उपर्युक्त साधन मानने में लक्षित होती थी। इसके लौकिक प्रेम (इश्क मजाजी) वाले रूप को भी, उसकी शुद्ध दशा में, अलौकिक प्रेम (इश्क हकीकी) जैसा अपनाया जा सकता था। कहते हैं कि सूफीमत का प्रचार भारत में, इस देश पर मुसलमानों के सर्वप्रथम आक्रमण (सन् ७१२ ई०) के पहले से ही होने लगा था। परन्तु इसका सुव्यवस्थित रूप हमें वास्तव में, अल् हुज्विरी (मृत्यु १०७३ ई०) की प्रसिद्ध रचना 'कश्फुल महजूब' (निरावृत रहस्य) के प्रकाश में आ जाने पर दीख पड़ा तथा जब से सूफी कवियों ने प्रेम-गाथाओं का निर्माण आरम्भ किया, वह और भी स्पष्ट हो गया। हिन्दी की ऐसी उपलब्ध रचनाओं में सर्वप्रथम नाम मुल्ला दाऊद की 'चंदायन' का आता है। इसका निर्माण संभवतः सन् १३७९ ई० अथवा कदाचित् संतकबीर के जीवनकाल में ही हुआ था। परन्तु इसकी प्रति के अभी तक अधूरी ही मिल पाने के कारण इसके रचयिता की सारी मान्यताओं का हमें वैसा कोई विवरण नहीं मिलता। ऐसी बातों का अधिक स्पष्टीकरण, उनके परवर्ती शेखकुतबन की 'मृगावती' और विशेषकर मलिक मुहम्मद जायसी की 'पद्मावत' में पहले पहल पाया जाता है। वहाँ पर परमात्मतत्त्व का वर्णन तथा उसकी उपलब्धि के संकेत प्रायः उन्हीं रूपों में दीख पड़ने लगते हैं जिनके उदाहरण सत कवियों की रचनाओं में भी आ गये रहा करते हैं। इन प्रेमगाथाओं की परम्परा का आरम्भ सर्वप्रथम उत्तरी भारत की प्रचलित बोली अवधी में होता दीख पड़ता है। किन्तु इनसे

---

२० 'कबीर-ग्रंथावली' (काशी), पद १८०, पृष्ठ १४९।

२१ वही, रमैणी, ३, पृष्ठ २३०।

२२ वही, रमैणी, ६, पृष्ठ २४१।

मिलते-जुलते अनेक वैसे प्रेमाख्यानों का प्रचार, क्रमश सुदूर दक्षिण की दक्खिनी हिन्दी, पश्चिम की पंजाबी एव पूर्व की बगला जैसी भाषाओं के भी क्षेत्रो मे होने लग जाता है। ये अन्त मे, निर्गुण काव्य साहित्य के अन्तर्गत, अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान तक ग्रहण कर लेती है।

परन्तु इन दिनोवाले सूफी कवियो की सारी रचनाएँ हमें केवल प्रेम-गाथाओ के ही रूपो मे नही मिला करती। उदाहरण के लिए जिस प्रकार पजाब के वारिसशाह जैसे कुछ लोगो ने इधर अपना विशेष ध्यान देकर अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली, उसी प्रकार वहाँ के सुल्तान बाहू (सन् १६३०-६१ ई०), शाह बर्कतुल्ला (सन् १६६०-१७२६ ई०) तथा बुल्ले शाह (सन् १६७०-१७५३ ई०) जैसे अन्य सूफियो ने अधिकतर फुटकर पद्यो की रचना को ही अपनी अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त समझा। सिंध के शाह सचल (सन् १७३६-१८२६ ई०) एव शाह लतीफ (सन् १७४०-१८२० ई०) तथा राजस्थान के दीनदरवेश (मृत्यु लगभग सन् १८३३ ई०) ने भी केवल इसी रचना-पद्धति को अपनाया। इधर पूर्व की ओर बगाल प्रान्त के अन्तर्गत बाउल साधको का भी आविर्भाव हो चुका था। इन्होने ईसा की १७वी तथा १८वी शती मे, अपने अनेक भावपूर्ण गीत रच डाले जो उनके प्रेमोन्माद भरे जीवन के सजीव चित्रण सिद्ध हुए। इन बाउलो ने अपने प्रियतम परमात्मतत्त्व को अंतःस्थित 'मनेर मानुष' जैसा विचित्र नाम दिया तथा जीवन के परमोद्देश्य को उसकी आत्यतिक उपलब्धि और अपनी प्रत्येक चेष्टा को, उसके अनवरत अन्वेषण के लिए पूर्णत अर्पित बतलाया। इनके वैसे निश्छल उद्गार, इनके स्वच्छन्द जीवन तथा इनकी अनुपम भावुकता ने एक साथ मिलकर निर्गुणतत्त्व को एक ऐसा मूर्त मानवत्व प्रदान कर दिया जो किसी साधारण सूफी दृष्टिकोण के अनुसार कभी सभव नही समझा जा सकता था, न इसी कारण, जिसका परिचय दिलाने के लिए किसी प्रेम-कहानी के माध्यम की कोई आवश्यकता ही पड सकती थी।

निर्गुण काव्य-साधना पर विचार करते समय बगाल के दक्षिण मे स्थित उत्कल प्रान्त के 'पचसखा' कहे जाने वाले उन भक्त कवियो की भी चर्चा कर लेना अप्रासगिक नही कहला सकता। इनकी उडिया रचनाएँ प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है तथा इनके अध्ययन द्वारा हमारे समक्ष इसके एक विशिष्ट रूप का चित्र भी उपस्थित हो जाता है। ये 'पचसखा' भक्त कवि ईसा की सोलहवी शती मे हुए थे जबतक इनके प्रान्त मे बौद्ध धर्म का बहुत प्रभाव पड चुका था। तदनुसार वहाँ पर ऐसे कुछ सप्रदाय भी प्रचलित हो चुके थे जो उसकी जैसी विचारधाराओ के समर्थक समझे जा सकते थे। बलराम दास (जन्म सन् १४७२ ई०), जगन्नाथदास (जन्म सन् १४६० ई०) आदि इन पाँचो वैष्णव भक्तो की रचनाओ पर पडे हुए इस प्रकार के प्रभावो का परिणाम इनके द्वारा स्वीकृत अपने इष्टदेव के विशिष्ट निर्गुण रूप मे दीख पडता है। बलरामदास ने अपनी 'विराट् गीता' मे कहा है, "तेरा न रूप है, न रेखा है। तू शून्य पुरुष, सदेह शून्य है तथा यद्यपि तू देहधारी है फिर भी मैं तुझे रिक्त ही मानता हूँ"[२३] आदि। इसी प्रकार अच्युतानन्ददास ने भी अपनी 'शून्य सहिता' के अन्तर्गत हमें बतलाया है "परमात्मतत्त्व को महाशून्य जानो। वही वस्तुत अरूपानन्द नामतत्त्व भी है। वही राधा-प्रेम के रूप में उद्भव-सग्रहादि किया करता है।"[२४] इसके सिवाय, इन कवियो की उपलब्ध पंक्तियों में हमे इनकी साधना का जो कुछ परिचय मिलता है उससे भी पता चलता है कि इनकी

---

२३ नर्मदेश्वर चतुर्वेदी : 'भक्तिमार्गी बौद्ध धर्म', (इलाहाबाद), पृष्ठ ६६।

२४ वही, पृष्ठ ७८।

भक्ति को भी 'शुद्धाभक्ति' का नाम न देकर उसे 'योगमिश्रा' वा 'रागमिश्रा' कहना ही अधिक ठीक होगा। उत्कल प्रान्त के और भी दक्षिण वर्तमान आंध्रप्रदेश के प्रसिद्ध तेलुगु कवि वेमना (सभवत सत्रहवी शती) को तो कभी-कभी उधर का 'कबीर' तक भी कह दिया जाता है। इन दोनो की रचनाओ में अद्भुत साम्य भी बतलाया जाता है। कहते हैं कि ये दोनो निराकार के उपासक थे। दोनो की आध्यात्मिक अनुभूति प्राय एक समान थी। इन दोनो ने ही योगसाधना-सम्बन्धी रहस्यो का वर्णन लगभग एक ही प्रकार से किया है। इन दोनो की रचनाओ मे उलटबासियाँ तक भी पायी जाती हैं। परन्तु इनमे मुख्य अन्तर यही है कि वेमना को हम जहाँ केवल 'शुद्ध ज्ञानमार्गी' कह सकते है वहाँ सत कबीर की रचनाओ मे दीख पडने वाले ज्ञान के साथ प्रेमाभक्ति के सुन्दर समन्वय के कारण, हमारा इनके लिए भी वैसा कह देना उपयुक्त नही जान पडता।[२५]

पश्चिम के गुजरात प्रान्त मे भी हमे इसी प्रकार निर्गुण काव्य-साधना का सर्वप्रथम उदाहरण सत हीरादास (सन् १४६४ मे १५७६ ई०) तथा उनके कतिपय शिष्य-प्रशिष्यो की उपलब्ध रचनाओं मे मिल जाता है। वहाँ के भक्त अखा (सन् १६१५-७४ ई०) के समय से उधर भी या तो शुष्क ज्ञान की ही बाते कही जाती हुई दीख पडती हैं अथवा 'रविभाण सप्रदाय' जैसे एकाध वैसे वर्गों के अनुयायी अपने-अपने मतो के प्रचार मे निरत रह कर, प्राय इस प्रकार के ही पद रचा करते हैं जो उतने उच्च कोटि के नही हो पाते। वास्तव मे, यदि हम निर्गुण-काव्य-साधना वाले उक्त प्रकार के सभी सत वा भक्त कवियो की उपलब्ध रचनाओ पर एक साथ विचार करने लगते हैं तो हमे पता चलता है कि उनमे सभी दृष्टियों से साम्य ढूंढने का प्रयास करना सफल नही हो सकता। ये सभी कवि अपने इष्ट वा आराध्यदेव को वस्तुत अगम तथा अनिर्वचनीय ठहराते जान पडते हैं। ये बहुधा यह भी कहते पाये जाते है कि उसे हम अपने भीतर अनुभव कर सकते हे। परन्तु इनमे से कुछ लोग उसे रामकृष्णादि के जैसे आदर्श सगुण रूपो अथवा उनकी मूर्तियो तक मे देखने का लोभ नही सवरण कर पाते। दूसरे, या तो उसे योग-साधना द्वारा अत ज्योति के रूप मे देखना चाहते है अथवा उसका अनुभव 'अनहद' के रूप मे ही करना पसन्द करते हैं। इसी प्रकार इनमे से कुछ की प्रवृत्ति या तो उसे सर्वत्र व्यापक रूप मे दृष्टिगोचर करने की पायी जाती है अथवा उसे अपने प्रियतम के रूप मे ही प्रतिष्ठित करते हुए उसको किसी एक ही सौन्दर्य की मूर्त्ति मे अपनाने की होती है। तदनुसार ये क्रमश भक्ति, योग, ज्ञान एव प्रेमवाली उपयुक्त साधनाओ को महत्त्व देते भी जान पडते हैं। हमें इनकी बानियो द्वारा इतना और भी सकेत मिलता है कि उनकी रचना का उद्देश्य कभी किसी 'कविकर्म' का निर्वाह नही हो सकता, प्रत्युत उसका सम्बन्ध इनके उन स्वानुभूतिपरक भावो की सहज अभिव्यक्ति के ही साथ हो सकता है जो इनके जीवन-दर्शन के परिचायक अथवा इनके स्वय समग्र जीवन के आधारस्वरूप हैं। ये इसी कारण बहुधा गेय गीतो अथवा बिखरे मुक्तको के रूप में पायी जाती हैं। यदि कभी कोई ऐसा कवि अपनी बाते, किसी प्रबन्धात्मक शैली के माध्यम से करना चाहता है तो वहाँ पर भी उसे बार-बार इनके वैसे रूपो से ही सहायता लेनी पडती है।

———

[२५] वाराणसि राममूर्ति 'रेणु' : 'आदान-प्रदान' (प्र. भाग), पृष्ठ १०२-३।

वृन्दावन की कुछ भूमिकाएँ

करुणापति त्रिपाठी

विषय-दृष्टि

'वृन्दावन'—कृष्णभक्त वैष्णवो और वैष्णव कृष्णोपासको के यहाँ सर्वाधिक महिमाशाली ही नही, मधुरिमाशाली भी है । वैष्णवपुराणो, पाञ्चरात्र और सात्वत सहिताओ, सबद्ध तत्र ग्रन्थो, कृष्णभक्ति स्तोत्रो, वैष्णव उपनिषदो और परवर्त्ती वैष्णव भक्तोपासको के वाङमय मे वृन्दावन से सबद्ध प्रचुर साहित्य उपलब्ध है । कृष्ण-भक्ति-साहित्य मे इसका जितना विस्तार है—वह हमारी कल्पना के सामने आ पाना भी सामान्यत दुष्कर है । इसके साथ-साथ साहित्य (काव्य-नाटक-चम्पू), गीतिकाव्यो, साप्रदायिक वाणियो, स्तोत्रो तथा उत्तर-दक्षिण की समस्त आधुनिक भाषा के वाङमय मे इसका असीम विस्तार लक्षित होता है ।

यहाँ केवल वर्ण्य विषय का थोडा-सा दिग्दर्शनमात्र कराया गया है जिसमे कुछ सस्कृत ग्रन्थो एव हिन्दी की पुस्तको का आधार लेकर सरसरी तौर पर कुछ मान्यताओ के अनुसार वृन्दावन की धारणा के कुछ सोपानो की एक सामान्य रूपरेखा आ जाती है । इस लेख मे सैकडो ग्रन्थो की चर्चा छोड दी गई है । प्रवृत्तिपरक मान्यता की भावना का सूचन करनेवाले थोडे से ही ग्रन्थो की दृष्टि उपस्थित की गई है । अपनी योग्यता के अनुसार लेखक ने यहाँ यह ध्यान रखने का प्रयास किया है कि मुख्य धारणाओ का कुछ आभास मिल जाय । इसी कारण 'वृन्दावन' की मधुरतम लीला का गान करने-वाले 'गीतगोविन्द' की दृष्टि, उसकी मान्यता और उसके मधुरतम पद्यो के वृन्दावनीय मधुरलीला-परक गीतो को छोड दिया गया है । अत सर्वतोभावेन विषय की पूर्णता ढूँढना यहाँ अनपेक्षित होगा । वर्ण्यविषय की एक सामान्य रूपरेखा ही नीचे की पक्तियो मे अकित हो पाई है । कदाचित् विशाल ग्रन्थ के द्वारा ही उक्त विषय के सूक्ष्म भेदो का विवरणात्मक चित्र उपस्थित हो सकता है । यहाँ एक क्रमिक दृष्टि का आभास अवश्य ही मिल जा सकता है ।

एक बात की ओर और ध्यान आकृष्ट करना यहाँ आवश्यक है । जो विषय प्रस्तुत किया गया है वह केवल इस प्रेरणा से कि आगे इस पर विशिष्ट अनुसधान कार्य हो सकता है । तुलनात्मक तारतम्य की दृष्टि से अनुशीलन के लिए इस सन्दर्भ की प्रचुर सामग्री बिखरी पडी है । दूसरी यह बात भी विस्मृत नही करनी चाहिए कि प्रस्तुत विषय के आधारस्रोतवाले ग्रन्थो का निर्माणकाल अत्यन्त विवादास्पद है । तीसरी-चौथी शती ईसवीय से लेकर १५वी १६वी शताब्दी अथवा उसके बाद तक भी सस्कृत के माध्यम से ग्रन्थ-रचना होती चली आई, जिनमे से अनेक को बहुत प्राचीन रूप देने का भी प्रयास होता रहा । अत प्रस्तुत निबन्ध का वर्णनीय विषय स्रोतग्रन्थो के रचना-काल-क्रमानुसार न होकर सजातीय मान्यता या वाङमय की दृष्टि से उपस्थित किया गया है ।

पौराणिक सोपान

वैसे तो अनेक पुराणो मे वृन्दावन का नामोल्लेख मिलता है तथापि वैष्णव तथा कुछ अन्य पुराणों में इस प्रकरण का विस्तार के साथ वर्णन उपलब्ध है । पुराणो का रचनाकाल स्वत एक अत्यन्त विवाद का विषय है । फिर भी सामान्यत ऐसा माना जाता है कि अष्टादश पुराणो, उपपुराणो आदि मे कुछ तो प्राचीन हैं और कुछ अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं । जो प्राचीन हैं उनके अधिकाश वर्तमान

रूप की रचना भी प्राय गुप्तकाल मे हुई है । पुराणो के मूलरूप का निर्माण निश्चय ही गुप्तकाल से काफी प्रत्नतर हैं । 'अलबेरूनी' के "किताबुल हिन्द" मे काशी के पण्डितो को प्रमाणकोटि मे रखकर जो पुराण-सूची दी गई है उससे जान पडता है कि १०२७ तक १८ पुराणो और उपपुराणो का कोई-न-कोई रूप अवश्य निर्मित हो चुका था । उनके अर्वाचीनतम रूप का रचना काल सोलहवी-सत्रहवी शती तक बताने वाले अनुशीलको के सबलतम तर्क भी सामने आते हैं । अनेक मतमतातरो के होते हुए भी 'विष्णु', 'मत्स्य', 'भागवत', और किसी-किसी के मत मे 'ब्रह्म', 'मार्कण्डेय' एव 'मत्स्य' तथा कुछ विद्वानो की दृष्टि मे 'वायु' आदि अपेक्षाकृत प्राचीनतर हैं । गुप्तो के शासनकाल की समाप्ति के प्राय पूर्व ही उनके अधिकाश का निर्माण हो चुका था । 'भागवत' भी निश्चय ही प्राचीन पुराण है । भागवतो-वैष्णवो के लीलापुरुष श्रीकृष्ण की केलिचर्या मे 'श्रीराधा' के नामागमन से पूर्व उसकी रचना हो चुकी थी । अत श्रीमद्भागवत-सम्बन्धी 'वृन्दावन'—वर्णन की कुछ चर्चा यहाँ अनावश्यक न होगी । इस सूची के भागवत को कुछ लोग 'देवीभागवत' भी मानते हैं ।

श्रीमद्भागवत

इस पुराण (१०।११) मे वृन्दावन की पहले प्रस्तावना मिलती है । ज्ञान और वय मे वृद्ध उपनद नामक गोप ने 'गोपमडली के बीच कहा था "व्रज मे अब दैत्यो और राक्षसो के भीषण उत्पात बढते जा रहे हैं, अनेक भयकर दुर्घटनाओ से कृष्ण-बलराम अब तक तो बचते आ रहे हैं पर आगे जाने क्या हो ! अत किसी भीषण विपत्ति के आने के पहले ही हमे अपने बाल-बच्चो को लेकर अनुगामियो के साथ 'वृन्दावन' नामक समीपस्थ विपिन मे चले जाना चाहिए । वह स्थली, पशुओ-ढोरो के लिए बडी ही उपयुक्त है और गोप, गोपी एव गायो के लिए सेवनीय है"—

"वन वृन्दावन नाम पशव्य नवकाननम् ।
गोपगोपीगवा सेव्य पुण्याद्रितृणवीरुधम ।।" (१०।११।२८) ।

गाय-बछडो को लेकर रथो पर सवार हो गोकुल से वे वहाँ चल पडे । बालक, वृद्ध, नर, नारी आदि सभी साज-समान को छकडो पर लादे और आनन्द मनाते चले जा रहे थे । सुन्दर वस्त्रा-भषणो और प्रसाधनरचनाओ से बनी-ठनी रथारूढ गोपियाँ—बडे प्रेम के साथ कृष्णलीला का गान कर रही थी । इसी तरह की यात्रा करते हुए समस्त गोकुलवासी आनन्द-विनोद वृन्दावन जा पहुँचे । वह स्थान सर्वकाल में सुखावह था (वृन्दावन सम्प्रविश्य सर्वकालसुखावहम्) । वृन्दावन, गोवर्धन और यमुना के पुलिनो को देखते हुए राम और कृष्ण के हृदय मे उत्तम प्रीति उत्पन्न हुई ।

श्रीमद्भागवत की कृष्णकथा म यही से 'वृन्दावन' का मुख्य प्रवेश होता है । भगवान् श्रीकृष्ण की बाललीला का प्रसग—इसी स्थान से अधिकत सबद्ध है । बाललीला के अन्तर्गत यहाँ कुमारलीला, पौगडलीला तथा किशोरलीला—सबका अतर्भाव समझना चाहिए ।

श्रीराम और श्रीकृष्ण—दोनो ही गोपबालको के साथ तरह-तरह के क्रीडा-परिच्छदो को लेकर घर से प्रात चल पडते और नाना प्रकार के खिलवाड करते रहते थे । कही बाँसुरी की मीठी तान छेडते कही गुलेल या ढेलवाँस से ढेला फेकते, कही पावो मे घुघरू धारण कर नाचते-गाते और कही बनावटी गाय, बैल बनकर खिलवाड करते ।

'वृन्दावन' वस्तुत भगवान् की पौगडलीला का प्रिय सहचर है ।[1] मुख्य रूप से वहाँ गोचारण-

---

[1] ततश्च पौगण्डवयःश्रितौ व्रजे बभूवतुस्तौ पशुपालसंमतौ ।
गाश्चारयन्तौ सखिभिः समं पदैर्वृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुः ।।१०।१५।१।

लीला और बालक्रीडाओ का वर्णन किया गया है।[१] गोपबालको, सखाओ और बलराम के साथ इस खेलकूद के प्रसग मे बाल-प्रकृति के लिए ऐसी स्वाभाविक और सहज क्रीडाओ के वर्णन है जो अपने यथार्थचित्रण से मन मोह लेते है।[२] उनमे मुरलीवादन का एक प्रमुख स्थान है।

मायामय की गोपात्मजचरितनुल्य बालक्रीडाएँ उस रम्य और पुण्य भूमि मे चल रही थी (एव निगूढात्मगति स्वमायया गोपात्मजत्व चरितैर्विडम्बयन्। रेमे रमालालितपादपल्लवो ग्राम्यै सम ग्राम्यवदीशचेष्टित। १०।१५।१९)। कुमार और पौगड वय की इन्ही लीलाओ के क्रम मे वत्सासुर, बकासुर, अघासुर का वध, ब्रह्मामोह का नाश, धेनुकासुरवध, कालियदमन, प्रलबासुरवध, देवाग्नि से व्रजवासियो का रक्षण आदि अलौकिक और अद्भुत लीलाएँ भी चलती रही। वृन्दावन मे जब भगवान् क्रीडा कर रहे थे तो वहाँ ग्रीष्मऋतु मे भी वसत की ही अद्भुत सुषमा छाई हुई थी।[४]

[१] तन्माधवो वेणुमुदीरयन् वृतो गोपैर्गृणद्भि: स्वयशो बलान्वित:।
पशून् पुरस्कृत्य पशव्यमाविशद् विहर्तुकाम: कुसुमाकर वनम् ।।१०।१५।२
इस वन की वासती शोभा भी अत्यन्त रमणीय है--
तन्मञ्जुघोषालिमृगद्विजाकुल महन्मन:प्रख्यपय:सरस्वता।
वातेन जुष्ट शतपत्रगन्धिना निरीक्ष्य रन्तु भगवान् मनो दधे ।।१०।१५।३

इस परम रम्य विपिन का वर्णन करते हुए आगे भगवान् ने स्वय कहा है, 'तमोपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम्, अर्थात् अपने हृदय के अज्ञानाधकार का विनाश करने के लिए वृन्दावन मे भक्तो, ज्ञानियो और मुनियो ने तरु-वल्लरी आदि के रूप में जन्म लिया है। और साथ ही इनकी महिमा यह भी है कि जो श्रद्धावान् भक्त मदनमोहन के मधुरलीला-द्रष्टा--इन वृन्दावनीय स्थावरजंगमो का आस्थापूर्ण नयनो से दर्शन करता है उसकी हृदयग्रन्थि खुल जाती है, समस्त संशय नष्ट हो जाते है और मोह का गाढान्धकार दूर भाग जाता है।

बाललीलारत गूढ पुरुष के दर्शन, भजन और गुणकीर्त्तन करने के चरमाभिलाष से मुनिगण वृन्दावनीय अलियो के रूप में उपस्थित रहते हैं (१०।१६।६)। भौंरे ही नहीं, वहाँ के तृणवीरुध, पशु-पक्षी, कीट-पतग--सभी सौभाग्यशाली, पुण्यवान् महात्मा है जो भगवान् के लीलादर्शनार्थ विविध-रूपो में वहाँ वर्त्तमान रहते है। इन्हीं सब कारणो से वह वनधरणी धन्य है, वहाँ के तृणवीरुध, लताद्रुम, भ्रमर-मयूर, हरिण-हरिणी और नदी-पर्वत सब धन्य हैं--

धन्येयमद्य धरणी तृणवीरुधस्त्वत्पादस्पृशो द्रुमलता: करजाभिमृष्टा:।
नद्योऽद्रय: खगमृगा: सदयावलोकैर्गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्री: ।।

[४] स च वृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षित:। यत्रास्ते भगवान् साक्षाद्रामेण सह केशव: ।।
यत्र निर्झरनिर्ह्रादनिवृत्तस्वनझिल्लिकम्। शश्वत्तच्छीकरर्जीषद्रुममण्डलमण्डितम् ।।
सरित्सर:प्रस्रवणोर्मिवायुना कह्लारकञ्जोत्पलरेणुहारिणा।
न विद्यते यत्र वनौकसां दवो निदाघवह्न्यर्कभवोऽतिशाद्वले ।।
वनं कुसुमितं श्रीमन्नदच्चित्रमृगद्विजम्। गायन्मयूरभ्रमरं कूजत्कोकिलसारसम् ।।
क्रीडिष्यमाणस्तत्कृष्णो भगवान् बलसंयुत:। वेणु विरणयन् गोपैर्गोधनै: संवृतोऽविशत् ।।
(१०।१८)

गोप-गोपियो का दावानल से रक्षा-वर्णन करने के अनन्तर श्रीमद्भागवत (दशम-स्कन्ध) के बीसवें अध्याय में वर्षा और शरद्-वर्णन आता है। मुख्यत शरद् वर्णन के द्वारा मदनमोहन, गोपीजनवल्लभ की मधुरलीलाओ का वृन्दावन मे प्रवेश दिखाई देता है। शरद्ऋतु मे भगवान् ने गायो को चराते हुए मुरली की जो मधुर तान छेडी, जो वेणुगीत गाया उससे ब्रजागनाओ मे स्मरोदय हुआ—

कुसुमितवनराजिशुष्मिभृङ्गद्विजकुलघुष्टसर सरिन्महीध्रम् ।
मधुपतिरवगाह्य चारयन्गा सहपशुपालबलश्चुकूज वेणुम् ॥
तद्व्रजस्त्रिय आश्रित्य वेणुगीत स्मरोदयम् । . . . . .
तद्वर्णयितुमारब्धा स्मरन्त्य कृष्णचेष्टितम् ।
नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप ॥

इस भाँति जब ब्रजनारियो मे मनोविक्षिप्तकारी प्रबल स्मरवेग का उदय हुआ तब भगवान् नटवर बाँसुरी बजाते हुए अपने रमणधाम वृन्दावन में प्रविष्ट हुए—

बर्हापीड नटवरवपु कर्णयो कर्णिकार बिभ्रद्वास कनककपिश वैजयन्ती च मालाम् ।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन्गोपवृन्दैर्वृन्दारण्य स्वपदरमण प्राविशद् गीतकीर्ति ॥

वेणुगीत का यह वृन्दावनप्रसग भगवान् की मधुरलीलाओ के परिवेश मे अनेक महत्त्वपूर्ण सकेत इगित करता है। (१) गोपियो और ब्रजरमणियो के हृदय मे स्मरोदय हुआ। गोपीरमण नन्द-नन्दन की मधुर चेष्टाओ का स्मरण और वर्णन करती हुई गोपियो का यह स्मृतिमय स्मरभाव, मन को असहनीय विकलता की उस भूमिका तक पहुँचा देनेवाला है जहाँ मन विक्षिप्त हो जाता है, कुलकानि, लोकलज्जा और समाजमर्यादा के समस्त बन्धन दुर्बल होकर अपने आप टूट जाते हैं। (२) गोपीवल्लभ कन्हैया का रूपचित्र यहाँ नटवरवेष मे अकित है, पीताम्बर पहने, वैजयन्तीमाला धारण किए हुए, कानो पर कर्णिकार के पुष्प लगाये और मोरपख का मुकुट सजाये हुए रासवेषवाले नटनागर बाँसुरी के रन्ध्रो मे स्वरसुधा भर रहे थे। उस स्वरसुधा के रूप मे गोपीकान्त के अधरामृत की मानो वर्षा हो रही थी। (मधुरलीलाओ के लिए कृष्णभक्तो में वर्णित नटवरलाल का जो छबीला छैलवेष है उसका मुख्यावतार यहाँ से होता है।)[१] (३) 'स्वपदरमणम्' का स्वारस्य मुख्यत. यह है कि यह वृन्दावन वस्तुत वैकुण्ठलोक या विष्णुलोक से भी रम्यतर है। परन्तु ध्वनित सकेत और भी है। 'पदरमणम्' वस्तुत 'रमणपदम्' अर्थात् रमणस्थान है। आशय यह है कि यही वह स्थल है जो गोपिकाओ—ब्रजागनाओ के साथ नटनागर की मधुरतम रमणकेलियो की रम्यस्थली है। वृन्दावन तत्वत· भगवान् की रमणभूमि है। यह रमणभूमि वृन्दावन के अतर्गत वे कुञ्जगृह हैं जहाँ गोपीरमण के मधुरविहार और रमणलीलाएँ हुआ करती थी। (४) एक साधारण-सी और बात है जिसकी ओर भी ध्यान रखा जा सकता है। 'मधुपति' शब्द का (१०।२१।१ में) यहाँ कन्हैया के लिए प्रयोग हुआ है। अभी मधुपुरी की यात्रा न होने पर भी कृष्ण के इस नाम का यहाँ प्रयोग उन समस्त मधुरिमाओ का सकेत करता है जो श्रीकृष्ण का आधार लेकर उनमें प्रतिष्ठित थी—उनके वेष, लीला, धाम, रूप और चेष्टा—वे सर्वत्र ओतप्रोत थी। फिर भी जैसा कि प्रसिद्ध है—भागवत में श्रीराधा का नाम नही आता। अत. आगे चलकर राधामाधव की कुञ्जवाटिका या विहारकुञ्ज के आश्रय रूप मे वृन्दावनमहिमा का जो अत्यधिक और सरस वर्णन अन्यत्र है उसका यहाँ विस्तार नही मिलता। उस विशेष गोपी के प्रसग को लेकर भी नही—जिसे अगृहीतनाम्नी श्रीराधा कहा जाता है।

[१] (१०।२१।२ –६)

इस अध्याय (१०।२१) में गोपियों द्वारा वेणुरव के वर्णनप्रसंग में सर्वप्रथम श्रीकृष्ण की मधुरभावमयी उपासनासरणि का चित्र सामने आता है। यहाँ मधुरभाव की प्रेम-शक्ति के अत्यन्त व्यापक एवं त्रैलोक्यप्रसारी प्रभाव का वर्णन हुआ है। इसकी सीमा में वृन्दावन के स्थावर-जंगम सभी आ जाते हैं। आगे चलकर चीरहरण का प्रसंग भी इसी परिधि का सन्दर्भ है। उस लीला के भौतिक और आध्यात्मिक अनेक प्रकार के अभिव्यंग्यार्थ बताये गये हैं। यक्षपत्नियों पर अनुग्रह और गोवर्धनधारण प्रसंग के पश्चात् दशम स्कन्ध के २९वें अध्याय में मधुपति की मधुरतम माधुर्यलीला का वर्णन आता है। शरत्पूर्णिमा के रास के साङ्गोपांग स्वरूप का भागवतकार ने बड़ा ही संश्लिष्ट चित्र अंकित किया है। 'वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितम्' के द्वारा बताया गया है कि चन्द्र की कोमल किरणों से उस शरद् की राकारजनी में वन अर्थात् 'वृन्दावन' ज्योत्स्ना-श्वेत विभा से अभिरंजित हो गया था। कृष्ण और गोपियों के संवाद के अनन्तर भगवान् कृष्ण गोपियों के साथ यमुनापुलिन में विचरण और विहार तथा कामकेलि करते रहे।[६] इन सब रम्यकेलियों की भूमि श्रीमद्भागवत में भी श्री वृन्दावन ही थी। वही वृन्दावन साक्षी है गोपियों और कृष्ण के मधुमय मिलनकेलियों का और विरहगान एवं गोपीगीत के करुणक्रन्दन का। वहीं श्यामसुन्दर और व्रजसुन्दरियों का विरहानंतर मिलन हुआ। यह सब वर्णन 'रास पंचाध्यायी' में अर्थात् श्रीमद्भागवत (दशमस्कन्ध) के २९वें अध्याय से ३३ अध्याय तक है। ये पाँच अध्याय श्रीमद्भागवत के प्राण माने जाते हैं। परिसमाप्ति का अंतिम अध्याय 'महारास' का है। इसका रम्यतम स्थल भी वृन्दावन में यमुना का पुलिन है।

साराश रूप से कहा जा सकता है कि श्रीमद्भागवत का वृन्दावन नन्दनदन मुरलीधर की बाल-पौगंड-किशोर-लीलाओं की रम्य रंगस्थली है। वहाँ मधुपति की वात्सल्य-मधुर-रसमयी लीलाओं की अजस्र शैवलिनी बहती रही है। पर इन सबके बीच लीलापति के चरित का परिवेश केवल मधुमयी उज्ज्वलश्रृंगारी लीलाओं की रसधारा को ही प्रवाहित करनेवाला नहीं, वरन् ब्रजजन के आलौकिक कर्त्तव्य की गरिमा और भक्तरक्षक तथा लोकगोप्ता की महिमा से सर्वत ऊर्जस्वित् है। यही स्थिति हरिवंश के वर्णन की भी है। भगवान् श्रीकृष्ण के जिस मधुररूप का विस्तार महाभारत की कृष्ण-प्रतिमा में प्रकाशित न हो पाया था उसे तत्परिशिष्टभूत खिलभागांश हरिवंश के विष्णुपर्व में संक्षिप्त-रूप से प्रस्तुत कर दिया है। वहाँ यद्यपि विस्तार नहीं है तथापि भागवत में अंकित रूप का संकेत वहाँ मिलता है।[७] इसे वहाँ 'नंदनोपमकानन' (६।३१) कहा गया है। वहीं आगे चलकर भगवान् की रासलीला का संक्षिप्त वर्णन भी है।[८] कहने का साराश यह कि भागवत की समग्र लीलाकथा यहाँ संक्षेप में वर्णित है, बाललीला भी और कैशोर्य की मधुरलीला भी।

---

६ उपगीयमान उद्गायन् वनिताशतयूथपः। मालां बिभ्रद्वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन् वनम् ॥
नद्याः पुलिनमाविश्य गोपीभिर्हिमवालुकम्। रेमे तत्तरलानन्दकुमुदामोदवायुना ॥
बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरुनीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार ॥ (१०।३०।४४-४६)

७ श्रूयतेऽहि वनं रम्यं पर्याप्ततृणसंस्तरम्। नाम्ना वृन्दावनं नाम स्वादुवृक्षफलोदकम्।
अझिल्लिकण्टकवनं सर्वैर्वनगुणैर्युतम्। कदम्बपादपप्रायं यमुनातीरसंश्रितम्।
(हरिवंश विष्णुपर्व—८।२२-२३)

८ तास्तं पयोधरोत्तुङ्गैरुरोभिः समपीडयन्। भ्रामिताक्षैश्च वदनैर्निरीक्षन्ते वराङ्गनाः ॥१०।२३।
ता वार्यमाणाः पतिभिर्भ्रातृभिर्मातृभिस्तथा। कृष्णं गोपाङ्गना रात्रौ मृगयन्ते रतिप्रियाः ।१०।२४।

इस सन्दर्भ मे यह भी ध्यान रखने की बात है कि श्रीमद्भागवत के समान ही हरिवश मे वृन्दावनवर्णन मे मधुररसाश्रित प्रसगविस्तार कम है और तदितर लीला-विस्तार अधिक । श्रीमद्भागवत के समान ही राधानाम का और तत्सदर्भित वृषभानुकुमारी तथा नन्दकुमार की प्रेमलीलाओ से सपृक्त वृन्दावनचित्रो का अकन यहाँ नही मिलता । इसे श्रीमद्भागवत से पूर्ववर्त्ती काल की रचना अनेक विद्वान् मानते है ।

विष्णुपुराण और ब्रह्मपुराण—इनमे भी श्रीकृष्णलीला का वर्णन सक्षिप्ततर है जो श्रीमद्भागवत की ही शृखला का है। वहाँ भी 'वृन्दावन' का उल्लेख है तथा सक्षेप मे मधुरलीलाओ की चर्चा है । भागवत के समान इन वर्णनो मे श्रीकृष्ण की बाललीला और गोपियो के साथ कैशोरलीला का ही सक्षिप्त अथवा सक्षिप्ततर उल्लेख मिलता है । उसी सन्दर्भ मे वृन्दावन की चर्चा हुई है ।[९] राधा-सपृक्त लीलाओ की यहाँ उल्लेख नही है । (शायद किसी सस्करण के प्रक्षिप्ताश मे राधा की प्रेम-लीला का निर्देश भले ही हो गया हो ।) इनकी रचना भी श्रीमद्भागवत से पूर्व की कही जाती ह ।

'ब्रह्मवैवर्तपुराण' का 'वृन्दावन-सन्दर्भ' अपना विशेष महत्त्व रखता है। कथा-दृष्टि से तो पुराण मे 'वृन्दावन' का प्रवेश प्राय उसी रूप मे है जिसमे 'श्रीमद्भागवत' का है । परन्तु वहाँ कुछ विशेषताएँ दिखाई देती है—

(१) 'वृन्दावन' क्यो नाम पडा है—इसके कारण बताये गये है ।

इस प्रसङ्ग मे अनेक विकल्प है —(क) सप्तद्वीपपति केदारनृपति की एक 'वृन्दा' नाम की कन्या थी । वह गृहस्थ और गृहिणीधर्म से विरक्त और तपस्विनी थी । योग-शास्त्र मे भी विशारद थी । दुर्वासा मुनि से श्रीहरि का परम दुर्लभ मत्र पाकर वह (ससार से विरक्त हो) घर छोडकर वन मे तपस्या करने चली गई । उसकी तपश्चर्या से प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण प्रकट हुए और वृन्दा से वर मागने को कहा । श्रीकृष्ण के परम कमनीय कलेवर को देखकर कामबाण मूर्च्छित 'वृन्दा' ने याचना की—"आप ही मेरे पतिरमणकर्त्ता होवे ।" श्रीकृष्ण ने वैसा ही किया । श्रीकृष्ण के साथ वह गोलोक चली गई और राधा के समान गोपीश्रेष्ठा हुई । जहाँ 'वृन्दा' ने तपस्या की थी या रमण किया था—वही स्थली 'वृन्दावन' हुई ।

(ख) दूसरा सन्दर्भ एक पौराणिक कथा का सकेत करता है जो कथा-विस्तार के साथ शिवपुराण[१०] और देवी भागवत (९ स्कन्ध, २२–२३ अध्याय) मे है । उसीका सक्षिप्त रूप यहाँ भी है । राजा कुशध्वज की दो कन्याएँ थी—वेदवती (जिसने तप के द्वारा श्रीनारायण को प्राप्त किया–

तास्तु पङ्क्तीकृताः सर्वा रमयन्ति मनोरमम् । गायन्त्यः कृष्णचरित द्वन्द्वशो गोपकन्यकाः ।।१०।२५।
मुखमस्याब्जसंकाशं तृषिता गोपकन्यकाः । रत्यन्तरगता रात्रौ पिबन्ति रसलालसाः ।।१०।३२
तासां ग्रथितसीमन्ता रतिं नीत्वाऽऽकुलीकृताः । चारु विस्रंसिरे केशाः कुचाग्रे गोपयोषिताम्।।१०।३४

[९] 'श्रीमद्भागवत' की अपेक्षा 'विष्णुपुराण' को अनेक विद्वान् प्राचीनतर मानते हैं । सर्वप्रमुख प्रमाणों में उनका एक विशिष्ट तर्क यह है कि 'ब्रह्मसूत्र' के रामानुजीय 'श्रीभाष्य' में श्रीमद्भागवत का उल्लेख और उद्धरण नहीं है । अतः तब तक या तो भागवत विरचित नहीं था अथवा यदि रचित था तो भी उसकी प्रसिद्धि नहीं हो पाई थी । अतः 'श्रीमद्भागवत' का वृन्दावन प्रसंग वस्तुतः 'हरिवंश' और 'विष्णुपुराण' के संबद्ध अंश का उपबृंहणमात्र है ।

[१०] शि० पु० चतुर्थ (कुमार), खण्ड, अध्या० १३-४१ । यहाँ कथा में 'तुलसी' नाम मुख्य है ।

वही जनक की कन्या सीता हुई।) और तुलसी (जिसका दूसरा नाम 'वृन्दा' था)। 'तुलसी' अथवा 'वृन्दा' ने हरि की कामना से तपस्या की। परन्तु दुर्वासा के शाप से शखचूड उसका पति हुआ। बाद मे उसे परम रम्यवेषधारी (शिवपुराण के अनुसार 'वृन्दा' के पति का रूप धारण करके) श्री हरि ने उसके साथ रमण किया। वृन्दा के शाप से विष्णु भगवान् शिलारूप होकर 'शालग्राम' हुए और श्रीविष्णु के शाप से वही 'वृन्दा' तुलसी रूप से वृक्षरूपा हुई। उसी 'वृन्दा' के तपश्चर्या का स्थान वृन्दावन हुआ।

(ग) तीसरा भी एक कारण है। श्रीराधा के १६ नामो मे 'वृन्दा' भी उनका एक नाम है। (वृन्दा, वृन्दावनी और वृन्दावनेश्वरी।) उन श्रीराधा (वृन्दा) की रम्य क्रीडास्थली ही 'वृन्दावन' है।

इन कारणों से एक बात सकेतित है। कदाचित् वृन्दावन कभी तुलसीवन रहा हो? तुलसी-दल श्रीविष्णु और श्रीकृष्ण को श्रीलक्ष्मी या श्रीराधा के ही समान प्रिय है। श्रीलक्ष्मी का भी 'वृन्दा' एक नाम कही मिला है। इस कारण यह 'ब्रह्मवैवर्त्त' प्रसग 'वृन्दावन' के विभिन्न पौराणिक-ऐतिहासिक सूत्रो को उपस्थित करता है और 'तुलसीदल' की महिमा को भी।

(२) वहाँ (ब्रह्म वैवर्त मे) यह भी कहा गया है कि श्रीकृष्ण ने श्रीराधा की प्रीति के लिए गोलोक मे पहले वृन्दावन का निर्माण किया था। क्रीडा के लिए---लीला-विस्तार के लिए 'भू' पर भी वही वन वृन्दावन लाया और कहा गया।

(३) इस पुराण मे यह भी कहा गया है कि नन्द, यशोदा, गोप, गोपी आदि ने नन्दगाँव मे वृन्दावन पहुँचने पर शाम को श्रीकृष्ण से कहा कि 'यहाँ तो रहने के भवन आदि नही हे। कैसे रहा जायगा। तब श्रीकृष्ण ने कहा---"उस स्थान पर तो अनेकानेक देवनिर्मित भवन प्रासाद है। परन्तु देवप्रीति के बिना दिखाई नही पडेगे।" उन्होने आगे कहा "गोपगण रातभर समुचित स्थानो पर रहे। वन देवताओ की पूजा की जाय तो दूसरे दिन-प्रात रम्य भवन दिखाई देगे।" तदनन्तर वटमूलस्थ चण्डिकादेवी की विधिवत् पूजा की गई।

रात मे सबके सो जाने पर करोड़ो शिल्पियो के साथ विश्वकर्मा आये और रत्नमणिमाणिक्यादि-युक्त कुबेर-किकर यक्षगण भी पहुँचे। रात-ही-रात वहाँ सबके लिए मणिरत्नो के भवन---जिनपर सबके नाम लिखे थे---यथायोग्य बनाये गये। रात भर मे ही गोलोकपुरी के समान विभूतियो आदि से सपन्न वहाँ एक नगरी बन गई। वह पुरी पचयोजनविस्तीर्ण थी, अद्भुत और आलौकिक थी। उसमे विचित्र एव दिव्य तरुवल्लरियो और कुसुमफलो से सुरभित रासस्थल भी बना था। 'वृन्दावन' के सुनिर्जन स्थानो मे जगह-जगह श्रीराधामाधव की केलिक्रीडाओ के लिए समुचित कुञ्जस्थलियाँ भी बनी थी। वटमूल के समीप, चम्पकोद्यान के पूर्व मे केतकी वन के मध्य---उन दोनो की क्रीडा के निमित्त रत्नमण्डप भी बना था। इसमे अद्भुत रतिगृह भी था।"[११]

[११] वटमूलसमीपे च सरसः पश्चिमे तटे। चम्पकोद्यानपूर्वाया केतकीवनमध्यतः ।।
पुनस्तयोश्च क्रीडार्थं चकार रत्नमण्डपम्।.................
वह्निशुद्धांशुकैर्वस्त्रैर्मालाजालविचित्रितैः। नवशृङ्गारयोग्यैश्च कामवर्द्धनकारिभिः ।।
मालतीचम्पकानां च पुष्पराजिभिरन्वितम्। सकर्पूरैश्च ताम्बूलैः सद्रत्नपात्रसंस्थितैः।
............। कृत्वा रतिगृहं रम्यं नगरञ्च पुनर्ययौ। (ब्र० वै०, श्रीकृष्णजन्म, अ० १७।१७२-८४)

इसके अनन्तर श्रीकृष्ण की कैशोरलीलाओ का वर्णन और 'चीरहरण' (गोपी वस्त्रापहरण) की एक प्रकार से सक्षिप्त कथा और रासक्रीडा का अनेक अध्यायों (ब्रह्मवै० कृष्णजन्मखण्ड अध्या०—२८, २९, ५३, तथा पुन ६९) मे विस्तृत वर्णन है। इन वर्णनो मे 'भागवत' आदि के वर्णित वृत्त का विस्तार करने के साथ-साथ मधुररतिलीलाओ के भी बडे ही प्रेममय चित्र अकित हैं। रतिवर्णन के सन्दर्भ मे बारम्बार यह भी कहा गया है की मुख्यत श्रीराधामाधव की यह क्रीडा—कामशास्त्रीय विधि-विधानो के अनुरूप समग्रभाव से हुई है। अधिकाशत इसी विहारक्रीडा की स्थलीरूप से वृन्दावन का इस पुराण मे वर्णन है। अन्य अनेक प्रसगो मे वैष्णवलोको और वृन्दावन के माधुर्य के उल्लेख और वर्णन भी मिलते हैं।

यहाँ का यह वर्णन मधुरोपासको कृष्णभक्तो की मधुरलीलाओ का ही स्वरूप है। निश्चय ही इसका मूल 'विष्णुपुराण' और 'भागवत' का ही है। परन्तु इन पर विस्तृत प्रभाव आगमो, सात्वत और पाञ्चरात्र सहिताओ का पडा है। उसका भी विकसित रूप 'हितसप्रदाय', सखीसप्रदाय', 'चैतन्य-सप्रदाय' और उत्तरकालवर्त्ती 'वल्लभसप्रदाय' के वाड्मय मे अनेक और इतर भूमिकाओ के रूप मे पल्लवित एव फलित हुआ।

पद्मपुराण—इस पुराण मे भी वृन्दावन का वर्णन बडे विस्तार के साथ आया है। यहाँ दो वर्णन मिलते हैं—(१) उत्तरखण्ड मे और (२) पातालखण्ड मे। उत्तरखण्ड के २२७वे अध्याय से 'उमा-महेश्वर-सवाद' के अन्तर्गत श्री भगवान् के त्रिपाद्विभूतिलोक का बडे विस्तार से विवरण दिया गया है जिसमे सप्तावरण और चतुर्व्यूह की विस्तृत चर्चा है। इनमे लोक के आवरणो—व्यूहो—का जो स्वरूपवर्णन है उसमे गोलोक या श्वेतद्वीप और वैकुण्ठ के समान ही वृन्दावन मे भी ऐश्वर्य, शक्ति, विभूति और माधुर्य का पर्याप्त प्रसार है। आगे चलकर २४५वे अध्याय मे कृष्णावतारचरित के प्रसग मे वृन्दावनलीला और महारास का भी वर्णन है—पर अत्यन्त सक्षिप्त मे। भक्तिरूप मे दास्यभक्ति की चर्चा यहाँ कुछ अधिक मिलती है।

दूसरा सन्दर्भ है 'पातालखण्ड' का। वृन्दावन का यह विवरण बडे विस्तार के साथ और बहुत लम्बा-चौडा है। श्रीकृष्ण की (हरेर्दैनदिनी लीला श्रोतुमिच्छामि तत्वत। पद्मपु० पाताल-खण्ड—अध्याय ८३।१२) दैनदिन लीला के प्रसग मे नारद को शिवजी ने वृन्दादेवी से वृन्दावन की लीला के रहस्य पूछने का उपदेश दिया। नारद के पूछने पर वृन्दा ने वह तत्व समझाया। इसके पूर्व ६९वे अध्याय से श्रीकृष्णचरित्र का आरम्भ होता है। इसी प्रसग मे विस्तार से 'वृन्दावन' का विवरण है। इसे सात्वतो का मूर्धन्यस्थान कहा गया है और विष्णु का अत्यन्त प्रिय यह धाम ब्रह्माण्ड से भी ऊपर स्थित बताया गया है।[१२] इस पूर्णब्रह्म के सुख-ऐश्वर्य से परिपूर्ण इस नित्यानन्द अव्यय धाम की महिमा इतनी है कि वैकुण्ठादि भी उसके अशाश कहे गये हैं—वैकुण्ठादि तदंशाश स्वय वृन्दावन भुवि)।

---

[१२] गुह्याद्गुह्यतरं पुण्यं परमानन्दकारकम्। अत्यद्भुतं रहःस्थानं रहस्यं परम पदम् ॥
दुर्लभानां च परमं दुर्लभं मोहनं परम्। सर्वशक्तिमयं देवि सर्वस्थानेषु गोपितम् ॥
सात्वतां स्थानमूर्धन्यं विष्णोरत्यन्तदुर्लभम्। नित्यं वृन्दावनं नाम ब्रह्माण्डोपरि संस्थितम् ॥
गोलोकैश्वर्यं च यत्किञ्चिद्गोकुले तत्प्रतिष्ठितम्। वैकुण्ठवैभवं यद्वै द्वारकायां प्रतिष्ठितम् ॥
यद्ब्रह्मपरमैश्वर्यं नित्यं वृन्दावनं श्रियम्। कृष्णधाम परं तेषां वनमध्ये विशेषतः ॥

इसके कणिकापर्ण विस्तार के अद्भुत रहस्य का विस्तृत उल्लेख करते हुए यथास्थान वृन्दावन का निर्देश है और उसे रसाश्रय—पूर्णानन्दरसाश्रय—कहा है—'श्रीमद्वृन्दावन रम्य पूर्णानन्दरसाश्रयम् ।' आनदविग्रह, किशोरवय, शुद्धसत्व, प्रेमपूर्ण वैष्णवो से सदा वह वन भरा रहता है। यहाँ पर भी वृक्षादि के प्राकृत और अनतानत अलौकिक विभूतियो का लबा-चौडा उल्लेख है। साथ-ही-साथ माधुर्यलीला का अनन्त सागर यहाँ भी लहराता रहता है। यहाँ श्रीकृष्ण को वृन्दावनेश्वर बताया गया है। नित्यराम, नित्यविहार आदि का अनाद्यत और अविच्छिन्न क्रम यहाँ भी चलता रहता है।

कहने का साराश यह कि 'पद्मपुराण' का 'वृन्दावन' भावोपासना का आधार है। यह धाम नित्य-विहारस्थली है। तत्वत यह ब्रह्माण्डोपरि स्थित नित्य वृन्दावन विष्णु का मूर्धन्य धाम है। वह अलौकिक धाम ही पृथ्वी पर प्रकट लीला का लौकिक निकेतन है। रहस्यमय और भूस्थ वृन्दावन गोचरतया लौकिक होकर भी तत्वत नित्य और अलौकिक है। वहाँ प्रकृत लीला तो वर्णित है, पर साथ ही सदा अप्रकृत रूप मे श्रीराधाकृष्ण की नित्यलीला का दैनदिन नित्यविहार सर्वदा लीलायित रहता है। वृन्दा वहाँ की अधिकारिणी हैं और तत्सुखीभावापन्न भक्तगण सर्वदा बिहार-सुख के उपकरण-सपादन मे परमानन्दभाव से मग्न होकर सदा लगे रहते हैं।

एक बात विशेष रूप से ध्यान में रखने की है। वृन्दावन को यहाँ सात्वतो का मूर्धन्य विष्णु-धाम कहा गया है और सभवत उस सम्प्रदाय का यहाँ प्रभाव भी अधिक पडा होगा। पर साथ ही चैतन्य मत मे जिस परकीया भाव पर बल है—उसका भी उल्लेख यहाँ है—

"परकीयाभिमानिन्य प्रच्छन्नेनैव भावेन रमयन्ति निज प्रियम् ।" इसके अतिरिक्त भक्त के लिए वैष्णवों का तत्सुखीभावापन्न सहचरीत्व ही यहाँ सर्वत काम्य है। सहचरियो के लिए आवश्यक है कि वे श्रीकृष्ण की अपेक्षा राधिका मे अधिक प्रेम (८३-९) रखे। अत कह सकते हैं कि चैतन्यमत के अनुकूल वृन्दावन की पूरी भूमिका—पातालखण्ड मे—प्रस्तुत हो जाती है। उत्तरखण्ड का उल्लेख अवश्य कुछ भिन्न है।

अन्यपुराण—इन मुख्य पौराणिक वर्णनो के अतिरिक्त अनेक अन्य पुराणो, उपपुराणो मे यत्र-तत्र वृन्दावन का उल्लेख है। लिङ्गपुराण, मत्स्यपुराण, वामनपुराण, वाराहपुराण, वायु-पुराण आदि के सक्षिप्त प्रकरण और उल्लेखो मे विशेष महत्त्व की बात दिखाई न देने के कारण उनकी यहाँ चर्चा नही की गई है। बृहद्वामनपुराण मे अवश्य ही विस्तार के साथ उल्लेख है। उसमे वृन्दावन की मधुरमहिमा वर्णित है। उस पर भी आगम-प्रभाव लक्षित है। 'ब्रह्मवैवर्त्त' और 'स्कन्द' के समान आवरणादि की चर्चा है।

गर्गसंहिता—यद्यपि नाम से यह ग्रन्थ 'सहिता' है तथापि इसे पौराणिक वाङमय की शृखला मे आसानी से स्थान दिया जा सकता है। श्रीकृष्ण की भक्तिभावमयी चरितकथा को लेकर चलने-वाले पौराणिक ग्रन्थो में यह सहिता एक विशिष्ट कृति है। इसमे वासुदेव श्रीकृष्ण को पूर्णतम ब्रह्म बताया गया है। अवतार-प्रसग मे छ प्रकार के अवतार सोदाहरण गिनाये गये हैं—अशाशावतार, अशावतार, कल्पावतार, आवेशावतार, पूर्णावतार और पूर्णतमावतार। श्रीकृष्णचरित की पौराणिक शैली में कथा कहनेवाला यह ग्रन्थ अनेक खण्डो मे विभाजित है जिसके प्रथम गोलोक खण्ड मे कहा गया है—"भूभारहरणार्थ जब श्रीकृष्ण गोलोक से आने लगे तब उन्होने श्रीराधा को भी साथ चलने के लिए कहा। (यह ध्यान रखना है कि यहाँ का 'गोलोक' भी उसी प्रकार ऐश्वर्य वैभावादि षड्-विभूतिसंपन्न और माधुर्यमयी रसकेलि के लीलाओं का नित्य विलासस्थल है।) राधा ने कहा—'यत्र

वृन्दावनं नास्ति, न यत्र यमुना नदी। यत्र गोवर्द्धनो नास्ति तत्र मे न मनः सुखं।' अर्थात् वृन्दावन, यमुना और गोवर्द्धन के बिना वे भूपर नही रह सकेंगी। गोलोक मे ये सब पदार्थ थे। श्रीभगवान् कृष्ण उन सबको तथा साथ-ही-साथ अपनी समस्त प्रियमडली, भक्तगण, प्रेयसीसमूह, परिकर, व्यूह, महिषियाँ, सहचारियाँ—आदि सबको साथ लेकर धरती की ब्रजभूमि मे अवतरित हुए।" आगे के तीन खण्डो मे पौराणिक शैली को लेकर अन्त कथागर्भित शिल्प द्वारा श्रीकृष्ण के बालकिशोर-चरित (वृन्दावनखण्ड, गिरिराजखण्ड, माधुर्यखण्डो मे) का बृहद् वर्णन है। इस सन्दर्भ मे कृष्ण से सबद्ध चरित के मधुमय परिवेश की समस्त लीलाओ का भी और लोकत्राता के रूप मे अनेक असुरादि के वध की कथा भी सुनाई गई है। 'वृन्दावन' का वर्णन भी अनेकत्र और विस्तृतरूप मे मिलता है। पर कोई विशेष नवीनता नही है।

सिद्धान्त-दृष्टि मे यहाँ इतना ही कहना है कि गोलोक ही श्रीकृष्णरूप परात्पर पूर्णतम ब्रह्म का शाश्वत लीलाधाम है। वहाँ वृन्दावन, ब्रज, यमुना, गोवर्द्धन आदि तथा सभी गोप-गोपियाँ भी थी। उन्ही का पूर्णावतार के साथ यहा भी अवतार हुआ यद्यपि गोलोक मे भी सब कुछ बना रहा। अत आगमोंवाली मान्यता का ही रूप यहा भी है।

निष्कर्ष (पौराणिक क्षेत्र में)

उपर्युक्त पौराणिक विवरणो से स्पष्ट हो जाता है कि पुराणो मे वृन्दावन का जो विवरण है, वह वस्तुत. स्पष्ट नही है। स्पष्ट नही है—इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि पुराणकार ऋषियो ने वृन्दावन का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है वह प्राय जहाँ एक ओर भौतिक 'वृन्दावन' की महिमा उपस्थित करता है वहाँ दूसरी ओर आध्यात्मिक, नित्य एव अलौकिक वृन्दावन के शाश्वत स्वरूप की कल्पना भी प्रस्तुत करता है। उन वर्णनो मे वृन्दावन के ऐश्वर्य और अद्भुत वैभव की जो रूपपरिकल्पना सामने आती है, वह दिव्य है। नन्दनकानन के तुल्य कल्पद्रुमो और मणिमाणिक्यो से सघटित है तथा वहाँ का सब-कुछ मानव की विभूतिकल्पना और आनन्द सीमा का चरम उत्कर्ष है, वहाँ के भक्तो और पारिषदो का जीवन माधुर्यभक्ति के परम चिदानन्द की शाश्वत सवेदना से परिप्लुत है। वहाँ का वैभव कल्पनातीत है, वहाँ का मधुरासमागर अनाद्यन्त है, वहाँ की रसधारा अनन्त है, वहाँ भगवान् की मधुमयी मादक विभूतियाँ अचिन्त्य हे, वहाँ का नित्य प्रेमविहार शाश्वत है, वहाँ की विलासचर्या अपरिमेय है और उन सबके द्रष्टा, साक्षी और मधुरोपासक भक्त भी शाश्वत तथा अद्भुत हें। वहाँ देवद्रुम और कल्पलताओ के सदृश तरुवल्लरियो के परम विहारकुज और केलिनिकेतन हें। शाश्वत तारुण्यवाले किशोरियो से वह स्थली सदा परिपूर्ण रहती है। श्रीराधा के साथ श्रीकृष्ण का वहाँ नित्य विहार चलता रहता है और भक्त तन्मयभाव मे, तत्सुखी भावना से उस अनन्त रसधारा मे सदा आकठनिमग्न रहते हें।

दूसरी बात यह है कि उन वर्णनो मे नित्य वृन्दावन का जो स्वरूप अकित हुआ है वह तटस्थ और आलोचक द्रष्टा के रूप मे बहुत कुछ वैसा ही है जैसा कि कही वैकुण्ठलोक का, कही विष्णुलोक का, कही गोलोक का, कही श्वेतदीप का अथवा कही कृष्णधाम का वर्णित है। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है—दृश्येतर, गोचरभिन्न अलौकिक या नित्य वृन्दावन तत्वत. कभी तो उपर्युक्त लोको मे से कोई अथवा कभी उन सबका उत्कृष्टतम स्वरूप है। इसी कारण कभी-कभी तारतम्य रूप से उनका वर्णन करते हुए उसे सबसे उत्कर्षपूर्ण कह दिया जाता है।

ऐसा जान पडता है कि पुराणो के वृन्दावन का स्वरूप मधुरोपासको के आराध्य की वह

पूर्वपीठिका है जिसका स्वरूप गौडीय मधुरोपासकों के मूर्धन्य ग्रन्थ—षड्सन्दर्भ अथवा भागवतसदर्भ में पहुँचकर स्पष्ट हो गया। श्री सनातन गोस्वामी, श्रीरूपगोस्वामी और श्रीजीवगोस्वामी आदि के मत से मुख्य और वास्तविक वृन्दावन तो आध्यात्मिक, गुह्य, अभौतिक और वास्तविक है। वह नित्य है, शाश्वत है, अनवरत नित्यविहार की परमरम्य केलिस्थली है और उसकी सस्थिति भी गोलोक में है।

परन्तु इस पौराणिक धारणा का विकास भी क्रमिक है। हरिवशपुराण, विष्णुपुराण, ब्रह्मपुराण और श्रीमद्भागवत आदि मे रहस्यात्मक, अलौकिक, प्रतीकात्मक एव अपार्थिव वृन्दावन की स्थिति आदि का न तो महत्त्व है और न उस मान्यता का आग्रह है। पर आगे चल कर थोडा बहुत स्कन्दपुराण मे और विशेष रूप से पद्मपुराण तथा ब्रह्मवैवर्त्त मे आगमोचित धारणा का पूर्ण विकास लब्ध है। आगे देखेगे कि यही धारणा वैष्णव भागवतो और मधुर कृष्णोपासको मे सर्वाधिक व्याप्त है। आगमसहिताओ, वैष्णवतत्र-ग्रन्थों और वैष्णवोपनिषदो मे भी इसी की विविधरूपीय नाना भूमिकाओ की नाना सदर्भों और नाना रूपों में परिकल्पना एव अभिव्यक्ति मिलती है। इनमे कौन पूर्ववर्त्ती है और कौन परवर्त्ती—यह निर्णय सम्प्रति सभव नही है।

सहिता आदि आगमो मे

सात्वत-पाञ्चरात्र—वैष्णव सहिताओं के वर्णनो मे वृन्दावन का जो स्थान और स्वरूप है—उसका बहुत कुछ रूप पद्मपुराण के उत्तरखण्डस्थ वर्णनो से मिलता-जुलता है। 'परमव्योम' के प्रति आसजनशील उक्त पुराण मे परमव्योमाख्य वैकुण्ठ के आवरण के रूप मे उसका स्थान निर्धारित हुआ है। अनेक सहिताओ और आगम-ग्रन्थो की यही स्थिति है। पर कही-कही श्रीकृष्णलोक के रूप मे उसकी स्थिति स्वतन्त्र बताई गयी है जैसे स्वायभुवागम के ८५ वे पटल मे—

पीयूषलतिकाकीर्णा नानासत्वनिषेविताम्। सर्वर्त्तुसुखदा स्वच्छा सर्वजन्तुसुखावहाम्॥
नीलोत्पलदलश्यामा वायुना चालिता मृदु। वृन्दावनपरागस्तु वासिता कृष्णवल्लभाम्॥
सीम्नि कुञ्जतटा योषित्क्रीडामण्डपमध्यमाम्।
वृन्दावन कुसुमित नानावृक्षविहङ्गमैः। सस्मरेत्साधको धीमान् विलासैकनिकेतनम्॥

ब्रह्मसहिता, बृहद् ब्रह्मसहिता मे भी कुछ इसी प्रकार का वर्णन है। वहाँ श्रीकृष्ण को परम ईश्वर सर्वोपरि बताकर—सहस्रपत्र कमलरूप गोकुलाख्य धाम का उल्लेख है—"सहस्रपत्र कमल गोकुलाख्य महत्पदम्।' उसे प्रेमानन्दमहानदरस से अवस्थित कहा गया है—'प्रेमानन्दमहानन्दरसेनावस्थित तु यत्।' उसी निजधाम गोलोकधाम मे भगवान् श्री गोविन्द की स्थिति कही गई है। श्रीजीवगोस्वामी की व्याख्या के अनुसार चतुरस्र आभ्यतरमण्डल 'वृन्दावन' नाम का है और बहिर्मण्डल श्वेतदीप गोलोक है। (किन्तु चतुरस्राभ्यन्तरमण्डल वृन्दावनाख्य बहिर्ममण्डल केवल श्वेतद्वीपाख्य ज्ञेय गोलोक इति तत्पर्याय, षड्सन्दर्भ, पृ० ३६६)। बृहद्ब्रह्मसहिता का वर्णन बडा विस्तृत और आगमानुकूल—आवरण-व्यूह-दल आदि के प्रभाव से पूर्णत भावित है। गौतमीतत्र मे भी उसकी चर्चा आई है। पचयोजन विस्तीर्ण उक्त वन को वहाँ भगवान् ने अपना ही देहरूपक कहा है। परन्तु उसके यथार्थ रूप का चर्मचक्षुओ से साक्षात्कार सभव नही है। उसका यथार्थ दर्शन तो महाभागवतो को ही होता है जो नित्यलीला और नित्यविहार आदि को देख पाते है। वहाँ भी मधुचर्या की विहारकेलि के नित्यलीलाधाम का ही स्वरूप वृन्दावन को प्राप्त है। अनेक संहिताओ एव आगमतत्र आदि के

ग्रन्थो में इन्ही से मिलते-जुलते अलौकिक और दिव्य नित्यवृन्दावनधाम का स्वरूप-निर्दिष्ट है। कही वह विष्णुलोक, गोलोकधाम, श्वेतद्वीप, ब्रह्मद्वीप आदि का अग है, गोलोक के आवरण विशेष मे स्थित है और कही अगी है। कभी-कभी उसकी स्वतत्र स्थिति भी है। भौम वृन्दावन भी उसी का एक रूप है। यह भी वस्तुत प्रायेण रहस्यमय है। इसका दृश्य रूप जनसाधारण दृग्गोचर है--- पर वह भी तत्वत नित्य ही है और सदा विहार का निकेतन है। उसके दर्शनाधिकारी हैं---भगवान् के अतरग और अनुग्रहभाजन भावभक्त या प्रेमोपासक---जिन्हे महाभागवत भी कहा गया है। 'वृन्दावन' और उसकी मधुरकेलियो के रसात्मक वर्णन का प्रसग 'नारदपचरात्र'[13] के श्रुतिविद्यासवाद प्रकरण मे है, और 'बृहद्ब्रह्मसहिता'[14] 'पुराणसहिता',[15] बृहत्सदाशिवसहिता आदि मे भी ऐसे ही सकेत हैं।

तत्रो, पाचरात्र-सात्वत सहिताओ एव अन्य वैष्णव सहिताओ मे इसका बडा विस्तार भी है और विविध परिप्रेक्ष्यो के अन्तर्गत उनका वर्णन भी नानारूपो मे मिलता है। अत यहाँ सबका उल्लेख सभव नही है। केवल सकेतमात्र से दिव्य, अलौकिक, प्रतीकपरक एव रहस्यात्मक धाम के रूप का दिङ्निर्देश कर दिया गया है।

वैष्णवोपनिषद्

वैष्णवोपनिषदो मे भी 'वृन्दावन' की चर्चा, अनेक सन्दर्भों और परिप्रेक्ष्यो में हुई है। कही तो वृन्दावन और वहाँ के वैभवों का नाम लिया गया है और कही केवल वस्तुवर्णन के माध्यम से

---

[13] **बृहद्वृन्दावन तत्र केलिवृन्दावनानि च। वृक्षाः कल्पद्रुमाश्चैव चिन्तामणिमयी स्थली ।।**
केलिकुञ्जनिकुञ्जानि नानासौख्यस्थलानि च ।

[14] **श्रीमद्वृन्दावन रम्यं पूर्णानन्दरसाश्रयम् । भूमिश्चिन्तामणीस्तोयममृत रसपूरितम् ।।**
वृक्षाः सुरद्रुमास्तत्र सुरभीवृन्दमण्डितम् । सदा किशोररूपैश्च तरुणीतरुणैर्युतम् ।।
गुह्याद्गुह्यतमं गूढ गोलोके तत्प्रतिष्ठितम् । तत्र गोविन्दरूपेण स्वय क्रीडति राधिका ।।

[15] **एकादशभिरुद्यानैः परितो वेष्टितं महत् । यत्र वृन्दावन नाम राजते सुमनोहरम् ।।**
बहुरत्नविचित्रतला सरला सरलालघुभिर्बहुशाखिपरैः ।
सुमनःफलभारनमद्भिरधो वसुधा बहुधा प्रविभाति शिवा ।।
कर्णिकेव सरोजस्य वृन्दाविपिनमद्भुतम् ।.....
गोपीजनसहस्रैश्च कृष्णेन सुमहात्मना । तत्र रासमहालीला याऽस्माभिरनुभाविता ।।
इसी वृन्दावन में महाशक्ति श्रीराधा का निवास है जो---
कामार्त्तिभाजः कृष्णस्य मनःपीडामहौषधी ।
अत्यार्त्तप्रियसारङ्गसुखदाम्भोदमण्डली ।।.....
रस्यब्धिपारदप्रोद्यत्कुचतुम्बीफलद्वया ।
भावपूरितदृक्प्रान्तवीक्षामात्रेण कोटिशः ।
उत्पादयन्ती कन्दर्पान् जगत्क्षोभान् रतिप्रियान् ।
एषा राधा महाशक्तिः कृष्णप्राणैकजीवनम् ।। (पु० सं०, अध्या० ३)

इस ग्रन्थ के तृतीय अध्याय से सप्तम अध्याय पर्यंत लगभग ३५० श्लोकों में 'राससमारम्भ' से आरम्भ करके 'प्रेमस्वरूपानुभाव' तक भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधा की मधुरलीलाओं का वर्णन है।

वृन्दावन का संकेत है। वस्तुवर्णन में कभी-कभी वैकुण्ठ का नामोल्लेख है जो वस्तुत वृन्दावन को ही इंगित करता है। कृष्णोपनिषद् में कृष्णावतार की अवतारणा करते हुए व्यूह, परिकर, धाम आदि की चर्चा हुई है भगवान् के सर्वात्मवर्णन प्रसग में। वही कहा गया है—

"वने वृन्दावने क्रीडन् गोपगोपीसुरै सह। गोकुल वनवैकुण्ठ तापसास्तत्र ते द्रुमा।
गोपरूपो हरि साक्षान्मायाविग्रहधारण।

गरुडो वटभाण्डीर सुदामा नारदो मुनि। वृन्दा भक्ति क्रिया बुद्धि सर्वजन्तुप्रकाशिनी।

(कृष्णो० ७,६, २४-२५)

गोपाल (पूर्व) तापनी उपनिषद् में श्रीकृष्ण को 'परम दैवत' बताते हुए उन्हें गोविन्द और गोपीजनवल्लभ कहा गया है। उनके ध्येय रूप की चर्चा के प्रसग में 'गोपगोपीगवावीत, वनमाली, कालिन्दीजलकल्लोलसङ्गी' आदि पदो से अभिहित किया गया है। आगे 'पचपदात्मकगोविन्द-स्तुति' के प्रकरण में आया है—"तमेक गोविन्द सच्चिदानन्दविग्रह पञ्चपद वृन्दावनसुरभूरुहतलासीन स्तोष्यामि"—अर्थात् वे वृन्दावन के कल्पद्रुम के तल पर आसीन रहते हैं। आगे चलकर वृन्दावन के लीलाशाली रूप का भी चित्र है—वेणुनादविनोदाय गोपालाय कालिन्दीकूलल्लोलाय, लोल-कुण्डलधारिणे। वल्लभीवदनाम्भोजमालिने नृत्तशालिने। गोवर्धनधराय च (नम)।" गोपालोत्तर-तापिनी में मथुरा का अभिज्ञान कराते हुए बताया गया है कि 'भूचक्रस्थ सप्तपुरियों के मध्य में सप्त-पुरियाँ हैं। उनके मध्य में गोपालपुरी साक्षाद्ब्रह्म है—"तासा मध्ये साक्षाद्ब्रह्म गोपालपुरी।' यही गोपालपुरी मथुरा है—"भूम्या तिष्ठति चक्रेण रक्षिता मथुरा तस्माद्गोपालपुरी भवति।' बृहद्वन, मधुवन, तालवन, काम्यवन, बहुलवन, कुमुदवन, खादिरवन, भद्रवन, भाण्डीरवन, लोहवन और वृन्दावन —इन द्वादश वनों से 'मथुरापुरी' को आवृत्त कहा गया है। इस वर्णन में मथुरा का नाम ही मुख्यत वर्णित है और उसी का एक आवरण वन वृन्दावन है। सर्वात में नामोल्लेख के कारण वृन्दावन को प्रमुख कहा जा सकता है।

'त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्' में वैकुण्ठलोक की चर्चा अत्यन्त विस्तार से हुई है। जीवन्मुक्त के देहत्याग की इच्छा होने पर समस्त वैकुण्ठपार्षद आते हैं और उनके साथ वर्णित विधि-नियमों के अनुसार उपासक नभोमार्ग से चलता है। सत्यलोक, ब्रह्ममयवैकुण्ठलोक, पञ्चवैकुण्ठ, ब्रह्माण्ड-लोक, महाविराट्पद, पादविभूतिवैकुण्ठपुर, विश्वक्सेनवैकुण्ठपुर, ब्रह्मविद्यावैकुण्ठपुर, आदि में क्रमश प्रवेश तथा उत्तरण करता हुआ उपासक तुलसी वैकुण्ठपुर का साक्षात्कार करने के अनन्तर वहाँ प्रवेश करता और उसके भी पार चला जाता है। इसके अनन्तर बोधानन्दवन, शुद्ध बोधानन्दवैकुण्ठ (जिसे ब्रह्मविद्यापादवैकुण्ठ भी कहते हैं) में पहुँच जाता है। यही समस्त मोक्षसाम्राज्य की पट्टाभिषेक-स्थली है। इसी स्थान से उपासक नित्य गरुडारूढ होकर सुदर्शनपुर बैकुण्ठ की आभा का साक्षात्कार करता है। इसी के अभ्यन्तरस्थ सस्थानगत चक्रों के अभ्यन्तरतमस्थ सस्थान में षट्कोणचक्र सदा जाज्वल्यमान रहता है, जो अपरिच्छिन्नानन्तदिव्यतेजोराश्याकार है। उसके भी अभ्यतरसस्थान में महानन्दपद है। उसके अभ्यन्तर सस्थान में 'सुदर्शन' पुरुष सदा विराजते रहते हैं। वही महाविष्णु हैं। उसके भी उपर्युपरि अद्वैतसस्थान है।

इस अद्वैतसस्थान के बोधरूप का विस्तृत वर्णन है जो निर्विकार, निरजन, देशकालाद्यपरिच्छिन्न, वाङ्मनोज्ञातृत्वातीत, परमानन्दसमष्टिकन्द, परमचिद्विलाससमष्ट्याकार, परमसत्समष्टिस्वरूप, अद्वितीय, अखण्डानन्दामृतविशेष, स्वयंप्रकाश आदि शब्दो से परिचायित हुआ है। वह परमानन्दलक्षण अपरिच्छिन्ना-

न्तपरज्योति, जो शाश्वत है—शाश्वत विभात होती रहती है। वही त्रिपाद्विभूतिवैकुण्ठस्थान है, वही परमकैवल्य है जो अबाधित परमतत्त्व है और अनन्त उपनिषदों से विमृग्य है।

इस प्रकार यहाँ केवल वैकुण्ठ की महिमा और उसके आध्यात्मिक तथा अलौकिक और सूक्ष्म दार्शनिक स्वरूप का विवरण है जो रहस्यात्मक भी कहा जा सकता है, साधकमात्रज्ञेय भी कहा जा सकता है और भौतिक मनोविज्ञान की दृष्टि से सकल्प-प्रतीकात्मक भी। इस सन्दर्भ मे एक बात विशेष रूप से उल्लेख्य और कथ्य है। यह वैकुण्ठबोध विशुद्ध ज्ञान से समुन्नत साधककोटि की केवल उन आत्माओ और ज्ञानियो के लिए ही ज्ञानसवेद्य है जिन्हे सूक्ष्मातिसूक्ष्म अपार्थिव एव दिव्य देह प्राप्त है। उन्ही का साक्षणीय है।

उसी उपनिषद् के अन्त में (सालवनिरालवयोगद्वय की चर्चा करते हुए) भक्तियोग को ही निरुपद्रव कहा गया है। वहाँ उल्लिखित है—तस्मात् सर्वेषामधिकारिणामनधिकारिणा च भक्तियोग एव प्रशस्यते। भक्तियोगो निरुपद्रव। भक्तियोगान्मुक्ति। सर्वेषामपि बिना विष्णुभक्तया कल्पकोटिभिर्मोक्षो न विद्यते। कारणेन विना कार्य नोदेति। भक्त्या विना ब्रह्मज्ञान कदापि न जायते।' भक्तिनिष्ठो भव। भक्त्या सर्वसिद्धय सिद्धयन्ति। भक्त्यसाध्य न किञ्चिदस्ति।

(त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्—अध्या० ८।११, १२)

इस प्रकार दिखाई पडता है कि उक्त उपनिषद् मे अद्वैतमत का—सच्चिदानन्दात्मक अखण्ड, एक, अद्वय, सर्वमय, निरवधि निरुपाधि, निराकार, निरजन और गुणातीत आदि 'वैशिष्ट्यविशिष्ट' परम ब्रह्म तथा परम ज्ञान का प्रतिपादन करते हुए भी विष्णुभक्ति के बिना कोटिकोटि कल्पो की साधना द्वारा भी मोक्ष सभाव्य नही है। यहा ज्ञान और भक्ति—दोनो को एक साधना के दो अनिवार्य पक्षो जैसा स्वीकार किया गया है। इस विवेचन का 'वैकुण्ठ' त्रिपाद्विभूतिवैकुण्ठ है। कदाचित् यही भक्ति-साधना के क्षेत्र मे आनन्द, सुखसुधा, परमानन्दसागर, परमसौन्दर्य आदि की परमनिधानता के कारण भक्तो का कृष्णधाम, गोलोक, श्वेतद्वीप, अपार्थिव और पार्थिव वृन्दावन के रूप मे विवर्तित हुआ। पर इस सन्दर्भ मे एक बात ध्यान रखनी चाहिए। विवेच्य उपनिषद् के वर्णन के किसी सोपान का वैकुण्ठ—नारीभाव या नरनारीयोगभाव की किसी भूमिका या भावना का उल्लेख नही करता। पर आनन्द, सौन्दर्य, उल्लास, आमोद और अनन्त ऐश्वर्य-वैभव की माहिमागरिमा के विस्तृत विवरण देनेवाले रहस्यमय एव रम्य चित्रो को उपस्थित करता है। कदाचित् उसी माधुर्यवर्णन, आनन्दकल्पना और वैभवभूमा से प्रेरणा और उपादान-उपकरणो को लेकर परकालवर्ती—श्रीकृष्ण के भक्तो, प्रेम-साधको और मधुरोपासको ने गोलोक और वृन्दावन आदि का रम्य सकल्पचित्र निर्मित किया।

स्तोत्रवाङ्मय की झलक

स्तोत्रो मे भी वृन्दावन की महिमा बडी ही अनुरक्ति और मधुर भक्ति के साथ गायी गयी है। कृष्ण की प्रेमाभक्ति के उपासको की परम्परा मे अनेक मधुरोपासको ने वृन्दारण्य या वृन्दावन का प्रेममय कीर्तिगान प्रस्तुत किया है। यदि गीतात्मक स्तोत्र ग्रन्थ के रूप मे 'जयदेव' के 'गीत-गोविन्द' को लिया जाय तो उसमे वर्णित श्रीकृष्ण की मधुरचर्याओ के भावमय गीतो मे चैतन्य-मतीय धारणा के अनुकूल पीठिका मिलती है और चण्डीदास तथा विद्यापति के लिए प्रेरणा भी।

अनेक छोटे-बड़े विष्णु-कृष्ण स्तोत्रो मे वृन्दावन का एव वहाँ के विहार-चर्या का उल्लेख मिलता है। अनेक वृन्दावनाष्टको, यमुनाष्टको आदि मे वृन्दावन का नाम विभिन्न परिप्रेक्ष्य से आया

है। 'ब्रजवनविहारी, 'वृन्दाटवीकुञ्जनिकुञ्जलील' 'गोपीजनवल्लभ', 'राधाविलासचतुर.', 'वृन्दावन-निकुञ्जकेलिनिपुण' आदि विशेष विशेषणो से उनका उल्लेख है। 'श्री गोविन्दाष्टक', 'द्वादशस्तोत्र', 'जगन्नाथाष्टक', 'राधाष्टक', 'भगवन्मानसपूजनम्', 'गोपालस्तोत्र', 'श्रीकृष्णस्तोत्र' (दोनो नारदपाचरात्र के) आदि मे इसी प्रकार के उल्लेख मिलते हैं। परन्तु वृन्दावन-सम्बन्धी धारणा पर उनसे कोई खास प्रकाश नही पडता। अत कुछ बडे भक्ति-स्तोत्रो के आधार पर इस प्रसग की चर्चा नीचे की जा रही है।

प्रबोधानन्द सरस्वती का 'वृन्दावन-महिमामृत' नामक स्तोत्र एक विशाल ग्रन्थ कहा जाता है। श्री प्रबोधानन्द की इस कृति मे प्रेम और माधुर्य की ऐसी अजस्र धारा बहती दिखाई देती है जिसमे मधुर कृष्णभक्तो का प्रेमोत्सुक हृदय निमग्न हो उठता है। इस कारण चैतन्यमतानुयायी श्री सरस्वती-पाद को तथा उनकी कृति को अपने संप्रदाय का ग्रन्थ मानते हैं और राधावल्लभ सप्रदायवाले अपने मत का। हमें इस विवाद मे पडना अभीप्सित नही है। यहाँ इतना ही कथ्य है कि यह महास्तोत्र वृन्दावन की अपूर्व महत्ता और मधुर वर्णनो से आद्यत ओतप्रोत है। इस वृन्दावन की महिमा का वर्णन करते हुए स्वय मदनमोहन श्रीकृष्ण कहते हैं—"मेरी और श्रीराधा की, जो स्थली, केलिचातुर्य-धारा है तथा हम दोनो की अतिशयेन निरन्तर और निरवधि वर्द्धमान कामतृष्णा का जो साक्षात् स्वरूप है एव इसके साथ-ही-साथ हम दोनों के प्रेमबन्ध का गाढतर गाढतम जो अतिवलन है वह सब—हे रस के खनिस्वरूप वृन्दावन! तुम्हारी ही शक्ति का विस्फूर्जन है।"[१९]

इसके सम्बन्ध मे श्रीसरस्वतीपाद कहते हैं कि 'वृन्दारण्य में मदनमोहन के द्वार पर कुतिया रूप मे रहना भी परम सौभाग्य है, पर अन्यत्र लक्ष्मी की सखी या स्वय रमा (लक्ष्मी) होना भी कबूल नहीं'।[२०] इस प्रकार की उक्तियाँ अनेक भक्तों या श्रद्धावानो के वचनो मे मिलती हैं। 'रसखान' की प्रसिद्ध उक्ति भी इसी प्रकार की है।

गगा की स्तुति मे भी कहा है कि "हे गगे! तुम्हारे तीर पर तरकोटर मे पक्षी होना मेरे लिए सौभाग्य की बात है, यदि तुम्हारे नरकान्तवारि मे मछली या कछुआ होकर रहना हो तो भी मेरा जन्म धन्य है। पर अन्यत्र, मदस्रावी गजघटा के घटास्वर से घिरे हुए परम वैभव और सुख का

---

१९ श्रीराधाया मम च यदहो केलिचातुर्यधारा
यच्चात्युच्चैर्निरवधि वरीवृद्ध्यते कामतृष्णा।
गाढं गाढं यदतिवलते कोऽपि नौ प्रेमबन्धः
सर्वं वृन्दावन-रसखने! शक्तिविस्फूर्जितम् ते॥ (वृन्दावनशतकम्, शतक ११।३०)

२० वरमिह वृन्दारण्ये सुबराकी मदनमोहनद्वारि।
अपि सरमाऽपि रमाप्रियसख्यपि नान्यत्र भो रमापि स्याम्॥
(वही, द्वितीय शतक ६७ श्लोक)

चतुर्थ शतक में भी निम्नांकित श्लोक हैं—

यदि वृन्दावनं विन्दाम्यपि तृणान्ते बनान्तेषु।
न तदा वैकुण्ठलक्ष्मीमपि करमिलितां निभालये ललिताम्।
सर्वदुःखदशा घोरा वरं वृन्दावनेऽस्तु मे।
प्राकृताप्राकृताशेषविभूतिरपि नान्यतः। (वही, शतक ४।६०,६१ श्लोक)

जीवन भी स्वीकार्य नही—(त्वत्तीरे तरुकोटरान्तरगतो गङ्गे विहङ्गो वर, त्वन्नीरे नरकान्तकारिणि वर मत्स्योऽथवा कच्छप । नैवान्यत्र मदान्धसिन्धुरघटासघट्टघण्टारणत्कारस्तत्र समस्तवैरिवनितालब्धस्तुति-र्भूपतिः) ।' कहने का साराश यह कि इन उद्‌गारो मे प्रस्तुत के प्रति भक्त कवि के हृदय की प्रेम-गाढ़ता का परिचय मिलता है । यहाँ भी स्वामी प्रबोधानन्द की उक्ति वैसी ही है । उद्धव के कथन मे (श्रीमद्भागवत मे) भी इसी ढंग का भाव व्यक्त है जब अपनी चरम लालसा व्यक्त करते हुए वे कह उठते हें—

आसामहो चरणरेणु जुषामह स्या वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यज स्वजनमार्यपथ हि हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवी श्रुतिभिर्विमृग्याम् । (श्रीमद्‌भाग० १०।४७।६१)

श्री प्रबोधानन्द ने वृन्दावन को दिव्यज्योति का धाम बताते हुए कहा है कि वह प्रकाशपुञ्ज अज्ञानान्धकार से बचाने का हेतु है । करोडो रवि, इन्दु, वह्नि और विद्युत् के प्रकाश को अभिभूत करनेवाली वृन्दाटवी की प्रभा (आत्मप्रभा) जिमके अन्तस्तल मे प्रदीप्त हो जाती है उसके मन मे पुन सुतवित्तैषणादि उदित नही होती—

वृन्दाटवी यदि रवीन्द्रहुताशविद्युत्कोटिप्रभाविभवकारि महाप्रभाढ्या ।
आत्मप्रभा सकृदपि प्रतिभाति चित्ते वित्तैषणादि नहि तस्य मनस्युदेति ।। (वही, श० २।३७)

इसी कारण इस परमरम्य ज्योतिर्धाम का महिमागान करते हुए वे कहते हें कि 'जिस वृन्दावन की महिमा का गान करने मे स्वय शेष भी समर्थ नही है, उसका वर्णन भला दूसरे क्या करेंगे और मे तुच्छ क्या कर सकता हूँ! केवल अतिप्रणय के कारण उमका विवरण देते हुए स्वय को कृत-कृत्य बनाने के लिए मेरा यह उपक्रम है—

शेषोऽपि यस्य महिमामृतवारिराशे पार प्रयातुमनलब त तत्र केऽन्ये ।
किन्त्वल्पमप्यहमतिप्रणयाद् विगाह्य स्या धन्यधन्य इति मे समुपक्रमोऽयम् ।। (वही, १।२)

'हितहरिवंश' मतानुयायियो के मतानुसार श्री प्रबोधानन्द ने जीवन का परम पुरुषार्थ और चरम काम्य माना है श्रीराधारानी की चरणकरुणा के उदय को । इसका सकेत स्वय हितप्रभु की रचनाओ में अनेकत्र मिलता है । उसी भावना का अनुगमन करते हुए श्री प्रबोधानन्द ने अपना उद्देश्य प्रकट किया है—"जबतक श्रीराधा के पदनखमणिरूपी चन्द्र की ज्योत्स्ना का प्रकाश आविर्भूत नही होता तब तक चित्तचकोरी को वृन्दावन की धरित्री मे मोद नही प्राप्त होता । और जबतक उक्त पुण्यस्थली मे गरिष्ठा निष्ठा नही होती तब तक श्रीराधा की तादृशी चरणकरुणा का उदय ही नही होता—

यावद्राधापदनखमणेश्चन्द्रिका नाविरास्ते
तावद्वृन्दावनभुवि मुद नैति चेतश्चकोरी ।
यावद्वृन्दावनभुवि भवन्नापि निष्ठा गरिष्ठा
तावद्राधाचरणकरुणा नैव तादृश्युदेति ।। (वही १३।२।)

इस कृति मे नित्यकिशोरयुगल के मधुमय एव रसाप्लुत नित्यविहार और नित्यरास का अत्यन्त मनोरम वर्णन किया गया है । श्रीसरस्वतीचरण कहते हें—इस वृन्दावन में उस अनिर्वचनीय नित्यकिशोर और नित्यविहारी श्रीराधाकृष्ण की नित्यलीलामयी मूर्त्ति का नित्यविलास होता रहता है, नित्यवास बना रहता है, जो सदा किशोर रहते हें, जो सदा प्रेमक्रीडारत रहते हें जो न कही जाते हें और न कही अन्यत्र से आये हें आदि ।'

ऐश्वर्यं परम च वेत्ति न मनाङ्ग नान्यञ्च कञ्चिद्रस,
न स्थाने परत कदात्वनुगत नो वा कुतोऽप्यागतम् ।
कैशोरादपर वयो नहि कदाप्यासादयन्न क्षण
क्रीडातोऽविरत तदेकमिथुन वृन्दावने नन्दति ।। (वही ६।६)

वे श्री राधा को प्रेमसार से अगाध मानते हैं, श्रीकृष्ण को उस एकमात्र राधारस मे अपार तृष्णावान् बताते हैं, पूर्वोक्त युगल परस्पर दो रीतियो की समान आधारभूत सखियाँ—द्वयैक्य—हैं उस युगल मूर्त्ति का परम प्रसिद्ध नित्यधाम वृन्दावन है—

जयति जयति राधा प्रेमसारैरगाधा जयति जयति कृष्णस्तद्रसापारतृष्ण ।
जयति जयति वृन्द तत्सखीना द्वयैक्य जयति जयति वृन्दाकानन तत्स्वधाम ।। (वही, ६।४५)

वस्तुत श्री प्रबोधानन्द का यह स्तोत्रग्रन्थ उनकी श्रीराधाकृष्णविषयक मधुर भक्ति और वृन्दावनविषयक श्रद्धापूर्ण अनुरक्ति का काव्यमय उद्‌गार है। उनके मत से वृन्दावन के वस्तुत तीन स्वरूप हैं—(१) 'गोष्ठ वृन्दावन', (२) 'गोपीक्रीडास्थल वृन्दावन' और (३) 'श्रीराधाकुञ्जवाटी'—

श्रीकृष्णस्याथो गोष्ठवृन्दावन तत् गोप्या क्रीडाधाम वृन्दावनान्त ।
अत्याश्चर्या सर्वतोऽस्माद्विचित्रा श्रीमद्राधाकुञ्ज-वाटी चकास्ति ।।
आद्यो भावो यो विशुद्धोऽतिपूर्णस्तद्रूपा सा तादृशोन्मादि सर्वा । (वही १।८,६)

तृतीय स्वरूप ही मुख्य है जो श्रीराधा की निकुञ्जवाटी है। यह सबसे विचित्र पूर्वोक्त दोनो रूपो से विलक्षण तथा अत्याश्चर्यमय है। यह तृतीय रूप उस रति का, नित्यप्रणय का सहज रूप है जो सर्वत विशुद्ध और पूर्ण है।

यत यह तृतीय वृन्दावन सर्वप्रधान, सहजरतिस्वरूप, विशुद्ध और पूर्ण रतिमय है, सर्वथा और सर्वदा स्वसुखवासनाशून्य एव प्रेमाभिन्न युगलस्वरूपमय है—इसी कारण श्रीप्रबोधानन्द मानते हैं कि इस विपिन के समस्त स्थावरजगम कणो को महायोगीगण भी सच्चिद्‌घनस्वरूप मानते हैं।[१८] इसी कारण वह कृष्ण भक्तो का सर्वस्व है।[१९]

---

[१८] श्रीवृन्दावनतद्‌गतस्थिरचरान् स्वानन्दसच्चिद् घनान्
त्रैगुण्यास्पृश आप्लुतान् हरिरसोद्वेलामृतैकाम्बुधौ ।
पश्यन्तो विलसन्ति सन्त इह केऽप्याश्रित्य सर्वात्मना
श्रीराधाचरणाम्बुजव्रजच्छायां महायोगिनः ।। (वही—१२।११)

[१९] श्रीजीवानन्द विद्यासागर द्वारा प्रकाशित, 'काव्यसंग्रह' के भाग २, संस्करण ३ में एक 'वृन्दावनशतक' मिलता है। हो सकता है यह भी श्रीप्रबोधानन्द के 'वृन्दावन-महिमामृत' का ही कोई शतक हो। इसमें भी 'वृन्दावन' का भक्तिभावमय कीर्तिगान हुआ है। यहाँ के वर्णन कभी तो राधावल्लभीय दृष्टि का संकेत करते हैं और कभी चैतन्यमत की मान्यताओं का स्पर्श करते हैं। वस्तुतः वल्लभ, चैतन्य और राधावल्लभ के मतों का प्रचार ब्रजमण्डल में लगभग आसपास ही होता जा रहा था। अतः भक्तिभाव से ओतप्रोत भक्तों की दृष्टि में सांप्रदायिक मतवाद की कठोरता शास्त्रीय विवेक में भले ही रही हो, यशोगान में भावाभिव्यक्ति ने सभी माधुर्य-भावों को अपने आभोग में समेट लिया था। नीचे उद्धृत इस शतक के पद्य बहुत कुछ उसी ढंग के हैं जैसे 'राधासुधानिधि' या 'वृन्दावन-महिमामृत' में मिलते हैं—

प्रेमपत्तन

रसिकोत्तंस का प्रेमपत्तन वस्तुत माधुर्यमयी भक्ति का विस्तृत विवरण उपस्थित करता है। परन्तु ग्रन्थ का शीर्षक 'वृन्दावन' की ओर संकेत करता है। प्रेमपत्तन का आशय सामान्य भाषा में प्रेमनगरी शब्द से व्यक्त किया जा सकता है। यहाँ 'प्रेम' पद से अभिप्रेत है मधुरमूर्त्ति श्रीकृष्ण के मधुर प्रेम का नगर या पत्तन। उक्त ग्रन्थ में प्रेमपत्तन को भक्तिक्षेत्र का दिव्यधाम बताते हुए उसी को वृन्दावन निदर्शित किया गया है और उसका स्थान गगन में विलसमान वर्णित है——

श्रीवृन्दावनकेलिरङ्गसहज सौन्दर्यशोभाचयो
वैदग्ध्यादिचमत्कृतेः परतर विश्रान्तिधामाद्भुतम्।
तन्मे मोहनदिव्यनागरवरद्वन्द्वं मिथो जीवन
गौरश्यामलमुज्ज्वलोन्मदरसाविष्ट हृदि स्फूर्जतु ।।

महोज्ज्वलरसोन्मदप्रणयसिन्धुनिष्यन्दिनी
महामधुरराधिकारमणखेलनानन्दिनी ।
रसेन समधिष्ठिता भुवनवन्द्यया वृन्दया
चकास्तु हृदि मे हरेः परमधाम वृन्दाटवी ।।

इह सकलसुखेभ्यः सूत्तमं भक्तिसौख्यं तदपि चरमकाष्ठां सम्यगाप्नोति यत्र।
तदिह परमपुंसो धामवृन्दावनाख्यं निखिलनिगमगूढ मूढबुद्धिर्न वेद ।।

विभ्राजत्तिलकाकलिन्दतनयानीरौघनीलाम्बरो–
वञ्चत्काञ्चनचम्पकच्छविरहो नानारसोल्लासिनी।
कृष्णप्रेमपयोधरेण रसदेनात्यंतसंमोहिनी
गोपस्यात्मजवल्लभा विजयते राधेव वृन्दाटवी ।।

स्मारं स्मारं नवजलधरश्यामलं धाम विद्युत्-
कोटिज्योतिस्तनुलतिकया राधया श्लिष्यमाणम्।
उच्चैरुच्चैः सरससरसः प्राञ्जलिर्जृम्भमाण-
प्रेमाविष्टो भ्रमति सुकृती कोपि वृन्दावनान्त ।।

विदन्ति यावत्प्रणय न मन्दा वृन्दावने प्रेमविलासकन्दे।
तावन्न गोविन्दपदारविन्दस्वच्छन्दसद्भक्तिरहस्यलाभ. ।।

दैवी वाक् प्रतिषेधिनी भवतु मे स्याद्वा गुरूणां गिरा
श्रेणी शास्त्रविदामिहास्तु बहुधा यः कोपि कोलाहलः।
त्यक्त्वा साधनसाध्यजातमखिलं लग्न तु मे राधिका——
क्रीडाकाननवाससम्पदि मनाक् व्यावर्त्तते नो मनः ।।

इनके अतिरिक्त उक्त शतक में बराबर ऐसे वचन आए हैं——

'राधाकेलिनिकुञ्जमञ्जुलतरं वृन्दावनं जीवनम्, तन्मे नन्दकिशोरकेलिभवनं वृन्दावनं जीवनम्'।

'कदा मधुराधिकारमणरासकेलिस्थलीं विलोक्य रसशेवधि मधिवसामि वृन्दावनम् ।। आदि ;

मति-रति-युवति-पतिर्यत्पालयिता मधुरमेचको राजा ।
गगने विलसति नगरं नैकशिरोमन्दिर नाम ।। (प्रेमपत्तन पृ० ६।६)

गगन-विलासी इस नगर का 'मधुरमेचक' नाम का राजा है शृंगाररसमय या शृंगारसात्मक व्रजजन–युवराज श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण । उनकी दो युवती पत्नियाँ है । 'मति' है 'रति' की सपत्नी—जो वस्तुत श्रीकृष्ण का निजैश्वर्यानुसधान है और 'रति' है रसपक्ष में मधुररस का स्थायी भाव (मधुर रति) जो तत्वत महाभावस्वरूप श्रीराधा है । टीका मे आगे कहा गया है—"तन्नगर च लीला-परिकरात्मकनित्यसिद्धात्मकजननिवासस्थान श्रीवृन्दावनमण्डलमेव ।" अर्थात् लीलापरिकर के नित्य सिद्ध भक्तो का निवासस्थान (वृन्दावन) का अन्तर्मण्डल ही 'प्रेमपत्तन' है। 'गगने' से यहाँ तात्पर्य है पाताल से लेकर वैकुण्ठ तक सर्वोपरि । 'दुर्लभत्व' भी उक्त पद का वैकल्पिक सकेत है । एक और व्याख्या भी की गई है—गगने अर्थात् रसज्ञो के 'हृदयाकाश' मे ही उसकी सदा स्थिति है—वहाँ से बाहर नही । इन व्याख्याओ का निष्कर्ष इगित करता है कि वह नगर दुरूह है, अनधिकारियो के लिए अगम्य है, रहस्यमय है और सुगोप्य है ।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यह वृन्दावन वस्तुत नित्यविहार या शाश्वतकेलि का द्योतन करनेवाला भावमय स्थल है, भौतिक सत्तावान् स्थान नही । वहाँ दृश्य एव गोचर व्रजमण्डलीय वृन्दा-वन का कोई वर्णन भी नही है । उनका वृन्दावन सूक्ष्म और अलौकिक ही है । उसके दो भेद है (१) गोष्ठवृन्दावन और (२) रासवृन्दावन । श्री प्रबोधानन्द द्वारा निर्दिष्ट वृन्दावन के पूर्वोक्त त्रिरूपो मे इनका समावेश हो गया है । इस नगर के राज्य का शिल्प्टरूपकध्वनि के द्वारा विस्तृत रूप वर्णित हुआ है । उसका साराश इतना ही है कि शास्त्रनिगमपुराणेतिहासादि के कर्कश तर्क आदि की मान्यताओ और प्रेरणाओं की अवहेलना करके यहाँ के नित्यसिद्ध भक्त, प्रगाढीभूत महामधुर भाव से रागज भक्ति का अनुसरण करते है और अनन्य भावापन्न मधुरोपासना मे सदा निमग्न रहते है । वहाँ के कीट-पतग, स्थावरजगम, जड़-चेतन—सभी इसी एक भाव से भगवान् की प्रेमोपासना करते है—विधिनिषेध की भावना को भूलकर, धर्माधर्म के प्रपच को छोडकर । गोचर रूप मे इस नगरी के रसिको के आचरण लोकविरुद्ध लगते हैं । पर प्रेमसाधक नित्यसिद्धो की महाभावपरिप्लुत दृष्टि से ही उस परमोज्ज्वल महाप्रेमरस की आस्वाद्यता और सर्वत उत्कर्षबोध सभव है । 'रसिकोत्तस' का यह ग्रन्थ वस्तुत. वृन्दावन की प्रेमपरिपाटी का—चैतन्यमत की दृष्टि से—काव्यात्मक एव रहस्यात्मक स्वरूप उपस्थित करता है । चैतन्य दृष्टि के वृन्दावन का सक्षिप्त परिचय इसी लेख मे यथास्थान अन्यत्र दिया गया है ।

राधासुधानिधि

श्री हितप्रभु के मत मे हितहरिवशकृत 'राधासुधानिधिस्तोत्र' को एक प्रकार से प्रस्थान ग्रन्थ कहा जा सकता है । राधावल्लभीय उपासनामार्ग की दृष्टि से श्रीराधा के भावबोध का वहाँ अत्यन्त रसमय और अतर्बहि. भक्तिपूर्ण वर्णन हुआ है । श्रीराधा वहाँ रासेश्वरी, कुञ्जलीलेश्वरी और वृन्दा-वनेश्वरी कही गयी है । सखीभाव का भी—तत्सुखीवृत्तिमय सहचरीस्वरूप श्रीहितप्रभु के भावोद्गम का वहाँ अत्यन्त भक्तिरसमय चित्र दिखाई देता है । श्यामाश्याम या राधामाधव युगलकिशोर-किशोरी के नित्यविहार, उनकी नित्यमधुरलीलाओं—नित्यरतिक्रीडाओ के जैसे मधुरोज्ज्वल चित्र वहाँ मिलते है वैसे अन्यत्र दुर्लभ है । इन सबकी परमपावन सौभाग्यस्थली के रूप मे वृन्दावन का वहाँ रूपांकन

हुआ है। निकुजविहार और नित्यरसकेलि की अखण्ड धारा की अजस्र तरगिणी वहाँ सदा बहती रहती है। वहाँ के निकुंज भवनो मे प्रेमपीयूष का अनन्त सिन्धु सदा लहराता रहता है। सहचरी रूप मे वहाँ पहुँचकर युगल नित्यविहारानन्द का दर्शनानुभवम पाना ही चरम काम्य है—

"वृन्दारण्यरह स्थलीषु विवशा प्रेमार्त्तिभारोद्गमात्
प्राणेश परिचारकै. खलु कदा दास्या मयाधीश्वरी। २४२ ॥

श्रीराधासहचरीमात्रगम्य यह वृन्दावन ऐसे रहस्य से मडित है कि वहाँ नारद, ब्रह्मा, ईश, शुक आदि का पहुँचना भी अगम्य है—

"यन्नारदाजेशशुकैरगम्य वृन्दावने मञ्जुलमञ्जुकुञ्जे।
तत्कृष्णचेतोहरणैकविज्ञमत्रास्ति किञ्जित्परम रहस्यम् ॥" २३८॥

वहाँ के रह कुञ्ज म—"रह कुञ्जे गुञ्जाध्वनितमधुपे क्रीडति हरि" श्रीकृष्ण नित्य विहार करते रहते हे । मदनमोहन श्यामसुन्दर, सृष्टि आदि की वार्ता को दूर करके नारद, श्रीदामा आदि भक्तो और सखाओ को तथा माता-पिता आदि को भूलकर केवल श्रीराधा का सतत स्मरण करते हुए वहाँ की कुञ्जवीथियो की उपासना करते हे—

"दूरे सृष्टयादिवार्त्ता न कलयति मनाङ्‌ नारदीन् स्वभक्ता–
ञ्छ्रीदामाद्यै सुहृद्भिर्न मिलति हरति स्नेहवृद्धि स्वपित्रो ।
किन्तु प्रेमैकसीमा मधुररससुधासिन्धुसारैरगाधा
श्रीराधामेव जानन् मधुपतिरनिश कुञ्जवीथीमुपास्ते ॥" २३५॥

वह रतिविलास-विदग्ध-युगल, उस वृन्दावन मे सदा उदित रहता है—"विदग्धमिथुन तदद्भुत-मुदेति वृन्दावन।' (परस्पर प्रेमरसे निमग्नमशेषसमोहनरूपकेलि। वृन्दावनान्तर्गतकुञ्जगेहे तन्नीलपीत मिथुन चकास्ति)। वह अद्भुतकेलिनिधान कालिन्दीनट कुञ्ज (१६८) वस्तुत पुञ्जीभूत रसामृत-स्वरूप है। मधुपति की मनोहारिणी राधा मानो स्वय दूसरी वृन्दाटवी है —

"रोमाली मिहिरात्मजा सुललिते बधूकबन्धुप्रभा
सर्वाङ्गे स्फुटचम्पकच्छविरहो नाभीसरःशोभना ।
वक्षोजस्तबका लसद्भुजलता शिञ्जापतच्छुड्‌कृति
श्रीराधा हरते मनो मधुपतेरन्येव वृन्दाटवी ॥" (१७८)

वैकुण्ठ की अपेक्षा भी वृन्दावनधाम की माधुरी उत्कृष्टतर है और उसकी मधुरिमा को या तो श्रीराधा के माधुर्यवेत्ता मधुपति जानते है या श्रीराधा जानती है। परमरससुधा की मधुरिमाओ में भी सर्वाग्र श्रीवृन्दावन की उस कल्पनातीत माधुरीयुगल की स्वादनीयता को वृन्दावन दे देता है श्रीराधा की किंकरियों को—

किं ब्रूमोऽन्यत्र कुण्ठीकृतजनपदे धाम्न्यपि श्रीविकुण्ठे
राधामाधुर्यवेत्ता मधुपतिरथ तन्माधुरी वेत्ति राधा।
वृन्दारण्यस्थलीयं परमरससुधामाधुरीणां धुरीणा
तद्वन्द्व स्वादनीयं सकलमपि ददौ राधिका किङ्करीभ्यः ॥ (१७५)

इसी से हितप्रभु कोटिकोटि जन्मातर मे वृन्दावन की एकमात्र कामना करते हैं—'किन्त्वाशाप्यस्तु वृन्दावनभुवि मधुरा कोटिजन्मान्तरेऽपि ।' उनकी कामना होती है कि कब वह पुण्य अवसर आयेगा जब सब कुछ भुलाकर कुञ्जविहारेश्वरी श्रीराधा के नित्यरसविहार में मन डूब जायगा—

'राधापादारविन्दोच्छलितनवरसप्रेमपीयूषपुञ्जे
कालिन्दीकूलकुञ्जे हृदि कलितमहोदारमाधुर्यभाव ।
श्रीवृन्दारण्यवीथीललितरतिकलानागरी ता गरीयो
गम्भीरैकानुगा ता मनसि परिचरन् विस्मृतान्य कदा स्याम् ।'[२०]

इस प्रकार की चरमकामना का अभिव्यजन राधासुधानिधिस्तोत्र मे बहुत अधिक मिलता है—'कदा वृन्दारण्ये मधुरमधुरानन्दरसदे प्रियेश्वर्या केलीभवननवकुञ्जानि मृगये'। इसका कारण यह है कि श्री हितप्रभु मनवाद की दृष्टि से परमानन्दकन्दरूप ज्योतिर्द्वन्द्व की मञ्जुल विभा, वृन्दाविपिन मे शाश्वत रूप से उल्लास्यमान रहती है—'वृन्दारण्ये नवरससुधास्यन्दिपादारविन्द ज्योतिर्द्वन्द्वं किमपि परमानन्दकन्द चकास्ति' ('अमन्दरसतुन्दिलभ्रमरवृन्दवृन्दाटवीनिकुञ्जवरमन्दिरे किमपि सुन्दर नन्दते') । दूसरे शब्दो मे यही भावना अत्यन्त सरस शब्दों मे व्यक्त है—

कालिन्दीकूलकल्पद्रुमनिलय प्रोल्लसत्केलिकन्दा
वृन्दाटव्या सदैव प्रकटतररहोवल्लवीभावभव्या ।
भक्ताना हृत्सरोजे मधुररससुधास्यन्दिपादारविन्दा
मान्द्रानन्दाकृतिर्न स्फुरतु नवनवप्रेमलक्ष्मीरमन्दा ।।१२६।।

उक्त स्तोत्र के ६८, ६९ और ७० सख्यक श्लोको द्वारा, वृन्दावन के निकुञ्जकेलिभवन मे स्थित व्रजेन्द्रगृहिणी, जगन्मोहिनी रमणीचूडामणि कामविलासेश्वरी श्रीराधा का बडा मधुररसमय और सश्लिष्ट चित्र अकित किया गया है । वस्तुत हितप्रभु का वृन्दावनरसरसिक मन सदैव कुञ्जविलासिनी मोहनमोहिनी श्रीराधा के मृदुल पदपद्म के अनुध्यान मे सदा लगा रहता है—"परानन्द वृन्दावनमनुचरन्त च दधतो मनो मे राधाया पदमृदुलपद्मे निवसतु ।"

तात्पर्य यह कि 'राधासुधानिधि' के गायक की दृष्टि मे वृन्दावन वस्तुत युगलसुन्दर श्यामाश्याम की मधुररसमयी प्रेमकेलियो का मुख्य आधारस्थल है, वहाँ के केलिकुञ्जभवनो मे नित्यविहार के मधुररससिन्धु की सुधाप्रसारिणी आनन्दमयी ऊर्मियाँ सदा लहराती रहती हैं । श्रीराधा वहाँ की कामक्रीडाओ की अधीश्वरी हैं । वह वृन्दावन सर्वोच्च धाम है और तत्सुखीभावापन्न केलिसुखसहचरीत्व किंवा तथाभूत कैंकर्य प्राप्त कर वृन्दावन के कामविलासभवनरूप कुञ्जो की दर्शनानन्दप्राप्ति ही चरम काम्य है ।

---

[२०] वहाँ सान्द्र आनन्दामृत रस के घन की प्रेममयी श्रीराधा की किशोरी मूर्ति नित्य विहरण करती रहती है—

"काचिद्वृन्दावननवलतामन्दिरे नन्दसूनोर्दर्प्यद्दोष्कंदलवृतपरीरम्भनिस्पन्दगात्री ।
दिव्यानन्ताद्भुतरसकलाः कल्पयन्त्याविरास्ते सान्द्रानन्दामृतरसघनप्रेममूर्तिः किशोरी । १४५ ।
मन्दीकृत्य मुकुन्दसुन्दरपदद्वन्द्वारविन्दामलप्रेमानन्दममन्द ··· तिलकाद्युन्मादकन्दं परम् ।
राधाकेलिकथारसाम्बुधिचलद्वीचीभिरान्दोलितं वृन्दारण्यनिकुञ्जमन्दिरवरालिन्दे मनो नन्दतु ।।"
।।१४२।।

संस्कृत-साहित्य के कुछ संदर्भ

'आनन्दवृन्दावनचपू', कवि कर्णपूर का गद्यपद्यात्मक काव्य है। इसमे श्रीकृष्ण की व्रजलीलाओ का बहुत ही मधुर, उत्कृष्ट एव काव्यात्मक वर्णन हुआ है। चैतन्य-मत-परम्परा की मान्यताओ के अनुसार लीलावर्णन-प्रधान इस चम्पू के प्रथम स्तबक मे लीलाओ की आश्रयस्थली वृन्दाटवी का अद्भुत वर्णन किया गया है। बाईस स्तबकों के इस ग्रन्थ मे द्वितीय से सप्तम स्तबक तक बाल्यलीलाओ का तथा आगे के पन्द्रह स्तबको मे आनन्दकद नन्दनन्दन की रसमयी कैशोरलीलाओ का काव्यात्मक, उच्चकोटि का साहित्यक एव चैतन्य भक्ति के अनुकूल लीलागान है। यह अत्यन्त रसमय एव भक्ति-परिलुप्त होने के कारण परम रम्य है। इस चपू के प्रथम स्तबक मे वृन्दावन का जो विस्तृत वर्णन है वह जहाँ एक ओर भक्तिभावना के कारण अगणित गुणालकृत और अपरिमेय विभूतियो से मडित है वहाँ दूसरी ओर साहित्यिक, चम्पूकाव्यो की परम्परागत रीति के अनुसार मध्ययुगीन सस्कृत साहित्य की अलकृत शैली का सुन्दर उदाहरण भी है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, व्यतिरेक, अतिशयोक्ति और परिसख्या आदि अनेक शब्दार्थ-चमत्कारी अलकारो से आद्यत गुम्फित है।

इसमे वृन्दाटवी की पावन भूमि को अनन्त विभूतियो और अलौकिक सपत्तियो का सदा-निवास बताया गया है, नृत्य, गीत, नाट्य, रास, लास, वेणुवादन, केलिविहार, नित्य-रमण आदि का उसे शाश्वत आलय बताया गया है, पशु, पक्षी, तरु, लता, सुमन, सौरभ आदि प्राकृतिक रमणीयताओं की अद्भुत कल्पना वहाँ की गयी है, अपनी-अपनी विशिष्ट रम्यताओ से सम्पन्न षड्ऋतुओ का उसे नित्यालय दिखाया गया है तथा स्वर्ग, रत्न, मणिमाणिक्यादि की एव लतावल्लरियो, कुञ्जनि-कुञ्जो की अतिशय विपुलता भी वहाँ बनाई गई है। इनके कुसुमगन्ध से आमोदित, शीतल, घनच्छाय, पवनान्दोलित और रमणोचित रमण-मण्डपो मे माधुर्यमूर्त्ति नन्दनन्दन और गोपीजन तथा श्रीराधा की नित्यकेलि, अजस्र विहार और अखण्ड रास के माध्यम से आनन्दकालिन्दी की अविच्छिन्न धारा सदा बहती रहती है। परन्तु इन सब वर्णनो मे चपूकाव्यो का साहित्यिक और अलकृत अभिव्यजन शिल्प का स्वर आद्यत मुखरित है।

उदाहरण के लिए कुछ अश नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं—

(१) "यत्र च—खरतरदिनमणिकिरणानुविद्धदिनमणिपटलसमुद्घाटितदहन-दाहन-निर्वापण-चणमणिमयविहारशिखरि-शिखर-निस्यन्दमानशिशिरतरनिर्झरजलप्रपातशीतलेषु घनतरविटपिविटपानिवारित-वासरमणिमयूखजालेषु वनपथेषु परस्परकरासङ्गभङ्गिमरङ्गवत्यो झणझणायमानमणिनूपुरनिनदसरस तादृश्यपि निदाघे वसन्तकाल इव सकुतुक खेलन्ति व्रजदेव्य।

(२) कमाकर इव स्फुटतरशतपत्रक, पर्वतगतवह्लघनुमान इव प्रयोग इव नियतधूम्याट, प्रह्लादान्वय इव प्रचण्डविरोचन, वैष्णवजन इव स्पृहणीयविधुपाद, ईश्वर इव अखण्डनमञ्जनसुख, साधुजनसङ्ग इव क्रमहीयमानदोषावसर, हरिभक्त इव मदानुकूलजगत्प्राण, पुण्यवान् जन इव भद्र-श्रीरसविलाससुखो निदाघसुभगो नाम।

(३) पुरन्दरधनुर्लतातिलकचारुभालस्थला
तडित्कनककेतकीदललसत्तम.कुन्तला।
विलोलविषकण्ठिका विमलमालधारिण्यसौ
नवोन्नतपयोधरा हरिमनोहरा दिग्वधू ॥

सारङ्गीकुलकाकुकर्षणविधेराश्वासवाडमानिनी
मानक्षोदनपेषणी भ्रमिवलद्सुम्निग्धमन्त्रध्वनि ।
नृत्यन्मत्तमयूरमौरजरव प्राणेशविश्लेषिणी
प्राणाकर्षणमन्त्रपाठनिनदो मेघस्वन श्रूयते ।।

(४) मधुराका मधुरा काशते ।

(५) क्वचन च श्रीकृष्णस्य रासविलासविशेषसमुचितमणिस्थलीपरिसर । क्वचन च पवन-ममुद्धूर्तविविधकुसुमपरागवितर्तिवितन्यमानश्रीकृष्णार्थकसितवितान ।

(६) किञ्च कुण्डलादौ कौटिल्यम्, हारादौ लौल्यम्, करचरणादिषु राग कुसुमादि-धूलीष्वेव रज, अन्धकार एव तम, रत्नादिष्वेव काठिन्यम्, युग्मे एव द्वन्द्वम्, पवनादौ मन्दता, लोचनयोरेव चाञ्चल्यम्, जलेष्वेव नीचगामिता, व्यभिचारिभावेष्वेव ग्लानिशङ्कादैन्यविषादय । यत्र वारुणोदय एव प्राचीरागागम ह रनटतविलास एव महाट्टहास यत्र पुरे मूर्त्त इव वात्सल्यरस, शरीरभृदिव शुद्ध-सत्त्वम्, सार इव सकलसौभाग्यस्य, द्वीप इवानन्दमहासमुद्रस्य । ।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' का वृन्दावन एक ओर तो चैतन्य दर्शन की लोकोत्तर विभूतियो का वहाँ आधान करता है और दूसरी ओर उसमें अलकृतकाव्यरचना-शिल्प का सायास प्रयोग हुआ है। जहाँ तक मान्यता की बात है—वह चैतन्य के भक्तिदर्शन की दृष्टि से पूर्णत प्रभावित है।

चैतन्य-सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा रचित साहित्य ग्रन्थो मे 'विदग्धमाधव' और 'ललितमाधव'—दो सस्कृत के दृश्यकाव्य अत्यन्त प्रसिद्ध और समादृत हैं। उनमे भी अनेक प्रसगो पर वृन्दावन के महत्त्व की साक्षात् या परोक्ष रूप से गरिमा व्यक्त है। उक्त मतानुसारी मधुचर्या और विलासभूमि के रूप मे, साहित्यिक परिपार्श्व मे वह भूमि मधुचर्या की रम्य स्थली है। उसमे अभिव्यक्त धारणा से साप्रदायिक दृष्टि का पूर्ण सकेत मिलता है।

निम्बार्क दृष्टि

इस सप्रदाय को रसोपासना का मार्ग मानते हैं जिसमे 'हितभाव' और 'हिततत्व' का विशेष महत्त्व होने से रसस्वरूप ब्रह्म की अनुभूति का उपासना मार्ग 'हित'-मूलक है और यह साधन वस्तुत आध्यात्मिक योगसाधना है। परमात्मा के हिततम गुणगण को प्राणकारण मानकर परमात्मा ही प्राणपति ब्रह्म कहा गया है और 'हित' है भूमा। यही भूमाविद्या निम्बार्क मत का मूलसार है। प्राणपति होने से 'हित'—प्राण (जीव) से अभिन्न भी है और भिन्न भी। 'हित' उसी प्राणात्मा मे रमण करता है इसलिए 'आत्माराम' है। 'हित', सुख या आनन्द की भूमावस्था, अनाद्यन्त प्राचुर्यस्वरूपा स्थिति है, समस्त सासारिक बाह्य सुखो से महत्तर और महत्तम (परम महान्) वह आभ्यतर सुख है।

भगवान् की लीला में ही 'हिततत्व' की अभिव्यक्ति या आविर्भूति होती है। लीला के तीन प्रकारो—वास्तवी, प्रातिभासिकी और व्यावहारी—मे वास्तवी लीला की स्थली है अक्षरब्रह्म अर्थात् हृदयस्थल। साधना की उच्च भूमिकारूढ़ हितभक्तों के अत करण मे भी वही प्रतिभासमान रहती है। पर सिद्ध भक्त साक्षात्कार करता है वृन्दावन की नित्यलीला का, नित्यविहार का, भगवान् की रसमयी मधुर क्रीडाओं का। दूसरे शब्दो में उक्त अन्त स्थली ही यथार्थ वृन्दावन है जहाँ नित्य-निकुंजलीला होती रहती है और भक्त उसी के साक्षात्कार द्वारा आनन्दमय हितरस मे द्रष्टा होकर भी तत्सुखीभावेन रसभोक्ता बना रहता है। 'गोलोक' ही नित्य वृन्दावन है और वही सदासर्वदा

वास्तवी मधुरलीलाएँ होती रहती हैं। इस लीला मे स्वीयाभाव का ही प्रामुख्य है। भक्तो के तत्सुखी-भावापन्न हृदय में उसीका प्रतिभास होता है—अत वह प्रातिभासिकी लीलास्थली है। व्रजभूमि की वृन्दावन-लीलाएँ व्यावहारिकी हैं। यह 'क्षर' लीला मानी गयी है। हृदय मे भूयमान लीला अक्षर लीला है। नित्य गोलोकधामरूपी नित्य वृन्दावन की नित्यविहारलीला—वस्तुत क्षर और अक्षर—उभयातीत, है, अकथ्य है, वर्णनातीत है। हृदय मे उस वर्णनातीत वास्तवी लीला का प्रतिभासमात्र होता है अत उसे प्रातिभासिक वास्तवी लीला कह देते हैं। साक्षात्कारगम्य होने से अक्षर लीला वास्तवी कह दी जाती है। (सभी तत्सुखीभावापन्न सखीसप्रदायो पर इस मत का थोडा-बहुत प्रभाव पडा है।)

अत इस मत के अनुसार हृदयस्थल के अगुष्ठ परिमाणरूप वास्तविक लीलास्थली को सर्वाधिक महत्त्व है। 'वृन्दावन' वस्तुत गोलोक ही है, पर अकथ्य, क्षराक्षरातीत और वाग्अगोचर होने से उसकी प्रतिभासभूमि को अक्षर 'वृन्दावन' और वास्तविक लीला साक्षी कहते हैं। व्रजभूमिस्थ वृन्दावन क्षरवृन्दावन या व्यावहारिक वृन्दावन है। अत यहाँ वृन्दावन के तीन रूप हैं—अक्षरक्षरातीत, अक्षर और क्षर। पर व्यवहारत दो रूप हैं—अक्षर और क्षर या प्रातिभासिक (इसी मे वास्तविक भी गतार्थ है।) और व्यावहारिक। यह मत बृहत्सदाशिव सहिता, औदुम्बर सहिता, सनत्कुमार सहिता आदि अनेक सहिताग्रन्थो की मान्यताओ से थोडा या बहुत मिलता-जुलता है। गोलोकीय वृन्दावन और भौमवृन्दावन वाले मतो के भी निकट है। इसी द्विविध 'वृन्दावन'मत का अनेक रूपो मे सर्वाधिक विकास मिलता है।

चैतन्य दर्शन में

मधुरोपासक कृष्ण-भक्तो मे चैतन्य सप्रदाय का अपना एक विशिष्ट स्थान है। इस मत को कुछ लोग गौडमाध्वसप्रदाय भी कहते हैं और इसका एक दार्शनिक नाम अचिन्त्यभेदाभेदवाद भी है। इस मत मे भी ईश्वर की तीन कोटियाँ हैं—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। भगवान्स्वरूप ही उत्कृष्टतम रूप है, यहाँ भगवान् की समस्त विभूतियाँ, समस्त ऐश्वर्य, समस्त उत्कृष्ट गुण एव सम्पूर्ण शक्तियो का पूर्व विकास एव प्रकाश दिखाई देता है। यही भगवत्स्वरूप वस्तुत भगवान् श्रीकृष्ण का स्वरूप है जहाँ उनके समग्रानन्दमय स्वरूप का चरम प्रकाश और परम उत्कर्ष—अपने पूर्ण एव विशुद्ध सत्व के साथ—सच्चिदानन्दमय रसानन्द मे प्रकाशमान रहता है और नित्यविहार मे वह नित्यनिरत रहता है। इस रूप मे भगवान् श्रीकृष्ण अपने नित्यकृष्णधाम मे गोपियो और गोपियो की महाभाव-स्वरूपा श्रीराधारूपा (आह्लादिनीशक्ति) के साथ—अपने समस्त परिकरो और व्यूहो के सहित चरम माधुर्यमयी रसलीलाओ मे निमग्न रहकर नित्यविहार एव नित्यलीला करते हुए अनन्त आनन्द-सागर का प्रसार करते रहते हैं।

श्रीभागवत्सदर्भ मे श्रीकृष्ण के इसी लीलाधाम का वर्णन करते हुए जीवगोस्वामी ने (स्कन्द-पुराण और पद्मपुराण के साक्ष्य पर) बताया है कि वह धाम वैकुण्ठ ही है जिस अखिल वैकुण्ठ का उपरिभाग ही श्रीकृष्ण का लीलाधाम है जिसका नाम गोलोक है। वैकुण्ठ मे जो-जो लीला के स्थान हैं भगवान् के भूलोक-प्रकाशित श्रीकृष्ण की लीला के निमित्त वे सभी धाम भूलोक मे प्रकाश पाकर लक्षित होते हैं। श्रीजीवगोस्वामी के मत से दर्शन-साक्षात्कार—आज भी, सर्वदा भी श्रीकृष्ण के नित्यसिद्ध, मधुरोपासक, महाभावापन्न महाभागवत भक्तगण करते रहते हैं। किन्तु चर्मचक्षुवाले प्रपंच-

मग्न जनो के लिए वह सदा अदृश्य ही रहता है। अत भूलोकस्थ श्रीकृष्णधाम भी नित्यधाम ही है और नित्यलीलादि की शाश्वत एव अलौकिक विभूतियो से भी वह मण्डित है। तत्वत· श्री भगवान् के नित्याधिष्ठान होने से यह भूस्थ गोलोक किवा वृन्दावन भी—सर्वत और सर्वथा—वैकुण्ठलोकस्थ गोलोकाख्य श्रीकृष्णधाम से पूर्णत अभिन्न और एकविध है । भगवान् श्रीकृष्ण की 'प्रकाश' नामक एक शक्ति है—जिसके बल से उनका श्रीविग्रह नित्यरूप से सर्वकाल मे गोलोक धाम मे वर्त्तमान और प्रकाशमान रहते हुए भी, भूतल पर भी—प्रकाश शक्ति की महिमा से—वर्त्तमान रहता है।

"वस्तुतस्तु श्रीभगवन्नित्याधिष्ठानत्वेन तच्छ्रीविग्रहवदुभयत्र प्रकाशादिरोधात् समानगुणनामरूपत्वे नाम्नातत्वाल्लाधवाच्चैकविधत्वमेव मन्तव्यम् । एकस्यैव श्रीविग्रहस्य बहुत्र प्रकाश च द्वितीयसन्दर्भे दर्शितम् । एव विधत्व च तस्याचिन्त्यशक्तिस्वीकारेण सम्भावितमेव । स्वीकृतञ्चाचिन्त्यशक्तित्वम् । गोलोक-गोकुलयोरभेदेनैवोक्तम् । तस्मादभेदेन च भेदेन चोपक्रान्तत्वादेकविधान्येव श्रीमथुरादीनि प्रकाश-भेदेन तूभयविधत्वेनाम्नातानीतिस्थितम् । दर्शयिष्यते चाग्रे । क्षोणिप्रकाशमान एव श्रीवृन्दावने श्रीगोलोक-दर्शनम् । ततोऽस्यैवापरिच्छिन्नस्य गोलोकाख्यवृन्दावनीयप्रकाशविशेषस्य वैकुण्ठोपर्य्यपि स्थितिमाहात्म्य-विलम्बनेन भजता स्फुरतीति ज्ञेयम् ।" (वही, पृ० ३७४) (इममेवलोक द्युशब्देनाप्याह) ।

इस सन्दर्भ मे यह भी स्मरणीय है कि जब प्रापचिकलोकागोचर उक्त द्युलोक मे (जो गोलोक का एक इतर नाम है और जो मथुरा आदि का ही प्रकाश-विशेष है) जब श्रीकृष्ण चले गये तब लोक में कलि का प्रवेश हो पाया । मथुरादि का प्रकाश, पृथिवीस्थ यह श्रीकृष्णलोक—वस्तुत सर्वत स्वतन्त्र लोक है, वैकुण्ठ का आवरणमात्र नही । यह द्वारकामथुरागोकुलात्मक श्रीकृष्णलोक, श्रीभगवान् श्रीकृष्ण के नित्यविहार का नित्य लीलाधाम सर्वोपरि है ।

इन द्वारकामथुरागोकुलादि में वृन्दावनस्वरूप गोकुल वस्तुत सर्वश्रेष्ठ है—"स्वतन्त्र एव द्वारका-मथुरा-गोकुलात्मक श्रीकृष्णस्य लोक स्वय भगवतो विहारास्पदत्वेन भवति सर्वोपरीति सिद्धम् । अतएव वृन्दावन गोकुलमेव सर्वोपरि विराजमान गोलोकत्वेन प्रसिद्धम् । (श्रीभागवतसन्दर्भ, श्रीकृष्ण-सन्दर्भ, पृ० ३६४) । अपने कथन की पुष्टि तथा सिद्धि के लिए उन्होने ब्रह्मसहिता, बृहद्वामनपुराण एवं नारदपाञ्चरात्र से लम्बे-लम्बे उद्धरण उद्धृत करते हुए उन उद्धरणो की स्वमतपोषक व्याख्या भी की है । अन्त मे निष्कर्षात्मक सिद्धान्त की स्थापना करते हुए घोषित किया है कि श्रीकृष्णलोक ही सर्वोपरि है—तदेव सर्वोपरि श्रीकृष्णलोकमेवेति सिद्धम् (वही–पृ० ३६६) ।

वह लोक, लीला परिकरादि के भेद के कारण अशभेद से द्वारका, मथुरा और गोकुल—इन तीन नाम वाला, स्थानत्रयात्मक है—ऐसा निर्णय किया गया है । वैकुण्ठधामोपरिस्थित सर्वधामोपरि विराजमान, श्रीकृष्णधाम के समान ही अन्यत्र भूलोक मे भी जो उक्त नामत्रयात्मक श्रीकृष्ण धाम हे तद्रूपत्वेन सुने जाते हैं, उनमें भी वैकुण्ठातरवत् वैकुण्ठस्थ कृष्णधाम के प्रपचातीतत्व, नित्यत्व, अलौ-किकत्व, भगवन्नित्यास्पदत्व आदि गुण स्वीकार किये गये हे । अपने इन वचनो की पुष्टि मे वाराह, आदिवाराह, स्कन्द, वायु, पद्म आदि पुराणो, गोपालतापनी उपनिषद् तथा गौतमीतत्र के वचनो का जीवगोस्वामी ने प्रमाण प्रस्तुत किया है । यह भी बताया है कि भूलोकस्थ श्रीकृष्णधाम की नित्यलीला, वहाँ का नित्यविहार एव उस धाम के प्रपचातीतत्व, अलौकिकत्व आदि वैभवगुणादिको की गोकुल आदि मे नित्यस्थिति रहती है । परन्तु वह जनसामान्य के लिए अगोचर है । वह वर्त्तमान रहकर भी अतर्द्धान शक्ति की महिमा से पृथिवी को (पार्थिव सम्बन्धोपाधियो को) स्पर्श न करता हुआ विराजमान रहता है । इसी कारण अन्तर्धानशक्तिकलित पृथिवीस्थ द्वारिकादि नित्य कृष्णधामो

का धरती दर्शन नही कर पाती। परन्तु दूसरी ओर मथुरादि धाम का प्रापंचिकलोकगोचर जो प्रकाश होता है—वह भक्तवत्सल नन्दनन्दन की कृपा से अवतीर्ण हुआ है। उस अवसर के इस प्रकाशरूप में जब स्वय भगवान् भी लोकानुग्रहकामना के कारण अवतीर्ण होते हैं तब भक्तानुग्रही श्रीकृष्ण के स्पर्श से भी वे प्रकाशरूप, मथुरादि को स्पर्श करके विराजमान रहते हैं—"यस्तु प्रापञ्चिकलोकगोचरो मथुरादि—प्रकाश सोऽय कृपया पृथिवी स्पृशन्नेवावतीर्ण। अतस्तया च स्पृश्यते। अस्मिश्च प्रकाशे यदावतीर्णो भगवान् तदा तत्स्पर्शेनापि तत्स्पर्शात्ता स्पृशन्नेव भवति।" (वही पृ० ३७५)। सम्प्रति जब श्रीकृष्ण अस्पृष्ट प्रकाश मे विहरमाण है तब वे पृथिवी से अस्पृष्ट है। श्रुतियो मे इसी धाम को 'स्वर्ग' शब्द से भी कहा गया हे, श्रुति मे (केनोपनिषद् मे) 'काष्ठा' शब्द से भी।

अत चैतन्य मत का 'वृन्दावन' वस्तुत गोलोक से सर्वथा अभिन्न है। प्रकाशशक्ति के द्वारा अनेक स्थानों पर एक साथ ही उसी रूप मे प्रकाशमान भी रहता है। श्रीभगवदनुगृहीत भक्तजनो के लिए सर्वदा गोचर भी है। अन्तर्द्धान शक्ति की महिमा से वह भगवदनुग्रह के अभाजन जनो के लिए तिरोहित रहता है। सिद्धदेह के भावसिद्ध भक्त, आज भी भौम वृन्दावन के प्रकाशरूप का रसास्वादन करते हैं। यही है—चैतन्य मत की धारणा जो अशत विलक्षण है और विशिष्ट भी।

वल्लभ और अष्टछाप का वृन्दावन

'वल्लभ' का भक्तिसम्प्रदाय और अष्टछाप के कवियो की दृष्टि—इस मत के अनुसार श्रीकृष्ण (पूर्ण पुरुषोत्तम रसरूप परब्रह्म) अपने जिस अक्षरधाम में नित्य विहार करते हं—सदा लीलामग्न रहते हैं वही उनका निजधाम गोलोक है, वही गोकुल या वृन्दावन भी है। आनन्दकन्द लीलापति श्रीकृष्ण का यह लीलाधाम है। वह साक्षात्कृष्णस्वरूप है, अक्षरब्रह्म से अभिन्न है। यह सर्वव्यापी लोक है और यहाँ श्री भगवान् की नित्य आनन्दप्रसारिणी शक्तियों का शाश्वत विलास सर्वदा स्फुरित-उन्मिषित होता रहता है।

भक्तानुग्रहकाङ्क्षया जब भक्तो के आनन्ददानार्थ श्रीकृष्ण इस भौम-लोक मे अवतार लेकर आते हैं तब नाना दिव्य शक्तियो के साथ-साथ उनकी समग्र, रसाभिप्लुत, मञ्जुल लीलाओं के सहित गोलोक का भी अवतरण होता है। उसी नित्यविहार और नित्यलीला के आधाररूप गोलोक का अवतारमय रूप ही गोकुल अथवा व्रजवृन्दावन है। यह 'वृन्दावना'ख्य लीला धाम सदा मायिक गुणो से पृथक् बना रहता है। अणु भाष्य के एक वचनानुसार (अध्याय ४, पद २, सूत्र १५) इस सम्प्रदाय मे वैकुण्ठ आदि लोको से भी अधिक गोलोक अथवा गोकुल की महिमा स्वीकृत है।

इस मत के अनुयायियो का चरम काम्य है भगवान् की परम मधुर, रससमूहरूपा, रासलीला का रसात्मक साक्षात्कार तथा गोलोक मे भगवदनुग्रह से पुष्ट जीव का पहुँच कर नित्य लीलादर्शन का रसास्वादन। इसी श्रीकृष्ण के लीलारस से सर्वतोभरित गोकुल-व्रज-वृन्दावन-लीलाओ का गानरस—अष्टछाप के कवियो का परम प्रिय पथ रहा है। 'सूरदास', 'नन्ददास', 'परमानन्ददास', 'कृष्णदास' आदि कवियों मे इसका गान बड़े उल्लास से अंकित हुआ है।

सूरदास—गोसाईं विट्ठलनाथजी से पहले मधुरभावाश्रित उज्ज्वलश्रृंगार की उपासना तथा तत्सम्बन्धी पदगान की ओर वल्लभमत मे बल कम था। पर विट्ठलनाथजी की प्रेरणा से और उन्ही के समय से प्रेमा भक्ति या दिव्यकामलीलाश्रित मधुर भक्ति के प्रसगो का यहाँ भी व्यापक प्रचार चल पडा। अत. हिन्दी मे अष्टछाप तथा तत्परवर्ती काल के कवियों में उक्त प्रसग के पद, काव्य आदि की प्रचुरमात्रा में रचना हुई। इस व्यापक प्रभाव का सकेत यह है कि 'सूर' पर

महाप्रभु वल्लभाचार्य की पुष्टिभक्ति का प्रभाव और प्रेरणा काफी थी। इसी कारण उन्होंने श्रीकृष्ण की बाललीला के मधुरतम, चारुतम, ललिततम जिन पदों का निर्माण किया और सश्लिष्ट रूपबिम्बो के सहज स्वाभाविक मूर्त्तन द्वारा भावयोग के जिस धरातल पर अपने काव्य को प्रतिष्ठित किया वह हिन्दी साहित्य मे आज तक अभूतपूर्व और अभूतपश्चात् भी है। परन्तु बाललीला की सहजमूर्त्ति के विधान मे प्रौढतम शिल्पी होकर भी भक्तिशृगार, रतिविहार और कामकेलि के काव्य का काफी बडी मात्रा मे 'सूर' ने निर्माण किया। इतना ही नहीं—घोर भौतिक शृगार के अनुरूप व्यापारो और विधानों का तथा कोककला की विधियों का अनुसरण करते हुए भक्तिशृगार की भक्तिमयी विवृतियो का उन्होंने भी उसी प्रकार अकन किया जैसा कि राधावल्लभ, गौडवैष्णव, हरिदासी-सखी-सम्प्रदाय आदि के मधुरोपासको ने चित्रण किया है।

पर इन सबके रहने पर 'सूर' की वृन्दावनलीला मे (वृन्दावन से प्रस्थान के अनन्तर) गोचारण आदि के प्रसग मे अत्यन्त ललित एव भावरम्य वर्णन मिलते हैं। 'सूरसागर' (नागरीप्रचारिणी सभा-काशी-सस्करण) मे ३६६ पृष्ठ से वृन्दावन लीला का आरम्भ होता है और लगभग उत्तरार्ध के १२८० पृष्ठो तक विभिन्न लीलाएँ चलती है। इनमे बाललीला भी है, दानवादि के वध की कथा भी है, चीरहरण, दानलीला, गोवर्द्धन-धारण, गोपीगीत, रासलीला, वृन्दावनविहार-रसकेलि, जलविहार, पनघटलीला, मानलीला, ऋतुलीला और विरहमिलन आदि के विविध प्रसग भी हैं।

'सूरदास' ने वृन्दावन के सम्बन्ध मे (सूरसागर—पृ० १२०४-५) कहा है—

'नित्यधाम बृन्दावन स्याम। नित्य रूप राधा ब्रजबाम ॥
नित्य रास, जल नित्य बिहार। नित्य मान, खडिताऽभिसार ॥
ब्रह्मरूप येई करतार। करन हरन त्रिभुवन येइ सार ॥
नित्य कुज-सुख नित्य हिँडोर। नित्यहि त्रिविध समीर झकोर ॥
सदा बसत रहत जह बास। सदा हर्ष जहँ नही उदास ॥ इत्यादि।

कहने का तात्पर्य यह कि 'सूर' के यहाँ भी नित्य वृन्दावन और नित्यविहार की भावना अकुरित-पल्लवित दिखाई देती है। वहाँ भी सदा फाग और बसत की मधुमयी केलि का रस नित्य बहता रहता है, सदा वर्षा की हरियाली और 'हिंडोल' की अजस्र कालिन्दी बहती रहती है, शारदी ज्योत्स्ना की अमृतरसवर्षिणी राका में आनन्द का सुधासागर सदा लहराता रहता है।

देखौ बृन्दावन खेलहि गोपाल। सब बनि ठनि आईं ब्रज की बाल ॥
नवबल्ली सुन्दर नव तमाल। नव कमल सहा नव नव रसाल ॥"
(वही, पृ० १२०६—७-नागरीप्रचारिणी सस्क०)

अथवा—"खेलत नवलकिसोर किसोरी।
नन्दनन्दन वृषभानुसुता चित, लेत परस्पर चोरी।" (वही० पृ० १२१०)

इसी प्रकार—"खेलत हैं अति रसमसे, रँग भीने हो।
अति रसकेलि बिलास, लाल रगभीने।"

फाग और हिंडोला का बडा लम्बा-चौडा विवरण सूरसागर मे है :—
"हिंडोरनौ (माई) झूलत गोकुल चद।
संग राधा परम सुन्दरि, सबनि करत अनद ॥

अथवा— "हिंडौरें झूलत स्यामा साम।
ब्रज जुवती मडली चहूँधा, निरखत बिथकित काम ।।

पर जैसा कि सकेत किया गया है, किशोरलीला के अतिरिक्त बाललीला, गोचारण आदि के भी सैकडो अत्यन्त मजुल पद 'सूर' के 'सागर' में हैं—

"धन यह वृन्दावन की रेनु।
नदकिशोर चराई गैया, मुखहि बजाई बेनु ।।
मदनमोहन को ध्यान धरत जो, अतिसुख पावतु चैन।
'सूरदास' यहाँ की सरवरि नहीं कल्पवृक्ष सुरधेनु ।।"

(सूरसागर, वेंकटेश्वर प्रेस–पृ० १५८)

इसी प्रकरण मे आगे चलकर 'रास' की कैशोरलीला और वृन्दाविपिन-विहार भी सपूर्णत उज्ज्वलशृगार के मधुर भावो से ओत-प्रोत है—"बिहरत कुजनि कुज बिहारी" की मनोरम लीलाएँ सदा चलती रहती हैं। नागरकिशोरीमणि और गोपबालाओ के साथ चलते हुए 'विहार' और 'रास-रस' को देखकर अध सूर की रसदर्शिनी आँखे सदा सब कुछ भूल जाती हैं और उनके मनश्चक्षु को वह वृन्दावन जहाँ—

"चरावत वृन्दावन हरि धेनु"—सबसे प्यारा लगता है और वे कह उठते हैं—"वृन्दावन मो को अति भावत।"

नददास की 'रासपचाध्यायी' का सपूर्ण चित्र वस्तुत वृन्दावनविहार का ही वर्णन है। वहाँ उन्होने स्पष्ट कहा है—

"अब सुन्दर श्री वृन्दावन को गाई सुनाऊँ।
सकल सिद्धिदाइक नाइक पै सब विधि पाऊँ—
वृन्दावन चिद्घन, कछु छवि बरनि न जाई।"
कृष्ण ललित लीला के काज धरि रह्यो जडताई।"

('अष्टछाप और वल्लभ सप्रदाय'–ग्रन्थ में उद्धृत पृ० ४६३)

डा० दीनदयाल गुप्त ने अपने ग्रन्थ (अष्टछाप और वल्लभ सप्रदाय पृ० ४८८–६६) मे अपने निजी (अप्रकाशित) पद-सग्रह में से एव कुछ अन्य प्रकाशित ग्रन्थो से नन्ददास परमानन्ददास, आदि के एतद्विषयक पद आदि उद्धृत किये हैं। इसी प्रकार गो० हरिरायजी (जो इसी सप्रदाय के कहे जाते हैं) के यहाँ भी 'वृन्दावन' को द्विविधरूप प्राप्त है। वह—कृष्ण की गोचारणादि लीलाओ की क्रीडास्थली है और मधुरलीलाओ की रमणभूमि भी है—

"श्रीवृन्दावन निकुज ठाढे उठि भोर।
बाहे जोरि बदन मोरि, हँसत सुरति रस बिभोर।
सकुचत पुनि लजात, नैनन की कोर।"

अथवा—"वृन्दावन सघन कुज, माधुरी द्रुम भवर गुज,
नित बिहार प्रिया प्रीतम देखिबोई कीजै ।।"

(गो० हरिरायजी के पद– पृ० ८३-८४)

अधिक विस्तार में न जाकर—यही कहना है कि 'वल्लभ' मत का 'वृन्दाबन' भी प्रेममयी वात्सल्य लीलाओं के साथ-साथ मधुरभावपरक उज्ज्वलशृगार की भी रसमयी भूमि बन गयी है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में

हिन्दी के कृष्णभक्त कवियों में राधावल्लभ सप्रदाय की वृन्दावन दृष्टि अपना विशेष महत्त्व रखती है। हितप्रभु के अनुयायियो और उनके सप्रदायगत वाणी-ग्रन्थो में (जिनका प्रकाशित और अप्रकाशित वाङमय अत्यन्त विशाल है) ब्रजमडलान्तर्गत दृश्य और गोचर वृन्दावन की महिमा का गान हुआ है, सूक्ष्म, रहस्यमय, अलौकिक, सकल्पगम्य और आध्यात्मिक वृन्दावन का नही। यह अवश्य है कि वृन्दावन की महिमा, गरिमा, रम्यता, शक्ति एव नित्य प्रवर्तमान लीलाओ और उसके गुण, आनन्द तथा रसात्मक स्वरूप का बोध एव सवेदन केवल सच्चे भक्त को, हिततत्व के सच्चे मर्मज्ञ को, तत्सुखी-भावना से उपासना करनेवाले सहचरीभावापन्न उपासक को ही हो सकता है। विषयकलिल दृष्टिवाले मोहपाशबद्ध और रागद्वेषादिग्रस्त जीवो को नही। इस प्रकार यहाँ भी रहस्यमयता का स्पर्श दिखाई दे जाता है। पर उसका मूल है भावमूलक उपासना पद्धति। 'भाव' अथवा 'रस' सवेदनालोक की, अनुभूतिबोध के क्षेत्र की, वस्तु है। अत वह क्षेत्र उसीके लिए सवेदनीय होगा, उसीकी सवित्ति के लिए अनुभवनीय होगा जो तद्रूप भावभूमिका के स्तरविशेष तक पहुँच सकेगा। अत सवित्क्षेत्रीय उक्त रहस्यकल्प का आवरण रहने पर भी राधावल्लभ सप्रदाय की वाणियो और उक्तियो का वृन्दावन कल्पनाचित्रित अथवा अध्यात्मलोकीय न होकर भौतिक ही है। तरुवल्लरियो से वेष्टित कुञ्जो-गुल्मो से सुशोभित, रासेश्वरी श्रीराधा और नित्यविहारी श्रीकृष्ण की रम्य रासस्थली है, नित्यविहार की भूमि है, युगलमूर्त्ति की मधुरकेलियो का स्थान है।

नित्यविहार का रम्य स्थल और नित्यसयोगी युगलप्रेमी के शाश्वत प्रणयविलास का नित्य धाम होने के कारण वह प्राकृत होकर भी अलौकिक है और भौतिक होकर भी नित्य है। वृन्दावन के इस अद्भुतरम्य रूप की चर्चा—हितप्रभु के 'राधासुधानिधि' ग्रन्थ में आद्यत भरी हुई है। उन्होने इस मधुमय विपिन की भौतिक किन्तु नित्य महिमा गाते हुए कहा है कि हे मेरे चित्त, समस्त महानो के समूह का दूर से त्याग करके प्रेम के साथ वृन्दाटवी का अनुसरण कर—

"वृन्दानि सर्वमहतामपहाय दूराद्वृन्दाटवीमनुसर प्रणयेन चेत।"

उनकी दृष्टि में इस वृन्दावन की सर्वाधिक महिमा का कारण है—यहाँ उनकी उपास्य श्रीराधा की नित्य-स्थिति जो नित्यविहारिणी हैं—

"किं वा वैकुण्ठलक्ष्म्याहह! परमया यत्र मे नास्ति राधा
किन्त्वाशाप्यस्तु वृन्दावनभुवि मधुरा कोटिजन्मान्तरेऽपि।। (२१६)

राधारहित वैकुण्ठलक्ष्मी से उन्हे कोई प्रयोजन नही है। वे जन्मजन्मातर मे—करोडो जन्म तक इसी माधुर्यमयी वृन्दावनभूमि की कामना करते रहना चाहते हे। वे श्रीराधा को (जो उक्त सप्रदाय की परमाराध्या हैं) 'वृन्दावनमात्रगोचरमहो' कहकर केवल वही उनकी नित्यस्थिति मानते हैं। गोलोक और कृष्णलोक में भी नही। नित्यविहार की परम रम्य रसमाधुरी का एकमात्र अधिष्ठान और अतएव उसका कारण वृन्दावन भूमि ही है। श्रीराधामाधव के नित्यविहार और श्रीराधा की परम रसमाधुरी को वैकुण्ठ भला कहाँ जान सकता है? उसे तो वृन्दावन ही जानता है। श्रीराधा की माधुरी को मधुपति नटनागर जानते हे तथा उनकी माधुरी को जानती हैं रासेश्वरी श्रीराधा एव दोनो की मधुरिमा का साक्षी है वृन्दावन और साथ-ही-साथ किशोरयुगल की वृन्दावनरूपा सखियाँ किंकरियाँ—क्योकि उन्हे राधा से वह रसबोध प्राप्त है—

किम्ब्रूमोऽन्यत्र कुण्ठीकृतजनपदे धाम्न्यपि श्रीविकुण्ठे,
राधामाधुर्यवेत्ता मधुपतिरथ तन्माधुरी वेत्ति राधा ।
वृन्दारण्यस्थलीय परमरसमुधामाधुरीणा धुरीणा,
तद्द्वन्द्व स्वादनीय सकलमपि ददौ राधिका किङ्करीभ्य ।। (रा० सु० १७५)

एक दूसरे श्लोक में हितप्रभु अपने मन को सम्बोधन करते हुए कहते हैं —

राधाकरावचितपल्लववल्लरीके राधापदाङ्कविलसन्मधुरस्थलीके ।
राधायशोमुखरमत्तखगावलीके राधाविहारविपिने रमता मनो मे ।।

श्रीललिताचरणगोस्वामी ने अपने ग्रन्थ—'श्रीहितहरिवंश गोस्वामी' में इस सम्प्रदाय के अनुसार वृन्दावन के स्वरूपबोध का बड़ा ही पूर्ण और सम्प्रदायमान्य परिचय (पृ० १४५–१६३) दिया है। उसी के आधार पर इस मत के 'वृन्दावन' की धारणा का नीचे संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है—

"राधावल्लभीय सिद्धान्त की दृष्टि से प्रेम का प्रथम सहज रूप और आकृति श्री वृन्दावन है। चूंकि पूर्ण प्रेम नित्यनूतन और एकरस रहता है अत वृन्दावन भी नित्य नूतन और एकरस है। साथ ही परम सौन्दर्य और परम प्रेम का धाम है। उसमें अनिकमनीय नवल निकुंज विराजमान रहते हैं और वहाँ परिकर महित मीनकेतन, निकुंजमदनो को सदा संवारते सजाते रहते हैं ('अतिकमनीय विराजत मंदिर नवल निकुंज। सेवत सगन प्रीतिजुत दिनदिन मीनध्वज पुंज'—हि० चतु० ५७)। स्वर्णरत्नमणिमाणिक्यमयी वृन्दावनरसा में कर्पूररज झलकती है, कल्पतरु और कामवल्लरियों के अनन्त फल, पुष्प, पराग, मकरन्द, पुष्पमधु आदि के रूप, रस और गन्ध का नित्य वैभव छाया रहता है। कुंजों में अद्भुत प्रकाशज्योत्स्ना फैली रहती है। मत्तमधुपगुंजार, मधुरविहगकूजन, पशुपक्षियों का आनन्द-विलास और कलकल कोलाहल होता रहता है। समस्त कुंजभवनों में कोमलमधुरानन्दमय शय्या बिछी रहती है तथा समस्त उपयोगी और सुखद सामग्रियों की सहचरियाँ सदा प्रस्तुत किये रहती हैं।"

इस प्रकार वृन्दावन अनन्त सौन्दर्य का धाम है, उसके कणकण, अणुअणु में सौन्दर्य की अनन्त भंगिमाएँ तरंगायित होती रहती हैं। यह अनाद्यन्त सौन्दर्यराशि, तत्वत नित्य भाव से एकरस प्रेम के साथ सदाबद्ध है। यही वृन्दावन की वह भूमिका है जहाँ प्रेम और सौन्दर्य परस्पर ओत-प्रोत रहते हैं और जहाँ एकरस प्रेम का शाश्वत स्फुरण होता रहता है। यह एकरस प्रेम सतत गतिमयी, सदा धारावाहिक और सर्वदा अखण्ड होता है। वृन्दावन वह रसस्थान है जहाँ प्रेम का एकरस पान सदा होता है। वहाँ आनन्दसिन्धु की तरंगे उठती ही रहती हैं, वहाँ अनुराग के मेघों की मन्द वर्षणी में छवि के दो फूल 'श्यामाश्याम' फूले रहते हैं। वृन्दावनरूपी रूपसरोवर में गम्भीर प्रेमनीर सदा भरा रहता है। वहाँ प्रेममुग्ध भाव से रसिकयुगल सदा मज्जन करते रहते हैं।

काव्यरस की दृष्टि से राधावल्लभीय हितरसास्वादन में 'वृन्दावन' को उद्दीपन विभाव कहा जा सकता है, किन्तु वृन्दावन रसरीति में युगलकिशोर के (श्यामाश्याम के) उज्ज्वलरसीय पुण्यकेलियो और रतिलीलाओ में वृन्दावन का योगदान अत्यन्त सक्रिय है। वहीं से अनेक मधुरलीलाएँ प्रवर्तित होती हैं। इनमें कभी-कभी रस की अत्यन्त विरल और मधुमय लीलाएँ होती रहती हैं जो श्यामसुन्दर को अत्यन्त प्रिय हैं—

बन की लीला लालहिं भावै ।
पत्र-प्रसून बीच प्रतिबिंबहिं नखसिख प्रिया जनावै ।।

सकुचि न सकत प्रकट परिरम्भन अलिलपट दूरि धावै ।
सभ्रम देति कुलकि कल कामिनि रतिरण-कलह मचावै ।।
उलटी सबै समुझि नैननि में अजन रेख बनावै ।
(जैश्री) हित हरिवंश प्रीतिरीतिवश सजनी श्याम कहावै ।।

तात्पर्य यह कि वृन्दावन के योग से ही राधामाधव की प्रीति का सहज, सुन्दर, लीलारूप प्रकट होता है।

'वृन्दावन' प्रेरक प्रेम की मूर्त्ति है जहाँ भोक्ता और भोग्य की उभय रीतियाँ एकीभूत होकर ही साकार होती हे। परन्तु प्रेम के भोग्यप्राधान्य होने से यहाँ लाडिली श्रीराधा की प्रधानता है। फलत इसे राधा-विहार-विपिन कहते हें। श्रीराधा केवल वृन्दावन मे ही प्रकट हें। इसी से हितानुयायियो का वृन्दावन सर्वस्व है। पर यह रसधाम तब तक उपासक के लिए अगम्य है जब तक श्रीराधिका की कृपा नही होती (वृन्दावन अतिरम्य। श्रीराधिका कृपा बिन् सबके मननि अगम्य। हि० च० ५७)।

प्रेरक प्रेम की दो परिणतियाँ—(१) जडीभूतता और (२) चेतनाशीलता हें जो क्रमश 'वृन्दावन' और 'सहचरियो' के रूप मे मूर्तिमान होती हैं। जडिमा वस्तुत प्रम की घनीभूत स्थिति है जहाँ सघनतम होने पर प्रेम जडवत् हो जाता है। इसी वृन्दावन के आधार पर अर्थात् जडीभूत प्रेम के आधार पर नित्य विहार में चेतन प्रेम की क्रीडा होती हें। वही प्रेमचेतना—चपलता में परिणत होने पर सहचरियो के रूप में व्यक्त होता है और सघनता से जड़ होकर वृन्दावन मे।

प्रेरक प्रेम का सघन रूप यह वृन्दावन—'हितप्रभु' के अनुसार इसी भूतल पर है अन्य गोलोक आदि अपार्थिव धाम मे नही। प्रकट वृन्दावन ही उनके मत मे नित्य वृन्दावन है। श्रीकृष्ण की माया के वशीभूत मोहगर्त्तपतित जीव वृन्दावन रत्न को पाकर भी नही अपना पाता और देख-सुनकर भी जान-पहचान नही पाता। पर जिन रसिक उपासकों की भावदृष्टि में युगलकिशोर के प्रति सहज प्रेम का उन्मेष हो जाता है उन्हे भौम वृन्दावन का दृश्यबोध भी हो जाता है। इसे देखकर उपासक द्रष्टा की समस्त कामनाएँ विलीन हो जाती हे और वह मायापाश से मुक्त हो जाता है।

रसलीला का आधार होने से रसोपासना का भी वह वृन्दावन सहज आधार माना गया है। उपासना की दृष्टि से वह (वृन्दावन) रस का सहज धर्म है। इसीसे जहाँ वृन्दावन की स्थिति है वहाँ प्रेम का सागर लहराता रहता है। वही वन उसका आधार है। 'वृन्दावन' ही हित का सहज धर्म है। इस धर्म का निवास श्री राधा के युगपादपद्मो में होते हुए भी उन चरणो का वही आधार भी बना रहता है। यत इस रसोपासना की पूर्ण प्रतिमा निर्मित होती है धर्म और धर्मी को लेकर और यतः वृन्दावन उसका धर्म है और श्यामाश्याम हे उसके धर्मी—अत हिताचार्य की शुद्ध रसोपासना के स्वरूप-निर्माण में धर्म और धर्मी—इन दोनो का अत्यन्त महत्त्व है। इसीसे हरिराम व्यास ने 'वृन्दावन' को प्रेम की राजधानी बताया है (व्यासवाणी ४६)। वे कहते हें कि श्यामसुन्दर वहाँ के राजा और तरुणीमणि श्रीराधा पट्टरानी हैं। अपने वृन्दावनाष्टक में कृष्णदास ने उस वृन्दावन के कुञ्जगत अनन्त वैभव और अपरिमेय सुख का वर्णन बड़ी उल्लासमयी वाणी में किया है—

कुंजकुंज सैन सुखद, मैन ऐन कुंज कुज
कुंज कुंज संगम संजोग सुख निशानी कौ।
कुज कुंज सज्जित शृंगार सौंज नई-नई
कुंज कुंज भोग जोग सौंधौं मनमानी कौ।।

कुज कुज मडलमणिरास तत्त थेई थेई
कुज कुज गानतान तरलित सुरसानी को।
कुज कुज बनितागन जूथनि अभिराम धाम
झलमलात वृन्दावन वृन्दावन-रानी को।।
(श्री हितहरिवश गोस्वामी : सिद्धान्त और सप्रदाय, पृ० १६२)

यहाँ कथ्य केवल इतना ही है कि श्रीहितप्रभु के सप्रदाय मे जो रसोपासना है वह सप्रदायगत मान्यता और आस्था के अनुसार वृन्दावन-रस की उपासना ही है। इस रस का स्थायीत्व भाव है वृन्दावन-रति। वही वृन्दावनरस रूप में आस्वादनीय है, रसनीय है। यहाँ वृन्दावन-रति-रूप जो स्थायी है, तत्वत. प्रेम-रति है, प्रेम के प्रति प्रेम है। फलत वृन्दावनरस यथार्थत प्रेमरस है, मधुररस है। राधावल्लभीय रसिक की रति उस एकरस और नित्यनूतन प्रेम के प्रति रहती है जिसकी ही अपर सज्ञा 'वृन्दावन' है। रसिक शब्द के बोध-विषय है श्यामाश्याम (युगलबिहारी), सहचरी तत्सुखीभावापन्न सखीगण और तदनुरूप उपासक। तीनो ही प्रेम के इसी स्वरूप के रसिक है। वृन्दावन से रति करने पर ही रसिकोपासक को वहाँ के सहज प्रेमविलास का आस्वादन प्राप्त हो पाता है, उस रसिक मडल की मडली में प्रविष्ट हो सकता है।

निष्कर्ष यह कि राधावल्लभीय धारणा के अनुसार वृन्दावन का स्वरूपबोध उपासनालोक की सकल्पसृष्टि है। वह प्रत्यक्ष भी है रसिकोपासको के लिए और गूढ-रहस्यमय भी है उनके लिए जिन पर श्रीकृष्णवल्लभा राधारानी के चरणकमल का अनुग्रह नही हुआ है। हितमतानुयायियो के अनुसार अनुग्रह-भाजन रसिको की वृन्दावन-रति वस्तुत वृन्दावनात्मिका रति ही है। वह, उक्त रति-प्रेम की भूमि है, भूमिका है। उसके चतुर्दिक् शृगाररस (भक्तिशृगार) कुडल बाँधकर श्यामवर्णवाली यमुना के रूप में सदा प्रवहमान रहता है और उसी कालिन्दी के रम्य पुलिन पर श्रीराधाकृष्ण, श्यामाश्याम रूप में, सदा परम प्रेममय सुखविहार करते रहते है। वह युगलबिहारीमूर्त्ति न कही से वहाँ आई या आती है और न कही जाती है।

इस प्रकार यह वृन्दावन की सकल्पपरिकल्पना तब पराकाष्ठा को पहुँच जाती है जब उसमे भौतिकता और अपार्थिवता, लौकिकता और अलौकिकता, स्थूलता और सूक्ष्मता—सबका एकीभाव हो जाता है।

इस प्रकार हिन्दी के सगुण कृष्णोपासको के विशेषत. प्रेमोपासकों के विशाल साहित्य में वृन्दावन की लीलाओ का विस्तृत वर्णन है। वैभव की दृष्टि से उसमे गोलोकीय दिव्य सूक्ष्मता और रहस्यात्मकता का पुट भी है और नित्यविहार की स्थली के रूप मे वह लौकिक होकर भी अलौकिक का प्रतीक है। फिर भी वहाँ भौतिक रूपचित्रो की गोचरीय अनुभूतियो का रूपचित्र पर्याप्त आसक्ति के साथ वर्णित है। लीला और ईश्वरीय अलौकिक व्यापारो के विचार से, बाललीला या पूर्व-किशोर-लीला के वर्णन, लोकातीत होकर भी लौकिक परिधि के परिपार्श्व मे घटित है। माधुर्यलीला के क्षेत्र में अवश्य ही उनका परिप्रेक्ष्य भक्ति की अलौकिक अनुभूतिदृष्टि से समुद्भासित है। राधावल्लभ-सप्रदाय में भौम वृन्दावन ही सब कुछ है, उसी का सब महत्त्व है, गोलोकीय या श्वेतद्वीपीय धाम की महिमा से भी बढ़कर उत्कृष्टतम, यथार्थतम और मुख्यतम है। भगवान् की षट्विभूतियों और लीलाचर्या की दृष्टि से, नित्य बिहार और नित्यविलास के विचार से—'वृन्दावन' धाम भौम होकर

भी भौम जीवों, प्रापचिक जीवों के लिए अगोचर और अगम्य हो उठता है तब वह प्रतीकपरक एव भावनामूलक रहस्यात्मकता से आवृत भी माना जाता है।

निष्कर्ष

इन समस्त विवरणो का निष्कर्षसार—निम्नांकित रूप मे अंकित किया जा सकता है—

(१) वृन्दावन की गरिमा और महिमा का विस्तार श्रीकृष्ण की भक्ति के महत्त्व से जुड़ा हुआ है। विशेषरूप से उसका सम्बन्ध श्रीनन्दनन्दन की गोपलीला के साथ आबद्ध है। इसे श्री-गोपाल की ब्रजवृन्दावनलीला कह सकते हैं। इसके प्रत्नपौराणिक स्वरूप मे श्रीकृष्ण की बाल-पौगड-किशोर—तीनों अवस्थाओ की लीलाओं का माधुर्य दिखाई देता है। इसी पारिपार्श्व मे केशव के लोकपालक तथा भक्तवत्सल रूप की झाँकी भी कम चटकीली नही है। इस रूप मे श्रीकृष्ण आते हैं त्रिविध भूमिकाओ के साथ, जिन भूमिकाओं को हम लोकपालक, लोकरजक और अद्भुतलीलाकृत् कह सकते हैं। इनमें भगवान् की शक्ति और सौन्दर्य का वैभव विशेष रूप से निखरा दिखाई देता है। बाललीला और गोचारण, मुरलीवादन और बनविहार के चित्र—इस पक्ष में अत्यन्त मोहक और मधुर हैं। इसका मुख्य रूप भागवत वर्णन के सदृश है। भौतिक वृन्दावन की ही यहाँ प्रबलता है।

(२) वृन्दावन के दूसरे स्वरूप का विकास हमें वहाँ दिखाई देता है जहाँ कृष्ण की मधुर-भक्ति को उपासना के रगमच पर रासेश्वरी श्रीराधा का प्रवेश होता है। इस स्वरूप-वर्णन के सन्दर्भ में वैकुण्ठलोक, ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, गोलोक, श्वेतदीप, श्रीकृष्णधाम और (आध्यात्मिक) वृन्दावन के अद्भुत, अलौकिक, परमैश्वर्यशाली, स्वर्णरत्नमणिमाणक्यादिमय एव अनन्तवैभव, अपरिमेय-सौन्दर्य, नित्यविहारलीलासपृक्त, आध्यात्मिक रूप की रहस्यात्मकता का आविर्भाव, वहाँ हो जाता है। आध्यात्मिक वृन्दावन सूक्ष्म और अपार्थिव होने के साथ-साथ श्रीराधाकृष्ण और गोपीकृष्ण की मधुरोज्वल लीलाओ, रासरस, वेणुवादनलीला, निकुजलीला, चीरहरणलीला, रात्रिविहार, रतिकेलि आदि से संबद्ध लीलाओ की रम्यस्थली बनकर अंकित हुआ है। विभिन्न लोको का तारतम्य भी अनेकत्र वर्णित है। भौतिक और आध्यात्मिक रूपों के गूढ सम्बन्ध का सकेत भी है जो कृष्णभक्ति के मधुरो-पासक मात्र को ही अवगम्य है। इसका अपेक्षाकृत अधिक विस्तार, परकालवर्त्ती पुराणो (ब्रह्मवैवर्त्त, पद्म आदि) मे दिखाई देता है। पाचरात्र सहिताओ मे भी अनेक रूपों मे—कही गोलोकादि या वैकुण्ठधाम, या श्वेतद्वीप अथवा त्रिपाद्विभूतिमान् परमव्योम के रूप में और कही वृन्दावन के अभौम एव साधकमात्रगोचर स्वरूप मे निर्दिष्ट मिलता है।

(३) कृष्ण-काव्यों, कृष्णभक्ति के गीतकाव्यों (नाटकों, चम्पू आदि को इन्ही के अन्तर्गत समझना चाहिए), सुभाषित काव्यों और सूक्तियों में कभी पार्थिव और यदाकदा अपार्थिव वृन्दावन के वर्णन मिलते हैं। इनमें कभी पौराणिक आदि मान्यता के बिंबचित्र हैं और कभी पंचरात्रमत या तंत्र आदि से प्रभावित स्वरूप का काव्यात्मक वर्णन मिलता है।

(४) स्तोत्रादि में भी इन्ही दोनों या दोनों में से किसी एक रूप के परिवेश में वृन्दावन की पार्थिव या अपार्थिव गरिमा और भक्ति के उद्‌गार से भरी हुई भावमयी वाणी में चित्रित है।

(५) वैष्णवोपनिषदों में मधुरोपासना की सामग्री तो है, पर वहाँ अलौकिकता, दिव्यविभूति और रहस्यात्मक प्रतीकों की विपुलता है। मधुचर्या की सामग्री के रहने पर भी उज्जवलशृंगारी वर्णन पर तनिक भी बल नही है।

(६) चैतन्य मत मे जो विकास है वह—विशेषत सहिताओ, वैष्णव-तत्रो, पद्म-ब्रह्मवैवर्त्त आदि पुराणों की स्वमतानुकूल व्याख्या पर आधारित रूप मे चित्रित है। वल्लभ मत मे भी उनका योग है। पर दोनो की अपनी कुछ विशेषता है। इन सबमे रहस्यात्मकता और प्रतीकात्मकता के साथ-साथ स्वसिद्धान्त की सगति के अनुकूल वैशिष्टय की उद्भावना है।

(७) राधावल्लभीय दृष्टि में भूतलीय वृन्दावन का सर्वाधिक महत्त्व है। उनकी हितरसोपासना में वह आवश्यकतम तत्त्वों मे एक है। 'गोलोक' या 'गोलोकीय वृन्दावन' का उनके लिए कोई महत्त्व नही है। वह यही है, भूमिस्थ है। यही प्रधान है। पर इसके नित्यविहार, नित्यविलास, प्रेमचर्या आदि का दर्शन राधानुगृहीत अतरग और तत्सुखीभावापन्न सहचरियो को ही होता है। सब कुछ यहाँ नित्य है, अत गूढ, रहस्यात्मक एव प्रतीकपरक भी है।

सक्षेप मे यह दिग्दर्शन यहाँ प्रस्तुत किया गया है। अत. बहुत सी मान्यताएँ और अनेक प्रमुख मतो की दृष्टि को छोडना भी पडा है। पर आशा है—इतने से वर्णनीय विषय की धारणा का एक सामान्य परिचय मिल जायगा।

पाश्चात्य काव्य-समीक्षा का विकास-क्रम

डॉ० श्रीपति शर्मा

साहित्य-ग्रन्थों की सर्जना के पश्चात् ही प्रत्येक देश मे लक्षण-ग्रथो की परम्परा का दर्शन हमे प्राप्त होता है। बिना किसी आधार के नियमो का निर्माण भी सभव नही होता। भारतीय साहित्य की भाँति योरोपीय देशो मे भी साहित्य-निर्माण की यह एकरूपता हमे देखने को मिलती है। पाँचवी शताब्दी ईसा-पूर्व पाश्चात्य जगत् मे यूनान की सभ्यता अपने चरम वैभव पर थी, जिसमे एथेंस का प्रजातन्त्र विकसित हुआ था। प्रतिभा के नवोन्मेष से साहित्य-जगत् गरिमा तथा उदात्त वातावरण से परिपूर्ण था। होमर और हीसियड की काव्य-कृतियाँ निर्मित हो चुकी थी, जो व्यास और वाल्मीकि के महाकाव्यो की भाँति जनता मे समादृत थी। गीति-काव्यकारो मे सैफो तथा पिंडार जैसे कवियो के गीतो से जनता विशेष अनुप्राणित हो रही थी। महाकाव्य से भी उदात्त परम्परा का सृजन तत्कालीन दु खान्त नाटककारो ने किया, जिनमे एस्किलस, साफोक्लीज तथा यूरोपीडीज विशेष रूप से उल्लेखनीय हे। इन साहित्य-ग्रन्थो के निर्माण के पश्चात् योरोपीय साहित्य-गगन की की प्रभात वेला मे सुकरात जैसे मनीषी और दार्शनिक का अभ्युदय हुआ, जिसके नीतिवाद ने योरोपीय दर्शन की भाव-भूमि मे एक महत्त्वपूर्ण चरण का आरोप किया।

काल की परिवर्त्तनशीलता के परिणाम-स्वरूप ग्रीक सभ्यता भी ह्रासोन्मुखी होने लगी। अनेक सघर्षो तथा निरन्तर भोग-विलास मे लीन रहने के कारण राज्य की शक्ति क्षीण हो चली। परन्तु यूनानी साहित्य-जगत् की इस सध्या वेला मे बाल चन्द्रमा के समान प्लेटो का आगमन हुआ, जिसने काव्य-समीक्षा का श्रीगणेश किया। प्लेटो सुकरात का शिष्य था, और गुरुकृपा से उसे एक विलक्षण तथा तलस्पर्शी दार्शनिक प्रतिभा प्राप्त हुई थी। सुकरात के समान ही वह विशुद्ध ज्ञान का अखण्ड साधक और समर्थक था। परन्तु गुरु की अपेक्षा नवीन भाव-भूमि में भी उसने पैर रखने का प्रयास किया। प्लेटो ने कवि और काव्य की परीक्षा विशुद्ध सत्य तथा नैतिकता की कसौटी पर करते हुए कवि की महान भर्त्सना की, उसे उन्मादी और उत्तरदायित्वहीन प्राणी घोषित किया, और उसे आदर्श राज्य (Republic) से दूर निकाल देने का नियम बनाया, परन्तु फिर भी उसकी काव्य सम्बन्धी कतिपय मान्यताएँ अत्यन्त मौलिक एव महत्त्वपूर्ण है। पाश्चात्य काव्यसमीक्षा की आधार-भूमि अनुकृति-सिद्धान्त पर निर्मित हुई है, और इसकी प्रतिष्ठा सर्वप्रथम प्लेटो ने ही की। उसकी दूसरी महत्त्वपूर्ण उद्‌भावना यह है कि कवि दैवी-प्रेरणा के वशीभूत हो अपने काव्य की सृष्टि करता है। अत. कविता निरी अभ्यासजन्य विद्या नही है, वरन् वह एक अलौकिक प्रेरणा के परिणामस्वरूप प्रवाहित होती है। प्लेटो की प्रतिभा बहुमुखी थी। दर्शन, तर्कशास्त्र, राजनीति तथा साहित्य का वह महान पंडित था, और उसके अमूल्य विचार यत्र-तत्र बिखरे हुए ही मिलते है परन्तु उसके इन विकीर्ण विचारों पर ही योरोपीय दर्शन और काव्य-समीक्षा का भवन निर्मित हुआ।

चिन्तन के क्षेत्र में गुरु-शिष्य की परम्परा ने कितनी महान् देन मानवता को दी है, इसका सबसे

सुन्दर प्रमाण प्लेटो के शिष्य अरस्तू (३८४ ई० पू० ३२२ ई० पू०) मे देखने को मिलता है। अरस्तू का काव्य-शास्त्र योरोपीय काव्य-समीक्षा का सर्वमान्य मूर्धन्य ग्रन्थ है, जिसकी समीक्षा सम्बन्धी मान्यताओ का आदर वेदवाक्य की तरह कई शताब्दियो तक यूरोप मे चलता रहा, और इसीलिए वह काव्य-समीक्षा का बाइबिल बन गया। इसका प्रधान कारण यह है कि उसकी समीक्षात्मक पद्धति अत्यन्त वैज्ञानिक, व्यापक और स्थायी है, जिसने समीक्षा-जगत् मे सार्वभौम सिद्धान्तो की स्थापना की। अरस्तू ने अपने गुरु प्लेटो से भिन्न एक नये ढग से कविता को जीवन की अनुकृति सिद्ध किया। परन्तु उसके 'जीवन' और 'अनुकृति' का एक विशेष अर्थ है, जिसका आशय ठीक से समझे बिना हम उसकी स्थापना को हृदयंगम नही कर सकते। अरस्तू के जीवन का तात्पर्य बाह्य दृष्टिगोचर उपादानो मे ही नही, वरन भावो तथा विचारो से उत्पन्न उपकरणो से था। इसलिए उसका जीवन जड़-जीवन नही, वरन् व्यापार तथा अनुभव से परिपूर्ण एक शाश्वत और तरल प्रेरणा स्रोत के रूप मे है। जिससे सदैव साहित्य की धारा प्रवहमान रहती है। उसका अनुकरण-सिद्धान्त एक विशेष भावधारा का पर्याय है जिसमे वास्तविकता को सार्वभौम प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। उसका कथन था कि इसी अनुकृति के आधार पर कवि किसी सामग्री को नवीन प्रतिभा के अर्थ से मडित करता है। यूरोप मे अनेक शताब्दियो तक विद्वानो ने अरस्तू की इस व्याख्या को अखण्ड मान्यता प्रदान की। अरस्तू ने ट्रेजेडी की व्याख्या करते हुए उसे जीवन की अनुकृति बताया। ट्रेजेडी की तुलना महाकाव्य से करते हुए उसने ट्रेजेडी को ऊँचा स्थान दिया, क्योकि वह अधिक प्रभावोत्पादक है। आगे चलकर उसने ट्रेजेडी मे वर्णित चरित्र की विशेषताओ का वर्णन करते हुए बताया कि नायक का पतन दर्शको के मन मे भय और करुणा का संचार करता है, और जहाँ रेचन-सिद्धान्त द्वारा उसके भावो का परिमार्जन होता है। अरस्तू के सकलन-त्रय का सिद्धान्त भी कम महत्त्वपूर्ण नही है, जिसका पालन वेदवाक्य की तरह शताब्दियो तक योरोपीय समीक्षा-जगत् मे चलता रहा। विभिन्न कलाओ की तुलना करते हुए अरस्तू ने एक प्रमुख समस्या यह भी उपस्थित की कि चित्रमूर्ति तथा काव्य आदि विभिन्न कलाओ के आदर्श पृथक्-पृथक् होते है, या उनमे एक ही समष्टिगत आदर्श मिलता है। इसी सूत्र को आगे चलकर लेसिंग, हीगेल तथा क्रोचे ने विस्तृत व्याख्या का विषय बनाया। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि अरस्तू ने ही पाश्चात्य काव्य-समीक्षा का शिलान्यास किया। यद्यपि उसकी बहुत-सी मान्यताये तत्कालीन साहित्यिक कृतियो को आधार मानकर चलती है, जिनको अतिम और पूर्ण नही कहा जा सकता, परन्तु निष्पक्ष तथा सार्वभौम काव्य-समीक्षा का वह आदि गुरु है, जिसको इस क्षेत्र मे मूर्धन्य स्थान प्राप्त है।

पारस्परिक द्वेष तथा सघर्षों के कारण ग्रीक सभ्यता ह्रासोन्मुखी होती गई। एथेंस रोम द्वारा विजित हुआ और सभ्यता और साहित्य का प्रकाश ग्रीस से रोम को पहुँचा। परन्तु इस बीच ईसा की तीसरी तथा दूसरी शताब्दी पूर्व यूरोप मे विद्वान् और चिन्तक इधर-उधर घूम-घूमकर विद्या-केन्द्र बनाते रहे। इन विद्या-केन्द्रो में सिकन्दरिया एक प्रधान केन्द्र था, जो करीब सौ वर्षों तक विद्या तथा साहित्य का प्रधान केन्द्र था और ग्रीक तथा रोमन काल के सन्धि-युग के रूप में प्रख्यात हुआ।

इसके पश्चात् यूनानी काव्य-समीक्षा का स्थान रोमन काव्य-समीक्षा ने लिया। इस काल में प्राचीन नियमों के पालन पर ही विशेष जोर दिया गया। उस समय रोम में भाषण-कला के अभ्यास पर विशेष बल दिया जाता था। रोमन काव्य-समीक्षा में सिसरो का स्थान विशिष्ट है; क्योंकि उसने भाषण-कला की विवेचना की और यूनानी परम्परा का समर्थन करते हुए शैली की विशेषताओं पर

प्रकाश डाला। उसीका समकालीन क्विन टीलीयन था जिसने अलकार-शास्त्र का पाडित्यपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया। सिसरो की भाँति होरेस ने भी पचास वर्ष ई० पू० प्राचीन यूनानी सिद्धान्तो को नवीन ढग से प्रतिपादित किया। काव्य में मनोरजन के अतिरिक्त शिक्षा का भी महत्त्व है, इसका प्रतिपादन होरेस ने ही किया। उसके समीक्षात्मक ग्रन्थ का नाम Ars.-Poetica है जो एक पत्र के रूप मे लिखा गया था। यूरोप के अनेक विद्वानो ने होरेस को आदर्श गुरु के रूप मे स्वीकार किया और उसके उद्धरणो को विशेष महत्त्व दिया गया। उसने इस बात पर जोर दिया कि अच्छी शैली विचारो की परिपक्वता से उद्भूत होती है और इसके लिए उसने सुकरात के ग्रन्थो का पारायण करने की राय दी।[1]

परन्तु अभी तक समीक्षा-जगत् मे कोई इतना महान् चितक नही उत्पन्न हुआ जिसका व्यापक प्रभाव अरस्तू की भाँति पडता। भाग्यवश प्रथम शताब्दी मे लाँजिनस नामक समीक्षक आया जो लैटिन, ग्रीक तथा हिब्रू आदि भाषाओ का महान पडित था। उसने यूनानी तथा रोमन समीक्षा-शैली का समन्वय करके अपने विचारो को बडे ही मौलिक ढग से प्रतिपादित किया। उदात्तता (sublimity) की व्याख्या उसने अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण शैली मे की, जिसका आगे चलकर बडा आदर हुआ। उसकी पुस्तक 'पेरी-हुपसाउस' (Peri hupsous) समीक्षा-क्षेत्र मे एक महत्त्वपूर्ण मजिल है। उसका कथन था कि किसी काव्य-कृति मे उदात्तता तभी आती है, जब उसका कर्त्ता गभीर विचारो से परिपूर्ण हो। गभीर लेखक की ही वाणी गभीर होती है, इस बात पर उसने बड़ा जोर दिया।[2] उदात्तता से ही आनन्द की उपलब्धि होती है, जो काव्य का महान गुण है। लाँजिनस का यह निबन्ध बहुत दिनो तक अप्राप्य था, इसका पता विद्वानो ने सोलहवी शताब्दी मे लगाया। सत्रहवी शताब्दी मे जाकर बियालो ने इसका अनुवाद फ्रेंच भाषा मे किया। तब से निरन्तर इसका आदर बढ़ता गया। एक प्रकार से लाँजिनस का हम यूरोप का प्रथम स्वच्छन्दतावादी आलोचक मानते हैं।

पाँचवी शताब्दी से पन्द्रहवी शताब्दी तक करीब एक हजार वर्षों तक के काल को यूरोपीय काव्य-समीक्षा का अधकार-युग माना जाता है। इस समय शासन का सूत्र पादरियो तथा मठाधीशो के हाथो मे था, जो काव्य को अनैतिक तथा हेय दृष्टि से देखते थे। रोम इस समय पतन को प्राप्त हो चुका था। पादरी कविता को निन्दनीय साधन मानते थे। जेरोम ने उसे शैतान की खुराक बताया, ग्रेगरी ने भी साहित्य को ईश्वर की पूजा के लिए अनुपयुक्त तथा अपूर्ण साधन बताया। इस समय तक काव्य-समीक्षा के यूनानी ग्रन्थ लुप्त हो गये और उनके स्थान पर लैटिन ग्रन्थो की महत्ता पर जोर दिया गया। साराश यह है कि इन एक हजार वर्षों तक यूरोपीय साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र मे कोई मौलिक उद्भावना नही की गयी।

बारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस घोर तमिस्रा के पश्चात् दाँते का उदय साहित्य-जगत् मे भगवान् भास्कर की भाँति हुआ। उसके महाकाव्य 'डिवाइन कॉमेडी' ने कुछ समय के लिए यूरोपीय विचारको की आँखो को चकाचौध कर दिया। दाँते इटली का महान कवि था, और योरोपीय

---

[1] "The seceret of all good writing is sound judgement. The work of Socrates will supply you with facts; get these in clear perspective and words will follow naturally."—Horace : Ars.—Poetica.

[2] Great words issue from those, whose thoughts are weighty.

नवोत्थान के अग्रदूत के रूप मे आया। उसने अपने महाकाव्य का प्रणयन लैटिन मे न करके साधारण जनभाषा में किया। दाँते मे कवि और आलोचक की समन्वयात्मक प्रतिभा थी। उसने काव्य मे विषय के अनुरूप भाषा के चयन पर बल देते हुए गद्यशैली और छन्दयोजना को विशेष महत्त्व दिया, साथ ही साथ प्रतीक और रूपक को काव्य का प्रमुख साधन स्वीकार किया। योरप मे इस समय चिन्तन के क्षेत्र मे नव-जागरण का काल था। दाँते उसका पैगम्बर बना। इसके बाद काव्य-समीक्षा का आधुनिक-युग प्रारम्भ होता है। इग्लैण्ड मे इसका आवाहन सर फिलिप सिडनी, जान ड्राइडन, पोप और डॉ० जानसन ने किया। इन समीक्षको ने काव्य-समीक्षा के क्षेत्र मे क्या योगदान दिया, इस पर विचार करना आवश्यक होगा। सर फिलिप सिडनी का प्रसिद्ध पद्यात्मक निबन्ध The Depeuse of Poesie उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ जिसमे उसने कविता के गुणो का समर्थन किया है। इस प्रकार की आवश्यकता सिडनी को इसीलिए पडी होगी कि ईसाई धर्म ने काव्य का महान विरोध किया था, सिडनी ने कविता को कल्पनाजन्य बताते हुए, उसका उद्‌गम आदिकाल से ही बताया। सिडनी के पश्चात् जॉन ड्राइडन पाश्चात्य काव्य-जगत् का सबसे महान आलोचक हुआ जिसने काव्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में गहरी छानबीन की। अब तक ड्राइडन के पूर्व काव्य-समीक्षको ने कविता का उद्देश्य बताते हुए इस प्राचीन मत पर ही बल दिया था कि कविता का काम शिक्षा और आनन्द देना है। परन्तु जॉन ड्राइडन ने पहली बार इस बात पर जोर दिया कि आनन्द देना कविता का मुख्य उद्देश्य है, नीति और शिक्षा उसका गौण तत्व है। लागिनस की भाँति ड्राइडन ने भी सौन्दर्य और आनन्द को कविता का मूल स्रोत माना। पोप ने निष्पक्ष आलोचक की कठिनाइयो तथा उसके गुणो की व्याख्या की है। उसका 'एसे ऑन क्रिटिसिज्म' इस दिशा मे एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। डॉ० जॉनसन ने शेक्सपीयर के नाटको का वस्तुपरक मूल्याकन प्रस्तुत किया और अपनी मान्यताओ द्वारा व्यावहारिक आलोचना का सूत्रपात किया। अठारहवी सदी तक समीक्षा के क्षेत्र में यूरोप मे नियोक्लासीकल आलोचना का जोर था जिसमे नियमो के परिपालन का इतना आग्रह था कि समस्त आलोचना का स्तर और सकुचित रूढ़िबद्ध हो गया।

इगलैण्ड के अतिरिक्त इस समय समीक्षा के क्षेत्र मे जर्मन-आलोचको का योगदान कम महत्त्वपूर्ण नही था। इनमे लेसिंग, शीलर तथा गेटे का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है, लेसिंग अरस्तू का समर्थक था, उसने अपने निबन्ध 'लैकून' मे विभिन्न कलाओ के पारस्परिक सम्बन्धो तथा उनके विभिन्न उपादानो का विस्तृत विवेचन करते हुए, विशेषकर चित्र-कला और कविता के सम्बन्ध मे अपनी नयी मान्यता यह दी कि कविता तथा चित्र के उपादान अलग-अलग हैं, अतः उनके चित्रण की प्रणाली तथा उनका समष्टिगत प्रभाव भी पृथक् होता है। इस प्रकार उसने कला के क्षेत्र में एक स्थायी सिद्धान्त की स्थापना की। शीलर जर्मनी का प्रसिद्ध कवि और नाटककार था। उसने यूनानी कविता को आधुनिक कविता से श्रेष्ठ और महान् बताया, क्योंकि यूनानी कविता उसकी दृष्टि मे सहज, श्रेष्ठ तथा सुन्दर प्रकृति के पालने मे निर्मित हुई थी। साथ ही साथ उसने उदात्ततावादी (क्लासिक) साहित्य को स्वस्थ मन की सृष्टि तथा रोमेंटिक साहित्य को अस्वस्थ मन की सृष्टि बताया। साहित्य में व्यक्तित्व के अध्ययन पर विशेष जोर देते हुए उसने अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त की नवीन व्याख्या उपस्थित की। गेटे जर्मनी के उन प्रसिद्ध विद्वानों में था जो कालिदास के शकुन्तला नाटक से विशेष प्रभावित हुए, जिसका प्रभाव यह पड़ा कि समग्र यूरोपीय मनीषा में संस्कृत-साहित्य के प्रति आदर और मान बढ़ चला। गेटे के पश्चात् यूरोपीय

काव्य-समीक्षा-जगत् में स्वच्छन्दतावादी तथा यथार्थवादी विचारधारा का आगमन हुआ। इस बीच यूरोप के अन्य देश समीक्षको से खाली नही थे। फ्रास मे सेटवीव जैसे आलोचक, चार्ल्स बादलेयर, मलार्मे तथा पाल बर्लेन जैसे प्रतीकवादी कवि हुए तथा बालजाक, मोपासा, जोला जैसे महान् कथा-कार उत्पन्न हुए जिन्होने शाश्वत साहित्य का सृजन किया। इधर रूस मे पुश्किन, गोलोग, तुर्गनेव, टालस्टाय, चेखोव जैसे कवियो और कथाकारो ने अपने साहित्य मे जन-जीवन को अनुप्राणित किया। समीक्षा के क्षेत्र मे रूस मे बेलिन्स्की तथा चर्नि शेवस्की जैसे आलोचक उत्पन्न हुए।

क्लासीसिजम के प्रतिक्रिया-स्वरूप स्वच्छन्दतावादी काव्य-समीक्षा का प्रादुर्भाव हुआ जिसके द्वारा क्लासिसीजम की कट्टर रूढिबद्धता, नियमो के परिचालन की कठोरता, सयम और नियन्त्रण के समर्थन का घोर विरोध किया गया। साहित्य मे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के भाव को विशेष प्रश्रय दिया गया, साथ ही साथ तर्क का विरोध और भावना का समर्थन किया गया। सौन्दर्य-प्रेम, रहस्य तथा अपरिचित तथा अज्ञात के प्रति आकर्षण स्वच्छन्दतावाद के मूल मत्र है। इस प्रकार की विचारधारा का विकास योरोप मे फ्रास की राज्य-क्रान्ति के पश्चात् हुआ। जिसमे, रूसो, वालतेयर तथा गेटे की कृतियो ने प्रेरणा-स्रोत का काम किया। स्वच्छन्दतावादी आलोचको मे वर्ड् सवर्थ, कोलरिज तथा शेली मुख्य है, जिनकी प्रतिभा मे कवि और आलोचक की प्रतिभा का विलक्षण समन्वय प्राप्त होता है। वर्ड् सवर्थ ने कविता को शान्तिपूर्ण क्षणो को आकलित भावना कहा। अपने 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका मे उसने कवि और काव्य के उद्देश्य की सुन्दर विवेचना की है। कोलरिज ने इस मत का प्रवर्तन किया कि कवि अपनी कल्पना के सहारे एक नवीन सृष्टि करता है, परन्तु उसकी कल्पना एक समन्वयकारी शक्ति है जो कवि के भावो को एकरूप के साँचे मे ढालती है। शेली ने अपने प्रसिद्ध निबन्ध में कविता को सगीतमय विचारो का समूह बताया। साथ ही साथ विधाता की सृष्टि मे उसने कवि को अत्यन्त ऊँचा स्थान दिया। इस प्रकार हम देखते है कि इन स्वच्छन्दतावादी आलोचको की समीक्षा स्वतत्र, व्यक्तिपरक मौलिक उद्गारो का पुज है जिसमे रूढ़ियों का विरोध किया गया है।

यथार्थवादी काव्य-समीक्षा—उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे यूरोप मे शिक्षा के प्रचार तथा वैज्ञानिक प्रगति से जनतंत्र का प्रसार हुआ। समस्त देश में यथार्थवाद का बोलबाला हुआ। यथार्थ-वाद क्लासीसिज्म तथा रोमैन्टिसिज्म दोनो के विरोध मे चल पडा। इसने सामन्तवादी कल्पनाप्रधान साहित्य तथा काव्य का विरोध करके जनसाधारण के दुःख-दर्द तथा घावो पर मरहमपट्टी लगाने का काम किया। काव्य-समीक्षा की कसौटी एकदम बदल गयी। इस प्रकार की समीक्षा का विकास बेलिन्स्की तथा चर्निशेवस्की जैसे रूसी समीक्षको द्वारा हुआ। बेलिन्स्की हीगेल के भाववादी दर्शन का समर्थक था। उसके कला सम्बन्धी तीन प्रमुख सिद्धान्त है—१ वास्तविकता, २. कला-त्मक आदर्श तथा ३. मौलिक प्रतिभा का कला मे उपयोग। उसकी मान्यता यह थी कि कला को वास्त-विकता की कसौटी पर ही कसना चाहिए। कला की पूर्णतया तभी मानी जायगी जब उसका जीवन से अविच्छिन्न सम्बन्ध हो। परन्तु बिना मौलिक प्रतिभा के किसी कलाकृति का कोई महत्त्व नही। चर्निशेवस्की ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'एस्थेटिक रिलेशन ऑव आर्ट टू रिएलिटी' में यह स्थापना की कि वास्तविकता से परे किसी काव्य-कृति मे सौन्दर्य की खोज करना निरर्थक है। मूल-सौन्दर्य की स्थिति वास्तविकता में ही है और जीवन ही सौन्दर्य का मूल स्रोत है। इसी भावधारा का समर्थन फ्रांस के यथार्थवादी आलोचक टेन ने किया है। काव्य का जीवन से अविच्छिन्न सम्बन्ध जोडने की

प्रथा इतनी बढ़ी कि इग्लैण्ड के प्रसिद्ध आलोचक मैथ्यू आर्नाल्ड ने कविता को जीवन की आलोचना कहा। आर्नाल्ड अग्रेजी काव्य-समीक्षा का महान लेखक था, जिसने तुलनात्मक आलोचना को परिपुष्ट किया। जान रस्किन ने सौन्दर्य की दार्शनिक व्याख्या करते हुए उसे एक ईश्वरीय देन के रूप मे स्वीकार किया। रूसी उपन्यासकार टालस्टाय ने भी कला का सम्बन्ध जीवन से जोडा और काव्य का उद्देश्य सत् आदर्श की सृष्टि करना बनाया। उसका कथन था कि ऐसी कला जो मानव-मात्र को एकता के सूत्र मे बाँधकर उसमे शिवत्व का आदर्श न पैदा कर सके, सच्ची कला कहलाने की अधिकारिणी नही।

मनोवैज्ञानिक काव्य-समीक्षा—आधुनिक युग मे मनोविज्ञान का अध्ययन और महत्त्व इतना बढा है कि साहित्य का अध्ययन बिना मनोविज्ञान के अधूरा माना जाने लगा है। फ्रायड ने काम-वासना को मानव की सबसे मुख्य वासना माना। उसने सिद्ध किया कि इसके दमन से मनुष्य अनेक मानसिक ग्रन्थियो तथा रोगों का शिकार हो जाता है। फ्रायड के शिष्य एडलर और युग थे जिन्होने चरित्र की अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी प्रवृत्तियो की छानबीन की। कवि और लेखक मनोविज्ञान तथा मनोविश्लेषण की कसौटी पर परखे जाने लगे। इसीका एक रूप प्रकृतवाद भी हुआ जो यथार्थवाद का एक नग्न और विकृत रूप है। प्रकृतवाद जीवन और जगत् के सूक्ष्म से सूक्ष्म चित्रण का समर्थन करता है। मनोविश्लेषण के द्वारा चेतन तथा अवचेतन मन की जटिलताओ का भी अध्ययन किया जाने लगा। एडलर का कथन है कि मनुष्य की सबसे प्रबल इच्छा कामवासना ही नही, वरन् आत्मप्रकाशन तथा बड़प्पन प्राप्त करने की भावना है। जब मनुष्य इस भावना की पूर्ति मे कुछ अभाव पाता है तब उसमे हीनता-ग्रथि का विकास होता है और वह अनेक मानसिक रोगो का शिकार बनता है। चलने फिरनेवाले स्वप्न अकारण भय, चिन्ता, द्विव्यक्तित्व तथा बहुव्यक्तित्व इन रोगो मे मुख्य है। इन सभी आधारभूमियो पर कवि और साहित्यकार की परीक्षा होने लगी।

मार्क्सवाद एक बौद्धिक आन्दोलन के रूप मे आया जिसका आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद था। इसका जन्मदाता कार्ल मार्क्स था। जहाँ फ्रायड ने मानव के अन्तर्जगत के अध्ययन पर जोर दिया, मार्क्स ने बहिर्जगत का अध्ययन किया। मार्क्स की विचारधारा पर जर्मन दार्शनिक हीगेल का प्रभाव पडा। यद्यपि दोनो के विचारो मे विशेष अन्तर है। मार्क्स ने हीगेल के द्वन्द्ववाद को ग्रहण तो अवश्य किया, परन्तु उसने उसके कल्पनाप्रधान तत्व को छोड दिया। हीगेल अतिम सत्य विचार-तत्व को मानता है, परन्तु मार्क्स भौतिक तत्त्व को विशेष महत्त्व देता है। मार्क्स का कथन था कि वर्ग-घृणा तथा वर्ग-सघर्ष सृष्टि के आदि से मानवता का इतिहास रहा है, शक्तिसम्पन्नवर्ग ने सदा दुर्बलो पर अत्याचार किया है। समाज मे कष्ट तथा विपन्नता का सारा उत्तरदायित्व पूँजीपतियो पर ही है, अत पूँजीवाद का समूल उन्मूलन ही मार्क्स का सिद्धान्त था जिससे ऐसे वर्ग-विहीन समाज का अभ्युदय होगा, जिसमे न कोई द्वन्द्व होगा न द्वेष। साहित्य के क्षेत्र में साम्यवाद और प्रगतिवाद का जन्म हुआ। समीक्षा के क्षेत्र मे इन विचारधाराओं ने एक नया मोड़ उपस्थित किया। प्राचीन क्लासिकल साहित्य को, सामतवादी साहित्य तथा रोमेंटिक साहित्य को कल्पना का मखौल समझा गया और कहा गया कि इनमे कवियो ने बे-सिरपैर की उड़ानें भरी है, ऐसी उड़ानें जिसका न कोई आधार है और न जिनमे वास्तविकता है। जीवन से दूर हटकर इस प्रकार के साहित्य का कोई मूल्य नही। उच्च वर्ग के स्थान पर साहित्य में शोषितों तथा मजदूरों की असहाय परिस्थितियों का चित्रण होने लगा। नारी-स्वतन्त्रता की आवाज ऊँची की गयी। आस्तिकता तथा धार्मिक आस्था का

स्थान तर्क ने ले लिया, अंधविश्वास का विरोध किया गया। नारायण के स्थान पर नर की उपासना होने लगी। समाज की रूढ़ियों तथा परम्पराओं का लेखकों ने विरोध किया।

युद्धोत्तरकालीन काव्य समीक्षा—द्वितीय महायुद्ध ने समस्त विश्व को विपन्नता तथा बेकारी से परिपूर्ण कर दिया। साहित्य में भी मानसिक कुंठा तथा अवसादग्रस्त विपन्न मानवों के सज्ञाप्रवाह, मनोदौर्बल्य, दुरूहता तथा आत्महीनतामयी खीझ का चित्रण होने लगा। साहित्य के क्षेत्र में अहं का स्वर निनादित हो उठा। अनेक वादों का जन्म हुआ। अतियथार्थवाद, प्रतीकवाद, प्रयोगवाद, अभिव्यजनवाद तथा अस्तित्ववाद आदि अनेक वादों के स्वर और ताल पर आज का साहित्य नाच रहा है, और इन्ही कसौटियों पर साहित्य की परख हो रही है। इन अनेक प्रयोगों तथा वादों के विवाद में पड़कर साहित्य और उसकी समीक्षा की आत्मा विकृत और जर्जर हो चली है। नवीनता के फेर में अश्लीलता, नग्न वासना तथा सस्ती भावुकता को प्रश्रय दिया जा रहा है। साहित्य प्रचार का साधन बन रहा है। इस बहते जल में स्थायित्व नहीं है। सच्ची कला प्रचार से बहुत दूर रहती है। आज की समीक्षा में निष्पक्षता, गहन अध्ययन तथा पाडित्य का अभाव तथा पल्लवग्राहिणी प्रतिभा का स्फुरण अधिक है। गम्भीर तथा उदात्त परम्परा जिसकी गरिमा से एक समय यूरोपीय काव्य-समीक्षा महिमामंडित थी, आज अदृश्य हो गयी है।

क्षमा-निवेदन

किन्ही अनिवार्य कारणो से निम्नलिखित विशिष्ट विद्वानो के लेख अभिनन्दन ग्रंथ मे सम्मिलित नही किये जा सके हे, अपनी इस असमर्थता के लिए हम क्षमा-प्रार्थी हैं ।

——सम्पादक

खण्ड १ : व्यक्ति और व्यक्तित्व

श्री शेषमणि त्रिपाठी	ग्रहणीयता और मनोबल
श्री रमाकान्त दुबे	त्रिपाठीजी के शैक्षणिक विचार
श्री भजनलाल चतुर्वेदी	पुरुषरत्न
श्री हरिकृष्ण माथुर	कुछ संस्मरण
श्री शिवादत्त द्विवेदी	व्यक्तित्व की छाप

खण्ड २ : संस्कृत

श्री रामचन्द्र द्विवेदी	त्रिकदर्शने शिवादि—तत्त्वपञ्चकम्
श्री रामकुवेर मालवीय	काव्यम्
श्री राजकिशोर मणि त्रिपाठी	पाणिनेः प्रथमं सूत्रम्
श्री मुरलीधर मिश्र.	मनस्तत्त्वविमर्शः
श्री रामअवध त्रिपाठी	ग्रहाणां मानवजीवने प्रभावः
श्री अमृतलाल जैन	जैनदर्शनदृष्ट्या कर्मविमर्शः
श्री द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल	भारतीय संस्कृतौ भौतिक-विलासः
श्री प्रेमवल्लभ त्रिपाठी	'स्वतन्त्रभारते धर्मशास्त्राणां स्थानम्
श्री चन्द्र पाण्डेय	भारतीय-वाङ्मये चन्द्रः
श्री श्रीधर मिश्र	शब्दस्वरूपविचारः
श्री कालिकाप्रसाद शुक्ल	शब्दस्याकाशदेशत्वसमीक्षा
श्री दरबारीलाल जैन	स्याद्वादः सप्तभङ्गी नयश्च
श्री मुरारीलाल शर्मा	किं भारतीयं सिद्धान्तज्योतिषं यावनप्रभावोपजम्
श्री बलदेव उपाध्याय	शिवपुराणवायुपुराणयोः पुराणत्वनिर्णयः
श्री अनन्तशास्त्री फड़के	कविकुलगुरोः कालिदासस्योपमादिकम्

खण्ड ३-४ : इतिहास, संस्कृति, कला एवं साहित्य